

# शिवदृष्टिः



डा. राधेश्यामचतुर्वेदी





वाराणसेय संस्कृत संस्थान ग्रन्थमालायाः  
पञ्चविंशः पुष्पम्

श्रीमहामाहेश्वरसोमानन्दनाथविरचिता

# शिवदृष्टिः

श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितवृत्त्या  
श्रीराधेश्यामचतुर्वेदिविरचितवृत्ति-चिन्मयीति  
संस्कृतहिन्दीव्याख्यया चोपेता

सम्पादकः

डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी

प्राध्यापक-संस्कृतविभाग

कलासंकाय

काशीहिन्दूविश्वविद्यालय

वाराणसी-२२१००५



प्रकाशकः

वाराणसेय संस्कृत संस्थान

जगतगंज, वाराणसी

वैक्रमाब्दः २०४३ ]

[ ख्रिष्टाब्दः १९८६ ]

©

प्रकाशकः

वाराणसेय संस्कृत संस्थान

सी० २७/६४ जगतगंज, वाराणसी

संस्करणम् : प्रथमम्

वि० सं० २०४३

मूल्य : ७०.०० रुपये ( अजिल्द )

१००.०० रुपये ( सजिल्द )



मूद्रकः

आनन्द प्रिंटिंग प्रेस

सी० २७/१७० ए० जगतगंज

वाराणसी



# THE SIVADRISTI

OF  
ŚRĪ SOMĀNANDA NĀTHA

With the VRITTI of ŚRĪ UTPALADEVA

Edited  
With the SĀṆSKRĪTA COMMENTARY  
&  
HINDI TRANSLATION

By  
Dr. RADHESHYAM CHATURVEDI

Lecturer  
Department of Sāṁskṛita  
Faculty of Arts  
Banaras Hindu University  
Varanasi—221005

*Publishe by*  
VARANASEYA SANSKRIT SAṆSTHAN  
Jagatganj, Varanasi  
1986

©

Published by

**Varanaseya Saṅskṛit Sansthan**

C. 27/64 Jagatganj, Varanasi

First edition

1986

Price Rs. 70/

Library edition 100/ Rs.

*Printed at*

**Anand Printing Press**

C. 27/170A Jagatganj

Varanasi—221005



## शुभाशंसन

'शिवदृष्टि' काश्मीर शिवाद्वैतदर्शन का, दार्शनिक पक्ष को प्रस्तुत करने वाला प्रथमतम ग्रन्थ है। सोमानन्द को यह कृति खण्डनमण्डन की प्रक्रिया को अपना कर शैवदर्शन की दार्शनिक सूक्ष्मता और विलक्षणता को स्पष्ट करती है। नवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में वर्तमान इस विद्वान् ने प्रत्यभिज्ञादर्शन की नींव डाली और इनसे ही शिष्यों की एक परम्परा चली जिनमें उत्पलदेव, अभिनवगुप्त आदि सुप्रसिद्ध हैं।

'तर्कस्य कर्ता' के रूप में सम्भावित सोमानन्द की यह कृति निःसंशय दुरुह है। इस पर स्वयं सोमानन्द की वृत्ति तो अनुपलब्ध है पर उनके योग्य शिष्य उत्पलदेव की वृत्ति पायी जाती है। दुर्भाग्यवश वह भी अपूर्ण ही है। यथास्थित इसी दिशा में इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन काश्मीर से हुआ था जो आज सर्वथा अप्राप्य बन चुका है। अतः इस ग्रन्थ के लिए विद्वानों की जिज्ञासा दीर्घकाल से अपरितुप्त रही है।

हमारे सहयोगी डॉ० राधेदयाम चतुर्वेदी ने शिवदृष्टि को सारस्वत श्रम से निर्मलीकृत कर प्रकाशित करने का संकल्प किया है। मूलपाठगत अशुद्धियों का निराकरण करते हुए इस उत्साही विद्वान् ने उत्पलदेवकृत वृत्ति के अनुपलब्ध अंश को स्वयं पूरा करने और सर्वोपरि इदं प्रथमतया हिन्दी में समग्र ग्रन्थ का तात्पर्यानुवाद प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण बन गया है। साथ ही प्रारम्भ में उपनिबद्ध तीन खण्डों की भूमिका ने इस संस्करण के सौष्ठव को परिपूर्ण बना दिया है।

डॉ० चतुर्वेदी दर्शनविद्या के जागरूक सेवक हैं। उनकी सारस्वत साधना विद्वानों के परितोषविधान में सफल होगी—ऐसी प्रत्याशा स्वाभाविक है। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि प्रस्तुत संस्करण शिवदृष्टि के यथार्थस्वरूप और महत्त्व को प्रमाणित करने की दिशा में अपरिहार्य सिद्ध होगा। हम डॉ० चतुर्वेदी को साधुवाद देते हुए उनके इस प्रयास के प्रति विद्वानों के साग्रह मनोयोग की प्रार्थना करते हैं।

दार्शनिक साहित्य में काश्मीर शैव-दर्शन की प्रतिष्ठा को सप्रमाण उपन्यस्त करने वाली इस कृति का हम सर्वान्तःकरण से स्वागत करते हैं।

अध्यक्ष

संस्कृतविभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी-२२१००५

विश्वनाथ भट्टाचार्य

निदेशक

संस्कृत शोध एवं प्रकाशन

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी-२२१००५

३१ मार्च, १९८६





## PREFACE

The ŚIVADRṢṬI of Ācārya Somānandanātha ( c. 9th Century ) is the first exposition of the philosophical world-view of the Kashmir Śaivism and as such is the most important and fundamental work of the Monistic Śaiva School of Indian Philosophy.

In this treatise ( Prakaraṇa ) Ācārya Somānanda has laid the foundation and established the tenets of Kashmir Śaivism, by juxtaposition of rival Schools both theistic and atheistic, in the light of his genious and extraordinary critical acumen.

Ācārya Somānanda wrote the text to which the commentary was written by Śrī Utpaladeva, the worthy disciple of Somānanda. The book was published in the Kashmir Series of Text and Studies in 1934. That edition although giving the full text, was printed only with an incomplete gloss and as such a complete critical edition of the book was urgently needed.

Thanks to Dr. R. S. Chaturvedi who took up the Herculean task of providing a correct reading of the text and commentary, a supplement to the incomplete commentary of Utpaladeva, a comprehensive exposition in Hindi, our national language and a satisfactory introduction to the present edition. I congratulate Dr. Chaturvedi for his painstaking labour and am confident that this edition will satisfy the longfelt need of the Scholarly world and bring a warm appreciation to him.

( L. N. Sharma )

Director

Centre of Advanced Studies  
in Philosophy

Faculty of Arts

Banaras Hindu University

Varanasi-221005





## निवेदन

निगमाग्र की गंगा वसन्त! अनादिकाल से हम देश की आध्यात्मिक वसुधरा को गींचती चली आ रही है। इनसे मिश्रित नैगमिक दर्शनों की भांति आगमिक दर्शनों की भी अनेक वाटिकायें हैं। काश्मीर जीवदर्शन उन्ही वाटिकाओं में से एक अद्वितीय पुष्पवाटिका है और शिवदृष्टि उस वाटिका का एक प्रफुल्ल गुमन। नवीं सदी ईस्वी में आविर्भूत आचार्य नेमानन्दसाधुद्वारा रचित इस शिवदृष्टि की आधार-शिला पर काश्मीर जीवदर्शन के भव्य प्रमाण की रचना हुई है।

ब्राह्मकाल से ही सिद्धमहत्माओं के जीवनवृत्त के श्रवण की वल्लभों स्पृहा से उपरजित मैंने जब अपने वीरभागर श्री ६ शिवचैतन्यवर्णों की से एतदर्थ निवेदन किया और उनके निदेशानुसार 'मनीषी की लोचयात्रा' का अवलोकन किया तब महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज की अन्य कृतियों के अध्ययन की उत्कण्ठा प्रबल हो उठी। फलस्वरूप प्रो० लक्ष्मीनिधि वर्मा (अध्यक्ष, दर्शनविभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) के परामर्शानुसार सद्यः कविराज जी के 'तान्त्रिक ब्राह्मण्य में शाक्तदृष्टि' के अध्ययन का सुझावर मित्र। तत्पश्चात् परमशिव के स्वानन्द-वर्ण मेरे मन से आगमिक विषय पर कार्य करने की अनिष्टावा उठी और जब मैंने उस विषय में पुनः प्रो० वर्मा जी विचारविमर्श किया तो उन्होंने ने 'शिवदृष्टि' का संस्कृत एवं प्रकाशित करने का परामर्श दिया।

शिवदृष्टि का प्रथम संस्करण काश्मीर नृसिंहनारायणी के तन्वावधान में प्रकाशित हुआ था। यह संस्करण मद्रास पुस्तकालय में उत्कृष्ट पाण्डुलिपि के अनुकरण के आधार पर मुद्रित किया गया था। हममें दो नृपनार्यें थी। प्रथम नृपता मूलग्रन्थ में वर्तमान अङ्कितियों की थी। चतुर्थ आद्विक ने सप्तम आद्विक तक का सूत्रकारिका भाग अनेक स्थलों पर सन्दिग्ध एवं अशुद्ध था। दूसरी वृष्टि महामाहेश्वर उपलब्धेवाचार्य कृत वृत्ति के सन्दर्भ में थी। यह वृत्ति चतुर्थ आद्विक के ३४वें श्लोक तक ही उपलब्ध और मुद्रित थी। उन दोनों नृपताओं को दूर करना अपना प्रथम पुनीत कर्तव्य समझ कर एतदर्थ मैंने जब प्रत्यभिज्ञादर्शन के तत्कालीन लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् पं० रामेश्वर सा जी से निवेदन किया तो उन्होंने इस विषय में प्रकारान्तर से अपनी अनुमतिता व्यक्त की। अन्य किसी विद्वान् के उपलब्ध न होने से चार पाँच वर्षों तक मैं द्रोतपाद होकर दम दिवा में इधर उधर भटकता रहा। बीच-बीच में काश्मीर जीवदर्शन के प्रकाण्ड पण्डित श्री बलजिनाथ

शास्त्री ने पत्राचार द्वारा जिज्ञासुओं की शान्ति के प्रयत्नशील रहा। अन्त में महापति के लीलावैचित्र्य के फलस्वरूप मेरा सम्पर्क विश्वा और हृदय के उदात्ततम निदर्शन श्रेष्ठ पं० सद्गुरु डा. जी ने हुआ और उन्होंने इस विषय में स्नेह और सौहार्द के साथ मेरी सहायता की। अपनी अन्तर्दृष्टि और आदरणीय पं० डा. जी की सहायता पर उपलब्ध गृह्यता के आधार पर मैंने इस पुस्तक की अगुइयों को दूर करने का प्रयास किया है। शुद्ध पाठों को घटे कोष्ठको [ ] में रखा गया है।

जहाँ तक वृत्ति को पूरा करने का प्रश्न है उस विषय में कहाँ तो यैश्वी साधना के सकल अभ्यासद्वारा चरम तत्त्व का साक्षात्कार कर उसके रस का पूर्ण आस्वादन करने वाले शास्त्रपारगृह्य महामातेश्वर उत्पलदेवाचार्य और कहाँ मे ? वृत्ति को पूर्ण करने की चेष्टा मेरे लिये 'प्रांगुलभ्ये फले लोभादुदाहृत्स्व वामनः' के गृह्य थी। तथापि 'मणौ वज्रममृत्कीर्णं सूत्रस्येवास्ति मे गतिः' उक्ति को चरितार्थ करने हुए मैंने यशसम्भव आचार्य उत्पलदेव की शैली को ध्यान में रखकर ग्रन्थ की अवशिष्ट वृत्ति को पूरा करने का तुम्साहस किया है। प्रथम संस्करण में उत्पलदेव की वृत्ति को प्रतीकहित मुद्रित किया गया था। प्रस्तुत संस्करण में यैने मूलकारिकाओं के प्रतीकों का वृत्ति में समावेश करने का प्रयास किया है।

वृत्ति के नीचे टिप्पणी मुद्रित है। प्रथम संस्करण में इसे अङ्कों से संकेतित किया गया था। इस संस्करण में इस टिप्पणी को कारिकाओं तथा मूलग्रन्थ एवं वृत्ति में आये प्रतीकों से संकेतित किया गया है।

संस्कृतभाषा के अल्पज किन्तु शैवदर्शन के गृह्याभिलाषी व्यक्ति भी इस पुष्प-पराग का आनन्द ले सके पतदर्थ कारिकाओं की हिन्दी व्याख्या भी प्रस्तुत की गई है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के साङ्गोपाङ्ग सक्षित परिचय के लिये भूमिका में इस दर्शन के उद्भव और विकास तथा दार्शनिक विषयवस्तु का संक्षिप्त विवेचन भी प्रस्तुत है। साथ ही भूमिका के अन्तिम भाग में शिवदृष्टि के वर्णविषय का अल्पपरिचय भी उपनिहित है।

इस संस्करण के प्रकाशन में जिन लोगों ने सहयोग मिला उनमें सर्वप्रथम पं० सद्गुरु डा. जी हैं। मैं उनका शाश्वत ऋणी हूँ। प्रो० ए० लक्ष्मीनिधि शर्मा जी का भी मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने सशसमय यशसम्भव सहायता देकर इस दिशा में मेरा उत्साहवर्धन किया। अपने विभाग के प्राध्यापक डा० श्री नारायण मिश्र जी ने इस प्रकाशन में जो स्नेहपूर्ण सहयोग किया, मैं इसके लिये उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। हिन्दी व्याख्या और भूमिका की पाण्डु-



लिपि तैयार करने में मेरी पुत्री कुमारी श्रमा चतुर्वेदी ने मेरी सहायता की अतः वह भी मेरे स्नेह और आशीः की अधिकारिणी है । इस पुस्तक के मुद्रण और प्रकाशन के लिये मैं वाराणसीय संस्कृतसंस्थान का भी आभारी हूँ । और सबके अन्त में मैं उग्र विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय परमशिव का अनुगृहीत हूँ जिन्होंने अन्तःप्रेरणा दे देकर इस कार्य को निर्विघ्न पूरा कराने की कृपा की ।

विद्वत्समाज के समक्ष प्रस्तुत मेरा यह प्रयास सर्वथा समीचीन सर्वाङ्गीण और निर्दुष्ट है, बट्ट कहने का साहस मैं नहीं कर सकता । 'श्रेयसि केन तृप्यते' के अनुसार इस ग्रन्थ के सन्दर्भ में अभी बहुत कुछ करणीय है ।

इस संस्करण में शुद्धिपत्र देने का अवसर न मिलने के कारण पाठकों से निवेदन है कि वे ट-ठ, ड-ड, घ-ध, भ-म, व-व तथा अनुस्वार आदि के अशुद्ध मद्रित पाठों को स्वयं शुद्ध कर लें ।

मेरे उग्र तुच्छ प्रयास से यदि मनीषीवर्ग को किञ्चित् सन्तोष हुआ तो मैं स्वयं को धन्य तथा श्रम को सार्थक समझूँगा ।

श्री रामनवमी  
वि० सं० २०४३

विद्वद्ब्रह्म  
राधेश्याम चतुर्वेदी

## विषय-सूची

विषयः	पृष्ठाङ्काः
भूमिका	I-xxxiv
प्रथममाह्निकम्	१-३१
द्वितीयमाह्निकम्	३२-७९
तृतीयमाह्निकम्	८०-१२३
चतुर्थमाह्निकम्	१२४-१७४
पञ्चममाह्निकम्	१७५-२१४
षष्ठमाह्निकम्	२१५-२५८
सप्तममाह्निकम्	२५९-२९९
श्लोकांशुक्रमणिका	३०१-३१४





## संकेत-सूची

अ० प्र० सि०	अजडप्रमातृकासिद्धि
ई० प्र०	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा
ई० प्र० वि०	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
उ० स्तो०	उत्पलस्तोत्रावली
छां० उ०	छान्दोग्योपनिषद्
तं० आ०	तंत्रालोक
पा० यो० सू०	पातञ्जलयोगसूत्र
पा० शि०	पाणिनिशिक्षा
पा० सू०	पाणिनिसूत्र
प्र० वा०	प्रमाणवार्तिक
प्र० ह०	प्रत्यभिज्ञाहृदय
प्र० ह० सू०	प्रत्यभिज्ञाहृदयसूत्र
त्र० सू० भा०	ब्रह्मसूत्रभाष्य
भ० गो०	भगवद्गीता
म० मं०	महार्थमंजरी
मा० वि० तं०	मालिनोविजयतंत्र
मा० वि० वा०	मालिनोविजयवार्तिक
मां० का०	माण्डूक्यकारिका
मां० का० वृ०	माण्डूक्यकारिकावृत्ति
वा० प०	वाक्यपदीय
वि० भे०	विज्ञानभैरव
शि० दृ०	शिवदृष्टि
शि० म०	शिवमहिम्नस्तोत्र
शि० सू० वा०	शिवसूत्रवार्तिक
शि० सू० वि०	शिवसूत्रविमर्शिनी
प० त्रि० तं० सं०	पट्विशततत्त्वसन्दोह
प० त्रि० दं० मं० वि०	पट्विशततत्त्वगन्धोहविमर्शिनी
स० दं० सं०	सर्वदर्शनसंग्रह
स्म० चि०	स्मृत्यचिन्तामणि
स्म० का०	स्मन्दकान्तिका



## भूमिका

[ १ ]

### काश्मीर शैवदर्शन : उद्भव और विकास

परमात्मा, जीवात्मा और जगत् इन तीन के द्वारे में किये जाने वाले विचार का नाम दर्शनशास्त्र है। प्रमाण आदि अवान्तर विषय भी इसी विचार का पूरक होने के कारण दर्शनशास्त्र की परिधि में आ जाते हैं। इस प्रकार के विचार का सर्वप्रथम साक्षात्कार हमें वेदों में होता है क्योंकि वे विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इसी कारण भारत का प्रत्येक आस्तिक दार्शनिक सम्प्रदाय वेदों में ही अपनी परम्परा का उत्स खोजता है और उन्हीं को अपनी परम्परा का मूल मानता है। जैव दर्शन इनका अववाद नहीं। ऋग्वेद के 'इमा रुद्राय तमहे' 'व्यम्बकं यजामहे' छान्दोग्योपनिषद् का 'सदेव गोम्येदमग्र आसीत्, एकमेवाद्वितीयम्', तद्वैश्वत बह्वृ स्यां प्रजावेय', तथा बृहदारण्यक का 'स ये नैव रमे'; 'न द्वितीयमेच्छन्' इत्यादि वचन वेदोपनिषद् को दार्शनिक तत्त्वों का मूल सिद्ध करते हैं। धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादि वचन सृष्टि की अनादिता को सिद्ध करते हैं और वेद भी अनादि हैं, अतः यह मानना अस्वाभाविक नहीं कि दार्शनिक विचारों की परम्परा भी अनादि है भले ही वह लिखित या अन्य रूप में परवर्ती मानवसमाज को मिली हो। अस्तु।

शैवदर्शन दार्शनिक अनादिता के प्रवाह की एक प्रमुख धारा है। चूंकि भारतीय परम्परा में धर्म और दर्शन एक दूसरे के सहगामी और पूरक रहे हैं क्योंकि धर्म के बिना दर्शन शुष्क है, निष्प्राण है और दर्शन के बिना धर्म अन्धा है; अतः शैवदर्शन को भी जैव धर्म से पृथक् करके देखना अनीचित्यपूर्ण है। इस दृष्टि से जब हम शैवदर्शन के स्थूल प्रमाणों का अन्वेषण करते हैं तो सर्वप्रथम हमें सिन्धु घाटी के प्रागैतिहासिक युग के अवशेषों का साक्षात्कार होता है। ये अवशेष इस तथ्य के प्रमाण हैं कि मोहनजोदड़ों और हड़प्पा के निवासी शैवधर्मानुयायी थे। मूर्तियों के अवशेष शैवधर्मसम्मत लिङ्गपूजा, योनिपूजा, मानदेवी और पशुपति की पूजा तथा शम्भवी मुद्रा की साधना के ज्वलन्त और सजीव प्रमाण हैं। परवर्ती काल में बौद्धों का योगाचार बज्रयान आदि, मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ आदि का नादपन्थी योग आदि तो भारत में शैवधर्म की प्रधानता के द्योतक हैं ही, अजन्ता पर्वतों आदि अत्यन्त प्राचीन मन्दिरों में उद्भूत विभिन्न



शृङ्गारिक मुद्रा की प्रतिमायें और विग्रह भी गुरु प्राचीन काल में शैवधर्मसम्मत चर्याक्रम के प्रचलन की सूक्ष्माक्षी हैं ।

जिस प्रकार तिगम श्रवण वेदोपनिषद् को भारतीय आस्तिक दर्शनों का मूल-श्रोत माना जाता है उसी प्रकार आगम अर्थात् सत्त्वसास्त्र की शैवदर्शन के मूल उत्स की मान्यता प्राप्त है । वेदोपनिषद् से द्वैत द्वैताद्वैत तथा अद्वैत वेदान्त की भाँति आगमशास्त्र से भी तीन शैवदार्शनिक धाराओं का आविर्भाव माना गया है—वे हैं—भेदवादी—शैव सिद्धान्त ( तमिळनाडु का ), भेदाभेदवादी—काश्मीर ( कर्नाटक का ) और अभेदवादी—अद्वैतशैवदर्शन या सम्मिश्रशैवदर्शन ( काश्मीर का ) । कुछ विद्वानों की यह धारणा, कि आगमशास्त्र काश्मीर शैवदर्शन का ही एक भाग है, शैवदर्शन के सिद्धान्तसम्बन्धी उनके गम्भीर अध्ययन के अभाव का प्रदर्शित करती है । उसी प्रकार काश्मीर शैवदर्शन के सम्बन्ध मान्य और प्रत्यभिज्ञा सास्त्र को उस शैवदर्शन का दूसरा और तीसरा भेद मानना भी न तो सुनिश्चित है और न शास्त्रसम्मत ।

कौट भी दार्शनिकसम्प्रदाय परिपूर्ण सभी माना जाता है अब उसका व्यावहारिक पक्ष भी उतना ही समझ हो जाना कि सिद्धान्त का । बिना व्यावहारिकता के सिद्धान्त की चर्चा कभी सम्भवान है । इसलिये प्रायः हर दार्शनिक सम्प्रदाय मानता उपनिषद् या भक्ति किंवा न किंवा व्यवहारमात्र का उपदेश देता ही है । काश्मीर शैवदर्शन के भी उसी प्रकार के वायव्य है । सिद्धान्त पक्ष का पूर्वसम्बन्ध प्रत्यभिज्ञा सास्त्र में देने की निवृत्ति है । यहाँ केवल से नैवायिक दार्शनिकों की नीति के अनुसार विद्वानों का प्रतिपादन पूर्णतः पूर्व उत्तरपक्ष की नीति में किया है । यद्यपि कल्पना मात्रा से बच-वही मानना यह वा भी निश्चय है । उसी प्रकार सत्त्वसास्त्र का प्रतिपाद विषय सूक्ष्मता मानना है । सिद्धान्तों की ओर केवल संकेत मिलते हैं । इस प्रकार आगम, प्रत्यभिज्ञा एवं आगमशास्त्र काश्मीर शैवदर्शन के क्रमशः मूल भाग, सिद्धान्त तथा पूर्व व्यवहार पक्ष का साधन पक्ष के प्रतिपादक हैं यह कहना अनावश्यक है ।

विकसन की दृष्टि से शैवदर्शन का ये भागों में बाँटा उचित होगा—

१. आगम काल      २. दार्शनिक काल ।

आगमकाल—

पहले यह कहा जा चुका है कि आगमशास्त्र शैवदर्शन के मूल स्रोत है । जिस प्रकार उपनिषद् द्वैत, द्वैताद्वैत, अद्वैत आदि वेदान्तों की सारा मूल्य है उसी प्रकार आगमशास्त्र की विविध शैवदर्शनों की सम्मिलित मूलराशि है । ये आगम प्रायः

शिवशास्त्री के संवाद होते हैं। जिनमें अभिचारकुसुम आदि बहुत सी बातें होती हैं। दार्शनिक तन्त्र इनमें द्रुतततः विकीर्ण रहते हैं। उन्हें एकत्रित कर क्रमबद्ध रूप देना दार्शनिकों का काम होता है। यद्यपि आगमों की संख्या बहुत अधिक थी तथापि अवशिष्ट आगम निम्नलिखित हैं—

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र, स्वच्छन्द तन्त्र, रुद्रयामल तन्त्र, नेत्र तन्त्र, मुग्ध तन्त्र, विज्ञानतन्त्र, पराव्रीणिका और शिवसूत्र । इनके अतिरिक्त उच्छ्रमभैरव, आनन्दभैरव, मातंग, तैश्वाग तथा स्वायम्भुव तन्त्रों की भी प्रतीति मिलती है । इनमें से काश्मीर शैवदर्शन के मूल आधार के रूप में मालिनीविजयोत्तर, स्वच्छन्द, शिवसूत्र, विज्ञानतन्त्र और पराव्रीणिका के ही नाम आते हैं ।

यद्यपि उक्त ग्रन्थों के रूप में और आगमों की चर्चा लिपिबद्ध है तथापि जैसा कि आचार्य श्रीमानन्दनाथ ने शिवदृष्टि के अन्तिम आह्निक के उपसंहार में कहा है कि और आगम के रहस्य सुदूर अनिप्राचीन काल से ही ऋषियों के मुख में थे—  
उभादि-उत्पादि: इमे बहु समस्ता चाहिन् कि उपनिषदों के समान इन आगम ग्रन्थों का भी मूल असादि है यद्यपि गणितांत्रिकबोत्तर आदि तत्त्व अपेक्षाकृत प्रकीर्णित हैं। अतः जो भी हो वेदो-नाथना के द्वारा आगमशास्त्र का नाशालकार, लोभान् आगम ग्रन्थों का यथार्थ ज्ञान करने के बाद ही दार्शनिक ग्रन्थों की चर्चा या रचना हो सकती है। आचार्य श्रीमानन्द, जिसका नाम प्रत्यभिज्ञा दर्शन के नाम आचार्य या प्रवर्णक के रूप में दिया जाता है, इसी कौटिक के महापुत्र या मुक्त पुत्र्य रहे होंगे। उनके शिष्य आचार्य उत्पलदेव तथा उनके शिष्य लक्ष्मण सुन्द और लक्ष्मण गुप्त के शिष्य आचार्य अभिनव सुप्त भी नामान् कौटिक के माधक तथा विद्वान् प्रवीण होवे हैं यद्यपि लक्ष्मण गुप्त द्वारा रचित कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

प्रार्थना—

यैसा कि पहले कहा जा चुका है कि आरमभान्त प्रायः शिवपार्वती के संबन्ध में हैं, अतः आरमभान्त के कर्त्ता का नाम नहीं मिलता । शिवसूत्र के निमित्तान्तर भगवान् शिव हैं ऐसी मान्यता है । श्रीहठ नामधारी भगवान् शिव की कृपा में आचार्य वसुगुप्त जी, जो कि वर्षों वर्षों ईश के प्रारम्भ में वर्तमान थे, स्वप्न में शारंगद्वारा उन सूत्रों की काल्पनिक हुई ।<sup>16</sup> शिवसूत्रविमर्शिनी के अनुसार उन

१. श्रीमत्सहायवर्गः वनसुखतुः पना ।

मिहदिज्ञानं प्राप्नुयामन् मिहमुखाणि तस्य हि ॥ (मि० सु० वा० १-३)

सूत्रों की संख्या ४५ है। श्री वसुगुप्त धर्मवक मठिया के एक प्रधान गुरु थे। शिवसूत्रों में त्रिकमायना के द्वारा ज्ञान, समावेश, भाष्य समावेश आदि विविध विषयों पर प्रचुर मात्रा में प्रकाश डाला गया है। वसुगुप्त-रचित स्पन्दानुत, सिद्धान्त-चन्द्रिका आदि ग्रन्थों की भी चर्चा यत्र-तत्र मिलती है पर ग्रन्थ उत्पलदेव नहीं है।

वसुगुप्त के बाद इस शास्त्र को दो धानार्थ निकल पड़ी—एक धर्मप्रधान और दूसरी तर्कप्रधान या दार्शनिक-विज्ञान-प्रधान। पहली शाखा के आचार्यों में पहला नाम भट्ट कल्लट का लिया जाता है। ये वसुगुप्त के शिष्य थे। इनका काल नहीं बताया जा सकता। उन्होंने ५० श्लोकों में शिवसूत्रों की व्याख्या की जो स्पन्द-कारिका के नाम से प्रसिद्ध है। यह बात उत्पलभट्ट-रचित स्पन्दप्रदीपिका की ५३वीं कारिका से स्पष्ट होती है।<sup>१५</sup> किन्तु क्षेमराज वसुगुप्त को स्पन्दकारिका का कर्ता तथा कल्लट को इस कारिका का टीकाकार मानते हैं। इस प्रकार यह विषय आज भी अनिर्णीत है। इनके अनिर्णीत कल्लट को शिवसूत्रवृत्ति, स्पन्दसर्वस्व, तत्त्वार्थचिन्तामणि आदि ग्रन्थों का भी रचयिता कहा गया है।<sup>१६</sup> इस स्पन्द-कारिका पर भी पश्वर्ती आचार्यों द्वारा टीकाएँ लिखी गयीं। श्री कल्लट के बाद इस परम्परा के उत्तरवर्ती पुनः भट्ट प्रद्युम्न हुए जो भट्ट कल्लट के मातुल्य एक शिष्य थे। इनके पुत्र एवं शिष्य प्रजाजुन, प्रजाक्ष के शिष्य महादेव भट्ट और उनके पुत्र तथा शिष्य श्रीकंठ भट्ट हुए। श्रीकंठ भट्ट के शिष्य तथा शिवाकर के पुत्र भास्कर हुए जिन्होंने शिवसूत्रवार्तिक लिखकर अपनी परम्परा के आदि गुरु वसुगुप्त को और वेदीष्यमान कर दिया। भास्कर का काल ११वीं शती है। भट्ट-कल्लट की आगमप्रधान या धर्मप्रवण परम्परा यहाँ जाकर समाप्त हो जाती है। भास्कर के पुत्र एवं शिष्य लक्ष्मण गुप्त पुनः इस दार्शनिक परम्परा से जुड़े जाते हैं जिसे सोमानन्द के शिष्य उत्पलदेव ने प्रवाहित किया था।

आचार्यवसु गुप्त के द्वारा उद्घाटित धर्मवक्ताशास्त्र की तर्कप्रधान या दार्शनिक-विवेचनप्रधान शाखा के प्रवर्तक के रूप में आचार्य सोमानन्द नाथ का नाम लिखा

१. वसुगुप्तादवाच्येन सुमेतन्वाश्रयंशितः ।  
रहस्यं श्लोकयामास सम्बक् श्रीभट्टकल्लटः ॥
२. सगृह्यत्वान्नतः सोऽपि प्रादाद् भट्टाय गुरवे ।  
श्रीकल्लटाय सोऽप्येवं चतुःस्रष्टानि नामक ॥  
व्याकरणेन त्रिकमेतेभ्यः स्पन्दसूत्रैः स्वकीयतः ।  
तत्त्वार्थचिन्तामण्याख्यटीकया सगृह्यत्वान्नतः ॥

( जि० सू० वा० १-४-५ )



जाता है। जे० नी० चटर्जी के अनुसार ये भी सम्भवतः वसुगुप्त के जिय थे, परन्तु वरविज्ञाथ पण्डित का कथन है कि गोमानन्द के पिता का नाम आनन्दाचार्य था और ये ही उनके गुरु भी थे।<sup>१</sup> इसका पृष्टि शिवदृष्टि के नभम आदित्य के ज्योत्सं० १२० ने होती है।<sup>२</sup> आचार्य गोमानन्द भट्ट कण्ठ के समकालीन न होकर उनके सिद्धिन् परवर्ती थे। उस प्रकार उनका काल नवी शती का अन्तिम भाग था। आचार्य गोमानन्द का जन्म मिड्ड गंगमादित्य के वंश में हुआ था। मिड्ड गंगमादित्य श्री अम्बकादित्य की पन्द्रवी पीढ़ी की मन्तान थे और उनकी पाँचवीं पीढ़ी के वंशज थे—आचार्य गोमानन्द। उनके पिता का नाम आनन्दाचार्य था जो उनके गुरु भी थे। गोमानन्द सत्तिकाग्र थे। उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ शिवदृष्टि की रचना की थी। जे० नी० चटर्जी के अनुसार उन्होंने अपने ग्रंथ पर स्वोपज्ञ टीका 'वृत्ति' भी लिखी थी जो अभी तक अनुपलब्ध है। कुछ लोग 'पराशरिष्ठाशिवदृष्टि' को भी उनकी रचना मानते हैं। गोमानन्द की 'शिवदृष्टि' ही सर्वप्रथम ऐसा ग्रन्थ है जो प्रत्यभिज्ञादर्शन की नागोपांग 'ष्टभूमि' के रूप में लोगों के सामने आता और जिस पर अम्बकरीवदर्शन या काश्मीर शैवदर्शन का भव्य प्रामाद निमित्त हुआ।

आचार्य गोमानन्द के प्रधान जिय आचार्य उत्पलदेव के ग्रन्थ—ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा, सिद्धिचर्या, अजडप्रमानुसिद्धि, ईश्वरानिद्धि, सम्बन्धसिद्धि, स्तोत्रा-बली तथा इन पर लिखी वृत्तियाँ हैं। आचार्य गोमानन्द की शिवदृष्टि पर भी उनकी 'वृत्ति' है जो अंगतः उपलब्ध है। आचार्य उत्पलदेव श्री उदयाकर के पुत्र थे। गोमानन्द के समय को ध्यान में रखते हुए उनका काल नवी शती का अन्तिम तक और दशवी शती का प्रारम्भ रहा होगा ऐसा समझ में आता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि ये राजानक उत्पलदेव उन उत्पलभट्ट से या राजानक उत्पल वैष्णव से भिन्न हैं जिन्होंने स्पन्दकारिका के उपर प्रदीपिका नामक टीका लिखी थी। ये सम्भवतः आचार्य उत्पलदेव के परवर्ती रहे। राजानक उत्पल वैष्णव के जिय राजानक श्री रामकण्ठ थे जिन्होंने स्पन्दकारिका पर 'शिवदृष्टि' नाम की टीका लिखी।

आचार्य उत्पलदेव के बाद आगमप्रधान और तर्कप्रधान दोनों धाराएँ मिलकर एक ही गर्त और लक्ष्मण युक्त उन दोनों धाराओं के संगम के रूप में आविर्भूत हुए। उनके द्वारा रचित किसी ग्रन्थ की चर्चा नहीं है किन्तु ये आचार्य

१. का० शै० द०—भूमिका—प्रचलित अश्वार्थ मान्यताये। —पृ० २०।

२. आनन्दसंज्ञकस्तस्मादुद्बभूव तथाविधः।

तस्मादग्नि समुद्भूतः सामानन्दाख्य ईदृजः॥

अभिनव गुप्त के जीवनप्रवादसम्बन्धी अध्ययन के गुण रहे—यह निश्चित है ।  
 आचार्य अभिनवगुप्त की लेखनी प्राप्त कर वाष्णीय शैवदर्शन अपनी प्रेरणा को  
 प्राप्त हो गया । अभिनवगुप्त के पिता का नाम नरसिंह था जो उनकी व्याकरण-  
 जिज्ञा के गुण भी थे । उनके कोषमय के गुण श्री सम्भुनन्द, वेदान्त के गुण श्री  
 मन्तिराज और ध्वनिशिद्धान्त के गुण भिद्विचैत के शिष्य भट्टनारायण थे । सम्भु-  
 प्रतिभासम्बन्ध आचार्य अभिनवगुप्त का काल बचपी जती का अन्तिम भाग या  
 स्यान्हवी जती का प्रारम्भ माना जाता है । १०७ कालिचन्द्र शास्त्र के अनुसार  
 उन्होंने कालिय ग्रन्थों की रचना की थी । किन्तु डाल्फन ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—  
 ( शैव-दर्शन )—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविनिर्दिष्टा, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविबुधिविनिर्दिष्टा,  
 तन्त्रालोक, तन्त्रसागर, परमार्थसागर, परावर्तिकादिप्रकरण, मान्तिनीविज-  
 यान्तिक । ( स्तोत्र )—कमस्तोत्र, भैरवस्तोत्र, अनुभवनिवेदनस्तोत्र, अनुत्तरात्म-  
 कास्तोत्र, देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र । ( नाट्यिक )—लोचन ( ध्वन्यालोक पर टीका )  
 अभिनवभारती ( नाट्यशास्त्र पर टीका ) ।

आचार्य अभिनवगुप्त की परम्परा की आगे बढ़ाने का कार्य उनके प्रधान  
 शिष्य क्षेमराज ने किया । जैसा कि आचार्य अभिनवगुप्त के कालनिर्देश से  
 अनुमित होता है, आचार्य क्षेमराज भी स्यान्हवी जती के प्रारम्भ में रहे होंगे ।  
 उन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की थी—प्रत्यभिज्ञाहृदय, स्वन्दनन्दोद्घोत,  
 स्वन्दनिर्णय, स्वच्छन्दोद्घोत, नेत्रोद्घोत, विज्ञानभैरवोद्घोत, शिवसूत्रविनिर्दिष्टा,  
 स्तवचिन्तामणिटीका, परावर्तिका, तत्त्वसन्दोह । क्षेमराज के शिष्य क्षेमराज  
 ने अभिनवगुप्त के परमार्थसागर पर टीका लिखी थी । जयरथ और शिरोपाध्याय  
 भी इन परम्परा के प्रसिद्ध विद्वान् हो चुके हैं । महाराष्ट्र निवासी महेश्वरानन्द  
 की महार्थमञ्जरी और उनकी पञ्चमल टीका, कश्मीर के शितिकण्ठ का महानन्द-  
 प्रकाश, पुष्पानन्दनाथ का कामकलाविलाम, स्वतन्त्रानन्दनाथ का मातृवा-  
 चकविवेक, वातूलनाथ का सूत्र, चक्रपाणिनाथ का साधोपहार, कालिदास की  
 चिद्गगनचन्द्रिका, विद्याधरनाथ की विद्याधरपञ्चाशिका भी प्रसन्नोक्त ग्रन्थ  
 हैं । उक्त ग्रन्थों के अनिर्दिष्ट कश्मीरमण्डल और भी अनेक ग्रन्थों से परिपूर्ण रहा  
 है जिनके अन्वेषण, मुद्रण और प्रचार आदि की आवश्यकता का अनुभव अब  
 जिज्ञासु मनीषीवर्ग को हो रहा है ।

## काश्मीरशैवदर्शन : संक्षिप्तपरिचय

अतीमयेव शैवों की दृष्टि में रहने हुए भारतीय दार्शनिकविचारपरम्परा की तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—(१) अवैदिक, (२) अर्धवैदिक और (३) पूर्णवैदिक । प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत बौद्ध जैन और चार्वाक दर्शनों की गणना की जा सकती है । जैन पाञ्चनक्ष आदि दर्शनों को अर्धवैदिक परम्परा की कोटि में रखना उचित है क्योंकि ये दर्शन वेदविरोधी नहीं हैं प्रसृत ब्राह्मण में वैदिक होने हुए आत्मनिक रूप से का तत्त्वतः आत्मिक है । न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, सोमंशानन्दशास्त्र उन ही दर्शनों को पूर्ण वैदिक दर्शन की मान्यता प्राप्त है । उनके वर्गीकरण के अनुसार काश्मीर शैवदर्शन द्वितीय श्रेणी में आने वाला दर्शन है क्योंकि यह दर्शन वैदिक धर्म को र्क्षाकार करते हुए अपनी आत्मिक स्वभावता को अक्षुण्ण बनाये रखा है । कभी तो आचार्य अभिनव गुप्त ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

“गर्भाज्ञानादितः कृत्वा यावदुद्गाहमेव च ।

तावत्तु वैदिकं कर्म पश्चाच्छैवे ह्यनन्यभाक् ॥

( तं० आ०, ३.५.२७८ )

### परमेश्वर—

काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार परमेश्वर या परमशिव ही एक मात्र परमसत्य है । वह शुद्धप्रकाशस्वरूप है । वह प्रकाश सूर्य या मणि के प्रकाश जैसा जड़ नहीं अपितु चैतन्यस्वरूप है अर्थात् परमशिव को अपनी सत्ता का ‘अहम्’ रूप में सदा आभास होता रहता है । इस परमेश्वर के दो स्वरूप हैं—(१) विश्वोत्पत्ति और (२) विश्वसम । परमेश्वर एक ही साथ अपने दोनों स्वरूपों में शाश्वत एवं सतत-स्वप्न विराजमान है यह कहना अनापेक्षक है । पहली स्थिति में वह केवल प्रकाश-सम है; उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं । यद्यपि मयूराण्डरसम्वायेन यह विश्व उस समय भी उसके अन्दर अवस्थित रहता है पर इस विश्व का उसे आभास नहीं रहता । इस प्रकार यह अवस्था केवल अतीम मुक्त ‘अहम्’ स्वरूप की अवस्था है । पूर्ण तत्त्व की इस सम्भीरुतम स्थिति में नत् चित् आनन्द की कल्पना भी असम्भव है । यह अव्यक्त, अव्याकृत, निर्गुण, सगुण, चिरनिर्गुह सत्य की वह परमगहन स्थिति है जिसका किसी भी मान्यम में निरूपण नहीं हो सकता । परमशिव का



• दूसरा स्वरूप विश्वमय है। यह सच्चिदानन्दस्वरूप है। परमेश्वर जब अपनी सत्ता का स्वयं विमर्श करता है; जब उसके अन्दर शक्ति का उल्लास या स्पन्दन होता है तब पूर्ववर्णित गर्भाग्निमन्मात्र की स्थिति में ही आत्मप्रकाश रूप में उसकी एक कला या सूक्ष्मतरंग शक्ति आविर्भूत होती है जिसे चिन् कहते हैं। यह चिन् उस पूर्ण सत्य की बहिर्मुखता का प्रथम प्रकाश है। यही विमर्श, प्रत्यवर्णन, परावाक्, शक्ति आदि नामों से पुकारी जाती है। तान्त्रिक शब्दावली में यह अनुत्तर के नाम से प्रसिद्ध है। जिस स्पन्दन के कारण सत् ने चिन् का आविर्भाव हुआ वह स्पन्दन एक ओर तो सत् को पकड़े रहता है दूसरी ओर वह चिन् को भी सन्निध करता है। फलस्वरूप वहाँ अर्थात् चिन् में आनन्द का आविर्भाव होता है। उसी प्रकार चिन् भी आन्तरिक रूप से सत् के साथ रहने हुए भी बाह्य रूप से आनन्द के साथ वर्तमान है। इस दृष्टि से चिन्, सत्परमेश्वर की अन्तरंगा शक्ति है और आनन्द उसकी बहिरंगा शक्ति। यह भेद केवल समझने समझाने के लिए है, वस्तुतः पृथक् कुछ नहीं। सब उस परमेश्वर की ही सत्ता है। जब परमेश्वर अपनी विमर्श शक्ति के द्वारा उन तीनों रूपों में बहिर्मुख होता है तब वह उसका विश्वमय रूप बहकाता है। यह परम शुद्ध प्रकाशस्वरूप होने हुए भी परम शुद्ध विमर्शरूप भी है। विश्वमयता की स्थिति में प्रकाशविमर्श साथ-साथ चलते हैं। सब पूछा जाय तो विमर्श कोई पृथक् वस्तु नहीं, वह प्रकाश का स्वभाव है।<sup>१</sup> तान्त्रिक यह है कि प्रकाश की प्रकाशता ही विमर्श है। उसी प्रकार विमर्श की विमर्शता ही प्रकाश है। यदि प्रकाश में विमर्श न हो तो वह स्फटिक आदि के समान जड़ हो जायगा।<sup>२</sup> इस प्रकार अपनी विमर्श शक्ति के द्वारा वह स्वयं सभी रूपों में भागित होता है। विश्वमयता की स्थिति में वह शुद्धसंविद् रूप है। जड़ जेतन सब कुछ वह संविद् ही है। उस अनुत्तर संविद् में देयकालावधारकता कोई भी संकोच नहीं। वह सदा पूर्ण है। नित्य में नैष्ठ, दधि में घृत आदि के समान समस्त विश्व उस शुद्ध संविद् में सदैव पड़ा रहता है।

### स्वानन्वय—

स्वानन्वय काश्मीर जीवदर्शन का मूल सिद्धान्त है। परमेश्वर के जिन दो रूपों का संक्षिप्त परिचय पहले दिया गया, उनके ये स्वरूप उसके स्वानन्वय के ही कारण हैं। स्वानन्वय शब्द का अर्थ है—अपनी अभीष्टता। परमेश्वर अपने अभीष्ट है,

१. प्राग्विचार्योप्रकाशः स्यात् प्रकाशात्मनया विना । ( उ० प्र० १.५.२. )

२. स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा ।

प्रकाशोऽर्थोऽनन्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः ॥ ( उ० प्र० १.५.११. )

किमी दूसरे के नहीं। उसके विपरीत नाग विश्व उसके अधीन है। परमेश्वर अपने मूल रूप में एक मात्र असीम परिपूर्ण प्रकाशस्वरूप है और कुछ नहीं। इस 'अहम्'-स्वरूप पूर्णप्रकाश के ही विश्वोत्पत्ति और विश्वमय दो रूप हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि परमेश्वर एक ही साथ विश्वोत्पत्ति और विश्वमय दोनों है क्योंकि वह असीम और परिपूर्ण है। उनका इस प्रकार का होना उनके स्वातन्त्र्य के कारण है या उनका ही स्वातन्त्र्य है। यद्यपि दीपक रसादिक दर्पण आदि भी प्रकाशस्वरूप हैं किन्तु वह शुद्ध 'अहम्' रूप असीम प्रकाश उन सबसे भिन्न है, कारण दीपक आदि जो न तो स्वनिष्ठ स्वप्रकाशता का और न ही स्वनिष्ठ परप्रकाशता का ज्ञान रहता है पर उम शुद्ध 'अहम्' को ऐसी प्रतीति सदा बनी रहती है कि 'मैं हूँ' 'मैं विश्वोत्पत्ति और विश्वमय दोनों हूँ' 'मैंने अतिरिक्त कुछ नहीं है' इत्यादि-इत्यादि। यह प्रतीति ही विमर्श या स्वातन्त्र्य कहलानी है। स्पष्ट समझने के लिये यह कहा जा सकता है कि प्रकाश ज्ञानस्वरूप है और विमर्श या स्वातन्त्र्य क्रियास्वरूप है, परन्तु वह प्रकाश या ज्ञान क्रिया से और क्रिया या स्वातन्त्र्य ज्ञान से पृथक् नहीं है; दोनों एक हैं। क्योंकि उस परमेश्वर में ज्ञान और क्रिया दोनों परस्पर ओत प्रोत भाव से अभिन्न, समरस तथा एकत्व में रहते हैं। इस प्रकार सविमर्श-प्रकाश या सप्रकाश-विमर्श वा ही एक नाम स्वातन्त्र्य है।<sup>१</sup>

आशाम—

श्री जगदीशचन्द्र चट्टोपाध्याय आदि कुछ विद्वानों का मत है कि सर्जन की दृष्टि से यह सृष्टि महेश्वर का स्वातन्त्र्य है तथा उसकी अभिव्यक्ति या आविर्भाव की दृष्टि से यही सृष्टि उसका आशाम है। मयूराण्डरमन्याय में यह सृष्टि या समग्र विषय उस महेश्वर में अभिन्न रूप से विद्यमान रहता है। आ का अर्थ है—उपत् या संकुचित, और भाग का अर्थ है—प्रकाशन। इस प्रकार यह विश्व उस पूर्ण संवित् का संकुचित प्रकाशन मात्र है। आशाम दर्पण में प्रतिबिम्बित आकारों के समान है: "अर्थात् यह प्रतिबिम्बरूप आशाम दर्पणरूप शिव से भिन्न नहीं है।" समुद्र में तरंग, आवर्त, बुदबुद की भाँति जेतना में भी आशाम उठते हैं: जिस

१. अतिदुर्घटकारित्वमस्यानुत्तरमेव यत् ।

एतदेव स्वतन्त्रत्वमैश्वर्यं बोधरूपता ॥ ( वो० पं० ७ )

२. दर्पणविम्बे यद्वन्नगरप्रामादविषमविभागि ।

भानि विभागेनैव च परस्परं दर्पणादपि ॥

विमलतमपरमभैरवयोधात् तद्वद् विभागशून्यमपि ।

अन्योऽन्यं च तनोऽपि च विभक्तमाभानि जगदेतत् ॥ ( १० भा० १२-१३ )

प्रकार तरंग आदि से समुद्र को, उसी प्रकार आभाओं के उत्थान-पतन से परम-चेतना को कोई लाभ-हानि इत्यादि नहीं है। आभाएँ प्रकट और लीन होती हैं किन्तु उनकी अविद्यारूपी चेतना में कोई विकार या परिवर्तन नहीं होता।

आभाएँ महेश्वर की कल्पनाओं का बहिःप्रलेप मात्र हैं।<sup>१५</sup> उन सृष्टि के लिए उसे किसी बाहरी उपादान की आवश्यकता नहीं होती। वह अपनी इच्छा द्वारा ही एका करने में समर्थ है। जो पदार्थ महेश्वर के आत्मस्वरूप हैं वे ही उसकी इच्छा से जेय रूप में प्रकट होते हैं। ये पदार्थ महेश्वर के 'अहम्' रूप हैं पर उसकी इच्छा से जीवों को बाह्य रूप में आभासित होते हैं। महेश्वर के आत्मस्वरूप होने के कारण ये आभाएँ सत्य हैं मिथ्या नहीं। यद्यपि वे आभाएँ महेश्वर की पूर्णता में कोई अन्तर नहीं ला सकती। यह आभावाद साम्य के परिणामवाद के विपरीत है।

पं० बलजिनाथ शास्त्री का विचार है कि आभावाद जीवद्वन्द्व का कोई वाद या मिथ्यात्व नहीं। इस दर्शन का मुख्य मिथ्यात्व स्वातन्त्र्य है जो कि कोई वाद नहीं बल्कि वस्तुस्थिति का कथन है।

स्पन्द—

आगमशास्त्र में स्पन्द शब्द का प्रयोग विभिन्न स्थलों में विभिन्न अर्थों में किया गया है। तथैव यैवर्तन में परमेश्वर की इच्छाशक्ति की शक्ति ही स्पन्द शब्द का वाच्य है। शुद्ध प्रकाश या आत्मस्वरूप शिव जब अपनी प्रकाशात्मकता या जानात्मकता का विमल कर्ता है तो वह विमल (unlowness) ही स्पन्द कहलाता है। अवाङ्मनसोच्च परमेश्वर का स्वस्वनिवेदन करते हुए वह कहा जा चुका है कि सम्भाव उस परमशक्ती की दो शक्तियाँ हैं—चित् और आनन्द। पहली शक्ति अन्तरंग है और दूसरी उसकी अपेक्षा बहिर्गंग। विमलोन्मीयता की स्थिति में ये दोनों शक्तियाँ उसमें सुगन्ध, अधिभक्त रहती हैं। उस समय वह केवल चिदानन्दस्वरूप रहता है।<sup>१६</sup> उसकी इच्छा जान और किया ये तीनों शक्तियाँ उस समय पृथक् अस्तित्वशून्य होकर शिवरूप में ही वर्तमान रहती हैं। परमेश्वर उस

✓ १. चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद् बहिः।

योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥ ( ई० प्र० १.५.७. )

२. मुमुक्षुशक्तिविवर्तयमामरस्येन वर्तते।

चिद्रूपाह्लादपरमो निर्विभागः परस्तदा ॥ ( शि० दृ० १.४ )

समय शान्त समुद्र की भांति अवस्थित रहता है ।<sup>१</sup> चेतना के उम अमीम परिपूर्ण सागर में उसी के स्वातन्त्र्यवश जब आनन्दस्वरूप एक हलचल उत्पन्न होती है या यों कहिये कि उसके आनन्द की अनुभूति के अन्दर चमत्कार या गतिशीलता जैसी कोई विशेषता उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण उसका स्वातन्त्र्य वैचित्र्यमय विलास की ओर उन्मुख हो जाता है, उन समय की यही गतिशीलता स्पन्द कहलाता है । परमेश्वर के स्वरूप में ही क्रमरहित चमत्कारात्मक उल्लङ्घना या तान्त्रिक अन्धा-वली में मत्स्योदगी नाम ने प्रसिद्ध इसी गति को स्पन्द कहते हैं ।<sup>२</sup> बुद्ध गौतम अपने स्वरूप में रंजसाध भी विचित्रित नहीं होते परन्तु बौद्धिक स्तर पर भागो यह कुछ हिलती भी लगती है । वह प्रकाश भी अभिन्न एक होने हुए भेदाभास, भेदयुक्त सा प्रतीत होता है । यह प्रतीति स्पन्द का ही माहात्म्य है ।<sup>३</sup> ऊपर जिन स्वातन्त्र्य की चर्चा की गई है वह स्पन्द उसी अमीम परिपूर्ण स्वातन्त्र्य की छलकन है ।<sup>४</sup> आचार्य उल्लङ्घने ने उम स्पन्द को परमाश्रय की स्फुरत्ता अर्थात् फट्कन कहा है ।<sup>५</sup> अनन्त कोटि विश्व ब्रह्माण्ड परमेश्वर ही उसी छलकन, उसी फट्कन का समुल्लास है ।<sup>६</sup> जब शिव शक्तान्मय होते हैं तथा दक्षि, विमोन्मय होती है उम समय की अवस्था को तान्त्रिक भाषा में व्यास कहते हैं । इस अवस्था में शिव

१. तदा तस्मिन् महाकाशे प्रलीनशशिभास्करे ।

सौपुसपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः ॥ ( स्प० वा० २.९ )

२. तस्मान् स्वस्व एव क्रमादिगिहायेन चमत्कारात्मिका उल्लङ्घना, ऊर्ध्वगति-मत्स्योदगीतिप्रभृतिष्वर्द्धगमेषु निर्दिशतः स्पन्द उत्पन्नयेत् ।

( प० श्री० वि० पृ० २०० )

३. स्पन्दनं च विज्ञिज्ञानम् । एतच्च च विज्ञिज्ञाना मयचलमपि चलमाभास इति । प्रकाशस्वरूपं हि मनामपि तान्त्रिचये, अतिगन्धत इवेति । तदनन्-भेदाभासभेदयुक्तमिव च भाति । ( ई० प्र० वि० १.५.१४ )

४. निम्नं तडागपानीयं कः प्रवर्त्तयितुं शमः ।

परिपूर्णं पुनस्तस्मिन् प्रवाहाः सर्वतोमुखाः ॥

( मा० वि० वा० १.२४५.४६ )

५. सा स्फुरत्ता महासत्ता देवकालाविशेषिणी ।

संपा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥ ( ई० प्र० १३.१५ )

६. स्फुरयस्वन्मितात्मना स्फुरन्, विश्वसामृद्धिं स्वमामृगन् ।

यत्स्वयं निजगमेन घूर्णमि, तत्तममलमपि भावमण्डलम् ॥

( शि० स्तो० १३.१५ )



शक्तिहीन नहीं और शक्ति शिवहीन नहीं। यही अवस्था संघट्ट, स्फुरता, धूर्णन अथवा स्पन्द के नाम से जानी जाती है। और स्पष्ट समझने के लिए इसे परमशिव की उच्छा का पूर्व भाग कह सकते हैं।

तत्त्वावलोकन—

१. शिव—ऊपर यह कहा जा चुका है कि अनुत्तर मूर्ति परमशिव का प्रथम स्वरूप विज्योत्तर्ण है। यह उनका मौलिक रूप है। इस अवस्था में परमशिव स्वरूपानन्द में मग्न तो रहते हैं परन्तु उस रूप में उन्हें आनन्द का आस्वादन नहीं होता। क्योंकि उस स्वरूप का प्रसरण नहीं होता। यह स्थिर आनन्दरूप वस्तु ही निर्बल चिन्त है। जब इसके अन्दर गूढ़ स्पन्द होता है तब उसके प्रभाव से उनके बहिरन्मेष तथा अन्तर्निमेष होते हैं। आचार्य गोमानन्द ने शिवदृष्टि के प्रारम्भ में यही कहा है।<sup>१</sup> परमशिव का पहला आनन्द ही शिवतत्त्व कहलाता है।<sup>२</sup> यह शिव पुराणों में वर्णित कैलाशवासि या सर्वत्र लिङ्गरूप में प्रतिष्ठित शिव नहीं; यह विमर्शयुक्त प्रकाश सा यों कहिये कि शक्तिसंवलित परमशिव का ही स्वरूप है जिसे एकमात्र 'अहम्' का ही आभास होता रहता है। इस तत्त्व में उदरे हुए प्राणी अकल कहलाते हैं क्योंकि उनके अन्दर माया की एक भी कला नहीं रहती। मायना आदि के द्वारा इस स्तर पर पहुँचे हुए प्राणी शुद्धमविद्रूप मात्र अहं-स्वभाव वाले होते हैं।

२. शक्ति—परमशिव का अहं-विमर्श ही शक्ति है। उसे 'निषेधव्यापाररूपा' कहा गया है। शिवतत्त्व में जो केवल 'अहम्' का आभास होता है वहाँ 'उदम्' का निषेध करने वाली यही शक्ति है। जबकि शिव के पूर्ववर्ती परमशिव या परमाशिव में 'अहम्' और 'उदम्' दोनों समरस अवस्था में रहते हैं, ऐसा कहा जा चुका है। इसी शक्तितत्त्व के कारण निर्वृतचिन्त परमेश्वर 'अहम्', 'उदम्' अथवा वेत्ता और वेद्य के रूप में विभक्त हो जाता है। शक्ति के स्वरूप का वर्णन करते हुए एक आचार्य का कथन है—“तत्त्वमृष्टादिभेदानुद्धमन्ता मंहरन्ती च सदा पूर्णा च कृपा शोभयरूपा चानुभयरूपा चाक्रममेव स्फुरन्ती स्थिता।” इस प्रकार यह शिव से अभिन्न शिव की सर्जनात्मकतामात्र है। जब परमशिव स्वातन्त्र्यवश अपने हृदय में वर्तमान उच्छाजानक्रियाकारी त्रिकोण के माधुर्य से परिवर्धित उल्लास के द्वारा

१. आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन् निर्बलचिद्विभुः।

अनिन्द्येच्छाप्रसरः प्रसरद्भक्तिः शिवः ॥ ( शि० दृ० १.२ )

२. यदयमनुत्तरमूर्तिनिजेच्छयाऽखिलमिदं जगत्प्रपुम्।

परस्पन्दे मरुपन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्जैः ॥ ( प० त्रि० त० मं० १.१ )

अपने ही हृदय में बीजरूपेण वनमान अर्थतत्त्व को बाहर करना चाहते हैं तब वह शक्ति की संज्ञा से अलंकृत होते हैं।<sup>१</sup> यह शक्ति चिन्तनत्व की क्रियाशीलता है। श्रीमन्नानन्द ने शक्तिस्वरूप का वर्णन करने हुए कहा है—“आनन्दोच्छ्रिता शक्तिः गृह्यत्यात्मानमात्मना।”<sup>२</sup> इस प्रकार शिवतत्त्व से परमशिव के ज्ञान या चिन्तनत्व का प्राधान्य है और शक्तितत्त्व से उसके आनन्द की प्रधानता है। किन्तु आचार्य गोमानन्द नाथ का कथन है कि परमेश्वर की इच्छा का प्राधान्य ही शक्ति है आनन्द तो उस इच्छा का उद्देश्यसाध है।<sup>३</sup> इस शक्ति तत्त्व में ठहरने हुए प्राणी भी अकल ही कहलाते हैं क्योंकि माया की कला से मूल्य उन्हें भी केवल ‘अहम्’ का ही बोध रहता है।

३. सदाशिव—परमशिव की पांच शक्तियों के सामरस्य का भेद तथा उनमें से एक-एक शक्ति का प्राधान्य होने पर क्रमशः एक-एक तत्त्व का आविर्भाव होता है। इस प्रकार चिन्तनत्व का प्राधान्य होने पर शिव या अनाश्रित शिव वा तथा आनन्द का प्राधान्य होने पर शक्ति तत्त्व का स्फुरण होता है, यह ऊपर कहा जा चुका है। ठीक इसी प्रकार जब इस परमशिव में इच्छा का प्राधान्य होता है तब वही परमेश्वर सदाशिव या सदाशिव तत्त्व कहलाता है। उन सदाशिवतत्त्व के अधिष्ठाता भगवान् सदाशिव होते हैं। शक्तिक वाक्य के अनुसार उनका कमलाकार आसन सातकरोड़ मन्त्रों से सन्निभित, कामा आदि शक्तियों से युक्त तथा तारा आदि शक्तियों से सेवित है। वही सर्वशक्तिसम्बन्ध अमर्यकरोड़ भद्र विराजमान है। वे अपने शुद्ध प्रकाशात्मक विमर्श या विमर्शात्मक प्रकाश के अन्दर ‘इहम्’ अर्थात् प्रमेयता की धूमिली जलक के साथ ‘अहम्’ का अनुभव करते रहते हैं। गोमानन्द के अनुसार इच्छा का प्राधान्य शक्तितत्त्व में होता है; सदाशिवतत्त्व में परमेश्वर की ज्ञानशक्ति का प्राधान्य रहता है।<sup>४</sup> जो भी हो सदाशिव तत्त्व परमेश्वर का अन्तर्निवेश है; अर्थात् इस अवस्था में परमशिव अपने द्वारा अपने ही भीतर अपने से भिन्न किसी प्रमेय को देखते हैं जिसके पीछे उनका अपने द्वारा अपने ही पूर्णरूप का अंशतः गोपन काम करता रहता है। इस अनुभव का स्वभाव

१. स एको विश्वमेपितुं ज्ञातुं कर्तुं चोन्मुखो भवन् ।

शक्तिस्वरभावः कथितो हृदयत्रिकोणमधुमानलोल्लासः ॥ ( म० म० )

२. उ० स्तो० ।

३. तदेवं प्रसृतो देवः कदाचिच्छवितमात्रके ।

विभक्ति रूपमिच्छातः..... ॥ ( शि० दृ० १.२९ )

४. ....कदाचिज्ज्ञानमभितन । सदाशिवमृदेतात्..... ( जि० दृ० १.३० )

है—‘अहम् उदम्’ । इसमें ‘उदम्’ का अस्तित्व बहुत हल्का, धुंझला है जिसके चारों ओर ‘अहम्’ छाया हुआ है । राजानक आनन्द ने इस स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि ‘इस अवस्था में ‘उदम्’ अंग उमो प्रकार अस्फुट रहता है जैसे कि भविष्य में उल्लिखित होने वाले चित्र की चित्रकार के मन में कल्पना ।’ इन तत्त्व में रहने हुए प्राणियों को सन्महेश्वर कहा जाता है । इनका भी अनुभव भगवान् मदाशिव के अनुभव जैसा ही होता है ।

४. ईश्वर—यदि मदाशिव तत्त्व परमेश्वर का अन्तर्निमेष है तो ईश्वर तत्त्व उनका बहिर्लम्भ है । आचार्य सोमानन्द का कथन है कि इस ईश्वर तत्त्व में परमेश्वर की क्रिया बलिन का प्राधान्य रहता है । किन्तु राजानक आनन्द उसमें आनन्द की प्रधानता स्वीकार करते हैं । भगवान् मदाशिव के द्वारा परमेश्वरता की जिस बहिर्मुखी लीला का कार्य धिक्कृत नहीं हुआ था, केवल मनोनिष्ठ था, वह कार्य क्रियाप्राधान्य के कारण ईश्वर तत्त्व में अब अधिक अभिव्यक्त हो उठता है । उनका विर्भा है—‘उदम् अहम्’ । ये ईश्वरभट्टारक माया में दो स्तर और प्रकृति ने नव नगर द्वार के तत्त्व हैं । अतः वे दोनों उनका स्वर्ण तक नहीं कापाती । इन द्वार में रहने वाले प्राणी सन्मेश्वर कहलाते हैं । इनका अनुभव भी ईश्वर के अनुभव जैसा ही होता है । यह विश्व के भेदाभेदात्मक अनुभव की दशा होती है ।

५. शुद्धविद्या—शुद्धविद्या ही एक ऐसा तत्त्व है जिसके द्वारा ईश्वर, मदाशिव, जनि तथा जिव अपने-अपने स्वरूपों का संवेदन करते हैं क्योंकि इस शुद्धविद्या या तत्त्वविद्या के अतिरिक्त इस विश्व ब्रह्माण्ड में ज्ञान, संवेदन या अनुभव का कोई दूसरा साधन ही नहीं रहता । इन तत्त्व में समानुत्पन्नपुट्ठभावेन ‘अहम्’ और ‘उदम्’ दोनों का परामर्श एक समान होता है । इन अवस्था में क्रियागति या प्राधान्य रहता है । सोमानन्द यहाँ शुद्धवेदना का प्राधान्य मानते हैं । यह

१. मदाशिवतत्त्वोऽहन्माच्छादितान्पुट्ठवन्नामयं विश्वम् । ( प्र० ह० )

२. तत्र प्रोक्तमाश्रितमात्रचित्रकालतया इदमंगमास्फुटत्वात् उच्छाप्रधान्यम् ।

( प० त्रि० त० सं० वि० )

३. ईश्वरो बहिर्लम्भो निमेषोऽन्तः मदाशिवः ।

४. ...कदाचिदैश्वरीं स्थितिम् । क्रियाशक्तिसमायोगात्..... ।

( शि० दृ० १.३०-३१ )

५. अत्र वैद्यजातस्य रफुदावसाननाज् ज्ञानशक्तिसमुद्रकः ।

( प० त्रि० त० सं० वि० )

६. कदाचित् स्थूलवेदनात् विद्यात्..... ( शि० दृ० १.३१ )

वेदना भी क्रिया ही है किन्तु यह स्थूल है जबकि ईश्वरतत्त्व में वर्तमान क्रिया सूक्ष्म है, सूक्ष्म इसलिए कि वहाँ वेद्य विश्व की वेदक ईश्वर से एकान्त भिन्नता का आभास नहीं है; और यहाँ एकान्त भिन्नता का स्पष्ट आभास है। इस दशा में पदार्थों की भिन्नता और उनके वास्तविक सम्बन्धों का परामर्श होता है। फिर भी अहं तत्त्व अंगी और 'इदम्' तत्त्व भिन्न होने हुए भी उसका अङ्ग मालुम पड़ता है। इस तत्त्व में ठहरे प्राणी विद्येश्वर कहलाते हैं। इनका दूसरा नाम मन्त्र भी होता है। इनके निदेशक भगवान् अनन्तनाथ होते हैं।

सच पूछा जाय तो मन्त्र प्राणी तथा उनके निदेशक अनन्तनाथ शुद्धविद्या में नहीं रहते। इनका स्थान शुद्धविद्या में थोड़ा सा नीचे और माया तत्त्व में थोड़ा सा ऊपर अर्थात् दोनों के बीच का होता है। यह स्थान महामाया कहलाता है। इसी शुद्धविद्या के अन्तर्गत वर्तमान महामाया के किञ्चित् अविकमित रूप में भी एक प्रकार के प्राणी रहते हैं जिनमें विद्यात्मक प्रकाश तो रहता है पर विमर्शात्मक परमेश्वरता का आभास नहीं रहता। फलस्वरूप ये प्रकाशमात्र को ही आत्मा मानते हैं। ऐसे प्राणी विज्ञानाकल या विज्ञानकेवली कहलाते हैं।

यहाँ तक शुद्धअव्या या शुद्धविद्या के तत्त्व कहे गये। इन तत्त्वों के कर्त्ता अर्त्ता साक्षान् शिव हैं। इस अव्या में रहने वाले प्राणियों या उनके निदेशकों को अपने स्वरूप के विषय में विपरीत अध्यास नहीं रहता। वे अपने को शरीर आदि न समझ कर शुद्ध संशित् ही समझते हैं। शुद्ध अव्या की समग्र गृष्टि जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति दशा को छोड़कर केवल तुरीय दशा में ठहरता है। यहाँ तक परमेश्वर के स्वरूप का गोपन नहीं होता।

उपवृक्त शिव या जक्ति, लक्ष्मि, ईश्वर, शुद्धविद्या और महामाया तत्त्वों में ठहरे हुए क्रमशः अकल, मन्त्रेश्वर, मन्त्रेश्वर, मन्त्र या विद्येश्वर तथा विज्ञानाकल या विज्ञानकेवली नाम वाले पाँच प्रमानाओं के अतिरिक्त दो प्रकार के प्राणी और होते हैं। उनमें से छोटी श्रेणी के प्राणी हैं—प्रलयाकल जो जडात्मक शून्य का ही 'अहम्' मान बैठते हैं। इस प्रकार के प्राणी मायीय मल से आवृत रहते हैं, आपन्न मल तो उनमें रहता ही है। इन प्राणियों की तुलना न्यायवैशेषिक के अव्यवस्थाना वाले या सांख्ययोग की कैवल्यभूमि को प्राप्त या बौद्धों की निर्वाणदशा वाले प्राणियों जैसी होती है। इनके अतिरिक्त एक भिन्न प्रकार के भी प्राणी प्रलया-

१. अन एवेयं प्ररोहान्निष्पन्न उदन्ता भागयति ततः शुद्धा, भागनाच्च विद्येति।

तत्र एवाप्रकृतमायाकल्पान् महामायेयं श्रीरोरवादिभुक्तिरूपदिष्टा।

( ई० प्र० वि० ३.१.६ )



कल कहलाते हैं । जब भगवान् श्रीकण्ठनाथ अवान्तर प्रलय के प्रारम्भ में सभी कार्यतन्त्रों और करणतन्त्रों को मूल प्रकृति में विलीन कर देने हैं, और उस समय में उस भगवान् की रात्रि का प्रारम्भ हो जाता है तब उस रात्रि में जो समस्त वज्र प्राणी सृष्टि में विलीन होकर पड़े रहते हैं वे भी प्रलयाकाल कहलाते हैं । सातवीं या अन्तिम श्रेणी के प्राणी सकल नाम से प्रसिद्ध हैं । उनमें संसार को भेद दृष्टि से देखने का स्वभाव होता है । ये पूर्णविकसित त्रिविध मर्त्यों से घिरे रहते हैं । स्वर्ग मर्त्य पाताल लोकों के समस्त स्थावर जंगम प्राणी इसी कोटि में आते हैं ।<sup>१</sup>

६. माया—मायातत्त्व की सृष्टि का मूल कारण परमशिव की इच्छा ही है । यह एक वस्तुभूत तत्त्व है जो परमेश्वर के स्वरूप के ऊपर पड़ी डालकर उसे छिपा देती है । और इस प्रकार अभेदस्वरूप शिव में भेद का स्फुट अवलोकन उस माया के द्वारा उत्पन्न कर दिया जाता है । बुद्ध अर्थात् तन्त्रों का ज्ञाता स्वयं परमेश्वर या परमशिव होते हैं किन्तु माया से लेकर आगे अगुद्ध सृष्टि का रचयिता परमशिव नहीं बल्कि भगवान् अनन्तनाथ होते हैं । ऊपर जिन महामाया तन्त्र की चर्चा की गई है भगवान् अनन्तनाथ उन्हीं महामाया तन्त्र के भीतर उलझे हुए रहते हैं । इस अगुद्धसृष्टि के विनाश में वे भगवान् केवल माध्यम का काम करते हैं : सूक्ष्मकारण तो शिव की इच्छा तथा संहारकाल की अवधि में गहरी निद्रा की सुख अदम्या में गुरुत होकर पड़े हुए भोगलोलुप प्राणियों की भोगवानना होती है । चूँकि यह अगुद्धसृष्टि सापेक्ष है अतः वह स्वातन्त्र्यलोलामयी नहीं है ।

भगवान् अनन्तनाथ माया में शोभ उल्लस कर उसको विस्तृत कर पाँच तन्त्रों के रूप में बना देते हैं । ये तन्त्र माया के कञ्चुक कहलाते हैं । इनके नाम हैं—  
कण, विद्या, राग, काउ और नियति ।

७. कला—जीव वस्तुतः शिवस्वरूप होने के कारण अनन्तकर्तृत्वशक्त है किन्तु माया के इसी कञ्चुक के कारण उसका स्वरूप जब भीमिन हो जाता है तब वह अचक्रियाशक्ति बाला होकर निश्चिक्त्वशक्त से युक्त हो जाता है । अतः परमेश्वर की सर्वकर्तृत्वसंकोचिनी शक्ति का नाम कला है ।

८. विद्या—इसे अगुद्धविद्या भी कहते हैं । जिसके द्वारा परमेश्वर का सर्वज्ञ व संकुचित होकर अल्पज्ञत्व में बदल जाता है । परमेश्वर की ज्ञानशक्ति का संकोच माया का वह कञ्चुक विद्या कहलाता है ।

१. देवादाता च सर्वेषां भविष्यां त्रिविधं मलयम् ।

तत्राणि काममेवैकं मुख्यं संसारकारणम् ॥ ( ई० प्र० ३. २. १० )

६. राग—परमेश्वर की पूर्णतृप्ति के संकोचक तत्त्व का नाम राग है; इसके ही कारण प्राणी भोगों में आमक्त होते हैं और उनके मन में भोग के साधन इन्द्रिय आदि के स्थायित्व की कामना सदा बनी रहती है। इस कञ्चुक को अन्तःकरण के धर्म मुद्यानुशयी राग—से सर्वथा भिन्न समझना चाहिये।

१०. काल—माया का यह कञ्चुक परमेश्वर के नित्यत्व का संकोचक है। इसी तत्त्व के कारण जीव भूत वर्तमान और भविष्य की क्रमरूपता में फँस जाता है। इस प्रकार कालकृत देशकृत और अवस्थाकृत परिच्छिन्नत्व का कारण एकमात्र यह कालतत्त्व है।

११. नियति—मायीवप्रमाता के स्वातन्त्र्य का सर्वाधिक अपहरण नियतितत्त्व के द्वारा होता है। इस विश्व ब्रह्माण्ड में विविध कार्यकारण सम्बन्ध की नियामिका नियति ही है।

इसप्रकार इन पाँच कञ्चुकों और माया, जो कि स्वयं एक कञ्चुक है, को मिलाकर कुल छ कञ्चुक होते हैं जो कि परमेश्वर का स्वरूप छिपा देते हैं।

१२. पुरुष—परमेश्वर असीम शुद्धसंवित्स्वरूप है। जब वह उपर्युक्त छ कञ्चुकों से अपने को लपेट कर संकुचित कर लेता है तब वह पुरुषतत्त्व की मंजा प्राप्त करता है। इसप्रकार अतीव संकुचित 'अहम्' का नाम पुरुष है। उस समय इसके अनेक नाम पड़ जाते हैं। जीव, अणु, मायाप्रमाता, पशु, नर, पुंस्तत्त्व आदि शब्दों में इसी का ज्ञान होता है। यद्यपि पुरुष मूलतः शुद्धसंविन् है तथापि संकोच के कारण वह वही प्राण की, वही अन्तःकरण की, वही इन्द्रिय और वही शरीर की ही 'अहम्' या आत्मा मान बैठता है।

१३. प्रकृति—जो तत्त्व मायाप्रमाता को 'इदम्' के रूप में भावित होता है उस प्रमेयतत्त्व का नाम प्रकृति है। त्रिकमन के अनुसार प्रकृति या प्रधानतत्त्व कल्या का वेद्यस्व कार्य है।<sup>१</sup> त्रिकमतावलम्बी का कथन है कि प्रत्येक पुरुष की प्रकृति भिन्न है न कि सांख्य की मूलप्रकृति एक और सामान्य है। यह प्रकृति शिव की शान्ता शक्ति है और सत्त्व रजस् तथा तमस् उन्हीं शिव की ज्ञान इच्छा और क्रिया नामक त्रिविध शक्तियों के स्थूल रूप हैं।

१४. बुद्धि—तीनों गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। जब इन गुणों में शोभ अर्थात् उपमर्श उपमर्शक भाव उत्पन्न होता है तब प्रकृति का अग्रिम विकास होता है। यद्यपि सांख्य उस शोभ का कारण बतलाने में मौन है तथापि उस

---

१. वेद्यमानं स्पुटं भिन्नं प्रधानं सूचते कला । ( तं० आ० )

दर्शन में प्राणियों के गुप्त अदृष्ट वा कर्मावश ही उन शोभ का कारण माने जाते हैं । काश्मीर गौडदर्शन में प्रकृति में शोभ उत्पन्न करने वाले तथा आगे के तैर्लभ तत्त्वों की सृष्टि करने वाले भगवान् श्रीकण्ठनाथ ही हैं । उनकी के कारण शब्द प्रकृति मन्वे पहले सत्त्वगुणप्रधान बुद्धि वा महत् तत्त्व के रूप में प्रकट होती है । बुद्धि-तत्त्व शब्दक तथा अदृ होता है । उसने मायाप्रमाणा तक का प्रतिबिम्ब पैदा रहता है । यह प्रथम अन्तःकरण है; द्वितीय और तृतीय अन्तःकरण अहंकार तथा मन है ।

१४. अहंकार—‘मैं’ का उपप्रकार का अभिमान करनेवाला तत्त्व अहंकार कहलाता है । यह भी ‘अहम्’ ही है; पर ‘पुनः अहम्’ व्यापारिक है, और बुद्धि का विकास यह ‘अहम्’ कृत्रिम है । इसे राजगुणप्रधान कहा गया है । इसीसे इसका नाम अहंकार है । मन और बुद्धि का स्फुट व्यवहार आद्यत् और स्वप्नावस्था तक ही रहता है किन्तु अहं की गति सुषुप्ति तक रहती है ।

१५. मन—नाम और रूप इन दो सम्बन्धों का समन करने वाली, जीव की मननशक्ति का नाम मन है । यह अहंकार का परिणाम है । यह मन आन्तरिकियों का ज्ञान स्वतंत्र रूप से तथा बाह्य विषयों का ज्ञान इन्द्रियों के सहयोग से करता है ।

( १७-२६ ) इन्द्रियाँ—प्रकृति त्रिगुणात्मिका है अतः उनके समस्त विकास त्रिगुणात्मक है । फलतः अहंकार भी त्रिगुणात्मक है । इस त्रिगुणात्मक अहंकार के सत्त्व अंग ने पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और उनके राजगुण ने पाँच क्रमेन्द्रियाँ आधिर्भूत होती हैं । ये सभी इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय हैं तथा मायाप्रमाणा के विषयभोग के साधन हैं ।

( २७-३१ ) पंचतन्मात्राः—अहंकार के तामस अंग ने पाँच स्थूल महाभूतों के सूक्ष्म अंशों का विकास होता है । इनके नाम अव्य-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध तन्मात्राएँ हैं । ये भी द्रव्य हैं किन्तु सामान्य जन के अनुभव से परे हैं ।

( ३२-३६ ) पंचमहाभूत—ये उपर्युक्त पंचतन्मात्राओं के विविध स्थूल रूप हैं ।

लोक—पृथिवी तत्त्व तक की सृष्टि पूरी हो जाने पर परमाणु और आकाश आदि नित्य द्रव्य उत्पन्न हो जाते हैं । इनके बाद ब्रह्मा जो दश कल्प सप्तु आदि प्रजापतियों की सहायता से परमाणुउपादानक धरती चाँद चित्तारे आदि ने भरे लोकों की सृष्टि करते हैं ।

उपर्युक्त छत्तीस तत्त्वों को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है ।

१. आत्मतत्त्व—पृथिवी से माया तक के तत्त्व इन श्रेणी में आते हैं ।

२. विद्यातन्त्र—गुरुविद्या में महाशिव तन्त्र तक की गणना इस श्रेणी में की जा सकती है ।

३. शिवतन्त्र—मक्ति और शिव को इन श्रेणी में रखा जा सकता है ।

### पडध्वा—

सृष्टि के सृज में एक असीम शक्ति का अटुट क्रम है । यह तार बहकाना है । जिस प्रकार सैदा शिष्टु को क्रमिक शक्ति का परिणाम है और सृज में शिष्टु है उसी प्रकार यह तार भी एक क्रम है । इसका क्रियात्मक असीमित सृजन है शिष्टु । यही सृष्टि की प्रकृति या सृज है जहाँ वाच्यवाचक या अर्थ और पद एक होकर रहते हैं । यह तन्त्र शिव की शिष्टुशक्ति निराल अवस्था है । इसकी विश्वव्यापकता स्पष्ट नहीं जाती है । शिष्टु में जब आस उत्पन्न होता है तब तार की उत्पत्ति होती है । तार के साथ ही कला का भी सम्बन्ध है । तन्त्र की सबसे शुद्ध अवस्था को पद कहते हैं । यह वह अवस्था है जहाँ एक के अनन्तर अवाक्य या शब्द प्रकट होते लगता है । वाचक और वाच्य को परावाक्य में एक में, अब इन्द्र-मात्र में निरन्तर शक्ति होने लगते हैं और यही ने काल का प्रारम्भ होता है । काल की गणना श्रम से शुरू होती है । श्रम की अवधि का निरावक ज्ञान होता है । ज्ञान सदैव वाच्यत्व ही होता है श्रमः काल की आरम्भ गहरमयी है । शब्द प्रकट होने लगता है । सदा वर्ग में वाच्य है—जो में सम्बद्ध प्रक्रियात्मक ( Functions form ) का प्रमाणित मापदण्ड सूचक ( measure index ) इसी वर्गों के संयोग से मन्त्र अर्थात् श्रमसत्त्व और मन्त्रों के समन्वय से पद बनते हैं ।

पद का अर्थ है—छ ; अथवा का अर्थ है—अने शिवभाव को पहचानने का आश्रय मार्ग । मुख्यतः अथवा दो प्रकार का है—शब्द और अर्थ । इन दोनों के बीच तीन भेद हैं । इस प्रकार कुल संख्या छ होती है ।

शब्द	अर्थ
वर्ण	कला
मन्त्र	तत्त्व
पद	भुवन

त्रिक्यात्म्य में इन दोनों को क्रमशः कालावस्था और देवावस्था कहते हैं । वर्गव्यापक प्रमाणस्वरूप है; प्रमाणा प्रमाण और प्रमेय का विधानविधाम है । वर्ग दो प्रकार का है—मावीय और अमावीय । अमावीय वर्ग अहमिम निश्चय संवाचकहित और अनन्त है । इनमें ही मावीय वर्गों की उत्पत्ति होती है । इन मावीय वर्गों में



अमासीय वर्षों की शक्ति छिगी रहती है । कला आदि का वर्णन आगे किया जायगा ।

### पाँच कलाएँ—

कस्मीर के विक्रमादित्य में जिस प्रकार तन्त्रों की संख्या तीन मानी गई है और वे हैं—(१) नर ( जीव और जड़ तन्त्र ) (२) शक्ति तथा (३) शिव; उसी प्रकार वहाँ पर छत्तीस तन्त्रों का वर्गीकरण भी दो प्रकार से किया गया है—(१) पञ्च-कलात्मक (२) अण्डचतुष्टयात्मक । तन्त्रों के सूक्ष्म रूपों को कला कहते हैं और स्थूल रूपों को भुवन । एक-एक कला प्रायः कई भुवनों को व्याप्त करके रहती है । ये कलायें निम्नलिखित हैं—

१. निवृत्तिकला—यह पृथिवीतन्त्र को व्याप्त करके रहती है ।

२. प्रतिष्ठाकला—अलतन्त्र में लेकर प्रकृतितन्त्र तक के प्रपञ्च को व्याप्त करके रहने वाली कला का नाम प्रतिष्ठाकला है ।

३. विद्याकला—पुरुषतन्त्र में मायातन्त्र तक व्याप्त भाव में उठरने वाली कला को विद्याकला कहते हैं ।

४. शान्ताकला—शुद्ध विद्या में लेकर शक्तितन्त्र तक व्याप्त होकर उठरने वाली कला को शान्ताकला की संज्ञा दी गयी है ।

५. शान्त्यतीताकला—उपर्युक्त कला के भी पार जाकर उठरी हुई शिवतन्त्र की कला को शान्त्यतीताकला के नाम से विभूषित किया गया है ।

### अण्डचतुष्टय—

ब्रह्माण्ड—निवृत्तिकला का दूसरा नाम ब्रह्माण्ड है । एक सूर्य और उसके परिवार तथा तारे, पर्वत, समुद्र आदि को गिनाकर एक ब्रह्माण्ड कहा जाता है । इनके अधिष्ठानदेव ब्रह्मा होते हैं । इस ब्रह्माण्ड में पृथ्वीलोक वसुन्धालोक आदि कई लोक-लोकान्तर होते हैं । जिस प्रकार इस पार्थिवलोक में वर्तमान हमलोगों के शरीर में पृथ्वीतन्त्र की प्रधानता है उसी प्रकार वसुन्धालोक आदि में रहने वालों का शरीर जल आदि की प्रधानतावाला होता है । इस प्रकार एक ब्रह्माण्ड की रचना समझनी चाहिये । मनुष्यों का एक वर्ष देवताओं का एक दिन और देवताओं के चौदह करोड़ चालीस लाख वर्षों का ब्रह्मा का एक दिन होता है । इस हिमाय में ब्रह्मा की आयु एक सौ वर्ष की होती है । जब एक ब्रह्मा मरने है तब एक ब्रह्माण्ड नष्ट होता है । इसी एक ब्रह्माण्ड का नष्ट हो जाना पुनर्गर्भ में वर्णित महाप्रलय कहलाता है ।

प्राकृताण्ड—प्रतिष्ठाकला का प्राकृताण्ड कहते हैं । जिस प्रकार एक वर्षों का सूर्य के फल के अन्दर अनेक बीज होते हैं । उसी प्रकार एक प्राकृताण्ड के अन्दर

अमंज्य ब्रह्माण्ड छिने होते हैं। इस प्राकृताण्ड के अधिष्ठातृदेव विष्णु होते हैं। विष्णु के अधिपत्य में अनन्त ब्रह्मा ब्रह्माण्डों की सृष्टि करने रहते हैं। ब्रह्मा की आयु का एक सौ वर्ष विष्णु की आयु का एक दिन होता है। और इस प्रकार एक प्राकृताण्ड के अधिष्ठाना विष्णु की आयु एक सौ वर्ष की होती है। जब एक विष्णु मरते हैं तब एक प्राकृताण्ड का प्रलय होता है।

**मायाण्ड**—वियाकला को मायाण्ड कहते हैं। जिस प्रकार एक पपीते या गुलर के वृक्ष में अमंज्य पपीते या गुलर के फल लटकने रहते हैं उसी प्रकार एक मायाण्ड में अनन्त प्राकृताण्ड लटके होते हैं। इस मायाण्ड के अधिष्ठातृदेव रुद्र होते हैं। विष्णु की एक सौ वर्ष की आयु का रुद्र का एक दिन होता है। एक रुद्र के अधीन अमंज्य विष्णु अमंज्य प्राकृताण्ड की संभाडे हुए हैं। जब एक रुद्र मरते हैं तो एक मायाण्ड का प्रलय होता है।

**शान्ताण्ड**—शान्ताकला को शान्ताण्ड कहते हैं। मायाण्ड या मायाराज्य के ऊपर चिन्मय, शब्दमन्त्रमय, आनन्दमय, कात्यानीन, विशुद्ध महामाया का राज्य है। यह राज्य भी पूर्वोक्त तीन अण्डों के समान अण्डरूप में ही वर्णित है। यह अण्ड अत्यन्त विद्याल है जिसमें भूल के कण की भांति अमंज्य मायाण्ड लगे रहते हैं। यही शान्ताण्ड कहलाता है। इस चिन्मय शान्ताण्ड के भीतर स्वस्वतः कोई विभाग न होने पर भी समझने के लिये इसमें परस्पर मिश्रित दो विभागों की कल्पना की गई है। एक भाग के अधिष्ठाना ईश्वर और दूसरे के सदाशिव हैं। ईश्वर परम शिव के तिरोधान या निग्रह शक्ति के तथा सदाशिव अनुग्रह शक्ति के प्रतीक हैं। अतः यह समझना चाहिये कि परमेश्वर के मुख्यकृत्य निग्रह और अनुग्रह के व्यापार इसी शान्ताण्ड में होते रहते हैं।

**जीव—**

काश्मीर जीव दर्शन में जीव की धारणा विचित्र है। पञ्चमहाभूतमय स्थूल शरीर वाले उस जीव में बुद्धि अहंकार और मन से युक्त एक अन्तःकरण भी होता है। अन्तःकरण और पञ्चतन्माशयों को मिलाकर एक पुर्यष्टक बनता है। यही जीव का सूक्ष्म शरीर है। मृत्यु के उपरान्त जीव इसी सूक्ष्म शरीर के साथ रहता है। इसके भीतर प्राणशक्ति भी होती है। यह ईश्वरीय शक्ति है जो जीव और विश्व दोनों में काम करती है। मानव के भीतर कुण्डलिनी शक्ति भी रहती है जो सुप्तावस्था में पड़ी रहती है। उन सबका केन्द्रभूत शिव या चैतन्य है। यही चैतन्य आणव मल के कारण अणु या जीव कहलाता है।

बन्धन—

वैवदर्शन की दृष्टि से सब कुछ स्वयं परमेश्वर ही है। विद्या-अविद्या, द्वैत-अद्वैत, बन्धन-मोक्ष आदि की कल्पना केवल व्यावहारिक है। यह द्वन्द्व तथा अन्य समस्त आभासों का व्यवहार उन परमेश्वर के स्वातन्त्र्य का बिलानुमान है। उस विद्या के दो मुख्य भाग होते हैं—एक पूर्वपक्ष या पूर्वपक्ष और दूसरा उत्तरपक्ष का उत्तरपक्ष।<sup>१</sup> यह द्वन्द्व उसका पूर्वपक्ष है कल्पना बन्धन की पूर्वपक्ष ही है।

जीव का बन्धन अज्ञानजन्य अविद्या या अविद्या के कारण है। यह अविद्या जीव का आशय मूल है जिसके द्वारा सर्वव्यापी कैवल्य एवं अनु का परिशीलन बना में आ जाता है। यह बना उसी दृष्टिकोण के संयोग के कारण होती है। इसी अविद्या या संयोग के कारण जीव अपने को उन सर्वव्यापी कैवल्य में पूर्ण अल्पज्ञानक्रियाशक्ति से युक्त समझता है।

वैवदर्शन में बन्धन का लक्षण अज्ञान है। यह अज्ञान ज्ञानभाव नहीं अस्तित्व ज्ञान का संकीर्ण है। उस अज्ञान के वा आशय में है जिनके कारण यह अज्ञान दो प्रकार का हो जाता है। प्रथम का आशय आदि मर्त्य का वास्तव यह पुण्य या जीव होता है। यह मूल ही उस जीव का अज्ञान होता है। अज्ञान का दूसरा आशय होता है—पुण्य की बुद्धि। प्रथम अज्ञान में प्रभावित जीव की बुद्धि ज्ञान-लोच का आशय बनकर तदनुसार ही अशुद्ध विषयों की कल्पना करती रहती है। वस्तु को शिवरूप समझता शुद्धविकल्प और प्रमेयरूप में समझता अशुद्ध विकल्प कहलाता है। अशुद्ध विषयों को करने रहने का यह स्वभाव दुष्ट का बौद्ध अज्ञान है। बौद्ध अज्ञान समस्त का अज्ञान है, प्रथम अज्ञान मूल अज्ञान है। मानव का नारा व्यवहार मूल अज्ञान के आधार पर होता है। बौद्ध अज्ञान या लौकिक दृष्टि में जिसे ज्ञान कहा जाता है केवल कहने-सुनने, करने-विशने, समझने-समझाने आदि के काम जाता है। ये दोनों प्रकार के अज्ञान बन्धन है।

मोक्ष—

काश्मीर वैवदर्शन में मोक्ष का अर्थ है—अपने वास्तविक स्वयं की प्रत्यभिज्ञा।<sup>२</sup> दूसरे वाक्यों में अद्वैत अद्वैत का उदय ही मोक्ष है। यह एक अव्यवहित अवरोधानुभूति है। जब इस प्रकार की अनुभूति होती है तब अपने

१. पूर्वपक्षतया येन विश्वमाभास्य भेदतः।

अभेदात्तत्त्वज्ञानार्थमेतत् तं स्तुमः शिवम् ॥ ( ई० प्र० वि० १.२.१. )

२. मोक्षो हि नाम तैवान्धः स्वल्पप्रभवं हि तन् । ( तं० आ० १ )

वास्तविक स्वरूप का बोध होता है और यही मोक्ष है। वास्तविक शुद्ध अहंविमर्श का लाभ होने से शिवचेतना का उदय होता है जिसमें नारा विश्व शिवमय या शुद्ध अहंमय प्रतीत होता है। ऊपर जिस बौद्धिज्ञान की चर्चा की गयी है वह केवल व्यवहार के लिये है। पौन्य अज्ञान के नाश का स्वरूप पौन्य ज्ञान है। यह पौन्य ज्ञान तब तक प्राप्त नहीं होता जब तक कर्म, मायौय और आपन्न मलों का बोधा न जाय। ये मल विषय गुणरूपा से हो भुके जा सकते हैं। प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार सर्वोच्च आत्मस्थ असात्म्य है जिसमें नारा विश्व चित् या शिव प्रतीत होता है। यह आत्मस्थ या मोक्षा, वर्त या दार्ष्टिक आधिपत्याओं से मिलने वाला नहीं है, उनके लिये गुणरूपा या शक्तिमान का अनुग्रह चाहिये। गुण के द्वारा लिप्ताये गय रहस्यमय उपायों के जपमान से ये मल भीत-बीर शिथिल होकर गर्तः गर्तः पूर्णतया धुल जाते हैं।

शक्तिमान—

परमेश्वर यह जानते हैं कि किस प्राणी को किस समय किस प्रकार के साधन-मार्ग द्वारा विनिर्मा भोग गति से तन्म मध्य की ओर चलेकर अन्तिम छोर पर पहुँचना है। इसलिये वे विनियों की अन्तःप्रेरणा देते हैं वह वेग ही चलता है। परमेश्वर द्वारा दी गई इन अनुप्रेरणा को शक्तिमान कहते हैं। यह शक्तिपात मुख्यतया तीन प्रकार का होता है—वीर, मध्य और मन्द। जो जीव पूर्वजन्म के संस्कारवशा उत्तम अवस्था को प्राप्त हुए रहते हैं वे तीव्र शक्तिपात के अधिकारी होते हैं। उन्हें बिना किसी साधना के मोक्षलाभ हो जाता है। जो जीव अपेक्षाकृत कम विकसित होते हैं वे मध्य शक्तिपात के पात्र होते हैं। मोक्ष के लिये उन्हें किसी गुण की आवश्यकता होती है। उस गुण से दीक्षा प्राप्त कर वे साधक साधना करने हैं और उचित समय पर मुक्त हो जाते हैं। जो जीव नवने कम विकसित होते हैं उनके ऊपर मन्द शक्तिपात होता है। इस शक्तिपात से उनके अन्दर आध्यात्मिक मार्ग, साधना और मोक्षलाभ के लिये उत्कण्ठा जाग्रत होती है और वे भी साधना द्वारा इस जन्म या जन्मान्तर में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

ऊपर जित तीन प्रकार के शक्तिपातों की चर्चा की गई है उनमें से प्रत्येक के पुनः तीव्र मध्य और मन्द भेद से तीन-तीन भेद होते हैं। इस प्रकार कुल नव भेद हुए। इन नव प्रकार के शक्तिपातों में भी प्रत्येक की गति त्वरित मध्य और मन्द होती है। अतः गतिभेद के कारण शक्तिपात के सत्ताईस भेद हो जाते हैं। फिर उनमें भी अनन्त प्रकार का वैचित्र्य होता है तभी इस संसार की कोला अनिविचित्र है। निदान्ततः यह समझना चाहिये कि प्रत्येक प्राणी किसी न किसी शक्तिपात के



अन्दर रह रहा है । चूंकि सब कुछ स्वयं शिव ही है अतः पारमाथिक दृष्टि से स्व और पर ऐसा विभाग उनकी दृष्टि में नहीं है : इस कारण उनके चक्षिमान में वैषम्य नैर्घृण्य आदि दोष नहीं रहते ऐसा आचार्य अभिनवगुप्त का मिद्धान्त है ।

शैवीसाधना—

मल—काश्मीर शैवदर्शन में मल का अर्थ है—अज्ञान । अज्ञान का अर्थ ज्ञान-भाव नहीं अपितु संकुचित या अधूरा ज्ञान है । जिस भूमिका में आत्मा के ज्ञान-संकोच का स्फुट आविर्भाव हो जाता है उस भूमिका में वह संकोच मल कहलाता है । यह मल या अज्ञान सूक्ष्मतर आकार में प्रकट होकर सृष्टि क्रम में आगे-आगे विकास को प्राप्त करता हुआ विकास की तीन भूमिकाओं में तीन मलों का रूप धारण करता है । ये तीन मल हैं—आणव, मायीय और कर्म । अणु का अर्थ है—छोटा या संकुचित । जब परमेश्वर अपनी पूर्णता और शुद्धसंविस्वरूपता को भूलकर संकुचित होता हुआ संकुचित वस्तु को ही अपना आप समझ बैठता है तो वह आणव मल ने युक्त हो जाता है । ज्ञान तथा क्रिया के द्विविध संकोच ने आणव मल भी दो प्रकार का होता है ।<sup>१</sup> जब कोई प्रमाता अपने वास्तविक विलास की लीला के प्रभाव से संसार को परमेश्वर को तथा अन्य प्राणियों को अपने से भिन्न समझने लगता है तब प्रमाता के भेदमय दृष्टिकोण का यह संकोच मायीय मल कहलाता है ।<sup>२</sup> संकोच के विकास के कारण जीव को जब अपने किये गये विशेष कर्मों के प्रति अपनी कर्तृता का अभिमान हुआ करता है फिर उन कर्मों के संस्कार का भी वह पात्र बना रहता है उसमें उसमें परिमित कर्मों की वागनायें भी लगी रहती हैं और ये वागनायें उसे भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेने को बाध्य करती हुई संसार के चक्कर में फँसाये रखती हैं तो यह संकुचितकर्तृत्व का अभिमान तथा यह कर्म-वागना जीव का कर्म मल कहलाता है ।<sup>३</sup> शैवी साधना इन्हीं मलों ने मुक्ति पाने का मार्ग है ।

१. मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराद्भ्रुकारणम् । ( मा० वि० तं० १.२३ )

२. स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।

द्विधाऽऽणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥ ( ई० प्र० २.२.४ )

३. भिन्नवेद्यप्रथाऽत्रैव मायाख्यं....( ई० प्र० २.२.५ )

४. एवमेवैतदायुष्मस्तथा ह्येवं विजानताम् ।

न किञ्चन फलं वत्रापि शुभाशुभसमुद्भवम् ॥

इत्थं ये तु न जानन्ति भुञ्जते तेऽविपश्चितः ।

तदेव कर्मसंज्ञं तु मलमज्ञानमलकम् ॥ ( मा० वि० वा० १-३१४-३१५ )

**समावेश**—जिम अवस्था में जीव अपनी परतन्त्रता की परतन्त्रता को दबा लेता है और अपने में शिवरूपता को समाविष्ट कर लेता है, अर्थात् अपने भीतर अन्तर्जिवान्मरुता को ले आता है उस अवस्था को समावेश कहते हैं ।<sup>१</sup> यह एक विशेष प्रकार का अभ्यास है । नात्र इच्छाशक्ति के निर्विकल्पक प्रयोग से तथा मुदृष्ट कल्पनामय भावना के सविकल्पक प्रयोग से उसकी प्राप्ति होती है । मिद्ध योगी इच्छाशक्ति के प्रयोग से उसे तन्काय प्राप्त कर लेते हैं । यह निम्नलिखित रूप से मुख्यतया चार प्रकार का होता है—

**१. अनुपाय**—जब गुरु किसी उन्मुक्ततर अधिकारी को—‘तुम प्रकाशपरिपूर्ण स्वयं मुदृष्टमन्त्रि हो; समस्त उपाय तुम्हारी ओशा मन्त्रि है; वे तुम्हें प्रकाशित नहीं कर सकते । अतः बिना किसी उपाय के अपने अन्दर स्वयं परमेश्वरता का विमर्श करो ।’—ऐसा उपदेश सुनकर शिष्य, गुरु के अनुग्रह, दृष्टिपान, हस्तस्पर्श, दिये गये भोग्यपदार्थ के खाने इत्यादि में शिवभाव के समावेश का अनुभव करने लगता है । यही अनुपाय समावेश है । उसे आनन्दयोग भी कहते हैं । यह सर्वोत्तम योग है ।

**शाम्भवा उपाय**—इस उपाय का दूसरा नाम इच्छायोग, इच्छापाय या अनेदोपाय है । इसमें शरीर मन, बुद्धि या प्राण के द्वारा कोई साधना नहीं की जाती क्योंकि उस अवस्था में चित्त का भी प्रायः लय हो हो जाता है । यहा सभी क्रियायें शान्त रहती हैं और चित्त निश्चल रहता है । इस अचल स्थिति में रहकर स्वयं अपने में ही—स्वस्थिति में ही—उठरने का अभ्यास किया जाता है । फलस्वरूप शिवभाव का अपने में जट समावेश हो जाता है ।<sup>२</sup> यही शाम्भवोपाय है । इसकी पूर्णपरिपक्वता अनुपाय की पृष्ठभूमि होती है ।

इस शाम्भवोपाय का एकप्रकार और है । जिसमें इच्छाशक्ति को ज्ञानशक्ति की थोड़ी सी सहायता मिलती है । इस साधना में यह विमर्श करना होता है कि ‘यह समस्त जगत् मुझमें प्रतिबिम्बित होकर उठरा है । यह प्रतिबिम्ब मेरे में अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है ।’—ऐसा विमर्श करने हुए ही अपनी भिन्न भिन्न शक्तियों के इस प्रतिबिम्बन का साक्षात् अनुभव करना होता है । उन शक्तियों का आकार इस अभ्यास में ‘अ’ से लेकर ‘ह’ तक की वर्णमाला, जिन्हें मानूँ कहते हैं, के रूप में अभिव्यक्त हो उठता है और उनके प्रतिबिम्ब शिव से लेकर पृथ्वी तक के समस्त

१. मुख्यत्वं कर्तृतायाश्च बोधस्य च चिदात्मनः ।

सून्यादौ तद्गुणे ज्ञानं तत्समावेशलक्षणम् ॥ ( ई० प्र० ३. २. १२ )

२. अविच्छिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधितः ।

जायते यः समावेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः ॥ ( मा० वि० तं० २. २३ )

तत्त्वों के रूप में प्रकट हो जाते हैं । मोक्षस्वरूप वर्ण शिवभाव के ही विविध चम-  
कृत रूप हैं । आनेहासरोह तम में इसी स्वस्वजनरूप मातृकाओं के अभ्यास  
के द्वारा मनस्स जगत् की आलोचनातुष्टि होती है और आगे चलकर ये मातृकायें  
ही शिव और शक्ति के सामरूप्य के रूप में अनेकभाव से स्वयं अपनी उन्नति से  
चमकती हुई स्वयं प्रकाशित हो जाती हैं । इन मातृकाओं के साक्षात्कार का  
अभ्यास व्युत्क्रम में भी होता है जिसमें अभ्यास को 'न' से प्रारम्भ करते हैं और  
'फ' पर उनकी समाप्ति करते हैं । इस प्रकार मातृका अक्षरा और मातृकी अक्षर  
वर्णमात्राएँ हैं । उपर्युक्त दोनों प्रकार की व्रथमाख्या परमेश्वर की विविध शक्तियों  
की अभिव्यक्ति है । इनके अभ्यास को भी साम्प्रदायिक कहा जाता है ।

शाक्तोपाय—शाक्तोपाय को शाक्तयोग, ज्ञानयोग, ज्ञानोपाय, भावनेोपाय या  
भेदाभेदोपाय नाम दिया गया है । इस योग में शुद्ध चित्तवात्मक ज्ञान का अभ्यास  
करना पड़ता है । 'ये शुद्धगन्धि, सर्वतः परिपूर्ण, विष्वक्मय, विष्वाकार, विष्वाकृत  
ह । मनस्स जागतिक प्रपञ्च मेरी ही शक्तियों की विष्वक्मयी अभिव्यक्ति है ।'—यह  
भावना ही शुद्ध चित्त है । संक्षेप में यह जानना चाहिये कि शुद्धचित्त के अनु-  
कूल जो कोई चित्तवृत्ता हो उसका पुनः पुनः अभ्यास ही ज्ञानयोग है । इन  
अभ्यास में शुद्धचित्तवात्मक ज्ञान साधक की वृद्धि पर अपनी दृष्टता में आनन्द हो  
जाता है कि उसकी सत्यता पर उसे अपने और साक्षात्ता के बीच वर्तमान सम्बन्ध  
जैसा पड़ा विश्वास हो जाता है । साम्प्रदायिक में ज्ञाना निरात्म्य होती है इस  
योग में चित्त नात्म्य होता है । उपर्युक्त शुद्धचित्तवात्मक ज्ञान को चित्त पर अंकित  
करने के विविध प्रकार हैं जिनके प्रतीकात्मक अथवा पारिभाषिक नाम याग, हाम,  
वन, योग आदि हैं । यह शाक्तोपाय पारिषद् होते पर साम्प्रदायिक की पृष्ठभूमि  
बन जाता है ।

आणवोपाय—इन उपाय के दुनरे नाम आणवयोग, क्रियायोग, क्रियोपाय  
भेदोपाय आदि हैं । अत्यधिक मल के कारण जो साधक साम्प्रदायिक और शाक्त उपायों  
के योग्य नहीं होते, काश्मीर जैवदर्शन के चिक आचार में उनके लिये आणवोपाय  
का उपदेश किया गया है । इसमें चित्त को अपने में भिन्न किसी भी वस्तु या अनेक  
वस्तुओं पर स्थिर कर भावना के द्वारा उन वस्तुओं को आत्मपरमेश्वर के रूप में  
समझने का अभ्यास किया जाता है । इसमें प्रमथ वस्तु के प्रति आत्मात्मक क्रिया  
का ही अंग प्रधान रहता है और ज्ञान का अंग अग्रधान होकर रहता है । इस

## २. उच्चाररहित वस्तु चेतसैव विचिन्तयन् ।

ये समावेशमय्येति शाक्तः सोऽब्रामिधीयते ॥ ( मा० वि० तं० २.२२ )

आय मे अपने स्वरूप और अपने स्वभाव मे भिन्न जो पदार्थ चित्त के आत्ममय बनते है वे मुख्यतया चार होते है—(१) नाशक की वृद्धि । (२) साधक के प्राण (३) साधक का शरीर । (४) बाह्य प्रमेयजन्य । उन ध्यानयोग नामक आध्यात्मिक एवम्भवा मे देखा है । बाद मे भावना द्वारा तन्त्रों का एक रूप मे साधना-कार करना पड़ता है । उन तन्त्रों की परिणति अवस्था मे ध्यानयोग साधना की योग्यता प्राप्त हो जाती है ।

### शाक्त दृष्टि—

परमशिव की परमेश्वरता के, विश्वोत्पत्ति और विश्वमय, वाक्य है—यह पदार्थ कहा जा चुका है । विश्वोत्पत्ति परमशिव की अनेकता और सृजनता आदि होती है जबकि विश्वमयता उसकी सत्त्वमयता अथवा ईश्वरता आदि है । उन दोनों प्रकारों की अस्तित्व का अनुभव और परिपूर्ण साधना ही परमशिव या परमेश्वर होता है । किसी भी दशा मे न तो शिव शक्ति से रहित है और न शक्ति ही शिव से शून्य है ।<sup>१</sup>

शिव की तीन भूमिकाये है—अनेक, सदाअनेक और अनेक । उसी तीन भूमिकाओं मे शिव का अवरोहण और आरोहण होता रहता है । जिन स्वभावमय शक्ति मे वह अपनी उन लीला का सम्पादन करता है वह शक्ति माने शिव का मुख है ।<sup>२</sup> उसीमे शिव को औ कोई भी उपासना की जाय वह उसकी किसी न किसी शक्ति की उपासना होती है । उपासना का लक्ष्य बनने वाली समस्त देवताये पारमेश्वरी शक्ति के ही भिन्न भिन्न व्यक्त रूप होते है । परिपूर्ण परमेश्वर मे एक और परम शिव तत्त्व है और दूसरी ओर वह चिन् शक्ति भी कहा जाता है । उन प्रकार शिव-तत्त्व आनन्दशक्ति और शक्ति तत्त्व उच्छान्शक्ति का दूसरा नाम है ।<sup>३</sup>

उस परमेश्वर की मुख्य शक्तिया पांच है—चिन्, आनन्द, उच्छा, ज्ञान और क्रिया । आचार्य गोमानन्द की शाक्त दृष्टि के अनुसार उनमे से चिन् और आनन्द

१. उच्चारणव्याप्तवर्गस्थानप्रकल्पनः ।

यो भवेत् स समवेदाः सम्यगाणवमुच्यते ॥ ( मा० वि० तं० २.११ )

२. न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी । ( शि० दृ० २.२ )

३. शक्त्यवस्थाप्रविष्टस्य निविभागेन भावना ।

तदाऽमी शिवरूपी स्याच्छैवीमुखमिहाच्यते ॥ ( वि० भे० २० )

४. तदेवं प्रसृतो देवः कदाचिच्छायेतमात्रके ।

विभक्ति रूपमिच्छातः ..... ॥ ( शि० दृ० १.२१.३० )



का सामान्य परमेश्वर का स्वभाव है; इच्छा उनका स्वभाव है और ज्ञान तथा क्रिया उनके स्वभाव का विकास या फल है। ये मुख्य पाँच शक्तियाँ ही शिव के पाँच मुख हैं। परम शिव की इन अन्तरंग शक्तियों के स्पन्दन से ही उसी के भीतर सदैव शिवतन्त्र से लेकर महामाया तक के तन्त्रों के, शिवनाथ से लेकर अनन्तनाथ तक के तन्त्रेश्वरों के और शाम्भव प्राणियों से लेकर मन्त्र प्राणियों तक के प्रमानुष्यों के उदय और प्रलय अविग्न गति से होने लगे रहते हैं। यही कारण है कि इस शुद्ध सृष्टि के स्रष्टा और संहर्ता स्वयं परमशिव ही बने रहते हैं।

**विद्या**—विद्या परमेश्वर की छठी शक्ति है। जैवजन्त में विद्या के दो रूप हैं—गुह्य विद्या और अगुह्य विद्या। भेदमय प्रमानुषमयप्रपञ्च में भी जो 'अहम् इदम्' इस प्रकार की अभेद दृष्टि है उसका नाम गुह्य विद्या है। मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर आदि की यही दृष्टि होती है। जीव की वह संकुचित शक्ति, जिसके द्वारा वह अपने में भिन्न प्रमेय विषयों को जानता है, अगुह्य विद्या कहलाती है। इस प्रकार जैव वर्गन में अविद्या या अज्ञान नाम की कोई चीज नहीं है।

**महामाया**—गुह्य विद्या से कुछ निम्न स्तर की परमेश्वरी शक्ति का नाम महामाया है। यह परमेश्वर की सातवीं शक्ति है। विज्ञानाकल प्राणियों का यही अधिष्ठान है।

**माया**—अवरोह क्रम में परमेश्वर की आठवीं शक्ति का नाम माया है। यह वेदान्त की माया जैसी किसी ब्रह्म आदि की उपाधि नहीं अपितु परमेश्वर की अनिरुद्ध स्वातन्त्र्य शक्ति का दूसरा नाम है। उसी की महिमा में वह परमेश्वर होता है। उसी के स्पन्दन से शुद्धसृष्टि का अवभासन होता है। शिव के भीतर भेद के अवभासन के प्रति जो उन्मुक्तता होती है उसे भी मायाशक्ति कहा जाता है। भेदभूमिका में यही प्राणियों की भेददृष्टि बनकर मायामल का रूप धारण करती है। यही प्रमाता की स्वच्छप्रकाशता को छीनकर उसे जड़ता प्रदान करती है और यही अग्राही तन्त्रगृष्टि का उपादान कारण भी बनती है क्योंकि यही प्रथम जडतन्त्र होता है। परमेश्वर की माया शक्ति ही इस मायातन्त्र की रजिका है।

परमेश्वर को उपर्युक्त पाँच शक्तियों के अतिरिक्त इस भेदमय प्रपञ्च को चलाने वाली परमेश्वर की अनन्त शक्तियाँ दृष्टा करनी हैं। इस मूलांक में जिनकी मानव-संख्या है उससे बहुत अधिक परमेश्वर की इन शक्तियों की संख्या है। द्वादशकाशी, अधोर, धार और धोरतर शक्तियाँ सब उसी की निग्रह और अनुग्रह लीला को चलाने वाली हैं। उनके अतिरिक्त प्राणी की इन्द्रियों में काम करने वाली शैवी शक्तियों की भी कल्पना है। उन्हें इन्द्रियदेवता या कारणेश्वरीचक्र कहते हैं।

## उपसंहार—

काश्मीर शैवदर्शन का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करने के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि यह दर्शन सिद्धान्तपक्ष और प्रयोगपक्ष दोनों दृष्टियों से पूर्ण विकास को प्राप्त सर्वाङ्गसम्पन्न दर्शन है। क्या वैदिक सम्प्रदाय के छ आस्तिक दर्शन और क्या चार्वाक आदि छ नास्तिक दर्शन, सभी में मनीषीवर्ग को कुछ न कुछ न्यूनता की अनुभूति सदा से होती रही है। निःश्रेयस् की प्राप्ति के लिये पंचविजयि तन्त्रों से लेकर एक आत्मतन्त्र के साक्षात्कार को हेतु मानने वाले आस्तिक दर्शनों की अनेक मार्गों वाली भूलभुलैया में फँसकर मानवमस्तिष्क अपने को खोया खोया सा अनुभव करता है। इनके अतिरिक्त भारतीय दर्शनों का सिद्धान्त पक्ष इनने उच्च आदर्शों की स्थापना करता है कि पढ़ते तो उनको व्यवहार में लाना ही दुष्कर है, और यदि तुष्यतु वृजनस्यामेन वे सिद्धान्त व्यवहार में आ भी जाये तो सामाजिक प्रगति में बाधा आने लगती है। काश्मीर शैवदर्शन इन प्रकार की दुर्बलताओं से अस्पृष्ट है। नवी शती ईस्वी से लेकर स्यान्तवी शती ई० के दो गी वर्षों के अत्यल्प काल में पूर्ण विकास का प्राप्त होने वाले इन दर्शन में अनुभूति आरंभ तक दोनों दृष्टियों से किसी प्रकार की वृद्धि नहीं रह पायी है। इन दर्शन के आचार्यों के पास साम्प्रदाय पाण्डित्य के साथ-साथ साधनाद्वारा उपलब्ध सम्भीर आध्यात्मिक अनुभूति का प्रचुर भण्डार भी था। अपनी दीर्घ आयु में संस्कृत वाङ्मय का साधिकार अध्ययन कर परिपक्व वय में हृदय और मस्तिष्क दोनों की परमोत्कृष्ट विभूतियों के साथ उन्होंने इस दर्शन का विकास अतीव सुन्दर सरल सुबोध और तर्कसंगत ढंग से किया। फलतः वैदिक और अवैदिक सभी दर्शनों की विमंगलिया यहाँ आकर सुसंगत हो गईं।

भारतीय दर्शन के ऐसे रहस्य जो अब तक गुह्यता की गुहा में निहित थे काश्मीर शैवदर्शन के लघुनिनाद से उद्बुद्ध होकर जनमानस के सामने आ गये। तीनों गुणों का स्वभाव; दृग स्वभाव का कारण, गुणों की उत्पत्ति तथा विकास और संगार, कर्म; अधिष्ठा प्रभुति की साक्षिता अनाक्षिता आदि का ग्रन्थियाँ काश्मीर शैवदर्शन में ही आकर सूर्यनी है। संगार का मिथ्यात्व या सत्यत्व, देशकाल सम्बन्ध का स्वरूप, स्वभाव और मूलकारण आदि का युक्तियुक्त और समुचित प्रतिपादन इसी दर्शन में ही पाया है। समस्त विश्व ब्रह्माण्ड के द्वारे में यथाश्रवाह की दृष्टि का आश्रय लेते हुए पाठक और साधक दोनों को जाग्रत स्वप्न और सुषुप्त के बीच से ले जाकर सूर्या की क्रमशः उत्पन्न उत्थन और उज्ज्वलन भूमिका में पहुँचाना काश्मीर शैवदर्शन की अपनी विशेषता है। उर्गीतः यह दर्शन आदि न।

वैयक्तिक विज्ञान कहलाता है । काष्ठीय जीवन का स्वातन्त्र्य विज्ञान ही स्वातन्त्र्य विज्ञान है । स्वातन्त्र्यवैयक्तिक का आत्मवाद, साध्ययोग का परिणामवाद, व्याकरण और वेदान्त का विचार और साधनावाद ये सब परमेश्वर के स्वातन्त्र्य के विकास की भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में ही अभिव्यक्त होते रहते हैं ।

काष्ठीय जीवन नैतिक को नकारा जाता है । अतः अभ्युदय और निःशेष्य दोनों उस दर्शन के उद्भवनामक हैं । इस दर्शन की एक और विशेषता है, यह यह कि इस दर्शन का अधिकार पूर्ण कोई भी मानव हो सकता है जिसके हृदय में परमेश्वर के प्रति सच्ची भक्ति हो और सब ही विज्ञान हो । देश, जाति, कर्म, समाज, परिवार आदि का कल्पन नहीं रहती है । उदात्तिये आचार्य अग्निवर्मण ने कहा है—'एतत् सत्यं अन्तर्निहितं तान् आत्मवैयक्तिकं कश्चित्' ।<sup>१</sup> तथा अन्तर्निहित में स्वयं शिव का भी वचन है—

न मे प्रियश्चतुर्दशो मङ्गलः स्वर्गोऽपि वा ।

तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम् ॥

## शिवदृष्टि : प्रतिपाद्यविषय

शिवदृष्टि, द्वायम्बकदर्शन, अष्टौतम दर्शन, परार्द्धदर्शन, प्रत्यभिज्ञादर्शन आदि अनेक मन्त्रों वाले काशीय शिवदर्शन का मूल उद्भव है। यह एक प्रकरण ग्रन्थ है। तथी मनी शिखी के उत्तरार्द्ध में वर्तमान आचार्य सोमानन्दनाथ ने इस ग्रन्थ के अन्त में स्वयं कहा है—

“करोमि स्म प्रकरणं शिवदृष्ट्यभिधानकम् ।”<sup>१</sup>

“तदेवमेतद् विहितं मया प्रकरणं मत्तकम् ।”<sup>२</sup>

‘शिव’ शब्द का अर्थ है—परममत्ता और ‘दृष्टि’ शब्द का अर्थ है—दर्शन। इसप्रकार ‘शिवदृष्टि’ शीर्षक अष्टौतम शिवदर्शन को इस सम्पूर्णता का द्योतक है जिसका नामाङ्गोपाङ्ग विवेचन इस ग्रन्थ में प्रस्तुत है। इस ग्रन्थ का एक दूसरा नाम ‘श्वम्भका’ भी है—

“एवमेतत् श्वम्भकाख्या योग्यता देशभाषणा

स्थिता शिष्यप्रणिष्याद्यैर्विस्तीर्णा मष्टिकोदिता ।”<sup>३</sup>

सम्पूर्णग्रन्थ अष्टौतम है। रचना अनुष्टुप् छन्द में है। शिवदृष्टि के ऊपर महामहेश्वर उत्तरदेवाचार्य विरचित ‘वृत्ति’ नामक एक टीका चतुर्थ आङ्गिक के २८ वें श्लोक तक ही उपलब्ध है। उसमें भी चतुर्थ आङ्गिक के ३६ तथा १६ श्लोकों; चतुर्थ आङ्गिक के २८ वें श्लोक के ३० वें श्लोक तक की टीका सङ्गित अर्थात् अनुपलब्ध है। अग्निवर्मणद्वारा रचित ‘शिवदृष्ट्यालोचन’ नामक एक और टीका की जहाँ बाष्पमीन संस्करण की भूमिका में मिलती है पर वह अभी तक अनुपलब्ध है।

शिवदृष्टि पाँच आङ्गिकों में विभक्त है। उन आङ्गिकों के विषय निम्नलिखित हैं—

प्रथम आङ्गिक—सम्पूर्ण वदार्ता में शिवस्वरूप की स्फुरित है। उसकी उच्छ्वा, ज्ञान, क्रिया रूपों तीन शक्तियों सब सम्पूर्ण अवस्था में रहती है तब यह उसकी चित्पाङ्कजविश्वरूप, निर्विभाग, पर, विद्यालोक अवस्था होती है। अपने वैभव के

१. शि० दृ० ३. १०१।

२. वही ३. १०२।

३. वही ३. १२१।



आमोद में जब वह उल्लसित होता है तब उसकी वह स्थिति औन्मस्य वा उच्छ्रितता कहलाती है। इस उच्छ्रितता का किञ्चित् विस्तार ही उसकी उच्छाशक्ति है, जान और क्रिया उसी उल्लास के क्रमशः विस्तृत और स्थूलतर स्वरूप है। उच्छाशक्ति से वह स्वयं को रूपवान् बनाता है, जानशक्ति ने मदाशिव, क्रियाशक्ति ने ईश्वर और इसी प्रकार अपनी भिन्न-भिन्न शक्तियों ने वह मन्त्रमहेश्वर आदि अवस्थाओं को प्राप्त होता है। इस प्रमोदात्मा परमशिव का यह कृत्य मात्र उसकी क्रीडा है। मूलतः सभी पदार्थ पूर्णशिवस्वरूप हैं। पर अपर आदि का भेद मात्र अविद्या के कारण है। नानात्मक होने हुए भी सब कुछ परमशिवस्वरूप होने के कारण सर्वथा सत्य है।

**द्वितीय आह्निक**—वैयाकरण लोग पश्यन्ती को ही परमतन्त्र या शब्दब्रह्म मानते हैं। गोमानन्द का कथन है कि पश्यन्ती इन्द्रियमात्र है। उसका पश्यन्ती नाम उसकी भगवत् क्रियावत्ता को प्रदर्शित करना है। "अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा" इत्यादि वचन सर्वथा अगह्नत हैं क्योंकि पश्यन्ती नाम और उक्त लक्षण दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। पश्यन्ती स्फोटरूप भी नहीं है। मन्त्र तो यह है कि परमशिव की जानरूपा शक्ति, जो शैवमत में मदाशिव कहलाती है, वैयाकरण मत में पश्यन्ती है। जिस प्रकार विश्व के अन्य पदार्थ शिवस्वरूप हैं उसी प्रकार वागिन्द्रिय अर्थात् पश्यन्ती भी शिवरूप ही है। यही परमशिव विन्दु रूप में परावाक, अतन्त्र अक्रम नादरूप में पश्यन्ती और अर्थोत्पत्ति के समय मध्यमा तथा भेदमय व्यवहार के समय वैश्वनी वाणी के रूप में उल्लसित होते हैं।

**तृतीय आह्निक**—जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है वह शिव शक्ति से तथा शक्ति शिव से रहित कभी भी नहीं होते और न उन दोनों में परस्पर मेल ही है। समस्त ज्ञान में समस्त आकार में सर्वत्र शिव ही अपनी शक्ति से समाविष्ट है। हमें यह नहीं समझना चाहिये कि शिव सुवर्ण आदि के समान विकार को प्राप्त होने हैं क्योंकि वे अनीम अतन्त्र और स्वतन्त्र हैं। योगी के समान उनका इच्छा शक्ति से ही सब कुछ उल्लसित होता है। भेद की कल्पना तो व्यवहार के लिये है। वस्तु मोक्ष भी परमार्थतः नहीं है। व्यवहारजगत् में जो कुछ हो रहा है वह सब उनकी इच्छाशक्ति का लोलाविलास है।

**चतुर्थ आह्निक**—इस विश्वब्रह्माण्ड में कोई भी पदार्थ शक्ति से शुन्य नहीं है। उनप्रकार यदि बहुत ने शक्तिमानों की कल्पना को जाय तो सर्वशक्तिमानों के स्वतन्त्र होने के कारण सर्वस्वातन्त्र्यरूप अतिप्रसङ्ग दोष आने लगेगा। हमें निष्कर्ष यह निकलना है कि संसार के सभी शक्तिमान् पदार्थ मापेश हैं। केवल एक

परमशिव ही घट पट आदि अनेक स्वभाव वाली शक्तियों से अभिन्न शक्तिमान् एवं निरपेक्ष या स्वतन्त्र है। समस्त पदार्थों में परमार्थतः वही चित्स्वरूप है। जैसे अमृत्य कागज के मोट राजाजा के कारण नान्यात्मक व्यवहृत होते हैं उसीप्रकार अन्य दर्शनों के अनुसार मिथ्या भी यह संसार उसी की इच्छा ने सत्य प्रतीत होता है। अतः यह भी सत्य है मिथ्या नहीं। यहाँ तक कि शशशृङ्ग आदि भी सत्य हैं क्योंकि पद के रूप में प्रयुक्त वे शब्द निरर्थक प्रतीत नहीं होते। यह संसार न तो ईश्वर के द्वारा परमाणुओं से उत्पन्न किया जाता है और न ब्रह्म का विघटन है। स्वयं शिव ही अपने स्वातन्त्र्यवश नानास्वों में उल्लभित हो रहे हैं। इसी कारण इस संसार का नाश भी नहीं होता। अर्थात् यह संसार न तो क्षणिक है और न स्फोटतत्त्वात्मक ही। शिविकोद्वाहकत्वायेन समस्त पदार्थों में एकमात्र शिव ही व्यवस्थित हैं।

**पञ्चम आह्निक**—इस संसार में जितने भी पदार्थ हैं चूंकि सभी इच्छा ज्ञान क्रिया वाले हैं; चूंकि सर्वत्र निर्वृति का साहचर्य है यहाँ तक कि दुःख में भी धैर्य देखा जाता है और चूंकि घट आदि जड़ पदार्थ भी सत्तात्म्य क्रिया वाले होते हैं, अतः सर्वत्र चित्तमत्ता का ही उल्लास समझना चाहिये। किसी को किसी भी पदार्थ का, अनुमान या शब्द आदि किसी भी प्रमाण से, ज्ञान सम्भव नहीं है। इन विषय में बौद्धों का क्षणभङ्गवाद भी युक्तियुक्त नहीं है। चूंकि नद्यांजात गिरा आदि की, अधिष्ठित होते हुए भी, स्तनपान आदि में प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः इन सबमें यही निष्कर्ष निकलता है कि जड़ चेतन सभी पदार्थ सर्वत्र हैं। सभी अपने को जानते हैं। सभी पदार्थ सर्वात्मक हैं और उनप्रकार शिव ही नानास्वों में अपने को जानते हुए स्थित हैं। अर्थात् सब कुछ शिवरूप ही है।

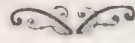
**षष्ठ आह्निक**—उपनिषदों में ब्रह्म की अनेकरूपता, पाञ्चरात्रों का वामुद्देवप्रलयवाद, श्रीमद्भगवद्गीता का विश्वरूपवाद, जैनों का अनेकजीववाद, सांख्यों का आत्मस्वातन्त्र्यवाद, न्यायवैशेषिक का ईश्वरनिमित्तकारणतावाद, कारण-कारणतावाद, बौद्धों का विज्ञानवाद तथा क्षणभङ्गवाद इन सबमें अविद्या की कल्पना करनी ही पड़ती है। फलतः सर्वत्र भेदवाद स्पष्ट है। इसके अनिरिक्त विज्ञानवाद, शून्यवाद, क्षणभङ्गवाद आदि में और भी अनेक दोष आते हैं। इसलिए यह मानना पड़ता है कि एक ही तत्त्व सर्वत्र स्थित है। अनेक तत्त्व मानने पर अनेक नायकों को मानना पड़ेगा; फिर अनेक नायक अनेक पद्धतियों करेंगे फलतः कोई क्रिया नहीं होगी और संसार की गृष्टि स्थिति ही असम्भव हो जायगी। इसलिए यही परम सिद्धान्त है कि एक ही शिव अनेक रूपों में स्थित है और अनेक पदार्थ भी एक

॥ श्रीः ॥

श्रीमहासाहेश्वरे त्पलदेवाचार्यविरचित-

वृत्तिविभूषिता

शिवदृष्टिः



प्रथममाह्निकम्

अस्मद्रूपसमाविष्टः स्वात्मनात्मनिवारणे ।  
शिवः करोतु निजया नमः शक्त्या ततात्मने ॥१॥

वृत्तिः

चिदाकाशमये स्वाङ्गे विश्वालेख्यविधायिने ।

सर्वाङ्गुतोद्भवभुवं नमो विषमचक्षुषे ॥१॥

टिप्पणी—विषमचक्षुष इति—यद्धि प्रमाणप्रमेयलक्षणं विश्वं तद्भेदाभासेन  
मिथ्यैवेति नेत्रद्वितयेन द्यात्यते भगवता । परमार्थतस्तद्वत्तायामपि स्वात्मस्फुरत्ता-  
मात्ररूपत्वादस्य विश्वस्य न कापि भेदकलङ्कदोषकल्पनेति तृतीयनेत्रेण द्यात्यते इति ।  
तच्च भगवत एव अन्यस्य तु न, भेदाविष्टानृत्वादिनि । ततश्च तत्रैव नमस्कारो  
युक्तः । अन्यत्र तु किं फलमिति वाक्यार्थसमन्वयदोषिकायां निर्णोतमिति । तदेव

चिन्मयी

यस्याः पद्ममुखादजायत विधिविश्वस्य कर्ता प्रभु-

यामद्यापि भुवः सुराः प्रतिदिनं ध्यायन्ति कालत्रयम् ।

मुक्ताधिद्रुमहेमनोलावलच्छायात्मना तामहं

वेदानां जननीं स्मराम्यवनतो निर्विघ्नतावाप्तये ॥

अस्मद् अर्थात् नमस्कर्ता रूप में समाविष्ट शिव, स्वयं अर्थात् वाणी, मन आदि  
करण रूप के द्वारा, स्वयं अर्थात् विघ्न के निवारणार्थ, अपनी शक्ति में आत्म-  
विन्नतार करनेवाले शिव को नमस्कार करें । ( यहाँ नमस्कारकर्ता, नमस्कार के  
करण, विघ्न और नमस्कार्य सब कुछ शिव ही हैं—इस संकेत के द्वारा शैवदर्शन  
का मूलतत्त्व भी संकेतित है ) ॥१॥

विभ्रमाकरसंज्ञेन स्वपुत्रेणास्मि चोदितः ।  
 पद्मानन्दाभिधानेन तथा सप्रह्लाचारिणा ॥२॥  
 ईश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तविस्तरे गुरुनिर्मिते ।  
 शिवदृष्टिप्रकरणे करोमि पदसङ्गतिम् ॥३॥

प्रकृतशास्त्रानुसारेणैष्टदेवतानमस्कारं करोति शास्त्रकारः अस्मद्विरूपेति—

योऽहं तमस्करोमि स शिवोऽस्मद्विरूपेणैव प्रातः । वस्तुस्थित्या हि सर्वतत्त्वविग्रहो  
 वक्ष्यमाणनीत्या शिवः । स संनारार्थं मायाशक्तिकृतैक्याख्यात्या भावाननात्मस्थाना-  
 भागयति ईश्वरप्रत्यभिज्ञाप्रपञ्चितन्यायेन । ततस्तान् प्राणादीन् पुनः कांश्चिल्लोक-  
 समर्थयति—स्वाङ्गे विश्वालेख्यविधायिने इति । स्वाङ्ग इति न तु व्यतिरिक्ते  
 क्वचन । यदुक्तं पूर्वगुरुणा—

निस्पादानमम्भारमभित्तावेव तन्वते ।

जगच्चित्रं नमस्तमै कलाशलाव्याय शूलिने ॥ इति ।

( स्त० चि० ५ )

भगवता वीरेण व्यामेनापि—

सम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।

संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ इति ।

( भ० गी० १४.१ )

कालिकाकारविश्वचित्रेणापि तत्स्य स्वरूपान्यथाभाव इत्याकारानाम्ब्यं व्यतिरेक-  
 ध्वनिश्च । निमित्तावेव चित्रविधानमिति महदाश्रयम् ।

स ब्रह्मचारिणेति—'एकब्रह्मव्रतान्तरा मिथः स ब्रह्मचारिणः' इति कोशः ।  
 प्रकृतशास्त्रेति—प्रकृतशास्त्रं जैत्राद्वैततयः । अयमत्र सूक्ष्मार्थः—शास्त्रादौ 'श्रेयांसि  
 बहुविधानि भवन्ति महानामपि ।' इति नवेनावस्थं तदुत्तुगनार्थं तमस्कारो विधेयः ।  
 येन प्रसफुरत्तन्महोजमा विधत्ताः कुण्डलाक्षया न प्रभवन्ति । तत्र सर्वस्याप्रकाशत्वेना-  
 गित्या किं केन कस्य निरमनमित्याशयेनाह—प्रकृतेत्यादि । तथा च विज्वात्मना  
 प्रिततत्पस्यानन्तत्वात्तेतमस्करणाथत्वम् । संकुचिगदाजिवादिज्ञानशक्तिस्वरूप-  
 पश्यन्तीनामासूत्रितस्यातन्महानिस्वातन्त्र्याभावात्मकस्य पञ्चान्तनुत्तुग्यं तस्यैव  
 संकुचितस्यापि तद्गुणाकारस्वरूपेण विग्रहेण गृह्यतस्पर्शस्वरूपशक्तिमहिम्नाऽपि  
 करणत्वमिति ।

स इति—मायाशक्तिकृतैक्याख्यातिभाजनभूतास्मद्विरूपप्रमातृभूमौ समाविष्टः ।  
 तत इति—प्रनात्मस्थत्वे । लोकेति—प्रमेयभेदेनैव प्रमातृभेद इत्याशयं  
 सूचयति लोकयात्रासु इत्यादिना । यात्रा = व्यवहारः । अनर्थवेति—यथाभिज्ञी-



आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन् निर्वृतचिद्विभुः ।

अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः ॥२॥

यात्रामु अस्मद्रूपप्रमातृभेदेन स्थापयिष्यन् भिन्नीकृतान् प्रमेयानपि घटपटादि-  
वैलक्षण्येनात्माभेदेन पश्यन् समाविशति इत्युच्यते । यावत्त्या च मात्रया  
समावेशस्तावन्मात्रमिद्विमम्भवः । प्रथमस्तावत् कर्तृतानुमारी ज्ञानक्रियायोगः ।  
ययोक्तं स्पन्दशास्त्रे—

न हीच्छानोदनस्यायं प्रेरकत्वेन वर्तते ।

अपि त्वात्मबलस्पर्शान् पुरुषस्तत्तमो भवेत् ॥ इति ।

( स्प० का० १.८ )

नथाज्यवोक्तम्—‘ऐश्वरी प्रवृत्तिः’ इति । अतएव दृष्ट्वा तत्तद्ब्रह्मवर्ध-  
मधिकतरः समावेशोऽभ्यसनीयः स्वप्रयत्नेनापीत्येतदपि सूचितम् । समाविष्टज्य  
शिवोऽपीत्युच्यते देवदत्तादिरपि च, उभयोर्व्यगमनाविशेषात् । स तथाविधः शिवः  
तत्तात्मने = परापररूपभगवन्महाशियादिप्रसरणमुखेनानन्तविस्ताराय निजस्वरूपाय  
परमशिवमज्ञाय नमस्करोतु । लब्धं निमग्नपादौ नमस्तेऽस्तु इतिवत् ।

युं शिवात्मानः परमेश्वराय नमस्कृत्यमित्यर्थः । परत्वेन प्रथमपुरुषप्रत्यक्षो-  
क्तिद्विरूपान्धेन कृत्रिमाहंभावस्य कर्तृभामात्रं तावमिति दर्शनार्थः । सर्वं च  
शिवमवमिति नमस्कृत्य ब्राह्मन्तत्वादिक्षणमपि शिव एव । तदाह—स्थात्मनेति ।

कृतानपि प्राणादीन् प्रमेयानात्माभेदेन पश्यति तथैव सर्वमपि व्याप्यमित्यर्थः ।  
निसन्त्रणादाविति—नियोगकरणं भिरुक्त्वम्, आद्यव्यक्ते प्रेरणा इत्यर्थः । तदाश्चा-  
प्रवृत्तप्रेर इति फलितोक्तं । तेन प्रेरणानुसंगेन कथ्येत्यर्थः । तदुक्तं हरिणा—

अप्रवृत्तस्य हि प्रैषे पृच्छ्यादेर्लोङ् विधीयते ।

प्रवृत्तस्य यदा प्रैपस्तदा स विषयो णिचः ॥ इति ।

तेन ‘करोतु’ इत्ययान्यप्रेरकत्वमिति न भ्रमितव्यम् ।

एतेनेति—अयं ज्योको नमस्कृत्यैकपरमार्थाणि प्रवृत्त इहोदाहरणीकान् एव  
मन्त्रव्य इत्याह—नमस्तमोज्ञादिका इति । तेनात्मब्रह्मसमनस्यैवेत्येतानि  
कारकैर्मन्दप्रथाभागतं फलेन च कार्मण्यभावाभासकं तत्त्वार्थं तस्यैव तत्तात्मनः  
स्फुरणमात्रमेव मन्त्रव्यमिति भावः । सद्युक्तिरिति—अनुभवानुगामी तर्को दृष्टिः ।

ममस्त भावों में आत्मस्वरूप शिव का ही व्यवहार होना चाहिए क्योंकि वे  
निर्वृतचित्स्वरूप हैं । वे ही सर्वत्र इच्छा ज्ञान और क्रिया रूप में भागमान हैं ।  
और इस प्रकार वे शिव ही व्यवहृत इच्छाप्रसार वाले तथा ज्ञान और क्रिया के  
प्रसार वाले हैं ॥२॥

विघ्ना अपि तदात्मान एव निवार्याः तदाह—आत्मनिवारण इति । नमस्कारे चास्मदीयेच्छादिशक्तिः शैव्येवेत्याह—निजया शक्त्या इति । एतेन सर्वा एव क्रियाः सकारकाः सफलाश्च गमनभोजनादिका एवमेवानुगन्तव्या इति दर्शितम् ॥१॥ इदानीं समस्तशास्त्रार्थं संक्षेपेण सयुक्तिकं प्रतिजानीते—आत्मैवेति ।

सर्वभावेषु स्वात्मैव शिव इति व्यवहर्तव्यमिति प्रतिज्ञा । निर्वृतचिदित्यादिविशेषणकलापो हेतुः । स्फुरन् इति धर्मिणो हेतोश्च स्वसंवेदनप्रत्यक्षं प्रमाणम् । अत एव स्फुरन् इति पृथक् पदम् । निर्वृतचित्त्वाद्येव च शिवत्वमित्यर्थाच्छिवलक्षणमपि दर्शितम् । तस्मिन्सिद्धे विषये, शिवत्वव्यवहारमात्रं तद्विषयं साध्यत ईश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तक्रमेण । यथा च चिन्निर्वृतीच्छाजानक्रिया घटपटपर्यन्तसर्वभावेषु भास-

चिद्विभुरिति—स्वप्रकाश एवेत्यर्थः । अनिरुद्धेति—अहंप्रथात्वेन स्वात्मन्यान् । प्रसरदिति—घटादीनां यत् पार्याप्तिकं पारमाथिकं रूपं स एव । शिव इति—अयमर्थः—सर्वभावानां य आत्मा वेद्यतात्पर्यः स एव शिव इति । तं विना “प्राग्विद्यार्थोऽप्रकाशः स्यात् ।” ( ई० प्र० १.५.२ ) इति नीत्या सर्वव्यतिरिक्तः । अत एव च न बाह्यं नाम किञ्चन परमार्थतो विद्यते । एवं चार्थस्य प्रकाशत्वे प्रकाशोऽर्थोऽर्थाणि प्रकाश इति भावसमीकारेण व्याप्तनुनिना गीतासूक्तम्—यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति । ( ६.३० ) इति । तथा—सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ( ६.२९ ) इति च । वृत्तिकृता चान्यदोक्तम्—अर्थानां प्रकाशात्मनया परमात्मत्वेन विश्वरूपत्वात् । अन्यदोक्तम्—एकैकत्र च तत्त्वे पट्त्रिगलत्वरूपता विद्यते । इति । तथा वेदान्तिनोऽप्याहुः—‘प्रवेक्षोऽपि ब्रह्मणः सार्वज्ञ्यमनतिक्रान्तोऽविकल्पश्च ।’ इति । अत एव च शरीरमेव च ये पट्त्रिगलत्वमयं शिवस्तथा पश्यन्ति, अर्चयन्ति, वेदपि निश्चयन्ति घटादिवर्णा वा तथाभिनिविश्य पश्यन्तीति नास्त्यत्र विवादः ।

प्रतिज्ञेति—परप्रतीत्यै पञ्चावयवं वाक्यमुदाहरणीकरोति प्रतिज्ञेति । सनाध्यं पक्षकथनं प्रतिज्ञा । हेतुरिति—लिङ्गवाचको हेतुः । धर्मिणः = स्वात्मैव शिव इत्यस्य । हेतोश्च = निर्वृतचिदित्यस्य । प्रमाणमिति—अनुमानं हि प्रत्यक्षमूलम् । निर्वृतचित्त्वाद्येवेति—निर्वृतिः = स्वप्रकाशस्वरूपविश्रान्तिः, आनन्दलक्षणा, तत्र नित्ययोगे मत्तर्क्येऽप्रत्ययः । तेन चितः समानकरणं वृत्ती पदानामेकार्थोभावात् अत्यन्ताविशेषणमर्थभूततां च प्रकाशानन्दबोधोऽयं विज्ञानानन्दस्वस्य भगवतो धर्मित्वं कथयति । उक्तं चेश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्—

किन्तु मोहवशादस्मिन् दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते ।

शक्त्याविष्करणेनैवं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते ॥ ( २.१.३ ) इति ।

स यदाऽऽस्ते चिदाह्लादमात्रानुभवतल्लयः ।  
तदिच्छा तावती तावज्ज्ञानं तावत्क्रिया हि सा ॥३॥

मानेषु स्फुरन्ति तथाऽग्रतो वक्ष्यते । शक्तिशक्तिमतोरभेदान् शक्तिमतत्रैक्यान् शक्ति-  
पञ्चकं परापरावस्था व्यवहन् प्रसात्रोक्षयेतीश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तीत्या पुरस्ताद्  
वक्ष्यते । निर्वृता = वेशनिराकांक्षा = पूर्णा चिद् यस्य सः, तथा विभुः, आत्ममानुष-  
ममस्तवेद्यार्थः । अनिरुद्धः इच्छाप्रसंगे यस्य । प्रगरन्त्यौ दृक् = ज्ञानं क्रिया च  
यस्य स, तथा लक्षणः शिवः सर्वेष्वार्त्तव ॥२॥

एवं सर्वं शिवरूपमिति स्वयंवेदनगिद्धे व्यवहारमात्रं साध्यमिति स्थिते बाह्यन्तर-  
विमर्ति निराकरणेन परदशातः प्रवृत्ति घटपटादिस्थितिपर्यन्तमेवंरूपनिवृत्ता-  
वस्थितिपादव्यप्रतिपादनं प्रसंगेति—स यदेति । शिवैक्याख्यातिरूपध्वान्तिमय-  
संगारावस्था यावद्योन्मिषति तावदपि तावत्येवांक्षरूपशिवता । तथा च शक्ति-  
पञ्चकमपि तदार्त्तमेकरूपमपि व्यवहारपेक्षया कार्यमस्मवादस्त्येव । तथा हि—  
परापरावस्थायां योऽहमिति सहजप्रत्यवमर्शात्मा प्रकाशः स एव परानपेक्षः पूर्णत्वा  
दानन्दरूपो निर्वृतचिन्मयः स्थित एव । सैव स्वतन्त्रा मुख्या शिवता । तदुक्तम्—  
चिदाह्लादेति । पूर्णचिदानन्दमात्रैजुभवः = प्रकाशनं न तु बाह्ये, नन एव तत्रैव-  
लयो यस्य स तथा । अनेन निर्वृतचित् कथिता । इच्छाज्ञानक्रियास्तु भिन्नविषयाद्य-

तथाऽग्रत इति—‘घटाविग्रह’ इत्यादि श्लोके । शक्तिशक्तिमतोरिति—अत्र शक्ति-  
पञ्चकेनैव भेदमात्राद्वाह—शक्तिशक्तीत्यादि । शक्तिमतश्चेति—तस्य स्वात्मन्यपि  
भेदमात्राद्वाह—शक्तिमतश्चेत्यादि । परापरेति—सदाशिवत्वमुद्रेकादितादि-  
श्लोके ।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञेति—ऐक्यं गिद्धे पूर्णत्वस्य बलादेव लाभ इति व्यतिरिक्ता-  
काङ्क्षाविकल्पान् ।

प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्त्तितः ।

उक्ता च सैव विश्रान्तिः सर्वपिधानिरागतः ॥

स्वातन्त्र्यमथकर्तृत्वं मुख्यमीश्वरताऽपि च ॥ इति ।

( अ० प्र० सि० २३ )

परमानन्द स्वभाव इत्यर्थः । अनिरुद्धेति—यतः सर्वभावेषु ‘आत्मा’ ‘अहम्’ इति  
स्वतन्त्रः तत एव । दृक्ज्ञानमिति—प्रकाशो विमर्शश्च ।

जब वे शिव पूर्ण चिदानन्दमात्र में ( न कि बाहर ) प्रकाशित होते रहते हैं  
और उगी में उनका लय होता रहता है तो उस समय उनको ममस्त इच्छा  
मारा ज्ञान और सम्पूर्ण क्रिया सब कुछ उनमें लीन रहती है ॥३॥

सुसूक्ष्मशक्तित्रितयसामरस्येन वत्ते ।  
चिद्रूपाह्लादपरमो निर्विभागः परस्तदा ॥ ४ ॥

पेक्षया स्फुटीभवन्ति । परावस्थायां पुनः 'पूर्णोद्भूम्' इत्येव स्वस्वभावः प्रकाशते । तावत्प्रकाशत्वात् तदेव ज्ञानम्, संरम्भरूपत्वात् नैव क्रिया । तत्स्वभावेन तदभ्युपगमादिच्छा अपि स्थितैवेत्याह—तदिच्छा नाश्रुतीति । तावच्च स्वरूपं क्रियेति योज्यम् । अथवा तावज्ज्ञानमिति तावच्छब्दः क्रियायां स्वांशित्वः परिणमनीयः । द्वितीयस्त्वन्ते तावच्छब्दः क्रमार्थः परापरावस्थावेदः ॥ ३ ॥

अत एव भिन्नविषयाभावेऽपि अम्युपगमप्रकाशसंरम्भाणां सर्वदा प्रकाशमयत्वेनाविचलनादिच्छादिव्यग्रहाराग्यतैवेत्युक्तम्—सुसूक्ष्मेति । सुसूक्ष्मत्वमेव तदव्याद्यभावेन विभागापरिकल्पनात् । अत एव शक्तिरामरस्यं पूर्णचिन्मात्रप्रकाशनात्मत्वान्चिद्रूपाह्लादपरत्वं चोक्तम् । नैव च निर्विभागता परावस्था यदेवमास्ते परस्तदेत्युक्ता ॥ ४ ॥

अन्यदशायामपि सा तथाभूतजैवादिभूतगुह्यपराविवायस्थास्तीत्याह—न परमिति ।

वाद्यन्तरेति—वेदान्तानां भिन्नवेद्यवादिनां च । तावतीति—कथितव्याप्तिका । कार्येति—कार्येण कारणानुमानम् । तथेति—तत्रादौ परापरावस्थायाश्चिदानन्दतां समर्थयति । तत इति—चिदानन्दमात्रव्यतिरिक्तस्य भिन्नज्ञानवदभावात्तत एव प्रकाशस्तत्रैव लयश्च ।

भिन्नेति—तेन न भिन्नविषयाप्रविभागदयायां व्यभिचार इति भावः । अनेन संविदानन्दमात्मनः सर्वत्रैकरूपत्वेनानपादित्वेन धर्मिरूपेण शक्तिमदान्मनाज्जस्थितस्य भगवतः स्वातन्त्र्योद्रेकवलेतोन्मेप्यमाणानां चेच्छादीनां शक्तित्वं द्योतितम् । परिणमनीय इति—तावती क्रियेत्यर्थः । परापरेति—परावस्थायां क्रमाभावात् । अभ्युपगमः = इच्छा । प्रकाशः = ज्ञानम् । संरम्भः = क्रिया । सर्वदेति—अव्यभिचारणेत्यर्थः । सुसूक्ष्मेति—सुसूक्ष्मत्ववैवाच्यं सूक्ष्मदृष्टिनां विगुह्योभात्मवादिनां विकल्पप्रक्षोभकतविमर्शानां भ्रान्तिरित्यर्थः ।

अन्यदशेति—घटपटादिरूपभेदप्रथारूपायामित्यर्थः ।

न परमिति—ननु पूर्वम् 'आत्मैव सर्वभावेषु' इत्यनेन सर्वपदार्थानामात्माकार एव

उस समय इच्छा ज्ञान और क्रिया ये तीनों सूक्ष्म शक्तियाँ समरस अवस्था ( equilibrium ) में रहती हैं । और उमीन्दिए वह चिद्रूप आह्लादस्वरूप परमशिव की निर्विभाग अवस्था होती है । वही परावस्था है ॥४॥



न परं तदवस्थायां व्यवस्थैषा व्यवस्थिता ।

यावत्समग्रज्ञानाग्रज्ञातृस्पर्शदशास्वपि

॥ ५ ॥

न केवलं परापराधनाविर्भाव एवैवं नियमः, यावदपरावस्थायामपि । सर्ववि-  
कल्पादिज्ञानानामग्रत उल्लिख्यवस्थायां ज्ञानज्येयानाविलज्जातृस्वरूपमंस्पर्शोऽवश्यं  
भावीति तदवस्थास्वपि परव्यवस्था । यद्यपि तदा पुर्यष्टकलक्षणज्ञात्रवस्थानान् मौ-  
पुष्यवत् न परावस्था, तथापि यदा ज्ञानाग्रभागेषु विश्राम्यन्ति यच्चित् तदा परता ।  
न च प्रमाणभूमौ विश्रान्तिः, तथापि प्राणस्पन्दात्मकज्येव्याकुलितत्वान् । ततः  
प्राणादिज्येयज्ञानस्याप्यग्रतो विश्रान्तिः । वस्तुतः मौपुष्याग्रभागिनी परता स्थितैव,  
लक्ष्यते च, प्रकाशस्यालक्ष्यमाणत्वाभावात् । तथा फलेऽपि मयैतज्ज्ञानमिति प्रमाण-  
फलभूतज्ञानान्तरादये तदा ज्ञानमात्रे निर्वृतिमिति विश्रान्त्या । अथवा यथा समग्र-  
ज्ञानानामागम्ये, तथा फले परिणामात् तत्रैव विश्रान्त्या । तद्विश्रान्तिं विना अर्थो  
ज्ञात एव न भवति ।

समग्रत्वमनेकप्रकारकत्वेन ज्ञानानां मध्यदशायामेव प्रत्यगात्मन्वेन । पूर्वापर-  
कोटयोस्तु एकविशुद्धशिवत्वं सर्वेषाम् । एतच्चेश्वरप्रत्यभिज्ञायां परीक्ष्यम् ॥५॥

वेद्यताग्व्योऽस्ति शिव इति स्थापितं तदेव समर्थनीयम्, कृतमनयोक्त्या 'स यदाऽऽस्ते'  
इत्यादिकया; यतः प्रकृतमपह्णायान्यद् भूवत् उन्नतभाषणमिति प्रकृतविघ्नातारव्यं  
दोषमाशङ्क्याह—न परमिति । तथादौ शक्तिमत्स्वरूपमेव व्यवस्थापितम्, तस्मिंश्च  
मिद्वे मूलकारणेऽन्यद्वर्ण्यमानं निर्भित्तिचित्रन्यायेनान्यथा घटमानं सेत्स्यतीति भावः ।

नियम इति—सर्वशक्तिसामरस्यस्वरूपशक्तिमदवद्यभावः । उत्पिप्तेति—  
उत्पितुमिच्छा उत्पित्वा । यद्यपीति—ननु चास्तु तत्र ज्ञानज्येयानाविलज्जातृस्वरूप-  
स्पर्शस्तथापि कथं परव्यवस्था ? नहि तेनैव तद्भावाः, अस्ति च तादृक्स्वरूपं  
मौपुष्यम्, यतो मलेन न्यक्कृतः कलया तु प्रबुद्धः इवात्र तन्मयकारेण मुष्टु मुत इति  
तथापि ज्ञात्रवस्थानेऽपि मुपुत इति कथ्यत इत्याशयेनाह—यद्यपीति । का पुनरपरा-  
वस्था इत्याह—समग्रत्वमिति । एवमिति—अपूर्वप्रक्रियया मिद्वेऽर्थं सति ।  
समर्थनादिनि—तथा हीत्यादिना । निगमितः = निगमावयवेन निश्चायितः ।  
अनुवादेनेति—परावस्थायां पुनरित्यादिना ।

यदा त्विति—इत्थं शुद्धबोधस्वरूपात्मनि शिवतत्त्वे शक्तिपञ्चकमैक्यापादनाय  
समर्थितम्, तत्प्रसङ्गेन चापरावस्थायामपि तस्य तादृग्भूताप्रतिपत्तिर्दाढ्यार्थं पुनरपि

यह ( जेय ज्ञातृ ज्ञान आदि से शून्य ) शिवावस्था केवल परावस्था में ही  
नहीं होती बल्कि समस्त ज्ञान ज्ञातृ जेय की प्रथमप्रथमोन्मेषावस्थाओं में भी  
शिव की वही परावस्था रहती है ॥५॥

स्थितैव लक्ष्यते सा च तद्विश्रान्त्या तथा फले ।

एवं न जातुचित् तस्य वियोगश्चित्यात्मना ॥६॥

शक्त्या निर्वृतचित्त्वस्य तदभाविभागयोः ।

यदा तु तस्य चिद्वर्गविभवामोदजृम्भया ॥७॥

गर्वय शक्तिपञ्चकस्वभावमसंहृन्नाह—एवं नेति । एवम् = उक्तप्रकारेण, चित्तयात्मना = उच्छाजानक्रियात्मकया, शक्त्या, न वियोगः कदाचिदपि । निर्वृतम् = निर्विवादम्, चित्तम् = चिद्रूपम् यस्य, तथा चिदानन्दयुक्तयोः परापरावस्था-स्वपि समवसानम् । केवलं परावस्थायामेवित्युक्त्या च भाविच्छायाभावशङ्कायां तत्सम्भवो निगमितश्चिदानन्दावसानेन । तामां शक्तीनामविभागविभागयोः परत्वापरत्वा-वस्थानेरेषु जेयादिमद्भावे शक्तीनां विभागव्यवहारान् तस्य प्रमातुरिच्छादिशक्तिभिर्न विरहः ॥ ६-६३ ॥

विभागे यथा शक्तिपञ्चकस्थितिस्तथा वक्तव्यम्; तत्क्रमेणाह—यदा त्विति । चिद्रूपस्य शिवभट्टारकस्य धरः = स्वभावां यो विभवः = पञ्चविभक्त्यनिर्वृति-योग्यता, तस्य आनोदः = चमत्कारः तयास्वरूपरामर्शरूपः, तस्य जृम्भा = विश्वात्मतया विकसनम् । यदुक्तं मया स्तोत्रे—

समर्थितमिति चिद्वर्गपरिव्यापनरावस्थायां शक्तिपञ्चकयामरस्यात्मकं पूर्णमिवानन्दमयं चित्स्वरूपमास्त इति । तत्र या पुनः परापरा स्पन्दात्मिका शक्तिरक्षणावस्था, तत्रापीच्छादिपञ्चकसम्भवं साधयति—यदा त्वित्यादिना । सृष्टीति—अयमेव ह्यस्यान्यवादिभ्यो वियोगः—

मर्गसंहृतिकर्तारं प्रलयस्थितिकारकम् ।

अनुग्रहकरं देवं वन्देऽहं भक्तवत्सलम् ॥ इति ॥

जिम् प्रकार प्रथमान्मेवावस्था में, उगी प्रकार समस्त ज्ञान आदि की फलोप-लब्धि ( 'मैंने ज्ञान लिया' इत्यादि ) में भी प्राणादि की विश्रान्ति के कारण शिव की वही अवस्था होती है । इस प्रकार इच्छा ज्ञान क्रिया रूपात्मक तीन शक्तियों का तथा चित् और आनन्दात्मक शक्तियों का अर्थात् इन पाँचों का उस प्रमाता से वियोग नहीं होता क्योंकि उन पाँचों शक्तियों का अभागावस्था तथा विभागा-वस्था का परापरावस्था में भी समर्थन रहता है ॥६॥

जब उस परमभट्टारक शिव का चैतन्य अपने स्वभाव के वैभव अर्थात् पञ्चविध कार्य करने की योग्यता के स्फुरण का प्रारम्भ होने के कारण अनेक प्रकार की सृष्टि करने के लिए उत्सुख होता है तो वह उसकी इच्छा का प्रथम सर्वसूक्ष्मकाल होता है ॥७-८॥

१. सृष्टि स्थिति प्रलय अनुग्रह और तिरोधान ।

विचित्ररचनानानाकार्यतृष्टिप्रवर्त्तने ।  
 भवत्युन्मुखिता वित्ता सेच्छायाः प्रथमा तुष्टिः ॥८॥  
 सा च दृश्या हृदुद्देशे कार्यस्मरणकालतः ।  
 प्रहर्षविदसमये दरसन्दर्शनक्षणे ॥९॥  
 अनालोचनतो दृष्टे विसर्गप्रसरात्परे ।  
 विसर्गोक्तिप्रसङ्गे च वाचने धावने तथा ॥१०॥

स्कारयस्यमिलमात्मना स्फुटम् विश्वमात्मनि क्पनामृगम् ।

यत्त्वयं निजसेन घर्णसे तत्समुल्लसति भावमण्डलम् ॥

( उ० स्तो० १३.१५ ) इति ।

घूर्णनं जृम्भा उक्ता तथा जृम्भया हेतुभूतया, स्थितिरिवरूपमिव मायीयाभेदाख्या-  
 तिवेचित्ररचनोपलब्धिता, तत्त्वभावा या नानाकार्यतृष्टिः, तत्प्रवर्त्तने यदा  
 उन्मुखिता = उन्मुखवदाचरिता, वस्तुतो द्वितीयाभावान् नैवेद्येणात्तमवित्त्वान् ।  
 चित्ता = चैतन्यमेव, तदा सा तुष्टिः = सूक्ष्मकालपरिच्छिन्न इच्छाप्रथमभागः । अत्र  
 चैतावच्छक्तिरन्यापि व्यवहर्तृणा परमार्थपदमागच्छता संभाव्यत इत्येवं निदिश्यते,  
 न तु मायातन्वादूर्ध्व कालविभागसंस्पर्शः । अथवा मायोर्ध्वेऽपि परापररूपत्वादवस्था-  
 विशेषस्य कालविभागोऽपि स्यादित्यत एव तुष्टिरित्युक्तम् । सर्वं चैतन्प्रत्यभिज्ञाया-  
 युक्तम् ॥८॥

अवेति—सक्रमत्वं हि लौकिक्याः क्रियायाः कालशक्तिः ।

घटते न तु शाश्वत्याः प्राग्व्याः स्यात्प्रभोरिव ॥

( ई० प्र० २.१.२ )

इति नीत्या तथा प्रभोः सक्रमत्वमनभाव्यम्, तथा तच्छब्दा अपि स्वातन्त्र्येच्छा-  
 रूपाया इत्यागङ्ग्याह—अत्र चेत्यादि । कालयोगाद्वि तस्या अनित्यताऽपि  
 भवेदित्यर्थः । अथवा पश्चान्तरेण तां युक्ताङ्गीकरोति—मायोर्ध्वेऽपीति । तेन  
 परापरतयेदन्तोन्मेषे तदावश्यं सूक्ष्मकालशक्तिरस्येवेति भावः । कालविभागोऽ-  
 पीति—अपिजन्नेन विगुदानामवदम्भावस्थानं ज्ञातयति ॥८॥

जिम प्रकार हृदय मे पूर्व चिकीर्षित कार्य के स्मरण के समय या आनन्द आत्मक  
 समाचार सुनने के समय, भय का कारण मिललाई पड़ने पर, अश्रुपूर्व आश्चर्या-  
 त्मक वस्तु के दृष्ट होने पर, अत्यन्त कष्टप्रद मल का त्याग होने के समय, किसी की  
 अन्तिम विदाई देते समय, शीघ्र पतन धावन इत्यादि में सम्पूर्णशक्ति का मिश्रण  
 हो जाता है पूर्वापर का ज्ञान नहीं रहता उसी प्रकार परमेश्वर की इच्छा का  
 प्रथमोन्मेषकाल समझना चाहिये ॥९-१०॥

सा च गृहमोक्षमययतिरूपा लक्ष्या हृत्प्रदेशे पूर्वचिकित्सितविस्मृतकार्यस्मरणेः  
तथा प्रहर्षहेतुपुत्रजन्माद्यावेदनकाले; वरस्य = भयस्य, नन्दनप्रारम्भक्षणे; अनालो-  
चनतः = महर्षेव दृष्टे दृष्टे; चरमयानुविगमस्थाने तथा विनश्यतीयभाष्यप्रवृत्तेः  
त्वन्निग्रन्थवाचने; धावनविधौ चेति । एतेष्वेवावसरेषु सा पूर्वोक्तक्रमेण खर्ववर्त्तनीति  
विलोलता = मिथीभावः ॥ १०३ ॥

दृश्या = स्फुटं लक्षणीया । प्रहर्षेति—प्रियतमपुत्रमृतोत्थितियात्तश्चरणकाले ।  
दरेति—भयारम्भप्रथमक्षणे । अनालोचनत इति—अश्वत्थपुत्रादिवस्तुनोऽपरमाद्  
दर्शने । विलोलतेति—एवं या निर्मातृनामयी जन्मुपगमलक्षणा प्रमातृता नैवेच्छा ।  
सा च गृहद्वानां स्वगर्वेदेनभिद्वन्वादनपहतुत्स्वभावेव स्थिता । यथा 'गच्छामि'  
इत्यादौ सामान्यरूपत्वेन यद्गन्तव्यादिकं ग्राह्यं शरीरेन्द्रियप्राणबुद्ध्यादि, विशेषानु-  
त्पन्नेन च यद् ग्राहकम्, तदभ्योऽप्यभावात्सामान्यलक्षणं पञ्चमन्तःशब्दवाच्यमिच्छा-  
लक्षणं प्रसरं विशिष्य, तत्प्रत्यभिज्ञोपायं प्रबुद्धान् प्रति विषयानिबन्धितपूर्वमाह—  
सा चेत्यादि । एतच्च—

अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वाऽऽमृयान् ।

धावन् वा यत्पदं गच्छेत् तत्र स्पन्दः प्रकीर्तितः ॥ (१.२२)

इत्यादिना स्पन्दे संगृहीतम् । तथा—

कामक्रोधलोभमोहमदमाहर्षयोगाचरे ।

बुद्धिं निरस्तिमितां कृत्वा तत्तत्त्वमवधिगते ॥ (वि० भै० १०१)

आनन्दे महति प्राप्ते दृष्टे वा बान्धवे चिरात् ।

आनन्दमुद्गतं व्यात्वा तन्व्यस्तन्मना भवेत् ॥ (वि० भै० ७१)

क्षुताद्यन्ते भये शोके वारणे विद्वते रणे ।

कुनुहृते क्षुधाद्यन्ते ब्रह्मगता समागता ॥ (वि० भै० ११८)

इति । अयमत्र भावः—पञ्चशक्तिपरिपूर्णतात्मकं चित्तो यद्रूपं तद् यदा स्वातन्त्र्या-  
त्मवित्स्वभाव आसृजति, तत उन्मूर्च्छाभूताया चिद्रूपतायां तत्प्रसरप्रथमविकार-  
लक्षणाया मिच्छाकल्पायां स्थितः सर्वाविभागेन स्थिति भाविन उपयोगिरूपस्य  
प्रमानुप्रमाणप्रमानव्यवर्गस्य त्रिमृशन् भाविभेदाः शरीरभेदकल्पेनैव पिण्डाकृताः  
मर्तागोत्रकशिल्पिकादिविकल्पेनात्थापयति । तत एव न भाविनियतक्रमककार्य  
जायते । यथा—श्लोकं स्मरन्त्यममकमिति सुस्मृपथैकमेव मध्यवर्तिषु वर्णपदादिषु  
प्रत्येकस्मृतिमन्त्रतिप्रवाधकारणमेवमन्तरेणैव नियतक्रमस्मरणपदस्मरोदय इति ।

धावनेति—यदि हि धावतादौ अभिन्नस्य प्रमानुप्रमेयरूपस्यानिर्दिशित-  
विभागस्यापि वस्तुतः प्रकाशो न स्यात्, तत्स्वरितं निष्पाठे वगवरणे स्वरिताभिधाने



## एतेष्वेव प्रसङ्गेषु सर्वशक्तिविलोता । कुत्सितेऽकुत्सितस्य स्यात्कथमुन्मुखतेति चेत् ॥११॥

सुषुप्तदुःखात्मकत्वेनागुडत्वाद्देयेऽस्मिन् कार्यं कथमौन्मुख्यमित्याशङ्कं निवार-  
यन्नाह—कुत्सितेत्यादि । मायाशक्तिकुतपूर्णस्वरूपाख्यातिमयचित्रकार्यतपन्नस्वरूप-  
प्रमरणरूपान् प्रभोरस्य तद्रूपस्य कार्यभेदस्य कुत्सितत्वमयुक्तम् । तथा हि—परापरा-  
वस्थाया मदाशिवेश्वररूपत्वे 'विश्वमहम्' इति विश्वस्वात्ममेव संविदि स्फुरति ।  
अपरावस्थायामपि 'अहंघटमिमं वेदि' 'घटोऽयम्' इति वा द्वैतदृष्टौ चिदात्मकतां विना  
प्रकाशमानतैव नोपपद्यत इति तद्रूपमेव । किन्तु मायाशक्तिवशादभेदापरामर्श इति

रेखातो रेखान्तरं देहाद्देशान्तरं स्थानकरणान्तरं च गच्छन्त-  
स्तांस्तांस्त्यक्तव्यास्त्यक्तवतोऽपरामर्शतयोरत्वागादानयोः कर्तारमनभिमुखतन्वानि  
विचित्राणि त्यागोपादानानि कथं भवेयुः परामर्शपूर्वकतयैषां दृष्टत्वात् । तदिमानि  
भवन्ति स्वकारणमनुमापयन्ति, न चामी भेदेनैव परामर्श एवमिति । भेदेन हि  
परामर्शं वाचिकमानसपरिस्पन्दपरम्परानोऽभिलाषमंकेतस्मरणप्रबन्धमद्वावे स्वरिततैव  
न निर्वहेत् ॥१०३॥

अकुत्सितस्य = स्वस्वरूपानन्दविश्रान्तस्य । स्फुरेति—स्वरूपप्रमरणमेवाभ्या-  
नन्दास्वाद इत्यर्थः । अयुक्तिमन् = अयोग्यम् । मायेति—मीतानि पशुप्रमातृन्  
इति माया, सा चामी शक्तिः । तेन परमेश्वरस्य स्वानन्वयमेव यच्चिकीर्तिक्षणम्,  
तेनाहमित्यखण्डितेऽपि स्वरूपे भागमाने या तत्रैवेदमिति प्रतीतिः स्वस्वरूपप्रमरणरूपा,  
नैव मायाप्रमातृन् प्रति मायाशक्तिः । अख्यातीति—तेन शक्तिमता स्वस्वातन्त्र्य-  
रूपया मायाशक्त्या कृता या पूर्णस्याख्यातिरिदमहमिति । तद्रूपस्य = स्वरूप-  
प्रमरणरूपस्य । परापरावस्थायां = मदाशिवेश्वररूपत्वे । यद्यप्यत्र शुद्धविद्या-  
स्वरूपोन्मीलनं न कृतम्, तथापि तदभावोऽपरावस्थात्वं तस्या न मन्तव्यम्, यतो  
यथा शिवतन्त्रस्य यदीन्मुख्यं सा शक्तिरिति भण्यते न परावस्थाया शिवतन्त्रान्  
पृथग् गणनीयतां गताः तथा मदाशिवेश्वरयोरपि बहिरीन्मुख्यं विचिन्ति भण्यत  
इति न तस्याः पृथगिह निर्देशः ।

स्फुरतीति—तेनात्र न कापि कुत्सितत्वशङ्केत्यर्थः । अपरेति—अत्रेमं घटमिति  
यदि प्रमातृविश्रान्तः प्रकाशस्वरूपो न स्यात्, तर्हि 'अहम्' इत्यत्राहन्नाश्लिष्टः  
कथं भासेन । चिदात्मकतामिति—नन्वस्तु सूक्ष्मो विमर्शोऽहन्ताविश्रान्तत्वात्

यदि कोई यह प्रश्न करे कि स्वस्वरूपानन्द में विश्राम करने वाले निर्मल  
मदाशिव की, सुषुप्तदुःखात्मक होने के कारण अगुड एवं कृणास्पद उस संसार की  
रचना में प्रवृत्ति क्यों होती है ? तो इसका उत्तर है कि मदाशिव अपनी माया-

रूपप्रसाररसतो गहितत्वनयुक्तिमतम् ।

पञ्चप्रकारकृत्योक्तिशिवत्वाभिज्ञकर्तृणे ॥१२॥

सर्वदा स्वरूपप्रमरणमेवेति कथं गहितम् ? अशेषापरामर्शनमेव भ्रान्तिरूपं कृत्यमतम्; तच्च न किञ्चिन्; अख्याति-रूपमात्रत्वात् । तत्त्वपूर्वस्य कस्यचित् प्रथा । किञ्चात्मत्वं च चिन्मयस्य प्रतिबिम्बानामिव दर्शनरूपार्थत्वेन भावानां स्वच्छचिन्मात्रतन्वत-याज्ययवानात् । एतच्च सर्वनीश्वरप्रत्यभिज्ञाटीकायां निष्पुणमालोचितम् । सर्वस्वनि-प्रधानानुग्रहनिरोधानलक्षणपञ्चप्रकारं कृत्यं यस्य तस्य उक्तिः = पञ्चप्रकारकृत्यम्, यदुच्यते तच्छिन्नत्वम्; ततः निजकर्तृणे = तत्त्वादिरूपप्रमरणरूपाय, प्रवृत्तस्य; किमित्तागतम् = दयादीनाम् यत्र सार्गणम् = निमित्तान्वेषणप्रमत्तस्यैवाभावान् कथ-मेवं प्रसरतीति न बोध्यम् इति तावदकुत्सितविषयमेवोक्तुमिति समर्थितम् ॥१२॥

तदिदानीं निदर्शनेन स्फुटीकर्तुमाह—गच्छतः इति । यथा जलस्य पूर्वं निस्तरङ्गस्य अन्तरङ्गित्वां गच्छतः सूक्ष्मः पूर्वं कम्प आनुस्यरूपः, पाण्डेय

‘अहं घटमिमं वेद्य’ इत्यत्र प्रकायस्वरूपावेत्येव, यत्राहन्ताविश्रान्त्यभावान् स्थूलत्वेन ‘घटः’ इति ‘अयम्’ इति च विरक्त्यवस्था, तत्र सन्दोर्भा नीलवत् पृथगेव प्रतिभानने तत्र कथं प्रकाशात्मना ?—इत्याशयगर्भाकारेणाह—चिदात्मकतामित्यादि । उक्तं च प्रत्यभिज्ञायाम्—

घटोऽयमित्यव्यवसा नामरूपातिरेकिणो ।

परव्यक्तिरात्मेव भासते न विदन्तया ॥ (१.५.२०) इति ।

तद्रूपता = चिद्रूपता । यद्येवं तर्हि केयमपरा नाम वराकोत्याशयेनाह—किन्त्विति । अभेदेति—इदमपरा भेदेनैव परामर्शः । सर्वदा = परापरादौ । तत् = कुत्सितत्वम् । तथा च कुत्सितं स्वल्पव्यतिरिक्तत्वात् स्यादिति । प्रथा = प्रमरणम् । प्रतिबिम्बेनि-ययोक्तनीश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्—

स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य भावजातस्य भासनम् ।

अस्त्येव न विना तस्मादिच्छामर्शः प्रवर्तते ॥ (१.५.१०) इति ।

प्रलयेति—बीजाङ्कुरादौ यो मायीयो व्यवहारो लौकिकदृष्ट्या भासते, न तिरोधिकृतः । यस्तु तत्रापि पारमार्थिकतयैव स्थितः शोऽनुग्रहशक्तिरुक्तः । एतदेव

वक्ति के द्वारा अपने पूर्वस्वरूप को इस विचित्र कार्यात्मक संसार के रूप में प्रगर्हित करना चाहते हैं । इस प्रकार यह संसार भी उन्हीं का रूप होने के कारण गहित नहीं है । सृष्टि स्थिति आदि पाँच प्रकार का कार्य करने के कारण निज कहने वाले उस नदानिब को अपने निवात्मक कार्य में प्रवृत्त होने के लिए किसी अन्य कारण का अन्वेषण करने की क्या आवश्यकता है ॥११-१२॥

प्रवृत्तस्य निमित्तानामपरेषां क्व मार्गणम् ।  
 गच्छतो निस्तरङ्गस्य जलस्यातितरङ्गिताम् ॥१३॥  
 आरम्भे दृष्टिमापात्य तदौन्मुख्यं हि गम्यते ।  
 ब्रजतो मुष्टितां पाणेः पूर्वं कम्पस्तदेक्ष्यते ॥१४॥  
 बोधस्य स्वात्मनिष्ठस्य रचनां प्रति निर्वृतिः ।  
 तदास्थाप्रविकासो यस्तदौन्मुख्यं प्रचक्षते ॥१५॥  
 किञ्चिदुच्छूनता तैव महद्भिः कैश्चिदुच्यते ।  
 तस्येच्छा कार्यतां याता यया सेच्छः स जायते ॥१६॥  
 औन्मुख्यस्य य आभोगः स्थूलः सेच्छा व्यवस्थिता ।  
 न चौन्मुख्यप्रसङ्गेन शिवः स्थूलत्वभाक् कश्चित् ॥१७॥

मुष्टितां गच्छतः, पूर्वं = मुमुक्षुः, कम्पो वृश्यते; तथा बोधस्य स्वरूपस्य पूर्णस्य विषय-रचनां प्रति अभिलाषमाश्रयनायोग्यतायाः प्रथमो विवक्षितः = प्रवृत्तारम्भः, तदौन्मुख्यं प्रचक्षते । प्रवृत्तारम्भस्य निर्वृतावस्थाभेदादव्यापिधर्मत्वेन तस्याः प्रथनान् । यदेतदौन्मुख्यं तैव किञ्चिदुच्छूनता कथ्यते भट्टप्रद्युम्नेन तत्त्वगर्भे । अन्यैरपि तरङ्गाभ्यादिगर्भैरपि । तदौन्मुख्यस्य इच्छा = कार्या । तस्य हि

हि अस्यान्यवादिस्यो विज्ञो यत् काममेव पञ्चकुलविधानमिति । यदुक्तम्—

मुहुर्मुहुरविश्वान्तस्यैलोक्यं कल्पनाशतैः ।

कल्पयन्नपि कोऽप्येको निर्विकल्पो जयत्यजः ॥ (स्त० वि० ११२)

इति । तत्त्वादीति—मृष्ट्यादिवशेन तन्वादिप्रसरणम्, तत्र पारमाथिककाल्पनिक-कार्यकारणभावादी निरोध्यतुष्टगती । निमित्तानामिति—यदादुरेके—ईश्वरः, स्वान्मन्यवातसर्वकामः, किमस्य मृष्ट्यादिना फलम् ?—इति । सर्वो हि यः कश्चित्

जिम प्रकार निस्तरङ्ग सागर में तीव्र लहर उठने के समान प्रथम कम्प होता है; अथवा हाथ में जब मट्टी बांधी जाती है तो पूर्णमट्टी बांधने के पहले प्रथम कम्प होता है उसी प्रकार चिन्मयरूप परमशिव के अन्दर वर्तमान चैतन्य जब मृष्टिरचना के प्रति प्रथम-प्रथम प्रवृत्त होता है तो उस आन्ध्या के प्रथम विकास को औन्मुख्य कहते हैं । कुछ भट्टान् विचारक लोग उस औन्मुख्य को किञ्चिदुच्छूनता कहते हैं । इसी प्रकार जब शिवभट्टारक की वह इच्छा कार्यरूप में परिणत होती है तो उसके कारण वह सेच्छ ( इच्छागति ) हो जाने है । उस शिव का जो आभोग अर्थात् ज्ञान आदि काम को उत्पन्न करने का सामर्थ्य, वही इच्छा का व्यवस्थित होना है । इस प्रकार मुमुक्षु में स्थूल होकर शिव स्थूलतावाले होते हैं । पारमाथिक रूप में स्थूल नहीं है ॥१३-१७॥



गोः स्तनात् पाततः क्षीरे विकारस्तत एव हि ।

न च न क्षीरमित्येष वृषदेशोऽस्ति तत्क्षणम् ॥१८॥

यत इच्छति तज्जातुं कर्तुं वा स्वेच्छया क्रियाम् ।

तस्याः पूर्वापरो भागौ कल्पनीयौ पुरा हि [यौ] ॥१९॥

योऽन्वावाभोगः = ज्ञानादिवार्त्तात्पादनमर्थो विस्मृतो दाढ्यमय उत्तरो भागः, अत एव स्तनात्पातविकारमदाह्वानं स्थूलः, सेच्छा व्यवस्थिता । न चोच्छ्रितादिवृष-  
देशोन्मुखप्रसङ्गेन शिबो बीजमिव न्यौल्यभाक् । इच्छाव्रतद्वारे वाज्वन क्वचित्  
वस्तुतो न न्यौल्यम्, चिदात्मनः प्रतिविम्बकत्वात्सर्ववर्गनाशिवयान् । नापि तस्यात्मना  
प्रथा भ्रान्तिरिति सर्वमुक्तं टीकायाम् ॥१७॥

व्यावहारिकोऽपि नास्वयेवमादौ भेदः, तथा परामर्शानिवृत्तिरित्याह—गोस्तितादि ।  
गोः स्तनात् पातान् क्षीरे विकारः, तत एव = तदनन्तरमेव । न च तत्क्षणं तत्र  
न क्षीरपरामर्शः, वायव्यपरामर्शयं तावत् सर्वदैवमेव ॥१८॥

एवमीन्मुखमिच्छाया उक्तमिदानीमुपपादयताह—यत इति । परमादिच्छति  
ईदृशे ज्ञानं वा कर्तुं वा इति वस्तुच्यते, तदाभ्यासपदमिच्छया इच्छाव्रतद्वारा क्रिया-  
माह । तस्याः = इच्छायाः, पूर्वापरो भागौ कल्पनीयौ, पूर्वापरीभूतावयवत्वान्  
क्रियायाः । इच्छायाः क्रियात्वाभिगमनेन इच्छादीनामन्योन्यान्वयमना शक्यवस्थाया  
नृत्तयं स्यात् । ततश्च परमार्थत एकेव शक्तिः शक्त एवातीति प्रतिपादितम् ।

प्रवृत्तिकाया प्रयोजनमुद्दिश्यैवाभिमन्यो भवति; तच्चाभ्यासात्कामत्वात् संभाव्यम्  
इति भगवान्शोकानुग्रहार्थमेव प्रवर्तन इति कथने दुःखमयी कस्मान् मूर्ष्टि कुतो,  
दशान्कृत्यन्त्येति दवादीनां निमित्तानां क्वाभिमन्ये पर्येषा । सर्वाधितम् =  
अजकमनाशनमपि नाशितम् ॥ १९ ॥ तस्याः = निवृत्तिः । इच्छाव्रतद्वारे =  
निराह्वानावयवतायाम् । भ्रान्तिरिति—आभासमानत्वान् ॥ १७ ॥

इच्छाया इति—वस्तुम्—

गुणज्ञानमर्थः समस्तः, क्रमजन्मनाम् ।

बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ॥ इति ।

श्रीशुक्रमिनि—तुर्गामित्यर्थः तदाभ्यासादिति निर्णयः ॥१९॥

गाय के स्तन मे दूध निपलने के बाद तत्काय यह गा या शिवतर पहुंचता  
है । लेकिन जैसे यह प्रसक्तता में ही दूध को निन्न संज्ञा प्राप्त करता है उसी  
प्रकार शिव की इच्छा से यह संज्ञा उसी में से उत्पन्न होकर निन्न प्रतीत होता  
है । परमार्थतः जैसे दूध गो से अतिरिक्त नहीं है उसी प्रकार संज्ञा शिव से अति-  
रिक्त नहीं है ॥१८-१९॥



तत्कर्मनिर्वृतिप्राप्तिरौन्मुख्यं तद् विकासिता ।

अनन्तरं हि तत्कार्यज्ञानदर्शनशक्तिः ॥२०॥

ज्ञानशक्तिस्तदर्थं हि योऽसौ स्थूलः समुच्चयः ।

सा क्रियाशक्तिरदिता ततः सर्वं जगत् स्थितम् ॥२१॥

उत्पत्तिकार्या तु इच्छायाः पुरोभागे सा तस्मिन् वर्गेणि तत्कर्मनिष्ठा निर्वृतिप्राप्तिः, तदौन्मुख्यम्—कर्मविच्छिन्ना निर्वृतिरौन्मुख्यम्, अगवच्छिन्ना निर्वृतिमात्रमानन्दशक्ति-  
रिति बावन् । तदौन्मुख्यं विकासिता = चिदास्वात्प्रकाश इत्युक्तम् ॥१९॥

परमस्मिन् विश्ववक्षणे कार्यं सञ्ज्ञानं तत् प्रकाशनशक्तिरुपमा चिदात्मनः सर्वप्रतिपक्षणामव्ययमन्तःकरण इव प्रकाशमानं तत्कार्यं सतः सा ज्ञानशक्तिः । अनन्तरं सर्वप्रमाणवैयर्थ्यरूपकार्याकारसम्पत्तिफलः समुच्चय इच्छाविषय एव क्रिया-  
शक्तिः । स एव परिणमसिः, व्यवहार्यकार्यभाज-इत्युक्तम्—ततः सर्वं जगत् स्थितम्—इति ॥२१॥

वास्तविक—सा ज्ञानशक्तिः । विशेषनिवृत्तः = आत्मसम्पत्तायाः । बोधस्य-  
अभाव इति शेषः । पूर्वमिति—तत्कर्मनिर्वृतिप्राप्तिरिति ॥२०॥

इत्थं ज्ञाने स्वतः ही ज्ञान की या स्वात्मरूपा सृष्टि करने की उच्छा-  
सता है अतः उच्छा करने के कारण 'उच्छति' इस पद में निम्न वह अंश  
सञ्ज्ञाजनवाला क्रिया की बनता है । चूंकि उच्छा एक क्रिया है इसलिये  
अज्ञान, अज्ञान होनेवाले कारणों में उनके पूर्वापरभाग की कल्पना करनी चाहिए ।  
इस प्रकार उच्छाजन क्रिया की उत्पत्ति की प्रथमक्षणवत्क भाग भी औन्मुख्य  
है और उच्छा प्रकार कर्मनिष्ठ निर्वृति की प्राप्ति भी औन्मुख्य है तथा कर्मविच्छिन्ना  
निर्वृति भी औन्मुख्य है और अगवच्छिन्ना निर्वृतिमान आनन्द भी औन्मुख्य है ।  
इस प्रकार अज्ञातप्राप्ति एव कुछ औन्मुख्य ही है । उच्छा का पूर्णविधान भी  
औन्मुख्य ही है ।

इच्छाशक्ति के विकास के बाद कार्य का ज्ञान होता है । फिर इस कार्य का  
दुर्लभस्वभाव दर्शन होता है और फिर अमल ज्ञानार्थों के लिए श्रेय बनाने की जो  
शक्ति है वही उसकी शक्तशक्ति है । वह इस ज्ञानशक्ति की स्थूलरूप देता है ।  
अन्तिममन्त संसार का अव्ययवैयर्थ्य बनाने के लिए स्थूलरूप में इसे प्रकट करता  
है । यही उसकी क्रियाशक्ति है । इस क्रियाशक्ति के प्राकट्य के परिणाम-  
स्वरूप सारा संसार स्थूलरूप में स्थित होता है । इस प्रकार जगत् का निर्माण  
होता है ॥२०-२१॥

एवं सर्वसमुत्पत्तिकाले शक्तित्रयात्मता ।  
 न निवृत्ता, न औन्मुख्यं निवृत्तम्, नापि निर्वृतिः ॥२२॥  
 यदेकतरनिर्याणे कार्यं जातु न जायते ।  
 तस्मात् सर्वपदार्थानां सामरस्यमवस्थितम् ॥२३॥  
 घटादिग्रहकालेऽपि घटं जानाति सा क्रिया ।  
 जानाति ज्ञानमत्रैव निरिच्छोर्बेदनक्षतिः ॥२४॥  
 औन्मुख्याभावतस्तस्य निवृत्तिर्निवृत्तिं विना ।  
 द्वेष्ये प्रवर्तते नैव न च वेत्ति विना चित्तम् ॥२५॥

न केवलं जगन्निर्माण एवैवम्, यायदेकैकघटकरणकालेऽपि एवं शक्तिरूपता  
 उक्ताह—एवं सर्वेति । इच्छाज्ञानक्रियात्मता तावत् मिथ्या घटादिकरणकाले ।  
 औन्मुख्यमपीच्छापूर्वभागोऽस्ति कर्माविच्छिन्नविशिष्टनिवृत्तिरूपः । अन्याप्यनविच्छिन्ना-  
 नन्दरूपा निवृत्तिरनिवृत्ता, तदभावे विज्ञेयनिवृत्तेरभावान् यथा बोधाभावे विमिश्र-  
 ष्टादिविशेष्य । अत एव निवृत्तेर्विशिष्टरूपताप्राप्तिरिति प्राप्तिग्रहणं पूर्वं कृतम् ।  
 यदि वा निवृत्तिपक्षेन पूर्णविच्छिन्नत्वान्ता शक्तिपक्षकाय ॥२२॥

एवमस्यभावेऽपि कार्योन्मत्तिर्न स्यादित्याह—यदेकतरेति । यस्मादेकतरस्य

निर्माणे = अपगतौ । सामरस्यमिति—सर्वपदार्थानामुत्पत्तौ शक्तिमदात्मकं  
 स्थितमेव ॥२३॥

इस प्रकार समस्त संसार की उत्पत्ति के समय भी शिवभट्टाश्रय की तीनों  
 शक्तियाँ निवृत्त नहीं होतीं और अनविच्छिन्न आनन्दरूप निवृत्ति की भी निवृत्ति नहीं  
 होती अर्थात् उत्पत्ति के बाद भी सबके सब वर्तमान रहते हैं । ॥२२॥

इच्छा ज्ञान और क्रिया में से एक का भी अभाव होने पर कर्मों भी किसी  
 भी कार्य की मिथि नहीं होती यह अनुभवांगक है । इस कारण समस्त पदार्थों की  
 उत्पत्ति के समय तीनों शक्तियों की समरसता बनी रहती है तथा औन्मुख्य और  
 निवृत्ति भी अवश्य रहते हैं । ॥२३॥

जब घट आदि का ज्ञान होता है उस समय जानने की क्रिया भी होती है  
 ज्ञान भी उसी समय रहता है और इच्छा भी रहती है । क्योंकि इच्छारहित व्यक्ति  
 को ज्ञान हो नहीं हो सकता । यदि औन्मुख्य न हो तो भी प्रमाता को ज्ञान नहीं  
 होगा । और यदि निवृत्ति अर्थात् परमआनन्द की उपलब्धि न हो तो आदमी कर्मों  
 भी द्वेष्यकार्यों में प्रवृत्त नहीं होगा । इसी प्रकार अनेकप्रत्यक्षमार्गशक्तिरूपा जित्  
 के बिना पूर्णशुद्धबोधस्वरूप कर्ता घट आदि को ज्ञान नहीं पायेगा । ॥२४-२५॥

बुद्धिं विना कथं बोधः सा बुद्धिः प्रकृतेः प्रजा ।  
न च तस्य तथा योग इति चेदपरस्थितौ ॥२६॥  
सा बुद्धिर्यत् पुनः सूक्ष्मं सर्वदिवकं व्यवस्थितम् ।  
ज्ञानं बोधमयं तस्य शिवस्य सहजं सदा ॥२७॥

शक्तिभेदस्य निशेषे = अपाये कार्यं न कदाचित् स्यात्—इत्युक्तम्, तस्मात् सर्व-  
पदार्थानाम् उन्नतिकाले सर्वतत्त्वमयशिवतत्त्वोपयोग इति न कदाचनपि शिवरूप-  
संगर्षविग्रहिता, महासर्गप्रारम्भ इव भावानामेकैकस्य निर्माणेऽपि परमेश्वरस्पर्श-  
रगोऽवशिष्ट एवेति साधरस्यम् । कुम्भकारस्यापि घटकरणे सर्वशक्ति शिवात्मताः  
नदपरिज्ञानान् कुम्भकारनेत्यर्थः । एकतरेति तस्याऽऽ आत्मस्यनिर्वृतिद्विधा-  
पेक्षया ॥२३॥

न केवलं घटादिकरणकाले सर्वशक्तिगम्यः, यच्च नृत्तकालेऽप्येव—  
घटादिग्रहकालेऽपीति । घटादिज्ञानकाले यत् घटं जाताति—चिदभेदाख्यातिवैचित्र्य-  
भिन्नघटदेवदत्तात्मकवैश्वदेकाभासनं नाम यद् क्रमिकमपूर्वं रूपं ना जानन्नक्षणा क्रिया  
पूर्वापरीभूतावयवा, न तु जानामीति वचनप्रवृत्तिकाल एव । जानातिरूपत्वाज्ञानम-  
त्रैव क्रियात्मनि स्थितम् । निरिच्छोः = अव्यवधानरहितस्य वेदनं न भवेत्; मन्ताऽ-  
नविष्टानात् । अवधानवर्धनमेवेच्छा । तत्र चेच्छाक्रियापूर्वभाग आत्मस्य तत्कर्म-  
निर्वृतिः । तद्विन्मुखाभास्तः तस्य = प्रमाणवेदनस्य वा निवृत्तिः । न हि आत्मस्य-  
रूपां तत्कर्मनिर्वृतिं विना द्वेष्ये प्रवर्तते । न च किमभेदप्रत्यवमर्गशक्तिसां विना  
पूर्णशुद्धबोधान्मा कर्ता वेत्ति घटादीन् संविद्विष्टत्वाद् विषयव्यवस्थितानाम् । सैव  
चिच्छक्तिः सामान्या निर्वृतिशक्तिरानन्तरूपा ॥२५॥

जानामीति—जानामीत्यविच्छिन्नाभासः, जानातीति तु विच्छिन्नाभासः ॥२५॥

नन्वेत्यल्पमिदमुच्यते यज्जानातीत्यपरज्ञानकालेऽभेदाख्यानावपि वैश्वदेकशोभे  
नर्बगक्तिपूर्णपूर्णानन्दविश्रान्तशिवतत्त्वोपयोग इति यावता घटादिग्रहकाल इति  
ज्ञानसर्ववैयुक्तम्; तथा च गति कोऽयं घटादिग्रहकालो नामेति । तथा यदि तत्रापि

यदि कोई बहू बहू कि बोध ना बुद्धि के विना होगा नही और वह बुद्धि  
प्रकृति से उत्पन्न होती है इसलिए जड़ है तो फिर उम जड़ बुद्धि से शिव का  
सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? तो उत्तर यह है कि अपरावस्था में जब अभेद का  
का ज्ञान नहीं रहता तब तो वह प्रमाणा के लिए बुद्धि होती है किन्तु जब पूर्ण-  
परावस्था की प्राप्ति होती जाती है, वैश्वेन्द्रभाव समाप्त हो जाता है, सुधमावस्था  
आ जाती है तब अभेद होने पर वही सार्वदेशिक सार्वकालिक अखण्ड बोधमय ज्ञान  
हो जाता है । यही उम शिव का सहस्रस्यरूप है । ॥२६-२७॥





एष एव हि विज्ञेयो न्याय इच्छां प्रति स्फुटम् ।  
तदेवं प्रभृतो देवः कदाचिच्छक्तिमात्रके ॥२९॥

शिवस्य सहजं सदा प्राकृतवृद्ध्यादनेति तन्मज्जावान् तद्विज्ञा तदभावात् । तन्मेव-  
मपि न्यायवैशेषिकादिमाध्यमायां ज्ञानस्य शिवाश्रित्योपगमे, ज्ञानं हि तेषामात्म-  
नमवेनमिष्टं शिवश्चात्मनो उपरुक्तम्—न्यायादिभिरिति । तैर्न तुल्यत्वं न, प्राकृत्या  
भेददशायां वृद्धिर्भावमानो ज्ञानस्य तथाऽभिमानात् । तन्वीश्वरे परस्मै जानति ।  
ननुक्तम्—एष एव न्याय इच्छां प्रति स्फुटं ज्ञेयः । इच्छा चित्तेः प्रत्यगात्म-  
नित्याभेदमव्येयाका, याश्चैतन्यमनकालात्म्या, न तु परमेश्वरस्य भावभूता परात्म-  
वस्थास्थिता वा ॥२८॥

सर्वतन्त्रमयतया जितवन्तावन्मानमाह—तदेवमिति । तस्मान् एवम् = उभेन  
क्रमेण, स्वस्वानुप्रविष्टनिर्वृत्तस्वरूपजिज्ञासुः प्रकाशानन्दमयः पूर्णः परमेश्वरः शिवः  
प्रभृतः कदाचित् = प्रथमतः । शक्तिमात्रक औन्मुख्ये विषयाननुपत्ते निर्वृतिमये  
साक्षात् तदा न सिध्येत् तथा च जैतन्यम् ? न चेति चकारेणैतत्परिहरति । सर्व-  
दिवकम् = सर्वान् दिव्य वर्त्तमानम्, न तु तेनावच्छिन्नम्, तथा मति व्यापकत्वं  
विधेत् । उपरुक्तत्वेन न । तेन साक्षात्कृतमिव विबोधम् । तदाह—दिवकालेति ।  
बोधमयम्—इत्यत्र प्रकृत्यर्थे मयत् । बोधस्वभावमित्यर्थः । तदाह—बोधमात्रमिति ।  
तदेव बोधमात्रत्वं तदस्याविषयत्वम् । तदाह—अबोधस्वरूपमिति । सहजन = स्वल्प-  
प्रत्यक्षमर्थस्वभावम् : तन्मयम् । तदेव स्वाभाविकत्वं यत् तत्प्रच्युतावपि भेदावभावे  
न तद्वानिगित्वाह—सदेति ॥२८॥

विज्ञेयस्य शोभाकारस्य सामान्यं विनाऽस्मिन्नेति । तेषां = न्यायवादिनाम् ।  
न्यायादिभिरिति—

“न चास्य बाह्यैः करणैः सिद्ध्यन्ति सकलाः क्रियाः ।

न हि स्मृतिमुखेच्छादौ चक्षुरादीनि साधनम् ॥”

“तेनेच्छास्मृतिमुखदुःखवेदानामाशारी न बलु मनो न चेन्द्रियाणि ।

देहोऽपि व्रजति न तन्ममाश्रयत्वं तेष्वौजस्यं पृथग्वतः प्रकल्पयामः ॥”

सूत्रकारश्च—“इच्छाद्वेषप्रयत्नमुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् ॥” इति । अन्यैः =  
न्यायवादिभिः । सर्वतन्त्रमयतयेति—यथोक्तम्—‘यदिदं तिस्रिद्वर्गभूतानन्तविचित्र-

इम प्रकार उपर्युक्त क्रम से स्वरूप में अनुप्रविष्ट ज्ञानरूप और आनन्दरूप दो  
शक्तियों वाला पूर्ण परमेश्वर शिव पहले पहल विषयानुपत्त आनन्दमय शक्तिमात्र  
औन्मुख्यस्वरूप इच्छा के पूर्वभाग के अनुसार अपना रूप धारण करता है जो  
योगियों के ध्यान का विषय है ।

विभर्ति रूपमिच्छातः कदाचिज्ज्ञानशक्तितः ।

सदाशिवत्वमुद्रेकात् कदाचिदैश्वरीं स्थितिम् ॥३०॥

इच्छापूर्वभागे परापरावस्थारूपभेदस्यायां तदनुक्तं रूपं विभर्ति ध्यायिनां ध्येयम् ।  
कदाचिदिच्छातः = इच्छाशक्तिरूपत्वात् निमित्तात् । अथवा इच्छारूपमासाद्य  
तदनुरूपं पूर्ववद्रूपं विभर्ति । कदाचित् पुनः ज्ञानशक्तिरूपत्वात् सदाशिवरूपं  
विभर्ति । क्रियातो ज्ञाने तु प्रागुक्तनयेनाधिक्यात् । ऐश्वरीं तु स्थितिं कदा-  
चित् क्रियाशक्तेः समाभोगात् पर्यन्तप्रानविस्तराद् विभर्ति । कदाचित्  
परापरावस्थान्तरभिन्नारोपवेद्यैदकरूपयोर्भावप्रमाधिवस्थया मन्वाशिरूपतां विभर्ति ।  
प्रमातृणां च बोधात्मत्वेऽपि शिवेच्छातो भेदान्तेः स्थूलत्वम् । अतो वेद-  
नस्यापि स्थूलत्वम्; इदं तु विद्यान्वम् । अन्ये चैता विद्या भेदोन्मूलमान्  
महामायामिच्छन्ति । कदाचिदात्मप्रच्छादनात्मकाभेदाव्यापितमयी संसाररूपां  
भ्रान्तिं द्वीडामेव कथंचन तथास्त्वभावत्वात् कुर्यन्तो मायाशक्तिरारावस्था वीजभूता  
भोक्तृभोग्यं विभवात्मकं भुवनजातमुक्तं तत्र यदनुगतं महाप्रकाशरूपं तन्महागामान्त्र-  
कल्पं शिवतत्त्वमिति । उक्तं च तन्त्रालोके—

यान्युक्तानि पुराण्यनुति विविधैर्भेदैर्देवैश्चन्वितं

रूपं भाति परप्रकाशनिविडं देवः स एकः शिवः ।

तत्स्वातन्त्र्यरमात् पुनः शिवपदात् भेदे विभाते परं

यद्रूपं बहुधानुगामि तदिदं तत्त्वं विभोः शासने ॥ (१.२)

इति । उद्रेकात् = ज्ञानशक्तेरुद्रेकात् । शिवादिमन्त्रमहेशान्तात्मत्वेनेदन्ताभावास्याह-  
मात्मन्येव विश्रान्तेर्न किञ्चन स्वरूपान्यथाभाव इति श्रोतयितुम्—आत्मप्रच्छाद-  
नेत्यादि मायारूपमित्युक्तम् । कथंचन = केनापि गणनानर्हेण रूपेण । द्विभ्रद्विभर्ति—  
उच्यतेनेतादृक्स्वरूपाभावनायामपि न तेषां स्वात्मनि किञ्चन स्वातन्त्र्यमिति  
श्रोतनार्थम् । अथवा शक्तिमच्छक्तिरूपतोभवविषयत्वभागमेष्टेया सूचितमेव ।  
प्रथमतः—उत्तरतत्त्वामेष्टयाऽपि क्रमः । रूपम् = अधिष्ठानरूपम् । इच्छातः—  
इति निमित्तपञ्चमी । इच्छारूपम्—इत्यत्रापि त्वच्छाते पञ्चमी । पूर्ववद्रूपम्—  
ध्यायिनां ध्येयम् । नयेनेति—अन्तःकरण इव वेद्यमितिनयेन । परापरैति—परा-

कभी इच्छाशक्तिरूप निमित्त के द्वारा, कभी ज्ञानशक्तिरूप निमित्त के द्वारा  
यह सदाशिव ही जाता है तथा जब क्रियाशक्ति के प्राधान्य में ऐश्वर्यगयी स्थिति

१. स्थूल रूप से प्रत्येक प्राणी में रहने वाला शिवतत्त्व ही आत्मा है । यह  
चैतन्य स्वरूप है । परामशिव, परमशिव, परमेश्वर इत्यादि इसी के अनेक नाम

क्रियाशक्तिसमाभोगात् कदाचित्स्थूलवेदनात् ।

विद्यात्वविद्येशानत्वमन्त्रमन्त्रेश्वरात्मताम् ॥३१॥

स्वपिति चोक्तानि तन्वानि आदिभूतानि येषां पट्टावशतन्त्वानाम्, तद्रूपतां सामान्येन विभक्तुं तद्विशेषरूपपक्षि विभक्ति, तावता प्रसिद्धव्यवहारनिष्पत्तेः । अप्रसिद्धव्यवहारान्तरमस्तु ईश्वरस्य कार्यशामनियमात्, तदात्मता तु नेपामणि युक्तियुक्तान् परावस्थायां सदाशिवेश्वररूपकप्रमाणमेवेत्येव केवलमिच्छावस्तुगुणविशेषविशिष्टं वेद्य-वेदकत्वं बोधानमेव भासते; तत्रैव सर्वमिदम् प्रमावृत्तीत्यनेन सत्त्वादिरूपता; तत्राणि चानुत्पीलितोन्मीलितव्यायेन विभोक्तः । तत्तु च किमिदमत्र स्थूलवेदनं नाम ? तत्राह—  
एकान्तभिन्नतेति । सा च प्रमावृत्तिनिवेष्टेनेति बोध्यम् ।

तनु चाम्या वेद्यवेदकबोधानमत्रप्रमावृत्तवस्थायां अविशेषात् कथं तत्रानेकप्रमावृत्ते-  
को प्राप्त होता है तब ईश्वर कहलाता है । कभी परा और अपरा दोनों अवस्थाओं में मिले स्थूल आध्यात्म के द्वारा वह बिना और विशेषर तया मन्त्र और मन्त्रेश्वर है । सुप्तवृष्टि में जडमेतन सब कुछ होता है । इसके अतिरिक्त बाह्य प्राकृत ग्रहण उत्पत्ति करके कुछ भी नहीं है । उच्चक्रांतक्रियात्मक यह शिव पूर्णानन्दस्वरूप है । विमर्शजक्ति एकात्मनाथ है । उस जक्ति के बिना यह अनीश्वर और जड हो जायेगा । ऐश्वर्य कर्तृत्व आदि में एही जक्ति को उगित बिना जाना है । इस विमर्शजक्ति के पास स्वस्व महत्वपूर्ण है—इच्छा, ज्ञान, क्रिया, चित् और आनन्द । उसके बिना शिव और शिव के बिना यह जक्ति नहीं रह सकती । दोनों का अन्धेद होने पर ही परमशिव पूर्ण है । उस जक्ति में जब उन्मेष होता है तब वृष्टि होती है और निमेष होने पर प्रलय होता है । उर्ता उन्मेष के कारण सदाशिव तन्व की अभिव्यक्ति होती है । यह अस्मितत्व का प्रथम उन्मेष है । एक प्रकार से यह अन्तर्लक्षि निमेष है । उस अवस्था में उच्छाजक्ति प्रधान रहती है और अहं-अंश अजड रह कर उन उच्छाजक्ति का आवृत्त शिखे रहता है । उर्तालिप् में 'हं' बन एतनी ही अनुभूति होती है । जगत् का भान अव्यक्त रूप में होता है । यही आत्मा सदाशिव कहलाता है ।

१. जब विमर्श जक्ति में 'उदम् अहम्' यह प्रतीति उच्छन्नित होती है तो वही ज्ञानजक्ति को प्रधानता होती है । अहं अंश शीघ्र और उदम् अंश प्रधान रूप में अभिव्यक्त होता है और उस प्रकार जगत् की क्रमिक अभिव्यक्ति यहाँ होती है । यही ईश्वरान्तत्व है सदाशिव में 'अहम् अस्मि' प्रतीति और वही 'उदम् अहम्' प्रतीति होती है । यही अन्तर है ।

आत्मप्रच्छादनक्रीडां कुर्वतो वा कथञ्चन ।  
मायारूपमितीत्यादि षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपताम् ॥३२॥

वाचितुं शक्याः कृतेनाद्यन् प्रतिजानीमहे । षट्त्रिंशत्तत्त्वेषु पूर्वमेव यावन्नाश्रिय-  
तत्त्वम्, तदनन्तरं बीजतत्त्वम् तथा । पार्थिवं तत्त्वं सूक्ष्मत्वं पर्यन्तवर्ति । अनेक-  
महत्कारिणोपायविशेषं कारणात् कार्यं सूक्ष्मं भवति अतः तत्त्वान् न तु सूक्ष्मम् ।  
महत्त्वेऽपि प्रथानाद्यैः कारणस्य नास्त्यमेव । तथा विस्मयनात् सर्वस्य यावत्प्रका-  
शान्वयः । सत्त्वात् प्रभृति जलतत्त्वेऽपि नृवत्प्रकाशत्वे नाकारान्वयता संभाव्या ।  
पार्थिवेऽपि तु यावत् तद्वर्ति निष्प्रकाशकालान्निमाणात् पूर्वतः प्रकाशात्मत्वेऽपि ।  
तदुक्तम्—जडाभासे काण्डार्थम् जडः = अप्रकाशः, आभासः = रूपम्, अन्तेऽपि

तत्राह—शिवेच्छात इति । अतः = प्रमाणप्रमेययोर्व्यवस्थान् । स्थूलतत्त्वम् = विद्या-  
त्वविद्येयानतत्त्वमन्त्रमन्त्रोच्चारणात्मकम् । महाभावा मिति—मायाया हि भेद उल्लिखितः,  
अत्र तदुक्तम् एवेति । यदुक्तमागमे 'मायोपनि महाभावा' इति । तेनात्र पदार्थभेद एव  
न परमात्मभेद इति । आत्मप्रच्छादनेति—स्वातन्त्र्यवान्तमात्मनः प्रकर्षणाच्छादनम् =  
तद्धानिरूपणम् । अभेदाख्यातीति—अभेदस्याप्यरूपव्यतिगन्तमनोऽयाच्छादनम् ।  
श्रुतिर्नूनः पुनर्लौकिकया जननमरणस्यैव तत्त्वम् न तु व्यतिरेकेणाभासानात् व्यति-  
रिक्तम् । रूपमिति—अपरेषु रूपं रूपप्रसारः । तद्रूपताम् = वृत्तिपयवृत्तिपयभेदानुगा-  
म्यम् तत्त्वम् । ननु किमेतान्येव तत्त्वानि उतापराण्यपि मन्ति ? तत्राह—तद्विशेष-  
रूपापीति । ननु यच्चन्यान्त्यपि नन्ति तन्किमिति नोपदिष्टानि ? इत्याह—तावतेति ।  
अप्रसिद्धम् = सामान्यलोकाविषयम् ।

“परिच्छिन्नप्रकाशत्वं जडस्य किल लक्षणम् ।

जडाद्विलक्षणो बोधो यतो न परिमियते ॥”

इति नीत्याजपरिच्छिन्नत्वमेव । यतूनः षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपतां विश्रुत्—इत्युक्तम्  
तन्निष्प्रमत्तमव्यवस्था मा भूदिति । अनियमादिति—अपरिच्छिन्नतयाक्तेः कः कुर्याच्छ-  
न्तिपरिच्छिद्धम् । इति नीत्या । तेषां = कार्याणाम् । प्रतिजानीमहे = प्रतिजा-

बन् जाता है । कभी अभेदज्ञानमया संसाररूपभ्रान्ति की क्रीड़ा करने की इच्छा  
से वह आत्मप्रच्छादनात्मक मायारूप धारण कर ३६ रूपों को प्राप्त होता है ।  
वे ३६ रूप हैं—

५. पञ्चभूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ।

१०. पञ्चतन्मात्रा—पृथ्वीतन्मात्रा, जलतन्मात्रा, तेजतन्मात्रा, वायुतन्मात्रा,  
आकाशतन्मात्रा ।

१५. पञ्चज्ञानेन्द्रिया—आंख, कान, नाक, त्वचा, जिह्वा ।



बिभ्रद्विभर्ति रूपाणि तावता व्यवहारतः ।

यावत् स्थूलं जडाभासं संहतं पार्थिवं घनम् ॥३३॥

तथा नानाशरीराणि भुवनानि तथा तथा ।

विमृज्य रूपं गृह्णाति प्रोक्तप्राधममध्यमम् ॥३४॥

तत् । आकाशादिमहाभूतमयतन्मात्रपञ्चकव्यूहनात्मनया गंहतम् । अन्तरं सम्पर्कान्तरा-  
सम्भवादन्त्यकार्यम् अत एव व्यूहना संघातान् घनं स्वदेशान्तरप्रतिबन्धकमत्यन्त-  
परममिश्रणामहं परिपृष्ट्वैतदृष्टिपरिणतिविष्टम् ॥३३॥

अत उच्यते यानि भुवनादीनि कार्याणि तावतामेव भूतानां विभवभूतानि

कुर्महे । याददिति—यावच्छब्दस्यावधारणावधिवाचनत्वादिति भावः । व्यक्ततरत्वा-  
दिति—पञ्चवियुतत्वकारणं हि पार्थिवं तत्त्वम् । तथा च तत्तत्प्रकारिकारणो-  
पस्कृतत्वात् कारणादपि कार्यस्य व्यक्ततरत्वात् स्थूलत्वम्, कार्यस्य कारणजन्तुभावात् ।  
महत्त्वेति—यवानुगुणत्वात् । सीधम् इति—अव्यक्ततरत्वात् । पृथगिति—तत्  
पार्थिवं तत्त्वं 'ताप्रकाशः प्रकाशते ।' इति न्यायेन प्रकाशान्वयेऽपि चित्रप्रकाश-  
व्याख्यायामात्रान् पृथगेवास्ति । जडाभासम् = पार्थिवं तत्त्वम् । आभास इति—  
जलेऽपि शुक्लवर्णाभासादस्यैव प्रकाशान्वयः । पार्थिवे काष्ण्यभासात्तान्तर्यः ।  
तन्मात्रेति—विशेषाणां सामान्यमूलत्वात्सामान्याकारं तन्मात्रपञ्चकम् । व्यूहनम् =  
विशेषरचना । संहतम् = निविष्टम् —मिश्रितम् । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रेभ्यो  
व्यूहेभ्यः पार्थिवं तत्त्वम् । अत्यन्तेति—जटादिषु होतानि सर्वाणि अयंभाव्यानि ।  
तानि तन्मात्रसम्पर्कमहत्तमकानि, अवयवानि । स्वदेशान्तराप्रतिबन्धकानि अत्यन्तपर-  
ममिश्रणामहानि, अत एव न तद्वैतदृष्टिपरिणामकाणि ॥३३॥

ननु किमिदं पट्त्रिंशत्तत्त्वरूपतां बिभ्रत् इत्युच्यते यावताज्यदपि विभवात्मकं

२०. पञ्चकमेन्द्रिया—हाथ, पैर, मुख, मल-मूत्र द्वार ।

२१. मन २२. अहंकार २३. बुद्धि २४. प्रकृति २५. पुरुष ३०. माया के  
पाँच कञ्चुक-कटा, विद्या, राग, काय तथा नियति । ३१. माया ३२. शुद्धविद्या  
३३. ईश्वर ३४. सदाशिव ३५. शक्ति ३६. परमशिव ।

इस प्रकार ३६ संख्यात्मक रूपों को धारण करते हुये परमशिव तब तक  
अनेक रूप धारण करते हैं जब तक कि यह परममिश्रणामह स्वदेशान्तरप्रतिबन्धक  
घनीभूत जड़ जगत् स्थूल रूप में प्रकट होकर व्यवहार के योग्य नहीं बन  
जाता ॥२९-३३॥

जिस प्रकार वह परम शिव उपर्युक्त ३६ तत्त्वरूपों को धारण करता है ।  
उसी प्रकार उन ३६ के बाद उन्हीं से स्वयं ऊर्ध्वाधः वर्तमान तीनों लोक चौदह

स्थानानुरूपतो देहान् देहाकारेण भावनाः ।

आददत् तेन तेनैव रूपेण प्रविभाव्यते ॥३५॥

अपरिमंख्येयानि स एव निर्मिमीत इत्याह—तथेति । एवं यथा विश्वप्रपञ्चतननक्षमं तत्त्वरूपं पट्टविधान्तरूपं कार्यं रूपेण विभक्तिं, तथा तेनैव तन्वैर्जनकसंगान्निपुण-रूपेण निर्वर्तनीयानि न तु साक्षात् विधातुर्देवादिसरीराणि कार्याणि, केवलं इति विज्ञोक्तनीत्या परस्याविच्छिन्नकरत्वात् स एव स्वकमानापितृभूतादिरूपेण देवादीन् भुवनानि च तन्निवामरूपाणि विमृज्य, प्रोत्कृष्टादिदेवमनुष्यतिर्यग्योनिरूपं गृह्णाति ॥३४॥

भुवनजननमस्येवेत्याशङ्क्याह—अत इत्यादि । शरीराणि = भोगमाधनानि । भुवनानि = भोग्यानि । भोक्तारं देवतिर्यग्मनुष्यरूपम् । प्रोत्कृष्टेति—अयमत्र तात्पर्यार्थः—आदौ ह्यपूर्णम्मन्यतारूपः परिस्पन्दोऽकर्मवमभिलापमात्रं भविष्यदवच्छेद-योग्येति । ततोऽपि रागः कर्मावच्छिन्नोऽभिलापः । कर्म तु तत्र कर्ममात्रम् । ततोऽपि कर्मभेदविचित्रो बुद्धिधर्मा राग इति । तदिदं मन्त्रोपोद्भूतं कर्म संसार-वैचित्र्यभोगे निमित्तमिति तद्भोगवाननानुविद्धानामपूनां भोगमाधनार्थं शरीराणि स एव सृजत इत्युक्तम्—नानेति । शरीरस्य भोगमाधनार्थं तानि तान्पनेकवित्यानि वागनानुसारेण भुवनानि, तदनुसारेण च भोगभुक्त्यन्तं तद्रूपतापरिग्रह इत्युक्तम्—प्रोत्कृष्टेति । विधातुः = परमेश्वरस्य-सर्वकर्तुः । प्रत्यभिज्ञोक्तेति—सर्वेदन-स्वातन्त्र्यस्वभावः परमेश्वर एव विश्वभावशरीरः परमार्थतः सर्वजनकः । कथं तर्हि मातापित्रादेस्तदभिमान इति चेत् तर्हि इदं वक्तव्यम् किं शरीरेन्द्रियाणां तत्सामर्थ्यम् ? उत तद्वचनिरिक्तज्ञानस्य कस्पृचिन् ? शरीरेन्द्रियाणि हि जडस्वरूपत्वाद् भावराशि-मध्य एव निक्षिप्तानि कथं तेषामुत्पत्त्यभिमानः ? या पुनस्तद्वचनिरिक्ता संविज्ञाम, तस्याश्च परमेश्वरसंविदात्तविवेकत्वमिति निर्णय्यामः । तस्माच्चदत्र केचन शरणं सामग्रीवादमभ्युपागमन् सोऽपि परमेश्वरस्यैव कर्तृत्वोपोद्बलक इति । परस्य = तत्तत्प्रमातुः कर्तुंश्च ।

“अष्टविकल्पो देवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।

मानुष्यश्चैकविधः समामतो भौतिकः सर्गः ॥”

इति तत्तद्वचान्तरभेदेऽपि त्रिविधत्वमेवेति बोध्यम् ॥३४॥

भुवनों को, एवं देव मनुष्य तिर्यक् प्राणी के रूप में उत्तम मध्यम अधम शरीरों की संरचना करता है या यह कहिये कि स्वयं उसी-उसी रूप को ग्रहण कर लेता है ॥३४॥

वह परमेश्वर, जैसा-जैसा स्थान अर्थात् लोक या भुवन होता है वैसे-वैसे ही

क्रीडया दुःखवेद्यानि कर्मकारीणि तत्फलैः ।  
 संभत्स्यमानानि तथा नरकार्णवगह्वरे ॥३६॥  
 निवासीनि शरीराणि गृह्णाति परमेश्वरः ।  
 यथा नृपः सार्वभौमः प्रभावामोदभावितः ॥३७॥  
 क्रीडन् करोति पादातधर्मास्तद्वर्धधर्मतः ।  
 तथा प्रभुः प्रमोदात्मा क्रीडत्येवं तथा तथा ॥३८॥

शरीरभवनवामना अन्योन्यानुकूपा गृह्णाति इत्याह—स्थानानुरूपत इति ।  
 अन्योन्यानुकूप्येणैव तां देवादीनां विलक्षणव्यवहारनिर्वृतिः । यच्च शरीरादि  
 आदत्ते तेनैव = साययितेनैव रूपेण उल्लेखने प्रसिद्धः ॥३५॥

स्वस्वरूपाव्यातेर्नरकादायि य एवास्तीत्याह—क्रीडयेति । विश्वरचनामय-  
 क्रीडास्वभावेन, दुःखस्वभावा वेदमिष्यमाणानि नरके, अथवा दुःखं वेदमिष्यमाणं  
 नरके येषु तानि मायात्मकनियमितवश्यान् पापकर्मकारीणि इह शरीराणि  
 गृह्णाति; तथा नरक एवायं तत्कुशावगाधभोगे निवासीनि सन्ति तत्कर्मफलैः  
 सम्बन्धमगमिष्यन्ति । परमेश्वरो नरकेषु य एवास्ते, न तु तदतिरिक्तः कश्चि-  
 दस्तीत्यैक्यमेव स्थिरीकृतम् ॥३६॥

एतदेव लौकिकं दृष्टान्तेनाह—यथेति । यथैश्वर्यचमत्कारवाचितः सार्वभौमी

क्रीडयेति—उत्तमिदं तन्निश्चयेत् भामने तत्तत् परमाद्वयनयोपदेशेन परस्व-  
 भावमयमेवेति । तत्र या कश्चिदेवं निषिद्धाचरणेन स्वात्मानमजानी नरके निमज्जये-  
 दित्यत आह—क्रीडयेति । अजानी हि चर्यकायत्तभोगमोक्षः, अतस्तदुल्लङ्घनेनावश्यं  
 नरकान्तमर्हतीति । तथा परमानन्दमोक्षे कथं नरकादावाप्त इति यत् केचन  
 भ्रान्तास्तान् प्रत्यद्वयप्रतिपत्तिदाह्वयिनाह—क्रीडयेति ॥३६॥

शरीर धारण कन्ता है और फिर जिम-जिम प्रकार का शरीर होता है उसी-उसी  
 प्रकार की उसकी भावना भी होती है । फल यह होता है कि उसी-उसी रूप में  
 वह इन लोकों में प्रसिद्धि को प्राप्त होता है । ॥३५॥

यह सम्पूर्ण विषय उसके क्रीडास्वभाव की अनिव्यक्ति है इसलिए दुःखान्मक-  
 रूप में वेदनीय कर्म करने वाले एवं उस कर्म के फलस्वरूप नरकस्थी समुद्र में  
 निवास करने वाले पापात्मक शरीरों को भी धारण करने वाला वह परमेश्वर ही  
 है । जिस प्रकार समस्त ऐश्वर्य के आनन्द का भोग करने वाला राजा आनन्द की  
 भावना से प्रेरित होकर पैदल चलने वालों जैसा आचरण करता है उसी प्रकार  
 समस्त ऐश्वर्य से पूर्ण होते हुए भी परमेश्वर आनन्दोल्लास के कारण भिन्न-भिन्न  
 प्राणी के रूप में प्रकट होकर वैसा-वैसा आचरण करता है ॥३६-३८॥

इत्थं शिवो बोधमयः स एव परनिर्वृतिः ।  
 सैव चोन्मुखतां याति सेच्छाज्ञानक्रियात्मताम् ॥३९॥  
 सैव शाक्तजरीरादिनारकान्तं हि भूतता ।  
 प्रसूयते स्वचिद्रूपप्रमुखं पार्थिवान्तकम् ॥४०॥  
 पदार्थत्वेन भगवान् सर्वत्रैव तदात्मता ।  
 स्वशिवत्वमिवाजानन् पश्चात्स्वपदेशतः ॥४१॥

राजा निरर्गलतायाः क्रीडायाः तत्त्वक्षणस्वभावापत्तेः पदानि सन्वन्निनेष्टितान्यान्तर्यामि,  
 तथा परमेश्वरः पूर्णत्वात् स्वत आनन्दपूणिभक्तभेदात्मभिः प्रकारैरेवमेतत्सङ्गं  
 क्रीडति । हर्षानुसारो स्पन्दः—क्रीडा ॥३८॥

पूर्वोक्तशक्त्यादितत्त्वमपसंहर्तुमाह—इत्थमिति । अनेनोक्तप्रकारेण शिवो  
 भगवान् बोधमात्रस्वरूपः पूर्णो निरपेक्ष आनन्दात्मा सैव । तथा मायावन्निष्ठायाः  
 त्मावन्ति आनन्दातिरिक्त एव तन्वतामेति जगन्निर्माणेच्छारूपेण स्थातुम् । तस्याः  
 त्रिधात्वात् तत्पूर्वभागात्मकोन्मुखतां याति । सा च प्रमथेच्छाज्ञानक्रियात्मतां याति ।  
 एतावता निर्मातृत्वेन ज्ञानजरीरप्रभृतिनारकजरीरान्तरूपं प्रसूयते = स एव जायते ।  
 सा च भूतता = भूतसर्गः । निजचिन्मात्ररूपशिवतन्वादिपार्थिवतन्वान् रूपं  
 पदार्थत्वेन तैस्तेष्वप्यमानं भगवान् प्रसूयते । ततः सर्वत्रैव तदात्मता । युक्तिश्च  
 वक्ष्यते ॥४०॥

इत्थमिति—‘आत्मैव सर्वभावेषु’ इति नवेन । परनिर्वृतिः = निर्वृत-  
 चिद्विद्यादिना । सैवेति—प्रदा तु तस्येत्वादिना । सेच्छेति—तस्येच्छेत्यादिना ।  
 संवेति—कदाचित् स्थूलवेदनात् रिच्छात्वेत्यादिना । नारकान्तं—क्रीडयेत्यादिना ।  
 तस्याः = इच्छायाः । प्रसूयते = स एव तादृशो जायते ॥४०॥

इस प्रकार वह भगवान् परमशिव ही निरपेक्ष अन्वष्ट ज्ञानस्वरूप परनिर्वृति  
 अर्थात् आनन्दात्मा है । वही निर्वृति मायाशक्ति के वाङ्मय स्वयं उभये आवृत  
 होकर जगन्निर्माण की इच्छा के पूर्वभागरूप उन्मुखता को प्राप्त होती है । फिर  
 वही आनन्दस्वरूप परनिर्वृति इच्छा ज्ञान और क्रिया के रूप में प्रकट होती है ।  
 फिर वही शक्त्यात्मक शरीर में लेकर नान्काय शरीर तक भौतिक रूप में  
 आविर्भूत होती है । और पृथिवीपदार्थ पदार्थ की सृष्टि के रूप में वही आनन्द-  
 ज्ञानघन भगवान् प्रसूत होता है । इस प्रकार सर्वत्र स्वरूप में वही आत्मस्वरूपेण  
 स्थित है ॥३९-४०॥

इस भूतात्मक सृष्टि में परमशिव पांच रूपों में ज्ञान का अधिकरण बनकर  
 रहते हैं । १. कहीं वे अपने शिवत्व का मानो ज्ञान ही नहीं रखते, अर्थात् यह



तद्रूपत्वेन वा पश्यन् स्थितः शान्त इव कश्चित् ।  
केवलेशदृष्टत्वेन कश्चित् केवलशंभुता ॥४२॥

भूतनामं प्रमातृपञ्चकं निदर्शयन्नाह—स्वशिवत्वेति । स्वशिवत्वमजानन् इव पञ्चात्मव्यपवेशमासाद्य स्थितः । स्वस्वभावेदात्म्यातिरेकं हि मायाशक्तिकृता ग्राह्य-  
ग्राहकरूपसंसाररूपतयाऽवनिष्ठे । तत्र ग्राहकः पशुः पुरुषकावाच्छित्तं चैतन्यम् ।  
स एव परिमितत्वाद्यः, चैतन्यान्वतया नित्योऽमूर्तश्चः विश्वात्मनान्यागेनाजः  
अस्वातन्त्र्यान् क्रियागुणरहिताजीश्वरश्चः वैश्वपुरुषकान्मनि भिन्न इव रागितया  
भोगोपायविचिन्तकः, मायाकृतत्वात्मायोदरान्स्थः । स्वशिवत्वाजानं शिवभट्टा-  
रकन्यायुक्तम्, नित्यनिर्मलस्वभावत्वात्, तद्विना मलानामेवातृदानेस्तदविधानानेवाम् ।  
तन्मस्तदज्ञानभागश्रुतेश्च मायाशक्तिवशाद् उचित्प्रीतिपाणवमायामलद्रव्योद्भूतः ।  
कार्मिकश्च तन्प्रभवः । स्वशिवतामिवेति इवग्रहणं व्यपदेशग्रहणं चाज्ञानात्मकमेतत् ।  
न वस्तुनः कश्चिद् ग्राह्यग्राहकभेद इति वक्तुम् । एतच्चेष्टरप्रत्यभिज्ञायां निपुण

तद्रूपत्वेन = युद्धशिवत्वेन । शान्तः = ग्राह्यग्राहकजीवरहितः । केवलेणेति—  
तन्निर्मर्माणचतुरस्ततदुपादाननिमित्तकारणान्युपादाय स्वतन्त्रं चतुर्वर्गविभक्त-  
मृष्टिकारी कलेयकर्मविपाकाशयैः स्वयमपरासृष्टेऽन्याद्यन्त्रं तत्र योजयन् स्वकर्मनिर्माण-  
फलदाता पुण्यविशेष ईश्वर इति । अप्रबुद्ध इति—स्वरूपबोधेन हि पशुत्वभ्यानिः,  
तदभावे भिन्नग्राह्यशून्यतायामपि न पाषच्छेदः । प्रलयेति—प्रलयाकालः  
कार्मण्यमलद्वयभाजनम्, विज्ञानाकालः स्वातन्त्र्यहानिरूपानवमरुभाजनम् । त्रिक-  
लवत् = स्वातन्त्र्यहान्या । पशुः नाम किल चिदचिद्रूपावभास एव । अचिद्रूपत्वं  
पुनर्मलक्षणम् । तद्रूपमप्याह—अज्ञ इत्यादि ।

भूतान्मक मर्ग अपने स्वरूप में अभिन्न हैं ऐसा मानों उन्हें ज्ञान ही नहीं रहता और  
ज्ञाना जेय के रूप में संसाररूप में बह रहे हैं । यहाँ ज्ञाता ही जो कि पंच  
ज्ञानेन्द्रियां तथा मन बुद्धि अहंकार उन आठ से युक्त है पशु है और वह नित्य  
अमूर्त अणु अज्ञ अतीश्वर, योग के साधनों के संग्रह में लगा हुआ माया के उदर में  
वर्तमान है । २. कहीं महामाया नामक विद्याशक्ति के कारण शिव के रूप में  
शान्तभाव से पड़े हुए तटस्थ होकर सब कुछ देखते रहते हैं । ३. और कहीं  
उनी विद्याशक्ति के तारतम्य के कारण वैशेषिक आदि के मतानुसार केवल ईश्वर  
या शंभु की सजा धारण करते हैं । ४. अन्यत्र अवस्थाभेद से केवलविज्ञानमय  
होकर निर्मलप्रभुत्व को प्राप्त होकर माया के द्वारा उपस्थापित ग्राह्यता में डूब  
होकर प्रलयकेवली कहलाने हैं । ५. और कहीं उक्त आठ अंगों में रहित

अप्रबुद्धो निष्कलञ्च कश्चित् प्रलयकेवली ।

आत्मबोधो विकलञ्चत् कश्चिद् विज्ञानकेवली ॥४३॥

योगिनामिच्छया यद्विज्ञानारूपोपपत्तिता ।

न चास्ति साधनं किञ्चिन्मृदादीच्छां विना प्रभोः ॥४४॥

विवेचिन्म् । क्वचिन्महामायापरपर्यावविद्याशक्तिवशान् तद्रूपत्वेनात्मानं पश्यन्  
सबन्धा विस्वान्ततामनुगतः शान्त इह । अवापीकणवदो ज्ञानविवेकेण शान्तता न तु  
वस्तुतः सावतिम्यविरह इति वक्तुम् । उत्तरवापीव शब्दस्तदर्थं योजनीयः । विद्या-  
शक्तितारतम्यतश्च भेदात् क्वचिद् वैजैपिकादिमतकेवलेस्वरसाधदृढाभिमानेन स्थितः  
क्वचित् केवलशम्भुगंजा शिवभेदेन । क्वाप्यवस्थामेदावस्थितविज्ञानमय एवाभ्यास-  
पशुभावः सायाश्चमलोपस्थापितभिन्नान्दशुन्यः प्रलयकेवली भवति । अन्यत्र आत्म-  
बोधो न तु पूर्वकष्टकरः, प्रलयाकलञ्चत्वात् अस्तरहितः, काममलाक्षणी विज्ञान-  
केवलरूपः ॥४३॥

सायाकृतत्वादिति—अनेनारया द्विरूपता साधिता । तथा हि—तस्य च सृजत  
परमेश्वरेच्छामयम्, तत एव च नित्यं लक्ष्यमाणवस्तुगतस्य रूपस्य जडतयाभास-  
यिष्यमाणत्वाज्जडम्; सकलकार्यव्यापारादिरूपत्वाच्च व्यापकं सायाख्यं तत्त्वमपादान-  
कारणम्; तदवभासकारिणो च परमेश्वरस्य सायाशक्तिस्ततोऽन्यैवेत्यभिपद्यगुप्तवादाः ।  
न च मलमन्वन्धनेत्याह—तद्विधेनेति । तद्विधेष्टान्दिति—परमेजैच्छामयत्वान् ।  
मलद्वयोद्भूत इति—पदुक्तमीश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्—

स्वातन्त्र्यहानिर्धौषस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यवरोधता ।

द्विधाऽऽणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥

भिन्नवेद्यप्रयाऽनैव सायाख्यं जन्मभोगदम् ।

कर्त्तर्यवोद्ये कामं तु सायाशक्त्यैव तत्त्वयम् ॥ इति ।

तत्प्रभवः = सायाऽद्भूतः । तद्रूपत्वेन = शिवत्वेन ॥४३॥

कर्मकृत मलो मे अमस्पृष्ट विज्ञानकेवली होकर रहते हैं । अर्थात् प्रथम अवस्था  
में ब्राह्मग्राहकरूप भेदज्ञान रहता है जो कि सामान्यमनुष्य की स्थिति है ।  
दूसरी अवस्था शुद्ध शिव की है जिसमें ब्राह्मग्राहक का शोभ नहीं रहता । तीसरी  
अवस्था में वह सर्वश कर्म विपाक अलाय में अपरामष्ट योग का ईश्वर होकर दूसरों  
को अपने जेना होने की प्रेरणा देता है । चतुर्थ अवस्था में स्वरूपबोध होता है ।  
प्रभुत्वभाव हट जाता है किन्तु ब्रह्मन् रहता ही है । पञ्चम अवस्था विज्ञानात्मक  
है ॥४१-४३॥

जिस प्रकार योगिजनों की अपनी इच्छा से अनेक प्रकार की स्वात्मक वस्तुये

तथा भगवदिच्छैव तथात्वेन प्रजायते ।  
दृश्यन्तेऽत्र तदिच्छातो भावाः कामादियोगतः ॥४५॥

इच्छावशेनैवमवस्थानमिति बहुतरवाद्युक्तदृष्टान्तमाह—योगिनामिति । योगिनामिच्छामात्रेण नानागृहादिभूषाणां उपपत्तिता = क्रियात्मत्वम्, आमाद्यत इति शेषः । न च मूलाष्टादि तेषां तक्षादीनामिव किञ्चित्मात्रमस्ति परमेश्वरैच्छातिरिक्तम् । तद्रूपताऽप्यत्र हि ते निमित्तम् । तथा भगवदिच्छामात्रमेव विश्वरूपत्वं सम्पद्यते ॥४४॥

दृष्टमुदाहरणमाह—दृश्यन्ते इति । कामादिक्रियादियोगाच्च ते ते भावाः पुरः स्फुरन्ती दृश्यन्ते । तत्र भगवदिच्छैव कारणम्, तावत्पक्षे भावनावशादीश्वरताऽज्ये-  
शान् । न च तत्र चौरादयो मिथ्यारूपा भान्ति—यतोऽत्र सत्यत्वमादृशानामवश्यं स्थापनीयम् ॥४५॥

बहुतरवादीति—

न दृश्यन्ते त्वत्प्रतिभासकैः स्वप्नेऽर्थवैचित्र्यनिमित्तमन्यन् ।

तद्दृष्टसामर्थ्यतया सदैवा विश्वप्रपञ्चप्रथनैकहेतुः ॥

इति भट्टदिवाकरवस्तोक्तनयेन यद्यपि स्वप्नसंकल्पकामादिकारणविषयपरिदृष्टभावाभाम-  
निर्माणयामर्थ्यं संविद एवानुभूयते, तथापि घटादं प्रसिद्धमुदादिकारणपरम्परा  
पराकरणेन तदवामर्थ्यं घटादीनि केचन विप्रतिपदास्तान् प्रति योगिदृष्टान्तेनेच्छा-  
निर्माणं समर्थयति । योगिनामिति—योगी हि पुरोक्षेनादिनिर्माणमिच्छावशादेव  
करोतीति सिद्धम् । तत्र हि तदिच्छया सृष्टिः सङ्घटिताः परमाणव उपादान-  
मित्युच्यमाने यदि प्रसिद्धो घटसम्पादकः समस्तकर्मशिक्षाधर्माधर्मदण्डादिसहकारि-  
रहितः स्वोपादानोचितः कपालादिकारणकलासोऽभ्युपयते, तत्कुलालविशेष इवायं  
योगीत्यायातम् । अहो तर्हि तस्य योगिनो योगित्वमिति तत्र तदुल्लङ्घनमेवेत्याह—  
इच्छामात्रेणोपपत्तिता क्रियात्मत्वमासाद्यत इति । त इति—योगिनश्च शरीर-  
प्राणाद्यारूपितमपि चैतन्यं तावन्नैर्मल्यान्निर्मितस्वयं शरीरप्राणादिसहितप्रमाणन्तरापेक्षया  
वाह्यत्वेन तस्यावस्थं चित्तत्वमेव सर्वत्र निर्मातृ । दृष्टम् = प्रत्यक्षमिदम् । पुरः =  
प्रत्यक्षत एवार्थक्रियाकारित्वान् । भगवदिच्छेति—चित्तत्वं यतः स्वात्मरूपमह-

घर द्वाक इत्यादि वन जानी है वहाँ परमेश्वर की इच्छा के अनिरिक्त मिट्टी आदि  
कोई दूसरा साधन नहीं रहता उसी प्रकार भगवान् की इच्छामात्र से यह विश्व  
प्रकट होता है ॥४४॥

अथवा काम शोक भय आदि के होने पर उसी-उसी तरह के पदार्थ सामने  
दिखाई पड़ते हैं । कारण वहाँ वैसी भावना होने पर ईश्वरत्व के आवेश से वैसी

तत्र मिथ्यास्वरूपं चेत्स्थायाऽग्रे सत्यतेदृशाम् ।  
 एवं सर्वेषु भावेषु यथा सा शिवरूपता ॥४६॥  
 नीरूपता निर्वृतिर्वा शक्तित्रितययोगिता ।  
 सच्चिद्वं संस्थितं नित्यं कथनीयं तथाऽग्रतः ॥४७॥  
 एवं सर्वपदार्थानां समैव शिवता स्थिता ।  
 परापरादिभेदोऽत्र श्रद्धानैरुदाहृतः ॥४८॥

एवमेतदप्यग्रे वक्ष्यते इत्याह—एवमिति । उक्तं तावत्—

“पदार्थत्वेन भगवान्.....” । ( शि० दृ० १.४१ )

उदाहरिता तत्त्वगतमुनेन सर्वस्य शिवरूपत्वम् । उदासी यथा अदृष्टाशिवपि भावेषु शिवता, तद्रूपत्वाच्च परिमितकर्मनीरूपत्वम्, निर्वृतिः, उच्छादियोगिता, सच्चिद्वं = अक्षरत्वं च सम्पद्यते स्थितम् = उपपन्नम्, तथाऽग्रतोऽग्र्यं कथनीयम् ॥४७॥

एवं स्थिते यद्भवति तदाह—एवं सर्वेति । परमशिवान् प्रभृति पटाद्यन्तानामपि पदार्थानां सदैव = अन्वृत्तानतिरिक्ता च शिवता पूर्णशिवपानतिरेकान्नियता सर्वेषां मिथ्याजन्यविशेषप्रकाशविमर्श तत्त्वस्वरूप यदाभासनं तदावदुपपन्नं न प्रयत्नसाध्यं तदभेदिनश्च भावरागेः प्रकाशान्तरादुपपन्नमाभासनमित्यर्थः ॥४६॥

तत्र सर्वेषां भावानां तथा शिवता भवति यदि तद्वर्मयोगस्तत्रापि भवति, नात्रात्रा—इत्यतः सर्वं तत्त्वमर्थकं समर्थयति—तद्रूपत्वाच्चेति । निर्वृतिः—कर्मविच्छिन्ना जीन्मुखरूपा । उपपन्नम् = युक्त्याऽनुभूतम् । सर्वपदार्थानां सर्वशक्ति-  
 नंपूर्णशिवत्वे स्थिते । ननु यदि संपूर्णं तेष्वपि शिवता, तत्किमित्यागमेषु परापरादि-  
 भेदा नियमेन कथ्यते ? उक्त्याशूक्त्याह—परापरेत्यादि । निधता = सर्वस्य पदार्थ-  
 जातस्यावश्यंभाविनी । ननु च भवन्तु सर्वत्र पूर्णशिवतन्वोपयोगस्तथापि स्वात्मनि

वस्तुयें पैदा हो जाती हैं और काम शोक भय आदि के कारण स्त्री भूय चोर आदि सत्य प्रतीत होते हैं क्योंकि उनकी सत्यता को प्रमाणित किया जायेगा । तो सब जगह भगवान् शिव की इच्छा ही कारण है ॥४५-४६॥

उसी प्रकार सभी जड़ चेतन सर्वत्र सभी तन्त्र शिव रूप ही हैं । वही नीरूप भी है । वही निर्वृति अर्थात् कर्मविच्छिन्ना जीन्मुखता भी है । वही इच्छा ज्ञान और क्रिया तीनों शक्तियों की योग्यता है । सर्वत्र चैतन्य रूप में वही है यह आगे कहेंगे ॥४८-४९॥

इस प्रकार परमशिव से लेकर अट पट मठ आदि पर्यन्त समस्त पदार्थों से समानरूप से शिवत्व वर्तमान है । वही पर अपर इत्यादि भेदों का वर्णन श्रद्धा-



एवं भेदात्मकं नित्यं शिवतत्त्वमनन्तकम् ।

तथा तस्य व्यवस्थानान्नानारूपेऽपि सत्यता ॥४९॥

तथा नागरस्यासादनात् काचि स्थितिः स्यादित्यर्थः । एवं च सर्वस्य शिवरूपसाम-  
रस्यात् तदवस्थातिमयगुणगुणिरूपपरापरदिभेदो भावानामकः । तत्र श्रद्धामात्रे-  
णोपातिरहितेन जन्तुताम्, न तु वस्तुनः शुद्धिरशुद्धिर्वा काचिन् ॥४८॥

एवं तेषां नित्यत्वमाह—एवमिति । उक्तक्रमेण भेदात्मकं न तु भावभेद-  
पृथग्भूतम् । भेदा अत्र तदात्मकाः, अत एव तदवन्तकम्, मित्रार्थसद्भावे मति अन्तः  
स्यात्, तदपानाक्रमणान् । एवं व्यवस्थानस्य भावत्वात् तस्य = परमेश्वरस्य, नाना-  
रूपेऽपि विश्वमिदं सत्यमैवेति ॥४९॥

इति श्रीशिवदृष्टौ श्रीमदुत्पत्यदेवप्रभुपादनिर्मितायां वृत्तौ प्रथममाह्निकम् ॥

स्थितत्वात् कश्चमत्कारानिधाय उच्यते आह—स्थितिरिति । योगिनो ह्रीवृत्तौ यदि  
स्थितिस्तदा सर्वत्रमत्कार एवेत्यर्थः ॥४८॥

उक्तक्रमेण = रूपप्रसाररसत इत्यादिना । न स्थिति—अनेन न तेषां स्वकीयं  
रूपं किञ्चिदिति शोचितम् । ननु भेदोऽपि भवति, किं चात्र जरणम् ? इत्याह—  
तदात्मका इति ।

वालों की अपनी नृज-नृज है । वस्तुनः न तो कोई वस्तु शुद्ध अशुद्ध है और न  
शिव के अनिरिक्त अन्य पदार्थ की पारमाथिक स्थिति है ॥४८॥

इस प्रकार यदि भेद मानते हैं तो भेदात्मक शिवतत्त्व अनन्त है और वस्तुनः  
वह अभेदात्मक है । इसीलिए उसकी व्यवस्थारूप स्वभाव के कारण नानारूपों  
में वर्तमान होते हुए भी वह सत्य है ।

## द्वितीयमाह्निकम्

अथात्माकं ज्ञानशक्तिर्या सदाशिवरूपता ।

वैयाकरणसाधूनां पश्यन्ती सा परा स्थितिः ॥१॥

वृत्तिः—ईश्वराद्वयवाद एव युक्तियुक्तः, न तु शब्दपरब्रह्माद्वयवाद इति वक्तुम्, वैयाकरणो-  
पेतशब्दाद्वैतं तावन्निराकर्तुमुपक्रममाण आह—अथेति । पश्यन्ती यद्यपि नादरूपतया-  
विश्वमामृशन्ती क्रियाशक्तिरूपतया समन्विता, तथापि 'पश्यन्ती' इति दर्शनप्राधान्यात्  
उपचरितज्ञानशक्तिरूपत्वेऽप्याश्रीयमाणे परमशिवरूपताया अत्यन्तदूरवर्तिनी न तु  
पर्यन्तदशाऽसौ, ज्ञानशक्तेः सदाशिवरूपत्वात् परापरव्यवस्थाऽत्र । तेषां पुनः सा पराऽ-  
वस्था मता । सदाशिवरूपत्वे च क्रियाशक्तिरपि न परित्यक्ता । यदुक्तम्—

“ज्ञानक्रिये सादाख्यम्” इति ।

शक्तिशक्तिसत्तोरभेदात् ज्ञानशक्तिमान् सदाशिवः; उद्विक्तक्रियाशक्तिरीश्वर इति ।  
अत एवेच्छाशक्तिमयः शिवो यावत्स्वित्वातन्व्यशक्तिमान्, पर्यन्ते परमशिवः ।  
अत्रान्तरे चौन्मुख्यनिर्वृत्यपेक्षयाऽधिकतत्त्वमम्भवः । तदस्तु मा वा भून्, नैतद्विह  
मुख्यवृत्त्या प्रतिपाद्यम् । अत एवाधिकशक्तिप्रदर्शने कृतेऽप्युक्तं “पद्विंशतत्त्वरूपतां  
ब्रिभ्रत्” इति । शिवाभेदतात्पर्यं तु न खण्ड्यत इति नियमः । मायोत्तीर्णोऽप्यध्वनि

टि०—तदेवमियतासर्वशासनार्थमंक्षेपार्थमूचकेन पीठिकाव्यखण्डोपोद्घातपरेणानेन  
प्रथमाह्निकेन परमेश्वर एक एव तावत् स्वरूपप्रसारेण परापरादिरूपतया भासते,  
तथात्वेऽपि न खण्डितव्यपदेशव्यवहार्यः । तथा हि—परावस्थायां तावत् पूर्णानन्द-  
स्वभावे एव, परापरायामपि रूपप्रसाररसादेव न काचन विरूपकलङ्ककल्पना,  
अपरावस्थायां पुनः प्राकृतप्रजायामपि च तस्य सहजप्रकाशबोधोऽस्तीत्यपि समर्थितम् ।  
नवेतत्त्रिधात्वमप्यन्यवादिमतेऽनुपपत्त्या समर्थितमपि शिथिलितमिव भाति । तस्मिन्  
हि निरनिते सर्वमिदं मेवावरणविगमेनेव स्वप्रकाशशान्तकिरणद्वन्द्वमत्यन्तस्वच्छं भासते  
नान्यथा, पांशुपातेन हि न मणेरमहार्घताऽपगच्छति, परं मलिनो भाति । तत्र  
प्राधान्येनेह परब्रह्माद्वयवाद एव निरसनीयः; प्रसङ्गागतस्य च शब्दब्रह्माद्वयवादस्य  
निरसनं तावत् तण्डुलशुद्धाविव कणनिरसनमिति तन्निरसनायाह—शब्दब्रह्म इत्यादि ।  
युक्तीति—अनुभवानुवर्ती सत्तर्कप्रकारो गुक्तिः । अथेति स्वविद्वान्तकथनानन्तरं

चि०—हम शैवमतवाङ्मयियों की जो ज्ञानशक्ति सदाशिव के स्वरूप में स्वीकृत है  
वही वैयाकरणों के मत में पश्यन्ती या परब्रह्मरूप परावाक् है । ॥१॥

विद्योन्मेषेऽपि कार्मगलानुत्थामात् संगाराममर्केऽपि परमेश्वरभेदाख्यातिः सर्वथैवा-  
विच्छेदादागमाद्यगतेश्वरैच्छावशोत्थपरापरदशाव्यपदेश्योक्तान्वोपगमः । वैदाकरण-  
साधूनामिति गाधुग्रहणमेवं जाड्यरूपापनाय । परमपि हि रूपं यदि पश्यन्त्याः  
यदुक्तम्—“प्रतिबन्धसमाधाना च ।” इति, “विशुद्धा च ।” इति: “प्रशान्तप्रत्यव-  
भागा च ।” इति । अन्यद्वाऽपि अतोऽधिकतरं प्रकृष्टरूपमस्याः स्यात्; तथाऽपि ‘सरो’  
‘रमः’ इति मध्यमायामन्वितः क्रमस्य कारणभूतायां तत्क्रमशक्तिरस्येव ।

परप्रक्रियारम्भे । ज्ञानशक्तौ हीच्छायां यद् बीजतयाऽवस्थितं तदेव विक्रमितम् ।  
तत्तश्चावामर्शमभवान् कथं ज्ञानशक्तित्वमिहाणुक्तम् ? ज्ञानदर्शनयोग्यतेत्यत्र  
योग्यतेति ? तत्रश्च कथमुक्तं ज्ञानशक्तिः पश्यन्ती ? इति मन्वाह—यद्यपीति ।  
अप्याश्रीयमाण इति—अपिशब्दोऽत्रोपरोधेनैव ज्ञानशक्तित्वं न तु वस्तुतः इति  
ज्ञेययति । ननु यदि भवद्भिः पश्यन्त्या नादशक्तिरूपतया क्रियाशक्तिरेवाभ्युपगता  
येन यद्यपीत्याद्युक्तं सूत्रकारेण, कथं ज्ञानशक्तिः नदाशिवरूपतेति महानयं स्वकटक-  
शोभ सम्पन्न एवावाङ्मुखाह—तदाशिवरूपत्वे चेति । ज्ञानशक्तियोग्यता क्रियाशक्ति-  
प्राग्भवाः नदाशिवव्यवस्थित्यर्थः । ननु ज्ञानशक्तिः नदाशिवतेति कोऽयं निर्देश इत्यत  
आह—शक्तीति । प्रसङ्गागतमाह—अत एवेति । ननु किं तद्यत्र प्रतिपाद्यम् ?  
नयथा हि निःशेषतः कथिते प्रकृतं माध्यं मिध्यत्यत आह—शिवाभेद इति । सर्वथा  
हि शिवाभेदतात्पर्यमिह माध्यमिति नियमः । तच्च, अस्तु वाग्विक्रमं मातुं वा, न  
निरूप्यत इत्यर्थः । ननु च सर्वत्र हि मायाया उच्छेद एवाङ्गीकृतः, स च ज्ञान-  
शक्तावप्यस्ति ततोऽग्लमनेन, ज्ञानशक्तिरस्माकं तेषां परा सिधितिगिति शङ्कित्वाऽह—  
मायोत्तीर्णं इति । तत्त्वोपगम इति—नेन नात्र परतन्त्रस्थितिरित्यर्थः । साधयति—  
यथा लौकिकेऽपि अत्यन्तमृगेऽपि ‘गाधुरयम्’, इति व्यवहारः । समाधाना = कैवल्य-  
शब्दार्थरहितस्वरूपमसाहितः । विशुद्धा = ब्राह्मणहककल्लोकरहिता । प्रशान्त-  
प्रत्यवभासा = गलितवाह्यविकल्पावभासा । सर इति—तथापीति मूलभूतत्वात्तस्याः ।  
यदि तस्यां सूक्ष्मक्रमकलना न स्यात् तर्हि सरो रमः इत्यत्र क्रमस्मरणे निमित्ता-  
भावाद्दुर्लभमणेन स्मरणं मन्त्रव्यम्, तत्र हि एकस्मृत्युपाख्यानां वर्णानामर्थाविबोधकत्व-  
मुक्तम्, तच्च सति कारणे तादृक् प्रतिभासे भवति नान्यथेत्यर्थः । पूर्णा—अन्तः-  
समाविष्टक्रमत्वात् । ननु च पश्यन्ती तादृयस्तु तस्याः कथं तत्र विवादः ? ततोऽन्याऽपि  
काचिदस्त्यक्रमा इत्यत आह—एवमिति । पश्यन्त्या एव परब्रह्मरूपतेत्यर्थः ।  
अक्षयम् = अन्तरहितम् । अक्षरम् = कल्पनोज्जितम् । परेति—नयंतः पूर्णत्वान्  
सूक्ष्मा । ननु वाचः प्राणस्पन्दात्मकत्वात्कथं शब्दरूपमेव परं ब्रह्मेत्यत आह—  
वाग्रूपतामिति ।

इत्याहुस्ते परं ब्रह्म यदनादि तथाऽक्षयम् ।

तदक्षरं शब्दरूपं सा पश्यन्ती परा हि वाक् ॥२॥

स एवात्मा सर्वदेहव्यापकत्वेन वर्तते ।

अन्तःपश्यदवस्थैव चिद्रूपत्वमरूपकम् ॥३॥

यदुक्तम्—“प्रतिमंहतक्रमाऽप्यन्तःपश्यन्त्यभेदे समाविष्टक्रमशः पश्यन्ती ।” इति ।  
तत्र न सा पूर्णा पर्यन्तदशेति कथं तस्याः परस्थितिरूपाता = परब्रह्मरूपता = शब्द-  
ब्रह्मरूपता ? ॥१॥

तथा च त एवमाहुर्निवाह—इत्याहुरिति । यदनाद्यनन्तं च परं ब्रह्म चिद्रूपं  
तदक्षरं निर्विकारं शब्दरूपम् । नैव च पश्यन्तीगंजा परा वाक् । वाचूपनां विना  
परब्रह्माख्याश्चन्द्रप्रकाशोर्ण न प्रकाशेन । सा हि प्रत्यक्षमग्निनी । प्रत्यक्षमग्निमेव  
च प्रकाशनमुच्यत इत्याहुस्ते ॥२॥

स एव चास्मेत्याह—स एवात्मेति । सा अन्तःपश्यदवस्था भोक्तृरूपता  
जेयरूपान्वयं चिद्रूपत्वम् = चैतन्यमात्रं स एवात्मा पश्यते । सर्वदेहव्यापकत्व-  
भोगायतनावस्थितौ भोग्यं भुङ्क्ते ॥३॥

“वाचूपना चैतन्यमेवमग्निमेव वाच्यता ।

नाप्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यक्षमग्निनी ॥”

( वा० प० १.१२४ ) इति भर्तृहरिपादाः ।

यद्यपि परं ब्रह्म चित्प्रकाश एवानुरूपगतस्तथा चात्र कथं शब्दरूपता ? तथात्वे हि  
तत्प्रकाशनं न कथंचन मिथ्यमिति कैवाचित्कर्तृरूपतां तिन्यादि ? न, चिद्रूपस्य  
यच्चिद्रूपत्वं तथैव वाचूपनेति यतस्तन्मनमित्याह—प्रत्यक्षमग्निमेवेति ॥१॥

तन्वस्त्वेतादृशद्वयं यथाब्रह्मानाद्यन्तं पूर्णं तथापि कस्य बन्धः कस्य मोक्षः,  
तदर्थमेव व्यवहारः प्रवृत्तिरिति तावद् भोक्तारम् बन्धमोक्षान्कारिणमविद्यापरागात्  
स्वतः स्वच्छं समर्थयति—स एवेति । वर्तते = भोग्यं प्रति प्रवर्तते । अरूपकम् =  
जेयदन्ताविषयम् । अन्तःपश्यदवस्थेति—भोक्तृरूपत्वेन तत्संवावस्थितिः, तेनावस्थैव  
तावज्जीवता सिद्धा । तद्भूमेति—तस्य = भोक्तुः । स एवेति—अवस्थाया अवस्थानु-

इस प्रकार जो अनादि अक्षय परमब्रह्म है वही अक्षर शब्दरूप है वही पश्यन्ती  
नामक परावाक् है ॥२॥

वही अन्तःपश्यदवस्था वाला अर्थात् भोक्ता के रूप में जेयरूप से रहित चैतन्य-  
मात्र आत्मा समस्त शरीरों में व्यापकरूप से रहता हुआ शरीरों के अन्दर रहकर  
भोगों को भोगता है ॥३॥



तावद्यावत्परा काष्ठा यावत्पश्यत्यनन्तकम् ।

अक्षादिवृत्तिभिर्हीनं देशकालादिशून्यकम् ॥४॥

सर्वतः क्रमसंहारमात्रमाकारवर्जितम् ।

ब्रह्मतत्त्वं परा काष्ठा परमार्थस्तदेव सः ॥५॥

स एव परमात्मा सर्वज्ञ इत्याह—तावदिति । अस्यामप्रकल्पिता काष्ठा प्राप्ता या पश्यन्त्येव भवति । यथाजननं सर्वमेव पिबन् पश्यति येन दर्शनक्रियार्थोऽ-  
स्याः पूर्वमे । तद्वैद्याविद्योपशमात् परमार्थोऽसावित्याह—अक्षादिवृत्त्यादि । तदाज-  
प्रकाशनव्यापारः इन्द्रियाशालोचनानुभावोपयोगो नास्ति; देशकालजात्यवच्छेदश्च ।  
अत एव सर्वतो देशात् कालाच्च सः क्रमस्तदुपदेशमात्रं ब्रह्मतत्त्वं क्रमस्यैव संगार-  
रूपत्वात्, अतश्च सर्वयाकषाह्णकारवर्जितम्, नत परतरस्याभावात् परा काष्ठा  
प्राप्तं तत् स एव च परमार्थः = पश्यन्तीरूपः ॥५॥

रव्यातिरिक्तत्वाद् भोग्यरूपावस्थानिवृत्तौ पुनरपि केवलमवस्थानैवावगम्यत इत्याह—  
स एवेति । तावदिति—अत परा काष्ठा इत्यावृत्तिपक्षेण योजनात्मम् । तदा च  
यावत् परा काष्ठा प्राप्ता तावद्विज्ञानतत्त्वं पश्यन्तीमयमेव सर्वं विश्वं पश्यति । यावदि-  
त्यवधारणैः ततः परा काष्ठा पश्यन्त्येव भवतीत्यर्थः । काष्ठेति—भोग्यप्रवृत्तिरहिता ।  
अविद्यालक्षणं तदवस्थाकालं भोक्तृकालकालं संगमार्थं जलमुपाय तदनुपान्नेष च  
गुह्यमपि परमात्मलक्षणं सर्वाजगुताय परमोप इत्याह—परमार्थोऽसावित्यादि ।  
हीनम्—सर्वतोऽवच्छेदविरहात् । आकारेति—गालशास्त्राकारेण, नियतस्वरूपत्व-  
म्यादिना गृहीतत्वात् । तत्त्वेति—एवकारो विवक्तव्यः, स इत्यनन्तरं योज्यः ।  
देशकालेति—देशकालादयः गुणा अपेक्षिते देशकालादिशून्यकम्, तेषामपि तदनति-  
रिक्तवृत्तिरूपत्वात् एव तून्तो देशकालजात्यवच्छेदरहितैर्युक्तम् । क्रमवदेति—क्रम  
एव संगारः, तेन तदान्मत्वेऽपि क्रमाभावाद् तच्छून्यत्वम् । परतरस्य = अन्तरस्य =  
अधिकस्य ।

स एवेति—अपेक्षानीमादौ पारमार्थिकं पश्यन्तीरूपस्यामुक्त्वा, तदनन्तरं जीवपर-  
मात्मपरमितीनिमित्तस्य, पुनस्तद्व्यपारक्रमेण व्यावहारिकी संगारमिति प्राह, येनायं

वही परमात्मा अस्यास के प्रत्यक्ष में अन्तिम अवस्था को प्राप्त कर समस्त  
विश्व का एक साथ दर्शन करने में समर्थ हो जाता है । ॥४॥

और उभय मनस उसके विषय में इन्द्रियों का व्यापार रक्त जाता है, देश काल  
की सीमा समाप्त हो जाती है, उाक्रम और उपसंहार, ग्राह्य और ग्राहक इत्यादि  
द्वन्द्व में रहित वह ब्रह्मतत्त्व पराकाष्ठा अर्थात् अन्तिम स्थिति को प्राप्त हो जाता है  
और वही अन्तिम तत्त्व अर्थात् पश्यन्तीरूप है ॥५॥

आस्ते विज्ञानरूपत्वे स शब्दोऽर्थविवक्षया ।  
 मध्यमा कथ्यते सैव बिन्दुनादमस्तक्रमात् ॥६॥  
 संप्राप्ता वक्त्रकुहरं कण्ठादिस्थानभागशः ।  
 वैखरी कथ्यते सैव वह्निर्वासनया क्रमात् ॥७॥

स एव च पुनरेवं भवतीत्याह—आस्त इति । स एव पश्यन्तीरूपः शब्दोऽर्थ-  
 प्रतिपादनेच्छारूपया विवक्षयोपलक्षिते मनोविज्ञानरूपत्वे आस्ते । सैव च मध्यमा  
 वाक् कथ्यते क्रमेण बिन्दुनादसंज्ञप्राणानवापानावृत्त्यानात् 'प्राणानवापानावृत्ते निव्यमेव  
 सर्वस्य तिष्ठति ।' इति ॥६॥

पुनरप्येवमान्त्वं इत्याह—संप्राप्तेति । अत्रानि बिन्दुनादमस्तक्रमात् सा पश्यन्ती  
 संप्राप्ता वक्त्रकुहरमिति योज्यम् । तदुक्तम्—

'प्राणो वर्णानभिष्यज्य वर्णेष्वेव प्रलीयते ।' (वा० प० १.११३) इति । ननो  
 वक्त्रोदरं प्राप्ता कण्ठादिस्थानभागेण विभक्तकारादिवर्णरूपा वैखरी कथ्यते ।

स्थानेषु विवृते वायी कृतवर्णपरिग्रहा ।

वैखरी वाक्प्रयोजकृणा प्राणवृत्तचित्रनना ॥ इति ।

पश्यन्तीणि वाह्यार्थवासनया अविद्यारूपया क्रमेण षट्पटाद्याकारविवृता सैव वाक्  
 चक्षुरादीनां ग्राह्यभावमाप्नोति ॥७॥

ग्राह्यग्राहकात्म्येण विवर्तमान आत्म इति स एवेत्याशङ्क्यापूर्वकम् । मनोविज्ञानरूपत्वं  
 इत्यनेन पश्यन्तीरूपस्य शब्दस्य वैवर्थाप्रतिपादनेच्छा विवक्षारूपा तदेव मनोविज्ञान-  
 रूपत्वम्, स एव पश्यन्त्यामर्शेदन्विता गत्यामणि क्रमोत्पत्तिः, सैवान्तःसंगत्यरूपा  
 मध्यमेति सूचितम् । आस्ते = स्थिति भवति । क्रमेणेति—तेन प्राणानवापानावृत्त्याना  
 एव क्रमाभावा इत्यर्थः । एका = पश्यन्तीरूपा सुषुम्णा । कण्ठादीति—

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरःकण्ठः शिरस्तथा ।

जिह्वामूलं च दन्ताश्च नाभिकोष्ठौ च तालु च ॥ (पा० जि० १३)

शब्दतत्त्वमिति—शब्दोपग्राह्यतया शब्दोपग्राहितया च शब्दतत्त्वम्, तथा हि—मर्थ-  
 प्रत्यय उपजायमानो नानुव्यञ्जितशब्दक उपजायते, तदुल्लेखविरहिणोऽज्ञासाधित-

वही पश्यन्तीरूप वाला आत्मतत्त्व जब अश्वेतोप कराने की इच्छा से प्रयुक्त होता  
 है तब मनोविज्ञान के रूप में वर्तमान वह प्राण और अपान वायु जिनका दूसरा  
 नाम क्रमशः बिन्दु और नाद है, के उल्लास से मध्यमावाक् कहलाता है ॥६॥

और फिर वही मुख में वर्तमान कण्ठ तालु आदि स्थानों में पहुँचकर जब  
 बाहरी पदार्थों को प्रकट करने की इच्छा से प्रयुक्त होता है तब षट् पट आदि  
 आकारों से परिचयित वही चक्षु आदि का विषय बन जाता है । ॥७॥

घटादिरूपैर्व्यावृत्ता गृह्यते चक्षुरादिना ।  
यस्मात्तैरुच्यते सद्भिरेवं वस्तुप्रवृत्तये ॥८॥  
“अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।  
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः” ॥९॥  
“न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते” ।  
“शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति” ॥१०॥

तथा ते प्राहुरित्याह—यस्मात्तैरिति । यस्मान् तैः = वैयाकरणैः सद्भिः =  
साधुभिर्मण्डैः एवम् = उक्तम् प्रणिपादितम्, पञ्चमीरूपं शब्दतत्त्वमक्षरमनाद्यन्तं  
ब्रह्म विवर्त्तमानभावेन विवर्त्तते = तदवस्थासामान्यमाच्छतिः असत्यविभक्तान्यस्यस्यो-  
पग्राहिना विवर्त्तते, तन्मात्रान् विवर्त्तते, यतः = विवर्त्तमानं, प्रक्रिया = भावभूत-  
भूतनादिविवर्त्तनार्थकम्—इति । तथा न न घटपादप्रत्ययो लोकव्यवहारोऽस्ति  
यो वाच्यशब्दानुगमवर्त्तितः । वाच्यतां विना न ब्रह्मतत्त्वप्रकाशोऽपि प्रकाशेत,  
‘सा हि प्रत्यवमर्शनी’ इति । तथैव भूते पञ्चमीरूपे शब्दाख्ये ब्रह्मणि यो

प्रकाशस्वभावस्य निविपयत्वात्, उदसीदुःखमित्यादिपरामर्शः भूतिवपुषि वेदने  
वेदनात्मकमेव न भवेत् । अतः शब्दान्मोक्षप्रभाषाप्रकाशस्वभावत्वात् सर्वप्रत्ययानां  
शब्दानुविद्ध्यर्थकत्वमिति सर्वं शब्दतत्त्वमिति निश्चयः । तत्रश्च शब्दतत्त्वमेवार्थभावेन  
विवर्त्तते । तथा हि—शब्दाख्यविशेषानुधेयकत्वस्योपविशेषाननुभवान् सर्वं निविकल्पकं  
नविकल्पकं वा ज्ञानं शब्दीणिष्टमव भावयति ? नोः नृशो गच्छति—इति ज्ञानि-  
गुणक्रियाज्जिच्छदविपयवर्त्तमानि प्रत्यये शब्दविशिष्ट एवार्थः परिरकुरतीति ।  
शब्दाख्यविशेषानुरक्तस्य तस्य विशेषस्य स्वस्य गृह्यः शब्दमेव दर्शयति । शब्दा-  
परिग्याग शब्दप्रकाशस्वरूपवैवानुभूत्यानुभवामांति कोऽपि विशेष्यः शब्दस्वरूप एवेति ।  
तदेवं शब्द एवार्थोपाकटः प्रतिनार्ताति व्यवनिष्ठते । दृष्टपाकटः शब्दः प्रकाशते तस्य  
पुण्यं प्रदर्शयन्तुमनुभवितुं चावयवस्याशब्द एव तथा तथा प्रतिभातीति शब्द-  
विवर्त्त एवार्थमर्थो नान्यः कश्चिदस्ति । अतश्च शब्दब्रह्मोदमेकमविशेषाधिदशित-  
विशिष्टमेकमविशेषमेव यथावस्थितस्वरूपं प्रकाशत इति स्थितम् । विवर्त्तते इति—  
शब्दब्रह्मोदमनाद्यविशेषागतोपपन्नमानमेवम्, अर्थभावेन विवर्त्तते; न तु वाचका-

इम प्रकार वस्तुओं के व्यवहार के लिए वैयाकरणों का यह कथन है कि आदि-  
अन्तरहित अक्षरशब्दतत्त्वरूप ब्रह्म समस्त संसार के पदार्थों के रूप में अतान्विक-  
भाव में परिणत होता रहता है और इसी में संसार का गृष्टिक्रम चलता है ।  
संसार के व्यवहार में कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं है जो वाचक शब्द के बिना भी  
निष्पात होता हो । फलतः वाच्यता के बिना ब्रह्मज्ञत्व का भी प्रकाश सम्भव नहीं

“अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहतक्रमा” ।  
 इत्यादिवाक्यरचनैस्तैरेवं प्रतिपादितम् ॥११॥  
 तद्विचाराय राद्धान्तः सम्प्रत्येष विधीयते ।  
 आदौ तावद्विद्वयत्वे स्थिता वाक् कर्मसंज्ञिते ॥१२॥

निष्णातः, तेन परं ब्रह्म अधिगमं भवतीति । तथा तच्च पश्यन्तीस्त्वं ब्राह्मग्राहक-  
 विभागक्रमरहितम्, अविभागा तु पश्यन्ती देशकालक्रमसंहारवती चेति, आदि-  
 ग्राह्यान् प्राक् प्रदक्षिणमध्यमार्गैर्लयादिवाक्यैरुक्तमिति ॥११॥

तदिदानीं विचार्यते इत्याह—तद्विचारायेति । वैयाकरणोक्तविचारार्थं मिद्धान्तो  
 ब्रह्ममाणो युक्तियुक्तत्वान् यः न परिनिष्ठा प्राप्स्यते । तथा चेत्याह—आदाति ।

अपि विभक्तं वाच्यमपि नाम तद्विद्वदिति; काव्यमपि एव वाच्यवानकविभागोऽ-  
 मविश्वेयं विद्यापाय इत्याश्रीयते । वाश्रूपाणां तु तन्त्रम्, सर्वत्र प्रत्यये तद्वनपायान् ।

अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहतक्रमा ।

स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायनी ॥

केवलं बुद्धनुपादानां क्रमरूपातुर्गतिनी ।

प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते ॥ इति ।

उपगच्छति = अङ्गीकरोति । शब्दादये = शब्दस्वरूपं ब्रह्मणि निष्णातः = अभ्यास-  
 प्रकर्षात् परमाराब्धः, तेन परं ब्रह्म अधिगतम् = स्वतोऽधिगतम्, भवति, न शब्द-  
 ब्रह्मपरब्रह्मणोर्भेद इत्यर्थः । यथोक्तम्—

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ।

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

इति । (ब्र० वि० उ० १०) निष्णातः = कृतान्वयाः । वैखर्यादीति—विश्वरः =  
 शरीरः, तत्र वर्तमाना ॥११॥

तद्विचारायेति—एवं स्वमिद्धान्तस्थापनार्थं शब्दाद्वैतब्रह्मवादमनुरूपं सत्तम्,  
 तत्र तु प्रथममेव तदनुपपत्तिः सूचिता—अथास्माकम्—इत्यादिना । अयुना  
 तत्तादृशमपि न युक्तियुक्तमित्येतदर्थमारम्भः । राद्धान्तः पूर्वप्रसिद्ध एव, न तु  
 स्वबुद्धिकोशलेनापूर्वतया कल्पित इत्यर्थः । यदि च न मिद्धान्तः स्वयमेव, तर्हि  
 तत्राक्षेप्तव्यनिर्गकर्तव्यायोगान् कृतमनेनेत्यत्र आह—विधीयते इति । पूर्वसिद्ध एव

है इसलिए शब्दब्रह्म में निष्णात व्यक्ति परमब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है ।  
 ‘पश्यन्ती वाणी विभागरहित तथा देशकाल के क्रम से रहित है ।’ इत्यादि वाक्यों  
 के द्वारा उन्होंने शब्दब्रह्माद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है ॥११॥

वैयाकरणों के उमी विषय पर विचार करने के लिए अब हम मिद्धान्त का



तस्यात्मता ब्रह्मता वा वक्तुं शक्या न साधुमिः ।  
इन्द्रियत्वेऽपि सामान्ये पाण्यादेर्ब्रह्मता न किम् ॥१३॥  
तत्र चेत् सूक्ष्मकलना सर्वत्र कलनाऽयतः ।  
अन्तःक्रान्ते ह्यवादेश्चेत् प्राणादेः किं न सत्यता ॥१४॥

प्रथमं तावद् वाचोयुक्तिरेवैवा विरुद्धा । तथा हि—वाक् स्थिताऽनिस्थूलकर्मन्द्रियत्वे,  
बुद्धीन्द्रियस्य बोधापर्योगोऽपि भवेत्, तस्य = पर्यन्तवर्तिन आत्मनो ब्रह्मतत्त्वस्य वा  
गम्बन्धी स्वभावो भवेत् । तस्मान् तैः पूर्ववत् साधुमिस्तद्रूपत्वं वक्तुं न शकाम् ॥१२॥

तस्या अविद्यायां स्थितत्वात् पाणिपादादिव्यावृत्त्या परमार्थत्वं न युज्यत  
इत्याह—इन्द्रियत्वेऽपीति । वाचः सूक्ष्मास्त्वन्तीक्यतया ब्रह्मताऽस्ति, तेनैवोक्तेति  
चेत्, ना सत्यरूपता सर्वत्र पाण्यादौ घटादावपि चाग्रे कल्पिष्यते ॥१३॥

अथ वाग्वादेशेऽपि ध्यानावस्थायां हृत्कण्ठतालुभूमध्यादिस्थानान्नराक्रमणान्  
वादिप्रतिपादमाशङ्क्यकल्पः, तन्निरसनेन परिश्रान्त्यत इत्यर्थः । युक्तियुक्तत्वादिति—  
युक्तियुक्तत्वमेव सिद्धान्तत्वम् । परिनिष्ठां = पर्यन्ततः स्थितिम् । आदाविति—  
इत्यमत्र गम्बन्धः—तस्यात्मनो ब्रह्मणो वा आत्मना = आत्मनो भावः = स्वभावः  
तथा ब्रह्मता तत्त्वभावो वक्तुं न शक्या । अत्र हेतुर्न तस्थूलकर्मन्द्रियरूपत्वात्तस्याः ।  
तत्र यद्वाचस्त्रैविध्यं तैरुक्तम् तदनुमत्यैकत्वमेव वैखरीरूपमाश्रित्य प्रत्याचष्टे—  
आदौ तावदित्यादिना । तथा हि—एकैव वैखरी वाक् वागिति लोके प्रसिद्धा,  
अन्यत्र ह्यन्ययोर्द्वयोरपि निरसनमुक्तम् ।

‘अन्तःसंज्ञयो वर्ण्यते मध्यमा वाक् सेयं बुद्धचात्मा नैव वाचः प्रभेदः ।

बुद्धिर्वाच्यं वा वाचकं बोलिलवन्ती रूपं नात्मायं बोधभावं जहाति ॥” तथा

“पश्यन्तीति तु निर्विकल्पकमतेर्नामान्तरं कल्पितम् ।

विज्ञानस्य हि न प्रकाशवपुषो वाग्रूपना शाश्वती ॥” इति ।

प्रारम्भ किया जाता है । सबसे पहली बात यह है कि वाणी कर्मेन्द्रिय है, वह  
अनिस्थूल है । कोई भी बुद्धिमान् उसे आत्मा या ब्रह्म नहीं कह सकता ॥१२॥

इसके अतिरिक्त जो इन्द्रियत्व वाणी में है वही हाथ पैर आदि में भी है ।  
फिर वे हाथ आदि भी ब्रह्म क्यों नहीं होंगे ? यदि यह कहिये कि वैखरी के अति-  
रिक्त पश्यन्ती अत्यन्तसूक्ष्म है इस कारण वह ब्रह्म है ? तो सूक्ष्मरूप में पारमार्थिक  
सत्यता पाणि पाद घट पट सबमें है, यह हम आगे चलकर प्रतिपादित करेंगे,  
फिर वे सभी ब्रह्म हो सकते हैं ॥१३॥

यदि यह कहा जाय कि वाणी तो केवल व्यवहारार्थ एक नाम मात्र है ।  
चूंकि हृदय भ्रूमध्य तालु आदि स्थानों में सूक्ष्मरूप से आक्रमण करने के कारण

सर्वस्यान्तःपरामर्शपूर्णताऽस्ति प्रवर्तने ।  
अत्रोपासनया सिद्धिर्देवतायोगितेति चेत् ॥१५॥

तस्या उत्कर्षः, न तु पाण्यादेरेवमस्तीत्याह—अन्त इति । प्राणापानममानोदानादेरपि  
हृदायाक्रमणान् लक्ष्यतां स्यात् । सर्वस्य चार्थस्य प्रवृत्तिकालेऽन्तःपरामर्शोऽस्ति ।  
नहि पृथग्व्यभिमानावस्थास्वा शब्दस्यैव शब्दार्थस्यापि न परामर्शः केवलमभेदेनेति  
सर्वं तथा स्यात् ॥१४॥

अथ वाचः सिद्धिप्रदत्वादिनोत्कर्ष इत्याह—अत्रोपासनयेति । ये वै वाच-  
मुपासन्ते, तेषां तद्विदां सिद्धिरुक्ता, वागीश्वरी चाभिष्टानुदेवता तथास्तीति सा,  
मत्वा, उच्येत इति न, योगशास्त्रादिषु अभिष्टानुदेवताः । कर्णानां महाभूतानां च  
धारणाववाद् मिथ्योऽपि । ततस्तत्रापि प्रसङ्गः ॥१५॥

वाचोयुक्तिः—ब्रह्मत्वनिष्पणात्मिका । तस्याः = वाचः । अयमत्र भावः—यदि वाचः  
पाण्यादिनामान्यत्वेन वर्तमानाया ब्रह्मता, तदा तत्र किमाश्रित्येतान्यत्र कथं नेति ?  
यदि तद्व्यावृत्त्या विशेषरूपत्वेन, तदपि नेत्याह—परमार्थत्वं न युज्यते इति ।  
सूक्ष्मकलनेति—तत्रात्मना ब्रह्मता वा । पाण्यादाविति—तत्रैतदुक्तं भवति—  
किमिति तत्रैव ब्रह्मता ? न पाण्यादौ ? तापि घटादौ ? सा हि सत्यता सर्वत्रा-  
स्तीत्यतः किमत्रैव हेतुः ?—इत्यर्थः ॥१३॥

अथेति—कमन्द्रियगमानत्वेऽपि चास्याः शक्तित्वादौदृक्त्वं पाण्यादेस्तदभावात्ते-  
द्वैवमित्याशयेनाह—अथेति । शब्दार्थस्यापीति—यथा तत्र शब्दस्य परामर्शो-  
ऽप्येव, न नाम्नीति, तथा शब्दार्थस्याप्यस्त्येवैवैत्यर्थः ॥१४॥

अथेति—पुनरपि कमन्द्रियसाम्यतायामपि वाच एव ऐवमित्यादौदृक्कर्षः, न  
पाण्यादेरिति तथात्वमस्याः, न परस्वेत्याशङ्कापूर्वकं प्रत्याचष्टे—अथेति । प्रसङ्गः =  
सम्प्रदायपत्तिः । मन्तव्यमिति—यतो भवन्मते तिलगोऽपि युक्तिमाधिते न कथं नतो-

वह ब्रह्म है क्योंकि पाणि आदि में यह उत्कर्ष नहीं है ? तो हम वह पूछते हैं कि  
फिर प्राण आदि पांच वायु भी हृदय आदि में सूक्ष्मरूप में आक्रमण करते रहते  
हैं फिर वे सब भी ब्रह्म क्यों नहीं ? क्योंकि प्रवृत्तिकाल में सभी वायु का अन्दर-  
अन्दर परामर्श होता है ॥१४॥

जो वाणी की उपासना करते हैं उनको वाणी की अभिष्टानु देवता वागीश्वरी  
सिद्धि प्रदान करती है ऐसा कहना भी उचित नहीं । क्योंकि योगशास्त्र में भस्म  
इन्द्रियों के महाभूतों के धारण करने से सबकी अभिष्टानु देवतायें हैं । फिर  
सबके सब ब्रह्म होने लगेंगे ॥१५॥

योगशास्त्रेषु सर्वेषां देवतासिद्धियोगिता ।

तस्माद्विरण्यगर्भादियोगसांख्येतिहासताम् ॥१६॥

विहाय शास्त्ररचना जातुचिन्न विराजते ।

पाण्यादीन्द्रियवन्नेतद् ब्रह्म वागिन्द्रियं भवेत् ॥१७॥

अथोच्यते प्रक्रियाऽसौ सांख्यादिरचिता न सा ।

तत्त्वोन्मेषप्रसरणे भवेत् सम्बन्धभागिनी ॥१८॥

विमर्शानुभवेनैव यथा वाक् प्रथमं श्रिता ।

लक्ष्यते बोधरूपेण न तथा चरणादिकम् ॥१९॥

तेनैतन्मन्त्रमित्याह—तस्मादिषि । तस्माद् ब्रह्मादिप्रणीतयोगशास्त्रसांख्या-  
नामितिहासस्वरूपं तदुक्तमर्थं न प्रपञ्चयन् शास्त्रं कथंम्, तदितिहासमतां विहाय  
स्वमनीषिकया शास्त्ररचना न शोभते । एवं च यथा पाण्यादीन्द्रियमनादिसांख्य-  
सिद्धत्वान्न ब्रह्मरूपेण युक्तं विरच्यते, अपि तु तदनुगारेणैव तथा वागपि ॥१७॥

सांख्यादेरपि कथमनादित्वमित्याह—अथोच्यत इति । सांख्यादिमिद्वान्तोप-  
रचना वाक्कर्मैन्द्रियमिति प्रणेनुमस्त्रनिष्कर्षणतामात्रमेतत्, न तु परमार्थमवित्पर्या-  
लोचनस्पर्शोऽस्ति । न च प्रक्रिया परमार्थविचारेषु सम्बद्धा नाति । तथा हि—

पपत्तिरूपलभ्यते, तस्माद् भवश्रुत्येवमव्यक्तव्यमादत्तव्यम्—इत्यर्थः । शास्त्ररचना—  
तत्रप्रपञ्चरूपा । शास्त्रमिति—तेन तस्यैव तदुक्तस्य, विविधा सविस्तरं कथनं  
शास्त्रमित्यर्थः । ततोऽपि किमित्याह—एवं चेति । विरच्यते—तवात्मनस्तस्यैन्द्रियत्वेन  
कथितत्वात् । वागपीति—वागपि ब्रह्मरूपतया न विरचनीयेत्यर्थः ॥१७॥

ननु चास्तु ब्रह्मप्रणीतत्वाद् वेदस्य प्रामाण्यम्, तत्र च वागग्रहोति कथितम्,  
तत्रश्च कथमत्र विरोधः ? सांख्यादेः पुनः कथिअदिप्रणीतत्वादयमर्थोपशास्त्रवदादि-  
मन्त्रमेव, कथं तदुक्तं प्रामाण्यं भवेत् ? तत्र हि सर्वत्र वाच उन्द्रियत्वमेव समर्थित-  
मिन्द्रियाशङ्का गर्भोक्त्याह—सांख्यादेरपीति ॥१८॥

यद्यपि 'शास्त्रतो गुप्तः स्वतः ? इत्यास्ते क्रिया निश्चयमन्त्राणि स्वत इत्यस्य  
तयोपमायभूतत्वात् तत्रैव तस्यैव प्रधानभूतत्वात् तेनैव कथनीयमित्याह—विमर्शानु-

इमलिप ब्रह्मा आदि के द्वारा प्रणीत योग सांख्य को ऐतिहासिक परम्परा में  
विहित शास्त्ररचना को छोड़कर आपकी अपनी बुद्धि से शास्त्ररचना उचित नहीं  
है । और इस प्रकार जब उन शास्त्रों में पाणि आदि उन्द्रिय को ब्रह्म नहीं माना  
गया है तो आप वागिन्द्रिय को ब्रह्म मत मानिये ॥१६-१७॥

यदि आप यह कहें कि सांख्य आदि सिद्धान्तों में यह कथन, कि वाणी कर्मे-  
न्द्रिय है कल्पनामात्र है, न कि वस्तुतः सत्य कथन है, क्योंकि परमनस्त्व का अर्थ



इति चेच्चर्च्यतां तावत् पश्यन्ती युज्यते यथा ।

वर्तमानसमारूढा क्रिया पश्यन्त्युदाहृता ॥२०॥

दृशिः सकर्मको धातुः किं पश्यन्तीति कथ्यताम् ।

यद्याभासान् बहिर्भूतांस्तत्सतोऽप्यसतोऽपि वा ॥२१॥

सर्वेऽर्थीः संविदि प्रतिष्ठामुपयान्ति, अमंविदिता अगन्त एव । संविच्च विमर्शशून्या संविदेव न भवति । ततश्च समस्ततत्त्वमारस्वरूपोऽयं विमर्शोऽनुभूयमानोऽभिप्रायमय एवेति वाचा सह का स्पर्धा पाण्यादीनाम् । बोधमयो हि अर्थवत्ताप्रारम्भः । बोधश्च विमर्शात्मा प्रथमं वाचैवानुविद्धो न तु पाणिपादादिनेति चेत् तदेवमपि बोधो विमर्शात्मा वाङ्मय एवेति । आस्तामन्यदेतन्, पश्यन्ती तावत् स्वरूपाविधानाभ्यां विचार्यतां यथा पश्यन्ती भवति पश्यन्तीत्वेन युक्तैवेत्यर्थः ॥१९॥

स्वरूपमभिधानं च तस्याश्चर्चयितुमाह—वर्तमानेति । वर्तमानकारारूढा दर्शनक्रिया हि वागात्मककर्तृनिष्ठा पश्यन्ती शब्दस्यार्थः । दृशिश्चधातुः सकर्मकः = सकर्मकक्रिय इति दृश्यमत्र कर्म निरूपणीयम् ॥२०॥

तदेव पर्यायोच्यन्नाह—यद्याभासानिति । यद्याभासान् = घटपटादिरूपान् इद-  
न्त्या पश्यति, तन् तेषां सत्यागत्वताविचारे सत्यता तावदमत्यविभक्तान्वरूपोपग्राहि-

भवेत्यादि । ननु तत्रापि योय एव संविन् परमार्थोऽर्थवत्ताप्रारम्भरूपत्वादस्यालमनेन वागात्मनेति तत्राह—तदेवमिति । अन्यदेतदिनि—अन्यदगन्तान्तरमित्यर्थः ॥१९॥

क्रियायाः कर्तृरुद्धिता निष्ठैवान्यथा स्वभावकथने तद्वतोऽनुदेशो दोषावह इति समर्थयति—वागात्मकेति । सकर्मक इति—तदेवमत्र कर्तृक्रियाकर्मैति त्रिधा

उन्मेष होता है तो उसका स्वभाव, जिसका हुगरा नाम, विमर्श है, उसे अनुभूत होने लगता है और यह अनुभूतमात्र विमर्श वाणी के रूप में स्फुटित होता है इस प्रकार यह विमर्शानुभव ही प्रथमावाक् है, हाथ पैर आदि वैसे नहीं हैं, इस प्रकार वागिन्द्रिय परमवत्त्व है ? तो हम कहते हैं कि आप वैयाकरण जिसको पश्यन्ती कहते हैं वह पश्यन्तीत्व में युक्त होनी चाहिए ॥१८-१९॥

अर्थात् पश्यन्ती पद वर्तमानकालिक क्रिया को बताता है और दृश धातु सकर्मक है तो यह बताइये कि इस पश्यन्ती धातु का कर्म क्या है ? ॥२०॥

यदि बाहरी घट पट आदि आभासमान पदार्थ कर्म है तो वे पदार्थ सत् हैं ? या अगत् ? यदि सत्य है तो आपका उन्हें विवर्त कहने का निन्दान्वय खण्डित होगा । क्योंकि दर्शन तो अदृष्ट का होता है । जो सत्य है वह अदृष्ट कैसे ? इस प्रकार उसका दर्शन ही नहीं होगा और यदि वे पदार्थ असत्य हैं तो असत्य पदार्थों का दर्शन कराने वाली पश्यन्ती सत्य कैसे होगी ॥२१॥



सत्यत्वे दर्शनभ्रंशो ह्यसत्ये सत्यता कथम् ।  
 गृह्णात्ययाऽविद्यया वा साऽप्यस्याः कथमास्थिता ॥२२॥  
 सत्या ह्यसावसत्या वा सत्यत्वे दर्शनक्षतिः ।  
 असत्ययाऽपि सत्यस्य सम्बन्धोऽतीव दुर्घटः ॥२३॥  
 असत्या यदि पश्यन्ती पश्यन्ती ब्रह्म चित्रता ।  
 बहिर्भावान् विमृज्यादौ पश्चात् पश्यति साऽथ किम् ॥२४॥

तात्मकं विवर्तमिच्छद्भिः दर्शनभ्रंशमवाप्तं वाच्चा । अमत्ये पुनर्दृश्ये नामत्वार्थदर्शित्वे  
 पश्यन्त्याः सत्यतायोगः ॥२१॥

अविद्यावादादोक्तिं न युक्तं इत्याह—गृह्णात्यथेति । अनाद्यविद्यावत्तादपि अगत्य-  
 दर्शने मिथ्यात्वं तावदस्याः स्थितम् । अविद्यायाऽपि न सम्बन्धो न तस्या घटने ।  
 अविद्या हि अविद्यात्वाभ्युपगमादेवात्मा, न चागत्यया सम्बन्धो रूपश्लेषमनो  
 युक्तः ॥२३॥

न च पश्यन्त्यप्यसत्या युक्तेतदाह—असत्येति । पश्यन्ती यद्यसत्या तन् पश्यन्ती  
 ब्रह्मतत्त्वमित्याश्चर्यमनाऽम्यार्थस्य । अन्यत्वाह—बहिर्भावानिति । किं तत्त्वा-  
 न्तराभावाद् विश्वे भावाः पश्यन्त्यैव सृष्ट्याः, ताश्च गृह्णा कथमन्यत्वात् ना  
 पश्चान् पश्यति, एतदेव हि युक्तम् ? तत्र सा सत्या सती असत्त्वानि रूपाणि  
 गृह्णीत्येव तु अगम्यवादाश्चर्यम्, महाकार्यवादोपपत्तेः कारणस्य कार्यव्यतिरेकेणा-  
 सत्यताप्राप्तिः । असत्त्वमगंज्यममञ्जुकारित्वेन सात्त्विकप्रसङ्गान् ॥२४॥

यस्यैवस्थितम् । तद्वेपेति = किं कर्मेति । बहिर्भूतान् = विवर्तनपतया बहिरिष्टान् ।  
 दर्शनभ्रंशः = स्वमतप्रच्युतिः ॥२२॥

पश्चात् = सृष्टिममनन्तरम् । युक्तमिति—किनित्येतेन सम्बन्धः । महाकार्यवादोप-  
 पत्तेः—अगत्यः कारणत्वे सर्वस्मान् सर्वोत्पत्तिप्रसङ्गः ॥२४॥

यदि यह कहे कि अनादि अविद्या के कारण यह पश्यन्ती अमत्य पदार्थों का  
 अमत्य दर्शन करती है तो यह पश्यन्ती सत्य है ? या असत्य ? यदि सत्य है तो भी  
 दर्शन असम्भव है क्योंकि सत्य का अमत्य से सम्बन्ध असम्भव है ॥२२-२३॥

और यदि वह असत्य है तो अमत्य पश्यन्ती ब्रह्मतत्त्व है यह कथन आश्चर्य-  
 युक्त है । इसके अनिरिक्त यह बताइये कि क्या वह पश्यन्ती पहले बाहरी पदार्थों  
 की रचना करती है और फिर उनको देखती है ? यदि ऐसा है तो पश्यन्ती सत्य  
 होने हुए अमत्य पदार्थों की रचना करती है यह विचित्र बात है ॥२४॥

सत्या सृजत्यसत्यानि विचित्रमभिधीयते ।

ज्ञातान् सृजत्यसौ तात्वा नेति ज्ञातेष्वदर्शनम् ॥२५॥

अज्ञातेषु न सृष्टिः स्यादिति क्रीडादिकं न च ।

तानि दृष्ट्वाऽनुसृजति सृष्ट्वा वाऽनुप्रपश्यति ॥२६॥

पश्यन्त्याः सत्यस्यावास्तत्सत्यत्वे न दर्शनम् ।

असत्ये सत्यदृष्ट्यैव पश्यन्त्यां मलितात्मता ॥२७॥

न च क्रीडायां वाञ्छया वा सृष्टिरित्याह—ज्ञातानिति । सृष्टिश्च ज्ञानपूर्वा-  
याम् ? उताज्ञातानाम् ? तत्र सृष्टेः पूर्वमलक्ष्यस्वभाव्ये कस्य दर्शनम् ? अतोऽग-  
दृष्टानि सृजेत्, तज् ज्ञानेषु सृष्टिरिति पक्षो नोपायः । अथवाऽज्ञानेन सृष्टिरिति न भवता  
दर्शनं नाभ्युपगम इत्यर्थः । अज्ञानेनैव बुद्धिमतामबुद्धिपूर्वा वा कथं सृष्टिः ?  
निष्प्रयोजना च कथं स्यात् ? क्रीडैव सृष्टुः सृष्टिर्वाभाव्यं वेति हि भवता  
नेष्टम् ॥२५॥

पुनरिह कल्पयन्नाह—ज्ञानीति । तानि = तानि वस्तूनि, दृष्ट्वा = ज्ञात्वा वा  
सृजति, दृष्ट्वा वा प्रपश्यति इत्येतद्व्याऽस्तु । अनुपपन्नोऽपि पञ्चादर्थः मनु ज्ञादो वा

तत्र = पक्षद्वयमध्ये ।

दृष्ट्वा = अवबुध्य । उभयमपि मिथ्यात्वेन कथयति—पश्यन्त्या इति । दर्शनम् =  
अवधारितायापानम् । कल्पयन्तान् = समर्थयन्तान् । यथाऽस्तु = स्वल्पेण स्वीकृतम् ।  
'ज्ञातान् सृजत्यसौ तान् वा' इति पूर्वमेव तत्किमनप्रकारस्योक्तत्वात् । अनुपपन्नोऽ-  
वेति—तानि तात्वादी ज्ञात्वा = स्वधिममोक्तकल्प्य, अनु = पश्चात् सृजतीत्यर्थः ।  
तनु च 'अनामयं पात्वा गापति' इत्यादौ यथाऽऽदौ तत्पानं ततश्च गानम् पूर्वसाध-

यदि आप वह कहते हैं कि पश्यन्ती पहले ज्ञान लेती है तब पदार्थों की सृष्टि  
करती है ? तो यह बताइये कि ज्ञान पदार्थों की सृष्टि करती है वा अज्ञान की ?  
यदि अज्ञान की सृष्टि करता है तो अज्ञानस्वरूप पदार्थों का सर्जन कैसा ? और  
ज्ञानस्वरूप पदार्थों का दर्शन भी निष्प्रयोजन है । और आप वह तो मानते  
नहीं कि क्रीडा केवल क्रीडा के लिए सृष्टि करता है ॥२५॥

इसके अनिश्चित चाहें वह देखकर सृष्टि करती है वा सृष्टि करके देखती है  
आपका पश्यन्ता वाणी का पश्यन्तीत्व ही अयुक्त है । क्योंकि यदि वह सत्य है तो  
उसका दर्शन नहीं हो सकता और यदि असत्य है तो सत्य की दृष्टि से वह  
मलिन है । इसके अनिश्चित क्रीडाव्यर्थक न होने से और अन्य प्रयोजन भी न  
होने से वह सत्य या असत्य पदार्थों की सर्जना कैसे करती है यह विचार  
कीजिये ॥२६-२७॥

असत्यान् सत्यरूपान्वा कथं सृजति कल्प्यताम् ।

अविद्याऽस्याः स्वधर्मः किं परधर्मोऽथवा भवेत् ॥२८॥

स्वधर्मत्वेऽस्या मालिन्यं परधर्मोऽपि कस्य सा ।

परस्य शास्त्रानिष्टस्य स्वतन्त्रा वा तथाऽपि सा ॥२९॥

विनर्कः । पश्यन्तीत्यमेव न युक्तम् । तथा हि सत्यरूपा सा, नद्दृश्याना च सत्यत्वे न दर्शने नामनुपगमः, द्वैतप्रसङ्गान् । अथ तेषामसत्यत्वम् ? ततो यथैव सत्यसर्गं सक्ति-  
नता, तद्भेदमवगृहीतं मुख्यैव भ्रान्तिरूपता । पुनरपि चास्तत्त्वानर्थान् सत्यान् वा पश्यन्ती क्रीडाद्यभावेऽपि केन प्रयोजनप्रकारेण सृजति ?—इति विमुच्यताम् ॥२७॥

असत्यसत्यसर्गदर्शने प्रागुक्तेऽप्यविद्यापर्यालोचनाप्रसङ्गदानाय पुनर्विचारः पते  
प्रयोजनं विनैवाविद्याकृतः सर्ग इति पर्यालोचयन्नाह—अविद्याऽस्या इति । अविद्या  
किं परधर्म्याः स्वधर्मः ? उत परधर्मः ? स्वधर्मत्वे तस्या अविद्यास्वभावस्य  
मालिन्यं स्यात् ; परधर्मत्वे वा कस्य परधर्मस्य धर्मः ? ननुद्वयवादे ब्रह्मणः कश्चिदर्थः  
परोऽस्तीति शास्त्रेऽभीष्टः । अथाविद्या स्वतन्त्रा एव न तु कस्यचिदर्थभूता ?  
तथापि सा उच्छेदस्य स्वान्तर्वाह्येयोः स्यात् । स्वतन्त्रो हि केनाग्येन निवार्यते ?  
केन वा प्रवर्त्यते ? तथा हि स्वतन्त्र एव न स्यात् । अतः प्रवृत्ती स्वतन्त्रा निवृत्तिः  
सातकत्वात् कृत्रान्तर्त्वेनैव प्रतीयते, न तत्र पञ्चाच्छेदादिनोपयोगः, तत्रश्च  
मिथर्ममनुष्यव्यवहारः ?—इत्याशङ्क्याह—तु शब्दो वेति । वा शब्दः पश्चात्तरे । तु शब्दो  
विनर्कः । उभयकोट्यवयवस्यो विनर्कः । सत्त्वानिति—तत्रश्च न भ्रान्तिरूपता ॥२७॥

सर्ग इति—एतदेव अविद्याया अविद्यात्वं यदनुपेक्ष्यैव प्रयोजनं सृष्टिः ।  
पर्यालोचयन् = विवेचयन् । स्वधर्मः = धर्मः = स्वभावः, स्वभावश्च स्वभावितोऽ-  
व्यतिरिक्तः । अस्याः = पश्यन्त्याः । सा = अविद्या । पक्षद्वययोरनुपपन्नाह—  
परश्च तस्या नाम न कश्चादित्याह—शास्त्रानिष्टस्येति । शास्त्रानिष्टस्य = शास्त्रेऽ-

दुसरी बात यह है कि वह पश्यन्ती जिसे अविद्या ने सृष्टि करती है वह  
अविद्या उसका अपना धर्म है ? या किसी दूसरे का ? यदि उसका अपना धर्म है तो  
वह स्वयं मिलन है, फिर उसे आप सत्य कैसे कहते हैं ? यदि दूसरे का धर्म है  
तो किसका धर्म है ? क्योंकि अद्वैतवाद में ब्रह्म ने अतिरिक्त दूसरे पदार्थ की सत्ता  
माना नहीं जाती । यदि 'वह किसी का धर्म नहीं है बल्कि स्वतन्त्र है'—ऐसा आप  
कहते हैं तब तो उसका उच्छेद सम्भव नहीं ( और आप उसका उच्छेद मानते  
हैं ) क्योंकि स्वतन्त्र का निवारण कौन कर सकता है ? जो करेगा वही उसकी  
स्वतन्त्रता का बाधक होगा ॥२८-२९॥

स्वातन्त्र्याद् दुर्निवारैव स्वतन्त्रः केन वार्यते ।

तत्त्वान्यत्त्वैरवाच्या वा यद्यविद्याऽभिधीयते ॥३०॥

पश्यन्त्या लक्षिताऽसौ वा न वा यदि न लक्षिता ।

पश्यन्ती जाड्यमायाति लक्षिता तर्हि लक्षिता ॥३१॥

पुनरस्याः परकार्याऽपि स्यात् । तन्निवृत्तिकारणाभावमुखप्रेक्षिप्रवृत्तिकत्वेनाम्बान्ध्यापत्तेः ॥२९॥

अवाच्यत्वमविद्याया विमृशमाह—तत्त्वान्यत्त्वैरिति । वस्तुनि हि तत्त्वान्यत्त्व-  
नित्यत्वानित्यत्वादिनिर्बन्धुधर्मवर्ध्यानि । अयं तु पुनरविद्या निःस्वभावा कथं  
स्वभावव्रतया व्यपदेशार्हा स्यादिति चेत् ? तद्वस्तुभूता सा पश्यन्त्या दृष्टा ? न वा ?  
यदि न दृष्टा, तर्हि पश्यन्ती जाड्यमायाति = तदर्थवर्तनाभावादपश्यन्ती स्यादि-  
त्यर्थः । अथ तया दृष्टा, तत् दृष्ट्वोपलक्षितं वापर्यव्येकेनैव प्रतिभानन्वात् तदनु-  
गारितया वाच्याऽपि भवेदिति यावत् । तत्त्वान्यत्त्वैरिति बहुवचनं शोण्डार्थचिदि-  
न्यायेन ॥३१॥

ननिहितस्य । स्वतन्त्र इति—एतदेव हि स्वतन्त्रस्य स्वातन्त्र्यं नाम यदन्धेनानि-  
रात्तजम् । न ह्यहवबाह इति—अस्तु परो नाम, तथापि किम् ?—इत्यत आह—न हीति ।

तनु अन पदेमविद्या सत्त्वामन्वतदन्यत्वादिनाऽनिर्वचनीयेति कथ्यते ।  
यद्येतादृशविचारयोग्या स्यात्, तदा केनानिर्वाच्यत्वं स्यादयोग्यत्वे त्वनिर्वाच्यता  
मिद्वेनपि समर्थयति—अवाच्यत्वमिति । अविद्या हीयमवस्तुस्मा माया मिथ्या-  
वभास्यत्वावाभिधीयते । तत्त्वाग्रहणं यतोऽविद्या, अग्रहणं च नाम कथं वस्तु-  
धर्मविकल्पेन ? तदेतदाह—तत्त्वान्यत्त्वैरिति । अत्रावयवगतं बहुत्वमोक्ष बहुवचनं  
सत्त्वान्त्वान्त्वान्या नित्यत्वानित्यत्वव्यापकत्वाव्यापकत्वपरिग्रह इत्यर्थः । आवाच्या,  
अवस्तुपन्वात् । जाड्यमायाति—स्वभावप्रच्युतत्वात् । शोण्डेति—यत्तमी  
शोण्डैः ( पा० सू० २.१.४० ) अर्थर्त्वा पृथि च ( पा० सू० २.४.३१ ) इति  
पाणिनीये कथा यदुद्धतशयनं बहुत्वं लक्ष्यते । तथा शोण्डादय अर्थचिदय  
इति च ॥३१॥

यदि आप सह कहें कि तन्त्र अन्यत्त्व नित्यत्त्व अनित्यत्त्व आदि धर्मों में वस्तुओं  
का निर्वचन होना है अविद्या तो अवस्तु है उसका कोई स्वभाव नहीं है जिसमें  
उसको 'इदम्, इत्थम्' ऐसा कहा जाय ? तो सह बताइये कि पश्यन्ती ने उसे  
देखा है या नहीं ? यदि नहीं देखा तो उसका पश्यन्ती होना झूठा है; वह जड़ है ।  
आर यदि देखा है तो जिस अपरपार्थक्य के कारण उसे देखा गया है उसी अपर-  
पार्थक्य में वह वाच्य भी हो जायेगी इतिहास अवाच्य कहना असंगत है ॥३०-३१॥



अवाच्यत्वेन भवतां तस्या रूपं कुतो गतम् ।  
अलक्षितस्वरूपाया अविद्यात्वं कथं स्थितम् ॥३२॥  
भेदबुद्ध्यनुमानाच्चेत्लक्षिता तर्हि लक्षिता ।  
न जानुमानमिष्टं तेऽप्यवस्थेत्यादिदूषणात् ॥३३॥

अवाच्यत्वेनाप्यवधार्यता तस्याः स्यादित्याह—अवाच्यत्वेन हि । अलक्षितत्वे  
गति अवाच्यत्वेनापि तदीयं रूपं कुतः प्रमाणाद् भवतामवगतम् ? तस्याप्यलक्षितत्वात् ?  
अलक्षितस्वरूपत्वं नावाच्यत्वं यथाविद्यात्वमपि कथं व्यवस्थाप्यते ? ॥३२॥

अनुमानमिष्टतां कथयन्त्याह—भेदेति । भावभेदमिष्टकथयन्त्यानुमानाया तदाले-  
नाविद्या इति लक्षिता = अनुमाना, इत्यर्थः । एवं तर्हि लक्षितम्; तद्विषय-  
लक्षितत्वमादत्तेऽस्याः ? अवाच्यत्वं वा ? एवमापि न भिद्येत्याह—न चेति । न चापि  
भवतोऽनुमानं सम्यग्ज्ञानमिष्टम्—

अवस्थादेशकालानां भेदाद् भिन्नासु यत्किम् ।  
भावानामनुमानेन प्रमिद्धिरतिदुर्लभा ॥

(वा० प० १.३२) इति ।

संक्षेपेण—यत् 'यत् प्रमाणे' इति शब्दात् 'रूपं कथं जानायाः'  
इत्यादिवाचिण्यमात्रेण अवाच्यता 'निर्याति' (पा० सू० १.१.१८८) इत्यादिना  
क.प्रत्यये अवसामितं कर्तारि पठ्यते । अलक्षितत्वे इति—यत्किं यथाविधिबोधिस्या-  
वाच्यत्वमपि तस्या बोधते, तदलक्षितत्वे कथम् ? लक्षित एव तद्व्यपदेशोऽपि  
युक्तः । अलक्षितस्वरूपत्वे = नामस्वरूपयोर्द्वयोरेकलक्षितत्वे निरापः—इत्यर्थः ।  
कथम् = केनाप्यवधारणे ॥३२॥

अनुमानमिष्टतामिति—तनु कतेदमन्तं कुतः प्रमाणादिति ? अरित हि  
प्रत्यक्षतोऽलक्षितमनुमानं नाम प्रमाणम् । तथा हि तयोपपत्तेर्नालक्षिताना  
अपि कृतेऽनुमानं यथा, तथाऽक्रमेण तदुत्पत्तद्व्यवहारकत्वं तद्व्यवहारे भावभेदक्रमा-  
न्वयाऽनुमानाः तर्हि तद्व्यवहारानुमानेनाप्राप्तिरिति समर्थयति । भेदबुद्धीति—भेदज्ञानं

यदि आप ही अलक्षित ज्ञान अवाच्य मानते हैं तो यह बताइये कि आपने  
उसका रूप कैसे जाना ? यदि उसका स्वरूप अलक्षित है तो वह अविद्या कैसे ?  
क्योंकि वह वस्तु जिसका स्वभाव ज्ञेय न हो और जब तक उसका स्वभाव जाना न  
जाय तब तक वह अविद्या है, यह निश्चय कैसे होगा ? ॥३२॥

यदि यह कहिये कि अविद्या के बिना भेदज्ञान सम्भव नहीं; इसलिये भेद-  
ज्ञानान्वधानुपपत्त्या अविद्या की निधि होनी है ? तो भी अविद्या का स्वरूप यह  
दिया गया । इन प्रकार वह लक्षित होने से अवाच्य कहाँ चली ?

**सत्या वा स्यादसत्या वा न मध्यायाः समन्वयः ।**

हस्तस्पर्शादिवान्धेन विषमे पथि धावता ।

अनुमानप्रधानेन विनिपातो न दुर्लभः ॥

(वा० प० १.४२) इति ।

ज्ञान्यच्च वदतः । न हि वस्तुव्यवस्थापने यत्तत्तायां प्रत्यक्षात् न्यूनता तस्य स्यात् ।  
अज्ञत्तायां नु अप्रामाण्यमेव ॥२३॥

सत्या सति सत्ये साधुः सती वा स्यादविद्या, असत्या तद्विपरीता वेत्यर्थः ।

हि कुतोऽविद्यां विना संभवेदिति तद्विद्या सम्भवत्येव । तथात्वेन = तत्कारणतया ।  
एवम् = अनुमानकल्पनायामपि । ननु चास्तु तस्याः कार्याविस्थायां लक्षितत्वं यतो  
भावभेदानुपपन्नैव तत् कल्पितम्, कारणावस्थायां च तस्यामलक्षितत्वमेवेति मिद्वेऽपि  
तत्रालक्षितत्वे पूर्वोक्तमेव दूषणम् । लक्षितत्वेऽवाच्यत्वहानिरिति । यत्पुनरलक्षित-  
लक्षितत्वं नामानुमानकल्पितं तत्र—

“अथैवत्वं न चेज्जातं मुख्यैर्यस्य प्रयोजनैः ।

तस्यानुपपत्तिकेवाशा कुलज्ञानावलम्बनम् ॥” इति ।

नयेनानुमानस्यैव भवन्मतेऽनुपपत्तिना, येनार्थजरतीयन्नायेन लक्षितालक्षितत्वं मिद्वेच-  
दित्याह—एवमपीति ।

बहुकृत्वोऽपि वस्त्वात्मा तथेति परिनिश्चितः ।

देशकालादिभेदेन दृश्यते पुनरन्यथा ॥

तथा

येन प्रत्यक्षतो विश्वं पश्यन्ति हि भवादृशाः ।

किं दिव्यचक्षुषां तेषामनुमानप्रयोजनम् ॥

**मध्यमायाः = सदसदुभयात्मिकायाः ।**

अन्वयः च निषिद्धेऽस्याः सन्त्वमेव ब्रह्माद् भवेत् ।

सदसद्वचतिरिक्तो हि राशिरत्यन्तदुर्लभः ॥ इति ॥

उत्तर है कि अनुमान तो आप वैयाकरण को उष्ट्र नहीं है क्योंकि उसमें अक्षरशा  
इत्यादि दोष है—

[ अवस्था, देश, काल के भेद में शक्तियों के भिन्न होने के कारण अनुमान के  
द्वारा पदार्थों का निश्चय दुष्कर है । वा० प० १.३२ ]

[ जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति हाथ के स्पर्श की सहायता से ऊँच-नीच मांस  
में दीड़े तो उसका पतन अवश्यंभावी है उसी प्रकार अनुमान के द्वारा पदार्थों का  
निश्चय भी स्वल्प से शून्य नहीं है । वा० प० १.४२ ] ॥३३॥

विद्या न भवतीत्येवं तत्तुल्या काचिदापतेत् ॥३४॥

सत्येव यदि विद्यानामभावस्तिह शून्यता ।

शून्यया वाध्यते चित्रं पश्यन्ती दर्शनात्मिका ॥३५॥

न मध्यायाः सम्भवः सदसतोः परस्परभावस्त्वान् न तृतीयराशिसम्भवो यतः ।  
तथा हि इयमविद्या विद्या न भवति—इत्येवं विद्यापर्युदासेन समस्तविद्यात्मनया  
प्रथमाना न प्रतिषेधमात्रत्वा । अतश्च विद्यामयी काचिद् विद्यात्मिका स्यादविद्या  
यथैव । अतश्च नानिर्वाच्यत्वम्, नाप्यद्वयम् । विद्यानाम् = सम्यग्ज्ञानानाम् अभावः  
प्रमज्जप्रतिषेधोऽपि यदविद्या, नन् मा शून्यता निवृत्तिमात्रं न किञ्चिदिति यावत् ।  
ततश्च शून्यया नीरूपया पश्यन्ती नाम सम्यग्ज्ञानात्मिकाः पक्षो बाध्यत इति चित्रम् ।  
सम्यग्दर्शनबाधेनैव द्वैतभ्रान्तिः, अकिञ्चिदप्यस्य बाधनशक्त्यभावात् सम्भवत्येत-  
दित्यर्थः । पश्यन्ती च तैश्चर्यप्रत्यभिज्ञोक्त्यायेन शब्दनात्मिका परमेश्वरशक्तिरिष्यते

विद्येति—तत्त्वा आसत्त्वा वा इति पक्षद्वयमाशङ्क्य निरस्यति । विद्या नेत्या-  
दिना मत्तयापक्षम्, यदीनादिना असत्तयापक्षम् । प्रतिषेधपक्षमाश्रित्याह—तर्हीति ।  
पर्युदासेनेति—

प्राधान्यं तु विधेयं प्रतिषेधेऽप्रधानता ।

पर्युदासः स विज्ञेयः क्रियया सह यत्र नञ् ॥ इति

पर्युदासलक्षणम् । तथा चान्यत्र 'नञ्मुक्तं यत्, तदव्यतिरेकान्तद्वये संवृत्ते ।'  
यथा—अत्राप्रधान्य' इति वाक्ये ब्राह्मणस्तत्त्वान्तद्वयविपादनयन एवानी-  
यते, नाच्यो न गर्भ इति । प्रसज्येति—प्रतिषेधमात्रप्रधानः प्रमज्जप्रतिषेधः ।  
तथा चोक्तम्—

अप्राधान्यं विधेयं प्रतिषेधे प्रधानता ।

प्रमज्जप्रतिषेधोऽमी यत्रोत्तरपदेन नञ् ॥ इति ॥

तथा अथाद्धभोजो ब्राह्मणः = थाद्धे न भुङ्क्ते—इत्यर्थः । उक्तं च वृद्धैः—

चाहे वह अनिरा मत्त हो या असत्य, बीच की अर्थात् सदमदुभयात्मक नहीं  
हो सकती । क्योंकि मत् और असत् दोनों परस्पर विरुद्ध वचन हैं । यदि यह  
कहिये कि अविद्या का स्वरूप 'विद्या न भवति' है ? तो यह अवश्य मानना पड़ेगा  
कि इस अविद्या जैसी कोई चीज इस विश्व के रूप में फौरी हुई है वह सत्य है ।  
और इस प्रकार आपका अनिर्बचनीयवाद और अद्वयवाद खण्डित हो जाता है तथा  
यदि आप उसे विद्याओं का अभाव अर्थात् शून्य मानते हैं तो दर्शनात्मिका पश्यन्ती  
का भी उससे वाध होगा जो कि आपके सिद्धान्त के विपरीत है ॥३४-३५॥

पाण्यादेश्चेद्धराद्यात्मा वाचो वाध्वात्मता न किम् ।  
 सिन्धुशब्दादिवच्छब्दो न पश्यन्त्यादिके भवेत् ॥३६॥  
 अथ मध्यमया बाह्या भावा ग्राह्या ह्यविद्यया ।  
 तस्या एव हि संयोगो बुद्ध्या संकल्पनात्मना ॥३७॥

भारद्वाजः, ईश्वरोपगमप्रसङ्गात् । अपि तु सूक्ष्मो वाध्वाभेदेन स्थितो वाचकः शब्द  
 इत्येवं शब्दात्माऽर्थः ॥३६॥

इन्द्रियत्वाभावेऽपि पाण्यादि यथा पाथिवत्वात् परमार्थः तथा वायवी  
 वागपीत्याह—पाण्यादेरिति । न शब्दमात्रं पश्यन्तीमध्यमादौ स्थानुमुत्सहते,  
 समुद्रश्चोपादिरिव तथा तत्रादर्शनात् ॥३६॥

न पश्यन्त्याः सत्यभूताया अविद्यया बाधनम्, अपि तु मध्यमाया इत्याह—अथेति ।  
 मध्यमाख्यया वाचा बाह्यत्वेन भेदेनाभान्यमाना भावा अविद्यावशाद् ग्राह्याः ।

अभावे स्वल्पभावे च सादृश्ये च विपर्यये ।

कुत्सायामपि नञ् ज्ञेयो रिष्टादी च शुभोक्तिषु ॥ इति ॥

ईश्वरोपगमप्रसङ्गादिति—भवतां हि नेत्रोपगमः, अविद्यावादसंभवात् ॥३६॥

पाण्यादीति—इत्थं वाच इन्द्रियत्वमन्वेषणमथ परवादिमतं निरस्तम् । अथेदानीं  
 कारणानुगमतया तदेव निरस्यति—पाण्यादेरित्वादिना । पाण्यादेश्चेदिति—वरादि-  
 त्वत्वं पाण्यादेरात्मा न्यभावो न ब्रह्मत्वाच्चुपगम्यते, तथा वागपीति । वश्यन्त्या-  
 दिक इति—पश्यन्ती आदिः = प्रधानं न्येति, स्वार्थे कन् ॥ बाधनमिति—अविद्या-  
 कर्तृका वाचा न पश्यन्तीविषय इत्यर्थः । ततश्च न पश्यन्त्यां काचित् शक्तिः ।  
 अथेति—तदेवं पश्यन्त्यां न कथंचनापि ह्यविद्यायोग इति समञ्जितम् । द्वैतप्रथा चाभा-  
 गमाना कथं मिद्धा?—इत्यर्थतुरीयेन यथा द्वैतप्रथा मन्वसायामेवाभासते, ततोऽस्या  
 एव तृतीये न काचनानुपपत्तिर्नाम, तरयाः स्वल्पपदार्थोक्तत्वात्, अन्धाश्च स्यादमेव

यदि हस्तपाद आदि पदार्थों का आत्मा या स्वभाव पृथ्वी आदि है परमात्मा  
 या ब्रह्म नहीं; अर्थात् वे पाद आदि पृथ्व्युपपदानक हैं न कि ब्रह्मोपादानक, वा वाणों  
 का वाध्वात्मक क्यों नहीं मानते । उमे परमतत्त्व कैसे मानते है ? उनके अतिरिक्त  
 जिस प्रकार समुद्र मे जब्द की उत्पत्ति होती है अर्थात् समुद्र मे शब्द स्थित  
 है उगो प्रकार पश्यन्ती आदि मे शब्द की उत्पत्ति नहीं होती । इस प्रकार  
 पश्यन्ती परमतत्त्व नहीं है ॥३६॥

आप ( जैव ) पश्यन्ती को नहीं मानते न सही । मध्यमा को ही अविम तत्त्व  
 मानिये और अविद्या के कारण पृथक् आभासमान बाह्य पदार्थ मध्यमा तमक  
 वाणों से ग्राह्य होते है क्योंकि प्राण अपान आदि मर्तों में यही वाणी स्थित है



तत्रापि मध्यमा कस्य कार्यं पश्यन्त्यवस्थया ।

सा जन्या हेतुता केन शबलां जनयेदसौ ॥३८॥

तस्या एव संकल्पनात्मनाधीविनायरूपया बुद्ध्या सम्बन्धोऽन्तःकरणे प्राप्तापानपथे  
तस्या एवावस्थानात्, न तु पश्यन्त्याः ॥३७॥

एतदपि नेत्याह—तत्रापीति । तत्रापि = मध्यमाया बुद्धिपदे वेद्यवेदकद्वैताव-  
भाभिनि स्थिताया अधिष्टायोग इत्यन्वयपगमे, मध्यमा वाक् कदाचिद् भावान् =  
कार्यभावान्, 'वान् एव च पूर्वस्याः सा कार्या न्वान्' इति न्यायेनान्यकारणा-  
भावात् पश्यन्त्यवस्थयैव सा जन्या = प्राप्ता । एवं च गति केन हेतुता ता  
जन्यायां शबलां = भिन्नजात्यान्मृगिणाम्, अतौ गृह्यस्वभावा मती जनयेत् ? ॥३८॥

नञ्जन्मात्रादित्याह पूर्वज्ञानात्मकमात्रत्वेन—अथेत्यादि । बाह्याः = बाह्यत्वेन  
आत्म्यमानाः । अर्थात्स्वरूपदेहि—पश्यन्त्यां हि स्वरूपज्योतीरूपायां सर्वात्मना-  
पि तन्मय एवेत्यतो मध्यमायां पदार्थविनायरूपत्वेनास्तःसंज्ञाकारणवक्ष्यम-  
विद्यायोग इत्यर्थः । नत्विति—तदुत्तीर्णस्वरूपायाः ॥३७॥

उत्तं पश्यन्त्यवस्थयैव संकुचितेन प्रविवादिता मध्यमाकृत एवायमविद्यावाद  
इति गृहीतम्, तदग्रहणान् आह—एतदपि नेति । जन्या—व्यतिरिक्तकारणाभावात् ।  
मध्यमेति—अथेत्य वृत्तिः—मध्यमा वाक् कदाचित्कावभावात्मयोन्यान् कार्येव ।  
वन्किञ्चित् कदाचित्कावभावात्मयं नास्ति, तत्कार्यमपि नास्ति । अग्नि चेद्यं  
कदाचित्कावभावाभावा पश्यन्ती, न ततः कार्यमेति । मध्यमा पुनः कदाचित्का-  
वभावा, ततश्च कार्यमेत्यर्थः । अन्यकारणाभावात् = तद्विज्ञरपि हेतुत्वादाभ्यु-  
पगमानभिमतत्वात् । पश्यन्त्यवस्थयैव—न त्वविद्याया । प्राप्ता = भवदनविम-  
तावपि वृत्तिदेवादाता । छुत्तिताम् = कुतोपगमात् । गृह्यस्वभावेति—गृह्यस्वभावव-  
मेवात्राभेदे हेतुः ॥३८॥

और गृह्य के रूप में उनी वाणी का निश्चयान्तिका बुद्धि से सम्बन्ध होता है न  
कि पश्यन्ती का ॥३७॥

आप ( वैवाकरण ) का यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि मध्यमा, जिसे  
आप पश्यन्ती के रूप में वर्तमान मानते हैं, किन्तु कार्य है ? क्योंकि आप वैवाकरण  
मध्यमा को कार्य मानते हैं ? यदि यह कहिये कि उसे पश्यन्ती उत्पन्न करती है तो  
यह सम्भव नहीं । क्योंकि आपके मतानुसार पश्यन्ती गृह्यस्वभावा है और मध्यमा  
भेदवाहिका होने के कारण अविद्याशबल है । और चूँकि अग्ने में गृह्यस्वभाव ही  
हेतु होता है अतः आपके अनुसार मध्यमा पश्यन्ती से उत्पन्न नहीं हो सकती ॥३८॥

न हि तस्या निमित्तं वा कारणं समवायि वा ।

निमित्तत्वे पृथक्त्वं स्यात् समवाये तदात्मता ॥३९॥

तथाप्यविद्यया योगः पश्यन्त्यात्मानमेव चेत् ।

अन्धमूकं जगद्बाह्ये सर्वमेव भविष्यति ॥४०॥

न कथंचिन् तज्जननं युक्तमित्याह—न हीति । अतोऽप्यनुवर्तते । असौ = पश्यन्ती, तस्या निमित्तमात्रं कारणं विजातीयम्, नापि समवायिकारणम्, सजातीय-तयाविभागेन वा स्थितम्; निमित्तमात्रत्वे द्वैतापत्तिः, समवायित्वे तु क्षीयस्वेव दध्युपादानकारणत्वे सति उपादानोपादेयोरैकप्रवाहसंयोगे अभिन्नयोगक्षमता प्राप्ता, कालभेदेऽप्यन्यथातथात्वं न स्यात् । पटं प्रति तन्मूनामिव वा समवायित्वे पश्यन्ती-मध्यमयोस्तन्तुपटवदभिन्नात्मता, भेदेनाप्रथनान् ॥३९॥

ततश्च दोषमभिधाय द्वये पश्यन्तीत्वमप्यनुपास्यमित्याह—तथापीति । पश्यन्त्या मध्यमया सहैकयोगक्षमत्वेन ऐक्येन वा मध्यमाया इवाविद्यायोगदोषः शुद्धताहातेः । अथ शुद्धैव पश्यन्ती यतो न भेदेनार्थान् पश्यति अपि स्वात्मरूपान् ततो नाविद्यायोग-

न कथंचिदिति—इत्थं तत्कार्यता न कथंचन मध्यमाया युक्ता, तत्कार्यत्वे कारणमद्वयं कार्यमिति नीत्या विलक्षणस्वभावताजुपपत्तिः, तदकार्यत्वे कारणान्तरं कथनीयम्, न च तदिष्टम्, तदभावादेव, द्वैतापत्तिर्हि तथा स्यादिति । तस्याः = मध्यमायाः । समवायोति—पश्यन्ती । तद्वाच्यमाह—निमित्तोति । तस्याः = कार्यत्वेन पूर्वप्रक्रान्तायाः । निमित्तमात्रमिति—यत् कार्यनिद्धी ब्रह्मपकारकमनस्यद्वं च, तन्निमित्ताख्यं कारणं यथा पटोत्पत्तौ वेमादि । विजातीयम् = कार्येणामद्वयम् । द्वैतापत्तिरिति—कार्यकारणयोः पृथक् स्थितत्वान् । समवायित्वे इति—यत् कार्योत्पत्तौ नित्यमेव सम्बद्धं तन् समवायिकारणम् । यथा—जटापत्तौ मृत्तिका । योगक्षमता = स्वल्पेण स्थितियोगः, अर्थवत्तया स्थितिः क्षेमः । अन्यथातथात्वमितिद्वन्द्वान्ते

इस प्रकार पश्यन्ती न तो मध्यमा का निमित्त कारण हो सकती है और न समवायिकारण । क्योंकि यदि वह निमित्त कारण है तो उनका अस्तित्व मध्यमा से पृथक् होगा और द्वैतापत्ति हो जायेगी । यदि समवायिकारण है तो फिर दोनों अभिन्न हैं फिर आप पृथक् गत्ता कैसे स्वीकार करते हैं ? ॥३९॥

यदि दोनों का एक योगक्षेम या ऐक्य माना जाय ? तो या तो मध्यमा के समान पश्यन्ती को भी अविद्या से युक्त मानना पड़ेगा और इस प्रकार पश्यन्ती की शुद्धता लुप्त हो जायेगी; या अविद्या से रहित जैसे पश्यन्ती शुद्ध है उसी प्रकार मध्यमा को भी यदि शुद्ध मानें तो ऐसा मानने पर बाह्य जगत् में अन्यत्व मुख्य आदि हो जायेगा क्योंकि अविद्याशब्द पदार्थों का ही जान वा दर्शन होता है और

इन्द्रियादेर्मनोवृत्तेः सर्वस्या एव लोपिता ।  
पश्यन्ती किं शरीरेऽन्तर्बहिः सर्वत्र वा स्थिता ॥४१॥  
अन्तरव्यापिता तस्या बाह्ये किं मध्यमादिना ।  
प्रसरेन्नादविन्हादि सापेक्षा चेदनीश्वरी ॥४२॥

दोषस्तस्या इति ? एवं मति मध्यमाया अपि तदभेदान् तथात्वे बाह्ये भित्तेऽर्जुजाने  
अन्वम् = अजम्, अथवणाच्चोच्चाराद्यव्युत्पत्तेर्मकमपि सर्वमेव जगद् भविष्यति ।  
यदि स्वन्मताश्रयिण्यपि न तु इदानीमेवमस्ति इति प्रत्यक्षविरुद्धतामस्योपगम्याह—  
नक्षुरादीन्द्रियम् आदिः = प्रवर्तको यस्याः तस्या मनोवृत्तेः सर्वस्याश्चक्षुरादिसहिताया  
मित्रार्थविषयाया विरोपिता अनुपयोगिता च प्रत्यक्षविरुद्धाऽपि भविष्यति ॥४०॥

श्रूयमाणः शब्दः प्रत्येकमभिरामस्त्वय्यत इति शागनेनान्यथात्वं तथात्वं न स्यात् ।  
क्षाराद् दधनो नान्यथात्वं नापि तथात्वमित्यर्थः । तन्नुपपद्यदिति—तन्नुपपद्योरभयोरपि  
कार्योत्पादविधि न स्वस्यान्यथाभावोऽत्र । पूर्वत्र तु कार्योत्पत्तौ स्वस्यान्यथाभावः  
परिणामभावेनास्त्येवेत्यनयोविशेषः । द्वये = पूर्वोक्ते पक्षद्वयेऽपि ॥३९॥

तथापि = समवर्थात्त्वे । तथा च पश्यन्त्याः युद्धनाह्वानिः । यदि च पश्यन्त्याः  
युद्धत्वमेव तर्हि तेनापि प्रकारेण दोषमाह । भविष्यति—स्वन्मताश्रयणे । प्रत्यक्षबाधा-  
मस्यार्थस्याह—इन्द्रियादेरिति । जगद् भविष्यतीति—तदेवं पश्यन्तीमध्यमो-  
भयमुख्यगोणभावेन सम्बन्धो योज्यः । यदि तैवे पश्यन्तीमाहान्मयमेव पोम्फुरीति  
तत्त्वविद्याकालूपे भेदप्रणाममपि सर्वत्र तज्ज्योतिर्भावात् कथं व्यवहारोपपत्तिः ?

उन्हीं का वाग्व्यवहार भी होता है । उसके अनिर्गुण यह पामरापामरोभय-  
प्राप्ति है कि इन्द्रियों का मन के साथ मेल होने पर बाह्य पदार्थों की वृत्ति मन  
पर बनती है । यदि आप अविद्यामयलता को नहीं मानेंगे तो आपके मत में बाह्य  
पदार्थों की वृत्ति ही नहीं बनेगी, फलतः या तो सभी विषय अनुपयोगी हो जायेंगे  
या उनका लोप हो जायेगा ॥४०॥

और भी, यह बताना है कि आपकी पश्यन्ती शरीर के अन्दर स्थित है ? या  
बाह्य सर्वत्र स्थित है ? प्रथम पक्ष में उसकी सोसा हो गई फिर वह असीम तत्त्व  
कैसे ? द्वितीय पक्ष में 'अजम्' 'इदम्' करके जेय मध्यमा एवं वैशरी के विषयक्षेत्र  
में वह व्याप्त है तो फिर इन मध्यमा आदि की सत्ता का मानने में क्या  
लाभ ? ॥४१॥ - ५.३६

साथ ही यह पश्यन्ती जिसे आप सर्वव्यापक मानते हैं, यदि प्राण अपान रूप  
बिन्दु और नाद की अपेक्षा रखकर सृष्टि और प्रलय में प्रनारित होती है, तो यह  
न तो सर्वव्यापी होगी न अद्वितीय । इस प्रकार यह अनीश्वरी हो जायेगी ॥४२॥



प्रतिदेहं पृथक् किं सा सर्वत्रेक्येन वा स्थिता ।

नानात्वं तत्पृथक्त्वेन तदेकघातसमावृता ॥४३॥

पुनरन्यत् पर्यालोचयन्नाह—पश्यन्तीति । पश्यन्तीति शरीरान्तरहन्ताभूमौ, किं वा बहिरपीति सर्वत्र स्थिता ? पूर्वस्मिन् कल्पे परिमितत्वम्, द्वितीयस्मिन् मध्यमायां कक्षायामिदन्तावेष्टमथ्यामपि व्याप्यव्यक्तानां किं मध्यमावैश्वरीरूपवाक्प्रभेदेन ? पश्यन्ती अनुवर्तमाना प्राणापानरूपबिन्दुनादमायसा चेत् सर्वं द्वारयोः प्रभवेत्, तर्हि तथापि न व्यापिका नाप्यद्वया स्यात् । एतदगोचरत्वम् ॥४३॥

सा च पश्यन्ती प्रतिदेहं पृथक्त्वा वा स्यात् सर्वदेहोपेक्य वा । पृथक्त्वे बहुधा पश्यन्त्यः सन्, तत्रात्र नाद्वैतम् । ऐक्ये सति सर्वदेहितामेकपश्यन्तीयोगादेकवापि अथाविद्यामाहात्म्यात् पश्यन्ती स्वस्वमहोक्ता वरीवति, किन्तु मयामा ? तत्पश्यन्त्याः स्वस्वप्रच्युतेर्न तथात्वमित्युभयशार्जितं द्रष्टव्यम् । न त्विति—प्रत्यक्षावभासेऽव्यक्तव्यतिरिक्तम् । चक्षुरादीनि—चक्षुरादिना दृष्टमेव हि मनस्य सकल्पमोक्षदीकरोति । सर्वदेहा इति—‘कादीनि व्यक्तानि’ इतिवत् तत्पृथक्त्वज्ञानदुर्गोहितमाश्रयं न चक्षुरादीनि ग्रहणम् ॥४०॥

पुनरिति—इत्यमविद्यावादकनिरागपूर्वं मध्यमायातत्तत्पर्यत्वं निवर्त्य इदानीं पश्यन्तीमेव—

“अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहतक्रमा ।

स्वरूपज्योतिरेवान्तःसूक्ष्मा बाणनादनी ॥”

इति लक्षणं यदेतत्स्वरूपज्योतिरेवान्त इति भागद्वयम्, तत्र दोषोद्भावनायावतारयति—पुनरन्यदित्यादिना । मध्यमादिनेति—तस्यापि तत्स्वरूपत्वेनाप्रच्युतेः । कल्पे = प्रकारे । व्याप्यव्यक्तानादिति—अन्यत्राप्यनुसरणं व्याप्तिः । अनीश्वरीति—ननु मन्त्रमेवैतन्मध्यमादिष्वपि पश्यन्तीत्यतिरिक्ता इति, संज्ञापादिसापेक्षत्वात् पश्यन्त्या अपि परं मध्यमादिबोधेन, अत एवास्याः सापेक्षत्वाद्धेतोर्मध्यमेति निर्देशः न तु स्वरूपेण; पश्यन्त्यां तु स्वरूपेण स्फुटमस्त्येवेति शंकापूर्वं निरस्यति—अनीश्वरीत्यादिना ॥४२॥

समशब्देति—तत्त्वमेवैतदेकमेव परमार्थतः, समशब्दताभावश्च शरीरभेदेनेति भावः । स्थितिः = शास्वनियमः । स्फटिकस्येवेति—यथा स्फटिकरत्नं स्वस्वगत

वह पश्यन्ती प्रतिशरीरं भिन्नं है ? या नव शरीरों में एक ही है ? यदि प्रति-शरीरं भिन्न है तो अनेक पश्यन्ती माननी पड़ेगी और आपका अद्वैतवाद लुप्त हो जायगा । यदि सभी शरीरों में एक ही मानते हैं तो एक शरीर ने शब्द निकालने पर सभी शरीरों से अनायास ही शब्द निकलना चाहिये । पर ऐसा प्रत्यक्ष दृष्ट



शरीरैः प्रविभागश्चेत् तान्यसत्यानि ते स्थितिः ।  
अविभागेत्यादिकेन लक्षणेन सुलक्षिता ॥४४॥  
पश्यन्ती यदि वर्ण्येत लक्षणं तद्विलक्षणम् ।  
अविभागा कथं सा स्याद्यतः पश्यन्त्यसौ स्मृता ॥४५॥

वक्तुं तत्पूर्वकप्रयत्नप्रेरितप्रमाणमिह न स्थानोक्तिः शब्दविशेषो यः, स एव सर्वेष्वपि  
तुष्णोमानेनेष्वपि उच्चरितः स्यात् । अन्यथा क्वचित्तादृशकार्याकरणान् तस्य  
स्वभावभेदापत्तेरैव न स्यात् । अथैकत्वेऽपि शरीरोपाधयः प्रविभागः स्फटिक-  
स्येवेति ? नव, तान्यसत्यानि इति तत्र दागे व्यवस्था । न चामन्यमविच्छिद्रूपं  
क्वचिदुपयोगि भवतीति यावत् ॥४३॥

पश्यन्ती च—‘अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहतक्रमा ।’

उत्पादिता लक्षणेन सृष्टुं अव्याप्यतिव्याप्तिरिहारेण लक्षिता यद्युच्येत, तल्लक्षण-  
मेतद्विलक्षणमिति सोऽनमिदमुपहासः, यतो विलक्षणं लक्षणस्य यल्लक्षणं तद्विगमम् ।  
तदाह—अविभागेति । यत एव पश्यन्ती असौ विभक्तदृश्वार्थोन्मुखी स्मृता, ततः  
कथमविभागा स्यात् यता लक्षणलक्षणपदयोर्ज्ञान्यविरहः ? ॥४५॥

एकमपि तत्तद्भागोपरागेण भेदेनावभागे तथा पश्यन्त्यपीत्यर्थः । दर्शने इति—  
“विवर्तनेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।” ( बा० प० १.१ ) इति नयेन । ननु क  
एवमाह—पृथक्त्वे बह्वच इति ? ऐक्ये वा समजन्तता यतोऽविभागेऽपि पश्यन्ती, तथा  
च किमिदं पृथक्त्वं नाम, ऐक्यं नाम वेति । न कोऽपि दोषकण इति पूर्वपक्षप्रत्यव-  
स्थानपूर्वमाचष्टे—अविभागेत्यादि ॥४४॥

अव्याप्तीति—लक्षणस्य लक्ष्यैकदेशपतनमव्याप्तिः । अलक्ष्ये लक्षणपतनमति-  
व्याप्तिः । विलक्षणेति—विशिष्टलक्षमुपहासेन, तथा परमार्थतो विरुद्धलक्षणं तथा  
विलक्षणं लज्जावहमिति च ॥४५॥

नही होता । यदि यह कहिये कि एक होने पर भी जैसे एक ही स्फटिकमणि,  
दर्पण, तैल, जल आदि भिन्न-भिन्न आधारों में भिन्न-भिन्न एवं अनेक रूपों में  
अवभासमान हातो है उसी प्रकार एक ही पश्यन्ती आधारभेद के कारण भिन्न  
प्रतीत होती है ? तो आपके व्याकरणदर्शन में पदार्थ तो विवर्तरूप अर्थात् असत्य  
है, तो अस्तव अकिञ्चिद्रूप का कहीं उपयोग तो होता नहीं । इतने पर भी यदि  
आप पश्यन्ती का ‘अविभागा’ ‘सर्वतः संहतक्रमा’ इत्यादि लक्षणों में वर्णन करें तो  
यह तो विलक्षण अर्थात् लक्षणभूय तथा उपहमनीय है । ॥४३-४४॥

चूंकि आप इसे पश्यन्ती कहते हैं और पश्यन्ती का अर्थ है—पृथक्दृश्यमान अर्थ  
की और अभिमुखी । फिर वह अविभागा कैसे ? ॥४५॥

यानि पश्यति किं स्वाक्षरूपदिक्कालभागशः ।

अतथा यदि पश्यन्ती मिथ्या पश्यन्त्युदाहृता ॥४६॥

यथारूपेण पश्यन्ती निविभागा कथं भवेत् ।

भविष्यन्तं वर्त्तमानं कथं पश्यन्त्यागतम् ॥४७॥

तथा हि—स्वकेन स्वकेन रूपदिक्कालभागेन किं दृश्यवस्तुनि पश्यति यानि द्रष्टुं प्रवृत्ताः—इत्यध्याहारः । युक्तं चेन्न, यदि पुनर्यथा विपर्ययेण पश्यन्ती भवति, तन्मिथ्याज्ञानरूपा पश्यन्ती, अथवा मिथ्या पश्यन्त्युदाहृता पश्यन्तीत्यर्थः । अविभक्ता तु तदा स्याद् भिन्नदृश्यवस्त्वभावात् । पश्यन्तीत्वानुरोधान् यथाशक्तिरूपेण स्वरूपा-

यासीति—यदुक्तं लक्ष्यलक्षणपदयोर्द्विरहः, लक्षणपदं पश्यन्ती, लक्षणपदम-विभागेत्यादि । लक्षणं हि लक्ष्यमिद्वये प्रयुज्यते, तद्विरहान् प्रयुज्य विरोधावहम्, तदाह—यानि पश्यतीति । पश्यन्ती मकर्मकत्वाद्धि किञ्चिन्मोक्षिपत्वेव । तच्च कर्मरूपं दृश्यं यदि तद्दृश्यवस्तुस्वरूपतद्देशतत्कालभागमवयवमेव तर्हि तस्य दृश्यस्य सम्यग्ज्ञानरूपत्वान् भवदभ्युपगता पश्यन्ती युक्तैव; परन्तु तत्र लक्षणविभक्तः, तत्तद्-दृश्यदेशकालस्वरूपत्वेन विभागवत्तन्निविभागात् कथं सम्भवति ?—इत्यर्थः । लक्षण-व्यवस्थार्थं पुनराह—अतथेति । न स्वकस्वरूपदेशकालमहितानि वस्तूनि पश्यति चेन्न निविभागात्तद्वत्तदः किन्तु तत्तद्देशकालरहितमेवेति चेत् ? तर्हि लक्षणाविभक्त्यापि लक्ष्यस्यैवाम्भवात् तत्र । तथा हि स्वकस्वरूपदेशकालरहितं हि मिथ्याज्ञानं तद्-पादानात् सापि मिथ्येत्यर्थः ॥४६॥

यथारूपेण = पश्यन्तीति निवेदनात् । स्वकेन—न तत्तद्दृश्यस्य । युक्तमिति—सम्यग्ज्ञानस्यैव युक्तत्वात् । विपर्ययेण = न स्वकेन रूपदेशकालेन । तन्मिथ्येति—प्रथमे नियमे मिथ्येति पृथक् पदम्, द्वितीये नमुदायेन । न च द्वितीयस्य पश्यन्ती-

यह बताएँ कि जिन पदार्थों को वह पश्यन्ती देखती है उन्हें उनके रूप दिशा काल इत्यादि विभाग के साथ देखती होंगी न ? क्योंकि तभी तो उसका पश्यन्ती नाम सार्थक है नहीं तो वह मिथ्या पश्यन्ती हो जायगी और परमनन्त नहीं रहेगी ? लेकिन यदि रूप आदि विभाग के साथ उन पदार्थों को देखती है तो उसे आप अविभागा, कैसे कहने हैं क्योंकि वह तो विभक्त दृश्य वस्तुओं में युक्त हो गयी ? ॥४६३॥

साथ ही जो पदार्थ अनागत हैं उन्हें वर्त्तमान रूप में वह कैसे देखती है ? क्योंकि भिन्न देश काल वाले पदार्थों का भिन्न देश कालों में दर्शन नहीं होता और आप उसे सर्वदर्शनी मानते हैं, यह कैसे ? ॥४७३॥

अन्यदिग्देशेनान्यदिग्देशे सत्यदर्शनम् ।  
अथ साधारणं ज्ञानं तादृक् किञ्चन पश्यति ॥४८॥  
तथापि तद्विभेदेन भेदता तदभेदतः ।  
न किञ्चन गृहीतं स्यात् तथाऽन्या संहतक्रमा ॥४९॥

नतिक्रमेण वा पश्यन्ती विभक्तदृश्यवस्तुयुक्ता निर्विभागा कथं भवेत् ?—इत्युक्तम् ।  
स्वकमेव स्वापश्यम् । योग्यदेशस्थवर्तमानायांनुभवितृत्वेन तावत् गर्वप्रमानाणां  
स्वात्मन्यनुभवः । तत्र भविष्यन्तमर्थं तदनागतमप्राप्तमेव कथं वर्तमानम् ? वर्तमानत्वे  
पश्यन्ती स्यात् सम्प्रगोच्यार्थः । तथा अन्ययाग्यदेशांस्थितेऽन्ययोग्यदेशस्थेन सत्यदर्शने  
सम्बन्धदर्शनरूपा पश्यन्तीत्यर्थः । तथाऽन्यदिग्देशकालगतेन ज्ञानेनान्यदिक्कालगते मनि  
विद्यमानेऽर्थे न दर्शनम् । तत्रश्च कथं वर्तमानं योग्यदेशस्वमेव पश्यन्ती भविष्यन्तम् =  
अनागतम् = अमप्राप्तम् = अन्यदेशस्थितं न पश्यन्ती स्यात् । सर्वदर्शिनी चेष्ट्यते  
सा । देशकालावत्र परस्परौल्लङ्घने । देशकालभित्तार्थग्राह्याणि भिन्नान्येव ज्ञानानि

शब्दस्याध्याहारः कर्तव्यः । तदा = तत्तद्दृश्यानामस्वीयरूपादिग्रहणकाले । भिन्नेति—  
पश्यन्ती हि ज्योतीरूपत्वात् न मिथ्याज्ञानप्रत्ययवर्गान्तिमकेति । स्वाक्यम्—स्वाधे पश्य ।  
भविष्यन्तमिति—इदानीं यत् पूर्वमुक्तं—“वर्तमानममागच्छा क्रिया पश्यन्त्युदाहृता ।”  
इति—तत्प्रमर्शयति । तथा यदुक्तं स्वकृष्णादिग्रहे कथं निर्विभागेति यतो भविष्यन्त-  
मेवार्थं वर्तमानत्वेन गृह्णाति, तत्रश्च दृश्यस्य स्वकृष्णाद्युत्तोरणत्वेनैव भामानात् तल्लभ-  
त्वाच्च न यविभागत्वं नापि मिथ्याज्ञानवत्त्वमिति दोषद्वयरहितं पश्यन्तीस्वरूपं  
सेत्स्यति, अलमनेन मिथ्याऽमिथ्यात्वकथनेनेति यदुच्यते तदपि निर्दलयति—  
भविष्यन्तमित्यादिना । वर्तमानतश्च इति—अप्राप्तस्य वर्तमानत्वे दर्शनं भ्रान्ति-  
रित्यर्थः । पश्यन्तीति—नेति पदमत्रापि योज्यम् । देशकालाविति—तेन भविष्यन्तं  
वर्तमानमित्यत्र कालनिर्देशोऽपि तथैव देशोऽपि बोध्यः ॥४८॥

अन्यदिग्देशग इत्यत्र देशनिर्देशे च कालनिर्देशोऽप्येत्यर्थः । अयेति—अवाह विरोध-  
ज्ञानं हीदं यदत्र भविष्यदादिकालव्यपदेशः, पश्यन्ती तु नामान्यरूपा, न तत्र भविष्य-  
दादिव्यपदेशोऽपि सम्भवतीत्यकालकथितत्वाच्च सत्यदर्शनमज्ञानराशयस्योन्मत्तभावण-

यदि कहिये कि देश काल की उपाधियों के कारण परस्पर भिन्न अर्थ के ग्राही  
ज्ञानों में नामान्य रूप से वर्तमान एक अनिदिक ज्ञान है वही पश्यन्ती का विषय  
है ? तो भी विविष्ट तत्तद् भिन्न ज्ञानों में रहने से उस सामान्य ज्ञान को भी भिन्न  
मानना पड़ेगा और यदि आप उसे भिन्न नहीं मानेंगे तो उस ज्ञान का कोई विषय  
नहीं होगा । ॥४८-४९॥



संहृतः क्रम इत्यस्यां संहर्ता जायते परः ।

यदा क्रमः संहृतो वा विमातृमन्यपरत्र वा ॥५०॥

सा पश्यन्ती, तेषु साधारणमेकं तादृकसर्वतर्ज्ञानप्रपञ्चनव्यापारक्षणं किञ्चनानियतं परिदृश्यमाननीलपीतादिनियतज्ञानोत्तरमस्ति; नन्वप्यस्ति सर्वं पश्यन्तीत्यर्थः । तथापि असाधारणनीलादिनियतज्ञानानां भेदान् तथापि भेदता = भिन्नामानता स्यात् न तु सामान्यता; तेभ्यस्तस्याभेदान् । तथा च सति न किञ्चनानागतादि गृहीतं स्यात् अनागतार्थज्ञानां केभ्यो पश्यन्ती तदानीमेव तं ग्रहीष्यतीति । अथवा नीलपीतादि-ज्ञानवत् भेदताज्याः पश्यन्त्याः । तस्या अपि नीलादिकविविक्तमार्तमानार्थशब्दी-कृतत्वात् । अथ तस्या न भविष्यदादिगव्यता, अपि तु बोधमात्ररूपत्वेनापि भेद एव ? ततस्तदभेदतो न किञ्चन नीलादि तया गृहीतम्, ततः कथं पश्यन्ती स्वयिति ? अथाज्या लक्षणान्तरभेदता तैः पश्यन्ती संहृतक्रमा ॥४९॥

संहृतः क्रमोऽयामिति । एवम् 'इति' शब्दो भिन्नक्रमो योज्यः । एवं यदि समस्यर्थे पश्यन्त्यात्मनि बहुबोहिस्तदा संहर्ताज्योर्ज्योऽपेक्षणीयोज्जेति व्याहृतम् ।

नित्याद्युक्त्वाह—अत्र साधारणमिति । तादृगिति—अत्र यत्तच्छब्दयोरध्याहारः यदीदृशं ज्ञानं तदेव पश्यति । नीलपीतादिविशेषरहितं नियमरहितं सर्वव्यापकं ज्ञानमित्य-न्मित्रपि पक्षे दोषोद्भावनं करोति—तथापीत्यादिना । एतद्धि सत्यमेव साधारणं ज्ञानमस्तीति, तथापि दृश्यमत्र विशिष्टमेवेत्याह—तथापीति । तेषु = भिन्नज्ञानेषु । किञ्चनानिपतम् = विशिष्टत्वाभावाद्व्यपदेशानर्हम् । तथापीति—भवत्वेतत्तात्पर्य-मेव किञ्चन सर्वमहं व्यापकं च, अत्र पश्यन्तीन्वरूपनिरूपणमेव सर्वथा समाश्रितम्, तच्च कर्मणापेक्षत्वादवश्यं स्वनिष्ठये कर्म दृश्यरूपमाश्रितम्, तस्यां हि विशेषणपक्षेनैव दर्शनमस्त्वान्तेषामित्यर्थः । तेभ्यः = विशेषेभ्यः । तस्य = सामान्यस्य । तदभेदता इत्यर्थभागं विवृणोति—तथा चेति । अत्र भावः—विशिष्टज्ञानोदयेऽपि यदि सा साधारणी तर्हि तदभेदतो विशिष्टज्ञानोदयेऽप्यर्तानागतादिविशेषाभावात्, ततश्च नानागतावेक्षणमिति किमत्र कथं नामेति । 'तथापि तद्विभेदेन' इत्यादि 'न किञ्चन गृहीतं स्यात्' इत्यन्तं द्वितीयाथेन संगमयति—अथवेत्यादिना । कथयति—कर्माभावात् । तैः = शब्दब्रह्मवादिभिः ॥४९॥

संहृत इति—ननु च पश्यन्ती संहृतक्रमेति तस्याः क्रमसंहार एव निर्विभाग-हेतुः, ततश्च केयं कल्पना नीलादिविशिष्टनिवृत्तानासाधारणज्ञानानां भेदान् तस्या अपि

'अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा' इत्य लक्षण मे 'संहृतक्रमा' शब्द की यदि 'संहृतः क्रमो यस्याम्' ऐमा विग्रह करने है तो क्रम का संहर्ता कोई दूसरा होगा और इस प्रकार द्वैतापत्ति होगी । यदि 'संहृतो यया' ऐसी व्युत्पत्ति करने है



आत्मनः सक्रमत्वं स्यादन्यत्रापरसंगमः ।  
किं पूर्वं सक्रमाऽभूत् सा रूपद्वित्वं प्रसज्यते ॥५१॥  
अथात्मना सा स्वात्मानं पश्यन्ती निर्विभागशः ।  
भागे करणरूपत्वात् पारतन्त्र्यं जडात्मता ॥५२॥

अथवा तृतीयार्थे वया क्रमः संहृतः पश्यन्त्या सा तथा । एवं चाधिकरणपेक्षायां किमात्मनि संहृतः ? अथापरत्र ? इति विकल्पः । तथात्मनि क्रमस्य संहरणे = योजने गति तस्य सक्रमत्वं स्यात् । अथान्यत्र ? तद् द्वितीयवस्तुसम्बन्धः ततश्च द्वैतापत्तिः । अथात्मत्वेन पूर्वं सक्रमया भूतया पश्यन् क्रमः संहृतः = निवारितः, न त्वन्यत्र, द्वैतापत्तेः ? तथापि तस्याः सक्रमाक्रमरूपद्वित्वप्रसङ्गः ॥५१॥

“अविभागा कथं सा स्वाद्यतः पश्यन्त्यसौ स्मृता ।”

इत्यत्र पश्यन्तीत्वादेव दर्शनक्रियाकरणपेक्षायां निर्विभागत्वं दूषितं समर्थमानं प्राप्तेनामङ्कने—अथात्मनेति । आत्मनवात्मानमेव च पश्यन्ती सा स्थिता निर्विभागशः = विशिष्टात् = अत्यन्तपृथग्भूतात् भागातिश्रान्ता, कर्मकरणादिशक्ति-मात्रेण स्थितेत्यर्थः । तत्रापि भागे द्वितीयं कारकशक्त्यात्मनि करणादिरूपत्वात् तस्या एव पारतन्त्र्यं जडता च प्राप्तांति स्वातन्त्र्यादेव चिद्रूपस्येति । एतदीश्वर-प्रत्यभिज्ञायां परोक्षम् ॥५२॥

भेदेति ?—तत्रिदं व्युत्पत्तमाह—संहृत इति । त्रितयार्थानं हि संहरणं कर्तृकरण-धिकरणेष्विति । तत्रैव क्रमेणाह—संहर्तेति । केनेत्यपेक्षयाऽवश्यं परेण भाव्यम् । किमिति—कस्मिन्नित्यपेक्षायाम् । योज्य इति—अस्यामित्यनन्तरम् । व्याहृतम् = स्वयचनविरोधां व्याघातः । तृतीयार्थे इति—बहुव्रीह्याश्रयणे । आशङ्कत इति—निर्विभागत्वम् ‘अविभागा’ इत्यादिना दूषितम् । पश्यन्तीत्वमेव तत् यत्स्वमेव कर्मकरणादिरूपत्वम् इति परेण समर्थमानमाशङ्कने ॥५२॥

और संहरणकर्त्री उसी को मानने है तो यह बताइये कि उसने क्रम का संहरण अपने में किया ? या अन्यत्र ? यदि अपने में किया तो इस संहरण के पहले वह सक्रमा थी बाद में अक्रमा हुई इसप्रकार उसकी द्विरूपता सिद्ध होती है । और यदि दूसरे में क्रम का संहार किया तो दूसरे में समागम होने में भी द्वैतापत्ति होती है ॥५०-५१॥

वह अपने को निर्विभाग रूप से देखती है क्योंकि भाग रूप में उसका दर्शन मानने पर उसकी परतन्त्रता एवं जडात्मकता सिद्ध होगी, यदि ऐसा कहा जाय ? ॥५२॥

आत्मानमात्मना हन्ति देवदत्तो यथा तथा ।  
 भविष्यत्यत्र तत्रास्य स्वाङ्गैरेव विभागिता ॥५३॥  
 हस्तादेः करणत्वं हि मस्तकादेश्च कर्मता ।  
 कर्ता मनः स्वावयवी नामूर्त्तया इदं पुनः ॥५४॥  
 पश्यन्त्यदृष्टमात्मानं दृष्टं वाऽदृष्टता कथम् ।  
 पश्यन्त्या दर्शनं दृष्टे न च वा ह्युपपद्यते ॥५५॥

पर आह—आत्मानमिति । देवदत्तात्मनि यथा कर्मादिभेदस्तथाऽत्र स्यात् ? इत्येतन्न । देवदत्तस्य मूर्त्तत्वेन वितताकारस्य स्वाङ्गैरेव बहुभिरपगृहीतात्मशब्दाभिधायकैर्विभागः । तथा हि हस्तस्यान्यस्य वाज्यवयवस्य शस्त्रादियुजः करणता, मस्तकस्य हृदयादेर्वा हन्यमानस्य कर्मता, कर्ता मनोयुक्तः स्व आत्मा, स एव हस्तादियम्बद्धोऽवयवीत्युक्तो यत एव तावत्याऽऽत्मभावः । पश्यन्त्याः पुनश्चिन्मात्ररूपत्वेनामूर्त्तया वतत्याभावान्नावयवापेक्षोऽयं व्यवहारः, ततस्तस्या एव भागे करणादित्वेन जडताऽऽपत्तिरेव ॥५४॥

आत्मानं च पश्यन्ती किमदृष्टपूर्वं पश्यति ? अथ दृष्टम् ? तद्द्वयमपि न युक्तं यतः पश्यन्त्याः प्रकाशरूपायाः अदृष्टत्वं = अप्रकाशता नैव, दृष्टे चात्मनि न पुनः दर्शन-

पश्यन्तीति—तदेवं 'अथात्मना सा स्वात्मानन्' इत्यत्रात्मनेति भागे पारतन्त्र्याज्जडतामुपपाद्य 'आत्मानम्' इति कर्मभागं विकल्पयति । आत्मानमिति निजमेव स्वरूपं कर्मरूपशक्तिमात्रेण स्थितं पश्यन्ती कर्तृरूपशक्तिस्थिता पश्यति येन दर्शनमिदं यार्थोऽस्या घटते । अत्र पश्यन्त्या इति देहलीदीपन्यायेनोभयत्रापि योज्यम् । तत्र पश्यन्त्या दर्शनम् = दृष्टता तत्कर्मिकेत्यर्थः । द्वितीये पुनः पश्यन्त्या दर्शनं पश्यन्ती-कर्तृकमित्यर्थः । दृष्टतेति—निजरूपस्यैव कर्मशक्तिरूपत्वाददृष्टता = दर्शनक्रियाराहित्यम् = अप्रकाशत्वं कथम् ?—इत्यर्थः । दृष्टे = प्रकाशिते । 'च वा शब्दावत्रानुक्तममुच्चयार्थौ । अदृष्टत्वमिति—अदृष्ट एव हि दर्शनं युक्तम्, अदृष्टत्वं च पश्यन्त्या

तो जन्मे 'देवदत्त' अपने से अपने को मारता है, इस कथन में अपने अंगों से ही अपना विभाग विद्ध होता है; हाथ इत्यादि कारण, मस्तक इत्यादि कर्म और मन कर्ता माना जाता है; उसी प्रकार उसमें भी मानना पड़ेगा । पर वह तो अमूर्त है उसमें यह सम्भव नहीं ॥५३-५४॥

पश्यन्ती का अर्थ है—'आत्मानं पश्यन्ती' अर्थात् अपने को देखने वाली । यह बताइये कि यह अदृष्टपूर्व अपने को देखती है ? या दृष्टपूर्व ? यह तो दोनों ही ठीक नहीं है । क्योंकि वह प्रकाशरूप है अतः उसका अदृष्टत्व सम्भव नहीं । और इस प्रकार आत्मा भी दृष्ट हुआ और दृष्ट आत्मा का पुनर्दर्शन असङ्गत है । ॥५५॥

पश्यन्तं सा किमात्मानं पश्यन्ती जडमेव वा ।

जडे जडत्वमेवास्याः पश्यतो ह्यनवस्थता ॥५६॥

किञ्चित् पश्यति वा सूक्ष्मं तदस्मदर्शनान्वयः ।

कर्मत्वे पारतन्त्र्यं स्यात् तस्या एव निजात्मनि ॥५७॥

क्रियाप्रवृत्तिर्युक्ता । न च पश्यन्त्या आत्मा प्रतिक्षणमेव दर्शन-  
क्रियाया उपयोगेन वर्तमानता स्यात्, नापि तस्या आत्मनो दिव्यालावच्छेदः ॥५५॥

सा चात्मानं प्रकाशरूपत्वात् पश्यन्त्यात्मकत्वाच्च किं पश्यन्तं पश्यति ?  
उताप्रकाशरूपं जडम् ? जडे तस्मिन् नापि जडा स्यात्, अप्यात्माऽप्यस्याः  
प्रकाशात्मत्वात् पश्यति, न च भित्तं पश्यति अपि च्यात्मानमेव, ततस्तस्यापि पूर्वविरूप-  
योगादनवस्थता, अवस्थानस्य दर्शनविश्रान्तेरभावात् ॥५६॥

यदि वा भवद्भिन्नान्यनीलपीतादि स्थूलं विभक्तस्य रूपं दृश्यं पश्यति, अपि तु  
दृश्यभूवमनापत्तं द्रष्टारमेव किञ्चिदविकल्पं सूक्ष्मसूक्ष्मं पश्यति, न च पश्यति,  
अयुक्तम्, पश्यन्तीत्वात् । दृष्ट इति—अथ दृष्टेयं पश्यन्त्युपरोधादित्याशङ्क्याह—  
दृष्ट इति । युक्तेति—अनवस्था हि तथा स्यात् । न चेति—चक्षुर्वगुचितमनु-  
नमृच्चयार्थत्वं चाह तच्च यदुक्तं 'वर्त्तमानसमाह' (गि० दृ० २.२०) इति न  
वर्त्तमानभागमपि विकल्पयति—न चेति । वाशब्दगुणान्वतमाह—नापीति ॥५५॥

पश्यन्तमिति—पूर्वश्लोके दृष्टता = दर्शनक्रियायोग्यता, ना च स्वयमनेनैव  
सम्भवति; इह पुनश्चैतन्यमेवोपाहृतत्वात् शङ्क्यमानत्वेन दर्शयति—पश्यन्तं सेति ।  
नदेतदाह—प्रकाशरूपत्वात् पश्यन्त्यात्मकत्वाच्चेति । पूर्वश्लोकेति—दृष्टे दर्शनमिति  
न्यायेन । अनवस्थतेति—ना च मूलभित्तकारिणीत्युक्तमेव ॥५६॥

पश्यतीति—तनु चात्मानं पश्यन्तं सूक्ष्मं विकल्पकलङ्काकल्पितं पश्यति यतः  
तत्किमिति ह्यनवस्था, दर्शनं चानुगितद्रष्टृभावस्यैव तत्क्रियात्मकं तनोऽपि न विज्ञा-  
नानुपपन्नं नामेति किं दोषाविर्भावेन ?—इत्यत्र आह—किञ्चिदिति । किञ्चिदिनादना-

यह प्रकाशरूप अपने को देखती है या जडरूप अपने को ? यदि वह अपने को  
जडरूप में देखती है तो यह स्वयं जड़ है और यदि प्रकाशरूप अपने को देखती  
है तो फिर अनवस्था दोष आ जाता है ॥५६॥

यदि आप यह कहे कि यह नील पीत आदि स्थूल विभक्तस्य रूप वाले पदार्थों  
को नहीं देखती बल्कि सूक्ष्म अपूर्करूप अविकल्प्य द्रष्टा को ही देखती है ? तो  
फिर आप हमारे दर्शन का ही अनुगमन करने हैं । क्योंकि वास्तविक कर्मत्व मानने  
पर वह स्वयं अपने आप में परतन्त्र हो जायेगी ॥५७॥

स्फोट एव हि पश्यन्ती तदन्या वा द्वयं भवेत् ।

तदन्यत्वे तदैक्ये वा तदङ्गुल्यग्ररूपया ॥५८॥

वाक्यगत्वाऽत्र सत्त्वत्वं लभ्यते न विशेषता ।

आप्तानामविचारो वा सर्वथैव निवर्तते ॥५९॥

सु-वार्थमद्रष्टृत्वाय सती प्रकाशते पश्यन्तीति कथ्यते ? ततोऽस्मदीयदर्शनानुगमः  
स्यात् पश्यन्त्यर्थः क्रियाकर्तृकर्मकालविभागात्मा त्यक्तो भवेत् । वास्तवे तु कर्मत्वेऽङ्गु-  
ल्यग्ररूपमाने तदीयानुक्रमद्रष्टृतात्माधिकरणे सति तस्मिन्नेवैकान्तमिति द्रष्टव्यात् स्वतन्त्रे  
दृश्यतया पारतन्त्र्यं स्याद् विच्छेदम् ॥५७॥

भवतिः स्फोटः पश्यन्ती न नित्यव्यवसायगतो; ततः स्फोट एव वा पश्यन्ती  
स्यात् शब्दमात्रमिदं, नतो वाज्या, तत्र द्वैतं स्यात् । अन्यत्रपक्षे ऐक्ये वाऽङ्गु-  
ल्यग्ररूपमात्रमिदं वाच्यमिति वाच्यमिति । सूक्ष्मम् = सर्वग्राह्यग्राहकताविभागरहितम् ।  
अन्वयः = अनुगमनः । ननु च ततः पश्यन्तीत्युच्यते तत एव सकर्मकत्वादस्य  
पूर्वपक्षे दृश्यत्वमात्रं तत्किमिति तत्र न दोषः ?—उच्यते आह—न  
भेदादि । दर्शनानुगम इति—तत्रैवं सति न कश्चिद् विरोध इत्यर्थः । न  
चाङ्गुल्यग्रमिष्टमिदं—पश्यन्तीति ॥५७॥

स्फोट एवेति—स्फोटान्मेव शब्दार्थप्रतिपादकः । तथा चोक्तम्—

“एको नित्यः क्रमविरहितः कल्पितागत्यभागो

वाक्यस्फोटो जनयति सति तादृशि स्वाभिधेये ।

वर्णस्त्वेने प्रकृतिलयः कल्पनैकप्रतिष्ठा-

स्तस्मिन्नर्थे विदधति धियं नेत्यलं तत्कथाभिः ॥”

नवा हीतिवाहुः कुतो वर्णानामर्थप्रत्यावकत्वम् ? ते हि वर्णा गकारादयोऽर्थं प्रति-  
पादयन्तः नमस्ता वा वस्ताः ? न तावद् व्यस्ताः, एकैकवर्णाकर्णने सति चार्थ-

आप वेताकरणेन स्फोट आर पश्यन्ती दोनों को नित्य मानते हैं तो क्या स्फोट  
आर पश्यन्ती दोनों एक ही हैं केवल शब्दमात्र का भेद है ? वा दोनों दो हैं ? दोनों  
न नित्यवर्णों में द्वैतावृत्ति होता है, क्योंकि 'अनुक्ति की लोक पर एक नो हावियों  
का जुगुप है ।' उस वाक्य में स्फोट की दृष्टि में अर्थ की प्रतीति तो होती है पर  
पश्यन्ती तो सर्वदा सत्य अर्थ की प्रतीति कराती है और यही अर्थ असत्य है ।  
इससे पश्यन्ती यहाँ अर्थप्रत्याविका नहीं होगी । उस प्रकार द्वैतावृत्ति है । उस  
प्रकार यदि उपर्युक्त वाक्य भी स्फोट की दृष्टि में ही सही, सत्य नमसे जायेंगे तब  
त आत और अनात व्याप्त और उनके द्वारा उच्चरित वाक्य का युक्तत्वायुक्तत्व-  
विचार ही समाप्त हो जायगा ॥५८-५९॥



स्फोटस्यासत्यरूपेहि पदार्थैर्व्यङ्ग्यता कथम् ।

पश्यन्त्याः सत्परूपाया असत्यैर्व्यङ्ग्यता न च ॥६०॥

पगते तत्प-यन्त्याः सम्पत्ति सत्पार्थर्वात्वं लभ्यते । 'अङ्गुल्यग्रे हस्तिपूथशतमास्ते'  
इत्यनया वाक्यस्फोटप्रतीत्याऽत्र लोके न तु पश्यन्तोऽसत्यदर्शनरूपत्वेन सर्वस्य  
स्फोटस्य सत्त्वाभिमतत्वात् विनिष्पन्नमात्रा लभ्यते । अन्यत्वपक्षे तु स्फोटस्य  
सत्त्वस्यापि अन्वयार्थत्वं न दोषः, पश्यन्त्यात्मनस्तु शुद्धमविद्रूपस्य मिथ्यात्वं दोष एव  
पश्यन्त्वैवमेव स्फोटस्यार्थत्वान् । आसप्रणानानासप्रणानत्वविचारो वा सर्वथा तदा  
निवर्तते सर्वेषामविशेषेण सम्प्रभूतत्वात् । पूर्वोक्तपश्यन्तोऽवुद्धवन्नित्यस्फोटवहुत्वं  
तत्र श्राद्धवह्निनिमित्तवद्वयं सुनिवृत्तम् ॥५९॥

स्फोटस्य च स्फुटस्थानित्वस्य सत्त्वस्य पदवर्णध्वनिभिरुपप्लुतैरकिञ्चित्स्वस्वैर-  
शक्तैरुत्पन्नविजातार्थैः कथं व्यङ्ग्यता सत्यप्रकाशनमाम्य तेषां सत्यतापत्तेः ?

प्रतातेऽनुनादान् । सामर्थ्यं पुनर्वर्तनां न सम्भवत्येव । तद्धि सत्त्वा स्यात्, सा  
चायुक्ता । तथा हि—वर्णप्रकाशकाः प्रथमस्थानकरणक्रमापारत्त्यागादवस्यन्तावी  
क्रमः । क्रमे च नति ह्येकैकवर्णकारणकार्यप्रतापिः प्राप्नोति, सा च न दृश्यते  
इति व्यस्तगमस्तवित्वात्पुनरेव वर्णा वाचकाः । वर्णविषया अपि बुद्धयस्तथैव  
कल्पनाः, ता अपि युगपत् सम्भवन्ति । क्रमे च नन्वेकैकवर्णबुद्धेरर्थसम्प्रत्ययः प्रसज्यत  
एति; तस्मात्त वर्णा वाचकाः । यदि च स्फुटद्विपरोक्तक्रमप्रमुक्ता अपि तमर्थमव-  
गमयेयुः । अस्ति चेयं शब्दादुच्चारितत्तदवगतिः । न चेयमकारणिकैव भवितु-  
मर्हति, तदस्मात् कारणं स्फोट इति स्वार्थाऽर्थप्रतीतिक्षणकार्यवशात् कल्पमानं  
वत्कारणं स्फोट इत्युच्यते । न च निरवयवा नित्य एको निष्क्रमक इति । तस्माद्  
वर्णाभिव्यक्तः स्फोटाऽथ प्रतिरत्तिमादवापि । भ्राम्यति जनो वर्णैरियमर्थप्रतीति-  
रुपादितेति । न च वाच्यं स्फोटव्यक्तापि ते व्यस्तगमस्तविकल्पाः नर्तन्ति, न  
स्फोटव्यक्ती वित्तव्याः । तथा हि एके तावदाचक्षते प्रथमवर्णध्वन्यवेद्यायां  
स्फोटाऽभिव्यक्तः । न च द्विधायादिवर्णवैकल्यं तदनुगतेरेवातिशयकारणात् ।

इसके अनिश्चित स्फोट तो सत्त्वात्मक है फिर वह पद, वर्ण, ध्वनि आदि अत्यन्त  
विजातीय अतिभिन्नस्वरूप अत्यन्त नामों के द्वारा सत्य अर्थ को कैसे व्यक्त  
करता है ? क्योंकि सत्य अर्थ को प्रकाशित करने पर वे पद आदि भी सत्य होने  
लगेंगे । यदि स्फोट को पश्यन्तीस्वरूप भी मानें तो भी वह स्फोट असत्य का  
व्यञ्जक नहीं हो सकता । क्योंकि पश्यन्ती में असत्य अर्थ को व्यक्त करने की अपेक्षा  
(अमता) नहीं है । इस प्रकार असत्य अर्थ का व्यञ्जक अविद्या को मानना  
पड़ेगा और उसे आप पश्यन्ती कहेंगे तो कहिये ॥६०-६०३॥

तादृग्व्यञ्जनसापेक्षा सा न किञ्चन जायते ।

पश्यन्ती वा प्रमाणेन केनासौ प्रतिपाद्यते ॥६१॥

प्रत्यक्षस्यागोचरत्वादनुमानं प्रदूषितम् ।

भवद्भिरेव नाप्रस्याननुभूतार्थवस्तुता ॥६२॥

पश्यन्त्यात्मत्वेऽपि च स्फोटस्यात्मव्यञ्जकता तथैव न युक्ता, अगन्वेनाविद्यात्मना व्यञ्ज्यमानालोकेन रूपमिव स्वयं प्रकाशनभावस्या न किञ्चिदेवाविद्यैव सा स्यात् तावत्प्रपञ्चरूपैवाविद्येति कृत्वा । प्रमाणेन वा केन पश्यन्ती भवद्भिर्व्यवस्थाप्यते ? प्रत्यक्षं तावदत्र चक्षुरादिमनोगोचरातिक्रमादस्ति । अवस्थेत्यादिना भवद्भिरेव नम्य दूषणाच्चात्मानं न सम्यगवबोधकम् । आतस्वापि नाननुभूतार्थवस्तुता, तदपि न प्रमाणम् ॥६२॥

यथा रत्नपरीक्षायां प्रथमदर्शने रत्नसमकं प्रकाशमानमपि पुनः पुनः परीक्षायां निरवयवं रत्नतत्त्वं चकामि । एवं प्रथमवर्णश्रुत्या व्यक्तेऽपि स्फोटस्फुटनप्रतीत्ये वर्णान्तराणि प्रयोपपन्न इति । अपरे त्वादुः—यवत एव स्फोटस्य व्यञ्जकाः । तैश्च भवद्भिरेवैव एव स्फोटोऽभिव्यञ्जमानस्यान्वादिस्थानकरणयोगोपाधि-वशोपप्लवमाननानाकारमकारादिभागयोगीव प्रतिभासते । मरुतां चञ्चलत्वात् उच्चारितप्रवर्धनस्यैवापनिका भागा भासन्ते । दृष्टं हि नाद्रामको हि शब्दो व्रीणवेषूमुदङ्गपट्टादिव्यञ्जकभेदेन नानान्वमुपगच्छति । तस्माद् वाक्ये पदानाम-मन्वात्तदर्थं च पदार्थानां निरवयवो वाक्यवाक्यार्थाविति । वाक्यं चानावयव-कल्पनायां यथा वाक्यस्यावयवाः पदानि, पदानामवयवा वर्णाः, एवं वर्णानामप्य-वयवैर्भूयितव्यम्, तदवयवानामप्यवयवान्तरैरित्यानन्त्वात् का व्यवस्था स्यात् ? वर्णान् प्राप्य तु यद्यवयवकल्पनातो विरन्तव्यं तद्वाक्य एव विरम्भताम् । एवं पानकादिवत् पदार्थेभ्योज्य एव वाक्यार्थरूपः स्फोट इति । यथा हि पानकं फाणित-नारिकेलमरिचादिभ्योऽर्धान्तरमेव, यथा च मिल्दुराक्षाहरितालादिभ्योऽर्धान्तरमेव चिबमिति शिद्धमेतत् । तत्र तयोः स्फोटशब्दश्चक्षुर्गोचरभयोभेदे द्वैतापत्तिः । अभेदमेवमाहुः—यथा पदे वर्णा न सन्ति, वाक्येण पदानि न सन्ति, तथा महावाक्येष्ववान्तरवाक्याव्यपि

आप पश्यन्ती की गिाड किन प्रमाण के द्वारा करेंगे ? पश्यन्ती प्रत्यक्षप्रमाण का विषय हो नहीं सकती क्योंकि वह अतीन्द्रिय है । अनुमान भी उसका साधक नहीं हो सकता क्योंकि आपने स्वतः 'अवस्थादेशकालनाम्' ( वा० प० १.३२ ) उल्थादि वचनों के द्वारा इसकी अनुमितिप्रमाणगम्यता को असम्भव बनाया है । वाक्य-प्रमाण भी यहाँ सम्भव नहीं, क्योंकि वह तो अनुभूत अर्थ को कहता है और पश्यन्ती अनुभवगम्या नहीं है ॥६१-६२॥

अथ स्वानुभवेनैव पश्यन्तीं पश्य युक्तिः ।

एवं तर्ह्यपरस्यासौ पश्यन्ती कर्मतां गता ॥६३॥

अथ भवन्तो मामाहुः—स्वयनेनानुभवेन प्रमात्रेण पश्यन्तीं युक्तिः = योगान् = गमाधेनैवथानान्, पश्येति । एवं तर्ह्यपरस्य स्वानुभवमंजनस्य प्रमाणस्य पश्यन्ती कर्मत्वं प्राप्ताः ततश्च सा परमार्थत्वेनोपगता न तथा स्यात् । यस्मान् स एव तदानीं पराकाष्ठाप्राप्तौ देवत्वेन सर्वोत्कर्षेण भवतां मतः स्यात्, यस्तामपि सर्वदर्शिनीं पश्यति, ततश्च दर्शनव्याप्तः ॥६३॥

न स्युः, ततोऽपि महावाक्यान्वयि प्रकरणापेक्षया न स्युः; ततोऽपि प्रकरणात्ययि शास्त्रापेक्षया न स्युः ततश्चैकमेवं शस्त्रवत्त्वमविभागमद्वयमापन्नतोऽप्यभिधेयं तथाहुः—गद्यमेतत्, गद्यत्रयैवेदमद्वयमनाद्यविद्यावागमनोपपन्नमानभेदमर्थभेदेन विवर्त्तते । न तु वाचकाद् विभक्तं वाच्यमपि नाम किञ्चिदस्ति । तस्मात् काल्पनिक एवायं वाच्यवाचकविभाग इति स्फोटवादः । तदनुपपत्तिं दर्शयति—तदैक्ये वेति । न दोष इति—अविद्योपगमात् । आप्तेति—ब्रह्मप्रणीतत्वेन हि शब्दस्य प्रामाण्यं स्फोटस्य च निव्यत्येनातत्प्रणीतत्वम् । अतश्चानिदमर्थं वर्णयितुः शब्दस्य, नामार्थप्रतीतिहेतुः, अतो न प्रमाणम् । यच्चार्थप्रतीतिहेतुः स्फोटात्मा शब्दः तस्य नानित्यत्वं न चातत्प्रणीतत्वमिति सर्वथा व्यवस्थापनानासम्भावेन नश्यदेव स्फोटाभ्युपगमे । कृत्वा = इत्यनेन विचारेण । पश्यन्तीति—प्रमाणव्यवस्थापितं हि वस्तुवस्तु, स्वस्वपक्षभागाभ्यां मानु, तेनैव प्रमाणेन तस्य दृष्टं व्यवस्थापितत्वात्, इति प्रमाणमेव नावद्विक्लपयति—पश्यन्ती वेत्यादिना । प्रतिपाद्यते = दृष्टीक्रियते । अनुभूतार्थवत्कृता = अनुभूतमेवाश्रमाप्तोऽपि वक्तव्यार्थः । अत्र = पश्यन्तीविवेके । तदपि = आसन्नमपि ॥६३॥

तनु चानुभवान्वयमुद्धप्रमाणरक्षिते वस्तुन्यलमन्येन प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन वाह्यार्थनिष्ठेनान् स्वस्वोऽनभिज्ञानवात्तमिदमेतानि इति समर्थयति—अथ स्वानुभवेत्यादि । भवन्तः = पूर्वपक्षवादिनः, मान् = उत्तरपक्षवादिनम् । उपगता = अङ्गीकृता तथा परमार्थभूता । स एव = स्वानुभवः । सर्वोत्कर्षणामेवास्य दर्शयति—यस्तामिति । तत्र केचित् प्रतिभा प्रत्यक्षं प्रमाणमित्याहुः । तथा च—

यदि आप मुखं दैवमत्तानुयायी से यह कहें कि 'स्वयं अनुभव के द्वारा पश्यन्ती का प्रत्यक्ष करो' तब तो वह पश्यन्ती अनुभवक्रिया का कर्म हो जायगी । उस प्रकार वह परमत्त्व तो नहीं होगी क्योंकि जो उसको देखेगा वही कर्ता परमत्व या परमदेवता होगा ॥६३॥



यो हि पश्यति पश्यन्तीं स देवः परमो मतः ।

प्रतिभा कथिता या वा साऽनुमानं न तच्च ते ॥६४॥

अथ पश्यन्त्या प्रतिभा प्रमाण तत्प्रतिभाप्रभागनं निर्निमित्तमस्ति, कूपे जल-  
मित्यादिवन्न प्रमाणम् । अथात्मनिरेव विलक्षणा ममैवं संशतीति प्रतिभा,  
तदात्मस्थितेविशिष्टायाः साध्याव्यभिचारनिश्चयेतार्थान्तरावगमेऽनुमानतैव; तच्च  
भातामनिष्टम्; अव्यभिचारानिष्टमे त्वनवगमकत्वम्, युक्तिवशाच्चानुभवः कदाचिद्  
भायी प्रतिभा वा भवेत् । पश्यन्ती पश्यन्त्यात्मेन प्रतिपाद्यमानस्य न तु यदा, ततश्च  
तस्या विच्छिन्नं दर्शनं स्यात्, न यदा प्रकाशमानता, न चैतद् तत्कालप्रतीक्षणं  
मतम् ॥६४॥

अस्ति चानागतं ज्ञानमस्मदादेरपि क्वचित् ।

प्रमाणं प्रातिभं [इवो] मे भ्रातागन्तंति दृश्यते ॥

नानर्थजं न सन्दिग्धं न बाधविधुरीकृतम् ।

न दृष्टकारणं चेति प्रमाणमिदमिदमाह ॥

कथिद् वाक्ययोगश्चेदमुं तस्मात्प्रमाणता ।

यथाप सूरस्येति भ्राता तव निमुञ्चताम् ॥

तदेतच्छिद्विधियुमाह—प्रतिभा कथितेति । अथ वा शब्दाऽस्य सङ्कटं प्रत्यक्षानुभव-  
प्राप्त्याद्यं द्योतयति । तथा चानर्थजमिदं ज्ञानं भ्रातुः; स्वजनकस्य तदानीममत्वात् ।  
अथोच्यते—भावितयैवं गृह्णाति ! तत्र भावितया ग्रहणं ह्यष्टमानम्, भावित्वं नाम  
प्रागभावः, अभावस्य च भावेन कः सम्बन्धः ?—इति । यदि सम्बन्धेऽस्ति कूपे जलमिति  
प्रतिभा तथा च नानागतानर्थजत्वशङ्का ? ततश्च प्रमाणमेवेत्यपि निरूपयति—निर्निमित्त-  
मिति । तच्च संगत्यात्मकत्वादस्य यद्युच्यते नापि तदा नानुभूयते । यथा किमिदं

यदि पश्यन्ती के विषय में आप प्रतिभा को प्रमाण मानते हैं तो वह भी ठीक  
नहीं क्योंकि प्रतिभा का प्रकाश कारणरहित होता है । इसलिये वह प्रमाण की  
कोटि में नहीं आता और यदि आप (वैयाकरण) की आत्मस्थिति ही ऐसी विलक्षण  
है जो इस प्रकार पश्यन्ती का साक्षात्कार करा देती है तो वह विलक्षण आत्मस्थिति  
एक प्रकार से अनुमान प्रमाण है, क्योंकि वहाँ साध्य का व्यभिचाराभाव निश्चित  
है । लेकिन अनुमान प्रमाण आपको इष्ट नहीं । यदि आप प्रतिभा को कभी होने  
वाला और कभी न होने वाला अनुभव मानते हैं तब तो वह भवत्प्रतिपाद्य पश्यन्ती  
कदाचित् दृष्ट होगी कदाचित् नहीं । और इस प्रकार इसके दर्शन की निरन्तरता  
न रहने से इसकी सदाप्रकाशमानता नहीं रहेगी । इस प्रकार इस पश्यन्ती का  
आपके द्वारा प्रतिपादित स्वरूप ही गण्डित हो जाता है ॥६४॥



न चापि प्रतिपाद्यस्य कादाचित्कप्रतीक्षणम् ।  
स्वात्मनात्मानमथचेत् पश्यन्ती सा भविष्यति ॥६५॥  
तदानीं प्रतिपाद्यस्य किमायातं स्ववीक्षणात् ।  
वक्तव्यमेव तस्यापि पश्यन्ती पश्य या स्वयम् ॥६६॥

नानुभवादिना पश्यन्तीवर्धनम्, अत्र तु सा स्वात्मना न व्यतिरिक्तेनानुभवेन  
स्वात्मनात्मानं पश्यन्ती भविष्यतीति चेत् सत्यम्, तदेवं यदि प्रतिपाद्यस्य भवद्भि-  
न्वर्धयुक्तिः किमपूर्वं कार्यम्, स्वयमेव तस्याः प्रवृत्तान् ? एवं तु अद्वयवक्तव्यं भवद्भिः  
प्रतिपादकैः नहिः प्रतिपाद्यस्य पश्यन्तीननुपूर्वम् एवं पश्य या स्वयमेवात्मानं  
पश्यति । तथापि तास्याः प्रतिपाद्यवक्तव्यं ननु पूर्वम् कार्यनाश्रयेण; प्रतिपाद्येन  
रक्तम् ? अथारक्तम् ? इति । अपि तु - स्वमिति प्रतीतिः । न हि संशयानां प्रवर्तन्ते  
कीदृशिकाः, किन्तु निमित्तवत् एव विषयमिति किन्तुभूयमान एवानुपपत्तेः संशयः,  
एतद्वदप्यपि तत्र प्रत्ययः नतिश्रयोपासविशेषात् संजयकोटिपतित एव भवतीति  
निमित्तमित्येव । प्रसार्जमिति—यदि हि प्रकाशयताम्यो गृहणे कथं त्वचिन् विचिन्वेत् ?  
असाग्नयथा तु गृह्यमाणः कथं पमाणं प्रवर्तयेत् ? प्रवक्षणायां वाचमुपस्थाप्यमानवादी  
समर्थयति—अथेति । आध्यात्मिकीति—अतः भावः—यथा हि पश्यन्ती भुम-  
दर्शनाद् भुमाव्यवितारावगमनार्थमिति चेत्, तद्वद्वि व्यवितारावगमनान् नार्थावगमः  
तथा चित्तव्यवितारावगमनायां पश्यन्तीनाध्यात्मवितार इति प्रतिभाजमानपक्षे  
कैश्चिन्निकृष्टाः । कदाचिदिति—तावद्विदितोऽनुभवः प्रतिभेत्यस्य इत्यर्थः । पश्यन्ती-  
मिति—पश्यन्ती हि भवद्भिः सदा प्रकाशमानताम्यभावाऽभ्युपगताया विरोधः ।  
तस्याः = पश्यन्त्याः ॥६४॥

तदानीमिति—तनु नाम्नाभिः कादाचित्केनानुभवेन प्रतिपाद्या पश्यन्ती अस्त्यु-  
पगता, येन कादाचित्कत्वात् पश्यन्त्या विच्छिन्नदर्शनेऽगितव्यादिवोपपन्नः । अपि  
तु स्वात्मना प्रकाशमानेनानुभववितृत्वेनानुभवविषयस्य प्रकाशमानं पश्यन्ती पश्यति ।  
एवं च सत्यं प्रकाशमानत्वेत्यपि निराकरोति—तदानीमित्यादिना । तथा

वह पश्यन्ती अपने द्वारा स्वयं अपने को देखती है इसीप्रकार उसे पश्यन्ती कहा  
गया है यदि आप ऐसा कहते हैं, तो यह बताइये कि उनके स्वयं द्वारा स्व-दर्शित से  
उपस्थ को क्या लाभ मिला ? चूंकि उपस्थ को पश्यन्ती का ज्ञान आप अवश्य  
कराना चाहते हैं, इसलिये एतदर्थ आपको कहना रहेगा कि “हे मित्रों !  
आपलोग इस पश्यन्ती को देखें जो स्वयं के द्वारा स्वयं को देखती है ।” इस  
प्रकार भी वह पश्यन्ती आपके वचन का कार्य हो जानी है । फलस्वरूप प्रकाशकर्त्ता  
ही प्रधान होगा न कि पश्यन्ती ॥६५-६६॥

आत्मानमेव जानाति तथाप्यस्यास्ति कर्मता ।

असत्यः प्रतिपाद्योऽस्मिन्नसत्यः प्रतिपादकः ॥६७॥

असत्यस्योपदेशत्वमसत्येन परीक्ष्यते ।

येन सा वा प्रमाणेन स्थाप्यते तस्य सत्यता ॥६८॥

परिमितत्वात्, पराभिमतयाः पश्यन्त्याश्चकृत्वात्, परिमितेनैव द्वैतदोषितानामुभयेन सा दृश्या स्यात्, न तु तदा प्रतिपाद्यप्रतिपादकपश्यन्तीनामैकस्य धन कर्मतापत्तिर्न भवेत् । एवं च कर्मतापत्तौ तस्याः स्वयं प्रकाशताधितिरिति पुनरपि तत्प्रकाशकमेव प्रधानं भवेत् । अव्यतिरिक्तोऽपि प्रकाशस्वभावा आत्मानमात्मना पश्यन्ती पश्येति त्रिवर्त्तभूम्वाल्लङ्घनात् अगम्यताऽपत्तिः । अस्यास्तीति = पश्यन्तीस्वरूपस्य ॥६९॥

परमस्वपरिरिक्तः सर्व एव प्रतिपाद्यः प्रपञ्चोऽस्मिन् दर्शनेऽगम्यः, ननुत-

स्यात्मानाऽऽत्मानमेव सा प्रत्यवमृजति परन्तु पश्यन्ताऽपदेनस्तु तदेष्वप्यवमृजतिधनैव न स्यतः कर्मव्यपदेशोऽनेति च समर्थयति । स्वकीक्षणात् = तस्याः स्वयं प्रथमत्वात् । वक्तव्यमेवेति—उपदेशो हाव्यवक्तव्यत्वाद् प्रियलक्षणः, स चाज्ञानजापनलक्षणः । स्वयमेव ज्ञातेऽगम्यतापदेनलक्षणनया । स्वात्मनेति—यदुक्तम्—अथ स्वानुभवेनैव पश्यन्तीं पश्य युक्तिः । "उत्पन्नैर्पाप्मिप्रायो यदाष्टः । प्रतिपादकः = अन्योपदेशकः । प्रतिपाद्यस्य = उपदेयस्य । अदृष्टपूर्वमिति—उपदेशो हि न दृष्टे प्रवर्त्तते । अस्याः = पश्यन्त्याः । कर्मेति—यं पश्यन्ती पश्य = स्वानुभवे ता लक्षणमेव न स्फुटमेव पश्यन्त्याः कर्मत्वमायानम् ॥ ननु पश्यन्त्याः स्वयमानन्ददर्शनरूपाया न कथञ्चन कर्मता, अगम्यस्कारलेखमप्यस्पृश्यन्त्याः कथं पूर्ववत्कमेति । तत्र हि पारतन्त्र्यं कर्मता अत्र तु स्वतन्त्रैवेत्यत्र आह—प्रतिपाद्येनेत्यादि । अव्यतिरिक्तोऽपीति—अथ प्रकारान्तरणाय । अथ स्वानुभवेनैव पश्यन्ता पश्येति युक्तिः—अव्यतिरिक्त इत्यादिना ॥ तत्र तस्या आत्मानमात्मना पश्येति, तथा च न कर्मता, नापि ज्ञानदेवानर्थक्य मत्वेनदपि समर्थयति—त्रिवर्त्तभूम्वाल्लङ्घनात् इत्यादिना ॥६९॥

असत्य इति—ननु च यः प्रतिपाद्यः सोऽपि पश्यन्ती, यश्च प्रतिपादकः सोऽप्य-

इम प्रकार यह निष्कर्ष निकला कि जब पश्यन्तीवाक् से समस्त जगत् आविर्भूत है तो प्रतिपाद्य पश्यन्ती के अगत्य होने पर प्रतिपादक, उपदेश, परीक्षक, प्रमाण सब कुछ अप्रवृत्त हो है । अगम्य का उपदेश अगम्य से परीक्षित होता है ।

यदि वह कहें कि जिन प्रमाण से पश्यन्ती की सत्ता प्रमाणित होती है वह प्रमाण सत्य है ? तब तो द्वैतापत्ति हो जायगी । एक सत्य पश्यन्ती और दूसरा सत्य जगत् का साधक प्रमाण; एवं च यदि प्रमाण असत्य है तो पश्यन्ती की सत्यता सिद्ध न होने से वह भी अगत्य है ॥६७-६८॥

तत्सत्यत्वे द्विसत्यत्वमसत्यत्वे न किञ्चन ।  
 साधुशब्दसमुच्चारात् कस्य स्वर्गादियोगिता ॥६९॥  
 पश्यन्त्याश्चेदविद्यात्वं तद्भोगौमुख्ययोगतः ।  
 मध्यमादेर्जडायाः किं भोगेन शबलात्मना ॥७०॥  
 तस्मादसाधुः साधुः स्याच्छब्दविद्याफलप्रदः ।  
 एवं व्याकरणस्यापि समुच्छेद उपैति ते ॥७१॥

पश्यन्त्याः मिद्धिः ? कस्य वा केन वा प्रमाणेन ?? यदि वा येन प्रमाणेन सा  
 व्यवस्थाप्यते तस्य सत्यनेष्टा, नद् द्वयोः पश्यन्तीन्प्रमाणयोः सत्यता प्राप्ता ।  
 प्रमाणस्यासत्यत्वे न किञ्चन स्थितं स्थानं ॥६८॥

वैयाकरणैः साधुशब्दप्रयोगः स्वर्गापवर्गफल उक्तः । "एकः शब्दः शास्त्रपुत्रं  
 प्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति" इति । तथा—

माध्वी वाग् भूयसी येषु पुरुषेषु व्यवस्थिता ।  
 अधिकं वर्तते तेषु पुण्यं रूपं प्रजापतेः ॥  
 प्राजापत्यं महतेजस्तन्मात्रैरेव संवृतम् ।  
 शरीरभेदे विदुषां स्वां योनिमुपधावति ॥ इति ।

तत्फलं स्वर्गाख्यं तावन् कस्य स्यात् नः शब्दप्रयोगस्य कर्त्तव्यं तत्फलार्थिनाया  
 गन्तुः पश्यन्त्येव, योऽप्युपदेशः पश्यन्त्येव, योऽपि तत्स्वरूपे परीक्षकः  
 योऽप्यगन्तव्यः पश्यन्त्येवेति विनात्र परस्य कथनीयमिति चेत् ? एतदेव पुनरपि समर्थनार्थं  
 कथनीयम्, अस्त्येवेति हि तत्र तर्जितस्यस्पर्शमित्यलं भवद्वाक्यप्रयोगेनेत्यर्थः ॥ विशेषप्रतिषेधे

व्याकरण का यह सिद्धान्त है कि एक भी शब्द का सम्यग् ज्ञान कर मुष्ट  
 प्रयोग करने पर स्वर्गापवर्ग की प्राप्ति होती है । इस पर आशय करने हुए वैया-  
 रणवादी का कथन है कि साधुशब्द का प्रयोग करने पर स्वर्ग आदि किमर्क  
 मिलेगा ? जो शब्दप्रयोग का कर्त्ता होगा यदि उसे मिलेगा तो पश्यन्ती वाक्  
 ही तो आपके मन में कर्त्ती है । यदि वह स्वर्गफलार्थिनी होगी तो उसमें भोगानुभव  
 होने का अर्थ है—अविद्या का समाप्त होना । और उसके समाप्त से वह अजड  
 हो जायगी । इस प्रकार आपका पश्यन्तीविषयक सिद्धान्त ही असंगत हो जा रहा  
 है । यदि मध्यमा आदि को स्वर्गफलार्थिनी मानते हैं तो वह तो अविद्याशयल होने  
 से जड़ है । अतः वहाँ भोग की परिनिष्पत्ति ही सम्भव नहीं । इस प्रकार साधु-  
 शब्द का प्रयोग असाधुफल अर्थात् पश्यन्ती में अजडता और मध्यमा आदि में  
 जडत्व का आपादन करने से असाधुफल अर्थात् अशुभफल देने लगेगा और परिणाम-  
 स्वरूप आपके व्याकरणशास्त्र का ही उच्छेद प्रस्तुत होने लगेगा ॥६९-७१॥

वैयाकरणतां त्यक्त्वा विज्ञान्वेषणेन किम् ।

भवतामप्रस्तुतेन न केवलमिहोदितम् ॥७२॥

पश्यन्त्याः कर्तृत्वे स्वर्गभोगौत्सुक्यादिविज्ञानमनैवानुद्धता स्यात् । मध्यमादौ नगी  
दशायामिष्टानिष्टौपलम्भभाजिप्राप्तिपरिहारोक्तत्वेन प्रवृत्तिः । तत्र परमाविश-  
प्रमानिष्टा हि विपर्ययव्यवस्थितिः, तन्मध्यमादेः सविभागत्वेन द्वैतावस्थाने सति  
अवशिष्टावलम्बनता गच्छतां परमाणुप्रतिष्ठेन किञ्चिद्भोगेन, भोग एवाभा-  
न भवेदित्यर्थः । तस्मात् साधुव्यवस्थाः प्रयुक्तः [न] यद्विद्याफलस्य भोगादेर्दत्ता, प्रवृत्त  
पश्यन्त्या अशुद्धभावात्तन्मासाधुव्यवस्थाः स्यात् । एवं साधुव्यवस्थित्या यथावर्णितफलं  
व्याकरणमपि त्वदीयं सम्यक्ज्ञानं हेतुमेव स्यात् ॥७१-७२॥

अर्थप्रतीतिहेतुं यथावदनुमाननव्यापारमेव वैयाकरणत्वं व्यक्त्वा मोक्षप्रयोजनः  
ज्ञानत्रैलोक्यसम्पन्नानामनन्तर्यामी तत्त्वत्वेनेन न तत्रा करणोक्तत्वाप्रस्तुतेन न किञ्चिन्,

नामा य एवतज्ञानमिति त्वेनाह-तद्व्यवस्थितिरुक्त इति । तदर्थमेव पश्यन्तीतिनाम ।  
तदिति—यस्य = प्रमाणस्य । प्राप्तेति—तद्व्यवस्थितमेव । साधु = व्याकरण-  
व्यवस्थितिकारणमिति । तस्मात् = तमेव केवलम्, संवृतम् = गोपितम् । शरीरभेदे =  
मरणक्षणे, ॥७१॥

विज्ञानान्वेषणेन = सम्यग्ज्ञानगवेषणया । अत्रस्तुतेन = प्रमाणावगतेन । तन्  
साधुव्यवस्थानुपादनमात्रेण प्रधानं प्रयोजनं व्याकरणस्य व्यवस्थापितं प्रमाणात्  
नत्र विज्ञानाभासनं व्यवस्थापितमिति का हानिः ?—इति समर्थयामि—न केवलमित्या-  
दिना । समीक्षायां हि—अनेन तेषामत्र विज्ञानप्रतीतिरस्तीति अस्ति ।  
साधि ति—उक्तानीं यदुक्तं तन्मतेनात्रेण “एवं व्याकरणवर्त्तापि तमुच्छेद  
उपैति ते ।” इत्येवंप्रमाणम् । ततोऽत्र ‘साधुव्यवस्थितत्वं नामावृत्तिः’ इति  
“ब्राह्मणेन तेन संवृत्तता । मन्त्रो ह वा एव न ददातव्यः ।” ( पा० म० मा०  
पञ्चशा० ) इति श्रुतिश्च । तथा ‘आहितान्तिरूपमयं प्रयुज्य प्राद्वितीया सारस्वती-  
मिष्टं निर्वपेत् ।” ( पा० म० मा० पञ्चशा० ) इति च । तथाचमन्त्रेण प्रयोजनेन  
सकलपुरुषार्थमायनोपदे-निर्देशस्य व्याकरणमर्थबोधकत्वात् प्रधानमङ्गमिति, तस्मात्

यहि आन व्याकरण के स्वरूप, अर्थात् साधुव्यवस्थापनव्यापार, को छोड़कर  
सम्यग्ज्ञान के द्वारा अवर्ष आदि के प्राप्त करने की बात करने हैं तो यह तो  
आवश्यक प्रयुक्त विषय ही नहीं है । इस प्रकार पश्यन्ती सम्यग्ज्ञान नहीं है, अपितु  
विज्ञानाभास है—तह निष्ठ हो गया । उक्तानीं पृष्टि भवति ने साधुव्यवस्था नामक  
ग्रन्थ में की है और कहा है कि परमेश्वर, जो सम्यग्ज्ञानाधिगम्य है, दिग्देशकाल  
से अनवच्छिन्न है ॥७२-७२३॥





विज्ञानाभासनं यावत् समीक्षायामुदाहृतम् ।

स्वानुभूतिवर्तमानकालेनास्य विभाव्यते ॥७४॥

एवं कालानवच्छेदः कथमस्योदितो हि तैः ।

अनन्तस्यानुभूतिः का परिच्छेदं विनाऽऽत्मनः ॥७५॥

प्रमाणा तेनैव वर्तमानकालेन भविष्यदादिना तदा तस्यावस्थानात् स्वानुभवविषय-  
नाऽप्योपलक्ष्यते; तत्कथं कालविशेषेणाप्यनवच्छेदः ? ॥७४॥

श्वानुभूतिपगमाद् भवेदादि देशकालयोगोऽवश्यंभावोऽनन्तत्वं देशकालपर्यवसान-  
मुच्येत, अतश्चापर्यवमितदेशकालस्य सा अनुभूतिर्न तयाः सम्बन्धो युक्तः उत्तरार्थः ।

हेतुगर्भं विशेषणं चिन्मात्रमूर्तय इति । तदेव व्यापकत्वं प्रमाणादिव्यापारनिरसनं  
समर्थयति—स्वानुभूतीत्यादिना । तेजस इति—प्रकाशरूपत्वाद् । शान्तायेति—  
विकल्पोतीर्णत्वात् । तदेतदाभासरूपतया न सम्यग् रूपमिति कथयति—दिक्कालेति ।  
लक्षणेनेति—असाधारणस्वरूपकथनं लक्षणम् । अन्यथेति—अयं भावः—यदि भवद्विरत्र  
दिक्कालाकारविशेषणत्वेन तस्य विशेष्यस्य तदभावाद्यनव्यमिष्टं न तस्य विशेष्यो  
भवतीत्येवं प्रकारम्, तर्हि परिमितादेव तत् सिद्धमिति; न च तदिष्टम् । अथ किमिति  
परिमितादेवेत्युच्यते ? किमिति न सर्वस्मात् ?—उत्पुक्तौ बाधमाह—अन्यथेति ।

व्यापक इति—यदि हि भवतां सर्वस्माद् विशेष्यमाणत्वमिष्टं स्यात्  
तत्किमर्थं दिक्कालादिविशेषणत्वं निषिद्धम् । अतया हि भवदुक्त्या तेषां विशिष्ट-  
स्वरूपका इत्युक्तं सम्भवत्येवेत्याह—व्यापको हीत्यादि ।

सर्वकालावच्छिन्नश्चेति—तनु च यथा भर्तृहरिणोर्वेऽनन्त इति जगदेन  
व्यापकत्वं नित्यत्वं चोक्तं तथैवात्रापि समर्थकत्वात्वे कथनीयमिति कथमक्तम्—  
'अवश्यं व्यापको यो हि सर्वदिषु स वर्तते' इति ? उत्तरार्थमिति—अत्र हि  
दिग्व्यापनत्वमेवोक्तं भवेदित्यान्वयागभीकारेणाह—उपलक्षणमित्यादि । तदाह—  
सर्वकालावच्छिन्नश्च नित्य इति ॥७३॥

तत्तथा = व्यापकत्वनिवृत्त्यै सिद्धे । तथैव = विशेषणस्यैव । न च भवद्विरता-  
दुत्प्रेक्षासंग्रहेन दिक्कालविशेषावच्छेदं नृदंति कथयति—स्वानुभूतिरिति । तैरिति—

इसके अनिरिक्त 'श्वानुभूती' से "दिक्कालावच्छिन्नचित्त" कारिका ही  
परस्परविरोधी धर्णन कर रही है । पहली बात तो यह है कि जो अनन्त है उस  
आत्मा की अनुभूति परिच्छिन्नता के बिना सम्भव नहीं । दूसरे, जो अनन्त है उसका  
ज्ञान ही सम्भव नहीं है । तीसरे 'मान्ताय तेजसे' यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि  
जो तेजोमय है वह ज्ञान कैसे रहेगा ? और 'चिन्मात्रमूर्तये' जो कहा, वह भी  
असाधु, क्योंकि ज्ञान मूर्त नहीं होता । यह अमूर्त है ॥७४-७५॥

अनन्तेऽवगमः कुत्र तेजस्त्वे शान्तता कथम् ।  
असर्वगप्रमाणं हि मूर्तिर्नो लक्ष्यते चितः ॥७६॥  
अत्रैव शब्दनित्यत्ववादिनो रुढतां गताः ।

तथा हि आत्मनः स्वरूपस्य परिच्छेदम् = एतन्नाम् बिना अनन्ते वस्तुनि कुत्रांशे-  
ऽवगमोऽस्तु, भागानामपर्यवसानान् । अनन्तताप्रतीतिस्तु परिदृष्टावन् पदार्थनिषेध-  
पूरस्मरन्त्वेनाग्राह्यान्तकोटिदीर्घवस्तुमात्रावसायिनी स्फुरति, न स्वगन्धेन रूपेणा-  
परिच्छिन्नेनावभाससम्भवः । परिममाप्तस्वनिश्चयो हि प्रतीतिः । तेजोरूपता  
चेत् ? निराभासत्वाभावात् कथं शान्तता । तत्त्वैकमक्तिः 'शान्ताय तेजसे' इति ?  
उपचारे च किं प्रयोजनम् ? असर्वगतद्रव्यप्रमाणं मूर्तिः काटिस्थं वा न चिद् भवति  
तत्कथं चिन्मूर्तये इति ? ॥७६॥

अन्ये वैयाकरणा एव स्फोटान्तर्येव शब्दात्मानं नित्यमिच्छन्ति, तथैव रुढाः ।

यदि हि नर्थात्वावच्छिन्नत्वेनैव भवतां कालानवच्छेद इष्टः स्यात्तत्त्वानुभूतिरिति  
वर्तमानकालानुभवविषयता कथमस्योच्यते ? ततश्च तैव भयतामिष्टमिति मिथम् ।

अनन्तेति—ननु—

निश्चयेनान्यमिष्टान्नं यो न वेति वृथाश्रुतः ।

स्वयं स संशयानोऽन्यं कथं खण्डेत् स्वल्पधीः ॥

इति नयेन अनिश्चितपराधयेन कथं ग्राह्यते । तथा हि दिवकालानवच्छेदेनानन्तत्वं  
देशकालविप्रकृतत्वेन देशकालापर्यवसानमुच्यते । तथा च देशकालमतिकृष्टं वस्तु  
अव्याप्तमनित्यं चोच्यते, देशकालविप्रकृष्टं तु व्याप्तमिति नित्यमिति कथ्यते । ततश्च  
का हातिः ?—इत्यत आह—अनन्तस्थानुभूतिः केति । अनन्ताय तेजसे इति यदुक्तं  
तदपि न युक्तमित्यत आह—कुत्रेति । चिन्मात्रमूर्तये इति—एतदपि मूर्तिभावं  
विश्लेषति । भेदवादे = वैयर्थिकादिमते । अतश्चेति—यदि भवति अनन्तत्वमुच्यते  
इति शेषः । युक्त इत्यर्थः—इत्यन्नं युगपदेव देशकालापर्यवसानान्नं स्फुटमेवान-  
न्त्यमिति निरस्यति—इयत्तानिति—देशेन कालेन च । अनन्ताप्रतीतिस्तु इति-  
कुत इति समर्थयति ॥७६॥

तत्रापि = नित्यशब्दवन्त्वे । तेषाम् = नित्यशब्दान्वयतत्त्ववादिनाम् । स्फोटा-

स्फोटनित्यत्ववादी नै नित्य एक वैयाकरणसम्प्रदाय ( भर्तृहरि आदि )  
शब्दात्मा को नित्य मानता है । सामानन्द का कथन है कि प्रमाणाभाव आदि का  
दोष दोनों पक्षों (स्फोटनित्यत्ववादी एवं शब्दनित्यत्ववादी) में समान है ॥७६॥

वह इस प्रकार—प्रामाणिक एवं अप्रामाणिक दोनों प्रकार के पक्षों द्वारा

अनादिनाऽथ तेनैव शब्दतत्त्वेन तुल्यता ॥७७॥

आप्तानामभाषितत्वे विशेषो नास्ति शब्दगः ।

नित्यत्वे शब्दतत्त्वस्य व्यङ्ग्यत्वं ध्वनिभिर्न च ॥७८॥

अथ तत्रापि तेषां पञ्चमीरूपेणानादिनिमित्तमना शब्दतत्त्वेन तु वा प्रमाणाभावादि-  
दूषणता स्फोटात्मना वा ? ॥७७॥

तदाह—आप्तानाप्तेत्यादि । अनामभाषितस्यापि नित्यत्वाविशेषान् तुल्य-  
प्रमाणता स्यात् । न च नित्यस्य ध्वनिभिः कदापिद् व्यङ्ग्यत्वं युक्तम् ; नित्यमेक-  
रूपत्वेन व्यक्ताव्यक्ताभोगान् । अथ तथा नित्यमेकमपि चाकाशं ध्वनिभिर्व्यङ्ग्यते  
घटाकाशादि वा घटादिभिः, तथा घटरीणानि ? तत्र तुल्यत्वमत्र ; यतः यदा व्योम्नि

तमना—तु येति सम्प्रदाः । तत्त्वत्वमेवाह—आप्तेति । तुल्यप्रमाणतेति—तथा  
चाव्यवस्था न चेष्टेति भावः । न चेति—तनु च नित्यत्वेऽपि शब्दतत्त्वस्यानाप्त-  
भाषितव्यवस्था भिन्नव्यवस्थाः नित्यत्वेऽपि ध्वनिभिरेव तस्य व्यङ्ग्यत्वादाप्तध्वनि-  
व्यङ्ग्यत्वे सत्यता, अनामध्वनिव्यङ्ग्यत्वेऽसत्यतेति । तथा च न वक्षिद्योष  
उच्यत आह—न केत्यादि । तन्नेति नञ्चदः काकाशिवत् योज्यः । तन्नेति—भवद्-  
चनमदृक्मित्यर्थः । न हि तुल्यमचेति योज्यम् । भङ्गपक्ष इति—तनु च 'अचिन्त्याः  
सक्त्ये भावा न तावन्तौ योजयेत्' उपपातान्तिरेवैतादृशिवयेज्जुमन्तव्या  
कोऽत्र निर्बन्धा यदाभासानिश्चयः । तथा चाभोक्तव्याग्मीनमेवात्र शरणम् ।  
न ह्यचिन्त्येऽपि तर्कानुसृत्य कदापिदपि सत्त्वाभोगिनिष्ठितिः स्यात् । अथ चेत्तर्क  
एव शरणम्, तर्हि किमिति भवद्विर्वयमेव प्रत्याहिताः ? भवतामप्यत्र का युक्तिरिति  
शक्यपूर्वं स्वमात्रं तर्का प्रयत्नः—अस्तु न इत्यादिना । न किं शब्दः शिरस्वाकने;  
न किमायानि ? आनाश्वेत्त्वर्थः । उच्यते शब्दस्याव्याहारोऽत्र कर्तव्यः ॥७८॥

उक्तवचन मे शब्दशक्त्यमन कोई भी भेद नहीं होता । इस प्रकार दोनों में  
शब्दतत्त्व होने में निश्चय होने के कारण दोनों के वचन प्रमाण होने चाहिए । यदि  
यह कहिये कि ध्वनि के द्वारा आसत्त्व अनासत्त्व का भेद करेंगे ? अर्थात् आस-  
त्त्वगुणों की ध्वनि में आसत्त्व का और अनासत्त्वगुणों की ध्वनि से अनासत्त्व का  
अवगणन करेंगे ? तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि शब्दतत्त्व नित्य है । वह  
ध्वनि में व्यङ्ग्य नहीं हो सकता । यदि यह कहिये कि आकाश भी तो नित्य है ।  
किन्तु वह ध्वनि से व्यक्त होता है उसी प्रकार शब्द भी ध्वनि से व्यक्त होगा ? तो  
यह भी ठीक नहीं । क्योंकि आकाश व्यक्त नहीं होता । शब्दगुण आदि के द्वारा  
उसका अनुमान होता है ॥७७—७८॥



व्योमवन्त्वेन तुल्यत्वं सदा व्योम्यनुमेयता ।  
भवत्वक्षे न किं न्याय एष आयाति चेच्छवे ॥७१॥  
तथा ह्यनुसृतत्वात् प्रसूतेः शिवरूपतः ।  
सत्तत्त्वाच्च न तुल्यत्वमतोऽस्मात् प्रविरम्भताम् ॥८०॥

अन्तर्गुणादिनाऽनुमेयता न तु प्रत्यक्षाया व्यक्तिः । शिवद्वैतपक्षेऽपि भवतः  
अन्तर इव विवेचि सत्त्वात्वादिगुणत्वायः किं नापत्तनीति चेत् ? तत्र; जगदपि तत्र  
शिवरूपात् शिवरूपात्पुण्येण तथा सर्वप्रकृत्योगात् यदा प्रपूर्णं तदा शिवत्वापेक्षे ।  
अत एव न सत्त्वसम्पत् । तथा च वक्ष्यते विस्तरतः । तत्र तुल्यत्वं अन्तर्गतपक्षेण  
शिवद्वयस्येत्येतद्गुणपादादनात् विरम्भताम् ॥८०॥

तदेतत्प्रासङ्गिकमुक्त्वा पश्यन्तीमेव पर्वण्योचयन्नाह—अवेति । अथ दर्शनार्थान्वये

शिवरूपत इति—‘एतत्प्रसारसतो वर्द्धितश्चमुक्तिमम्’ इति प्रथमाल्लिके [द्राव्य-  
श्लोके] एवोक्तत्वादित्यर्थः । तुल्यत्वमिति—भवत्त्वेन । विरम्भतामिति—अन्तर्गुण-  
हृण्पादोपपादित्यर्थः । अथवाऽस्मात् प्रविरम्भतामिति त्वत्त्वार्थचक्ष्मा व्याख्येयम् ।  
अस्मादेतन्नाश्रित्य भवमेव अवेतिः प्रकृतेन गुणेन व्यावनाम् । भवमन् त्वत्त्व-  
त्वेन सत्त्वाश्रयत्वमित्यर्थः ॥८०॥

ननु कुतः भवदोषोपपत्तेर, किं पश्यन्ती ?—इति कथ्यतामिति । नहि सर्वत्र  
योगिकोऽपि सम्भवति । नहि हि दिव्यादयोऽपि अन्तः । तत्रैव सक्तिमहिम्नेव  
कुण्डलान्विदवापि पश्यन्तीनिवेशः ? न च वक्तव्यं किमेतन् तथापि पश्यन्ती-

वैयाकरण यदि यह आशय करें कि जैसे हमारे मन में पश्यन्ती का आन (अन-  
मतवादी) प्रमाणहीन सिद्ध कर अनर्थ निद्ध कर रहे हैं उसी प्रकार आंके मन में भी  
परमत्त्व शिव के बारे में भी आगतिक प्रमाण न मिलने से वह भी अनर्थ है; तो  
यह आशय ठीक नहीं है । शिवद्वैत मत में शिव की सम्पूर्ण अवैत का ही विज्ञान  
यह संसार है । अतः यह संसार शिवत्त्व होने के कारण शिव जैसा ही अनर्थ है ।  
जब कि अन्तर्गत पक्ष में यह संसार शिवत्त्व माना जाकर अनर्थ माना गया है ।  
इसलिये इस दोषोपस्थापन से आ विरत हों ॥७८-७९॥

यदि यह कहिए कि पश्यन्ती योगिक या योगरूढ़ शब्द नहीं है बल्कि यह  
यदृच्छा शब्द है और चूंकि यह शब्द स्वीकृत है अतः उसका अर्थ ‘ब्रह्मानुभव’  
ज्ञानवक्त्र’ माना जाता है । तो यह भी कहना ठीक नहीं । क्योंकि यदृच्छा शब्द  
होने के कारण दर्शनक्रिया के साथ उसका कोई सम्बन्ध तो होगा नहीं । अतः वह  
जड़ हो जानसी और जड़ में ज्ञानवक्त्र रहेगा नहीं ॥८०॥

वैयाकरण के एक सम्प्रदाय का विचार है कि “अनादिनिधनम्” इस काशिका

अथ नाम्नैव पश्यन्ती स्फुटमेव जडा ततः ।

ज्ञानशक्तिः स्मृता भङ्ग्या स्त्रीलिङ्गव्यपदेशतः ॥८१॥

शब्दस्य विषयाख्यस्य मिश्रत्वेनेन्द्रियस्य तु ।

सर्वदर्शनविज्ञानशून्यता पदवेदिनाम् ॥८२॥

यस्मादनादिनिधनं शब्दतत्त्वं परा हि वाक् ।

दोषाणाममात्रेण यादृच्छिकेन पश्यन्ती उप्यन्ते, स्त्रीलिङ्गभङ्ग्या च ब्रह्मसम्बन्धिज्ञान-  
शक्तिरूपा सा मता, ततो विरुद्धमेतत्, दर्शनागमन्वयान् जडतामनेः, जडान्मनि च  
ज्ञानशक्तितात्तुपत्तिरिति ॥८१॥

विषयव्यपत्त्येन कर्मतया यस्मादया = प्रतीतिः शब्दस्य तन्त्रेन्द्रियस्य च करणतया  
प्रसिद्धस्य बाष्पस्य मिश्रत्वेन = एकीकारेण यस्मात् तैक्यमनादिनिधनमित्यादि-  
कमभेदाभिप्रायि तयोः, तस्मात्तेन मिश्रीकारेण सर्वदर्शनाज्ञानता पदवेदिनाम् =

जड्येन व्यपदेश्यम्, स्त्रीलिङ्गनिर्देशादेव ज्ञानशक्तिरूपत्वादयस्याः—उच्यपि निरम-  
यज्ञाह—अथेत्यादि । दर्शनार्थमिदमे = वृत्तिभाताः कर्मस्वरूपा यस्याख्ये ।  
यादृच्छिकेन = याकेतिकेन । तथापि किं वस्तु पश्यन्त्या स्त्रीकृतम् ?—उच्यते  
आह—स्त्रीलिङ्गेति । विरुद्धमेतदिति—पश्यन्तीति दर्शनार्थसम्बन्धेनायोगिकत्वे  
स्थितं स्त्रीत्वार्थः । अतो महदाश्चर्यं पश्यन्तीति दर्शनागमन्वयाद्भित्तिवसाधितं तत्रैव  
च ज्ञानशक्तिरिति ॥८१॥

सर्वदर्शनेति—उदासी केचिदनादिनिधनमित्यत्र शब्दतत्त्वंमित्यनेन तथा  
बाष्पपतानित्वञ्च च परावागमिन्ननेनानयोर्वाक्शब्दतत्त्वंयोः परस्परसंयोगेण एव यः  
स एव पर तत्त्वमित्वाहुः । तत्त्वं शब्दतत्त्वं विसृज्य कर्मस्वं ग्राह्यम्, वाक्यतत्त्वं  
च करणत्वं ग्राह्यम्, तथा च ग्राह्यग्राहकधारभेद एव परमावेक्यमिति ।

में 'शब्दतत्त्वं' कह अंग तथा 'वाष्पपतानम्' उस काग्निका में 'परावाक्' यह अंग  
दोनों मिलकर जो गच्छिष्ठ जा बनाने है वही करण तत्त्व है । उसमें शब्दतत्त्व  
ग्राह्य अर्थात् विषय है और वाक्यतत्त्व ग्राहक अर्थात् करण है । और इसप्रकार  
दोनों का भेद ही परमावेक्य है । यह मन वैयाकरण का है । इस मत की  
प्राप्तिना करते हुए सोमानन्द का कथन है कि विषयतत्त्व शब्द और उसका ग्राहक  
इन्द्रिय, दोनों को मिश्रित कर एकसा बनाने वाले वैयाकरण की सर्वदर्शनज्ञान-  
शून्यता स्पष्ट परिलक्षित होती है ॥८१-८२॥

तथापि किसी भी दर्शन में इन्द्रिय और उसके विषय को एक नहीं बताया  
गया है । चूंकि वैयाकरण पश्यन्ती को शब्दतत्त्व भी स्वीकार करने है । इसप्रकार

पश्यन्त्या वर्ण्यमानत्वे हस्ते ग्राह्यैकता पतेत् ॥८३॥

पश्यन्ती हि क्रिया तस्या भागौ पूर्वापरौ स्थितौ ।

एवम् द्रष्टव्यमित्येतद् विमर्शः पूर्वतो भवेत् ॥८४॥

यथा कर्तुः कुलालादेर्घटः कार्य इतीदृशः ।

विमर्श इच्छारूपेण तद्वदत्रापि संस्थितम् ॥८५॥

नैयायिकानाम्, प्राप्ता । न हि क्वचिदपि सांख्यादिदर्शनेषु व्यावहारिकयोगिन्द्रिय-  
विषयोरभेद इष्टः । एवं च वाद्यद्वयं परत्वेनानादिनिमित्तत्वेनाद्वयवादादभेदेन वर्ण्य-  
मानत्वे हस्तेऽपि कर्मेन्द्रिये तद्ग्राह्येण विषयेणैकता प्रमज्जेत ॥८३॥

ब्रह्मणो ज्ञानात्मिकः पश्यन्तीत्यपि भावविषयत्वे तावदप्यपि सूक्ष्मतरमेष्टव्यमि-  
त्याह—पश्यन्ती हति । पश्यन्ती हि दर्शनक्रियात्मिका पूर्वापरौपमायनवा, पूर्वं  
चैतद् द्रष्टव्यमिति विमर्शः कुलालादेरिव घटादिकरणद्रष्टव्यमिच्छात्मकं नवान्,  
तद्वदत्रापि सर्वमेतत् स्थितम् । एवं चेच्छा दर्शनक्रियायाः पूर्वा स्थिता, कस्याप्ये-

तदेतत्तत्पहामं प्रत्याह—सर्वदर्शनेति । कर्मतया = ग्राह्यतया । कारणतया =  
ग्राह्यतया । तयोः = वाक्तव्यचरनत्वयोः । सर्वदर्शनाज्ञानता = सर्वज्ञानज्ञान-  
भिजनत्वम् । एवम्—उच्यङ्गीकारे । हस्त उच्यपलक्षणम् । तेनान्वेषामपि कर्मेन्द्रियाणा-  
मेवमेव बोध्यम् ॥८३॥

ननु विमर्शमुच्यते जडात्मनि ज्ञानशक्तिरिति ? अत्र हि न स्वल्पद्वित्वमा-  
श्रितम्, येन स्वरूपं जडात्मकम्, सा च स्वयं ज्ञानात्मिका शक्तिरिति । नैव हि  
ब्रह्मणो ज्ञानात्मिका शक्तिः नैव पश्यन्तीनि शक्तिरूपा, न तु स्वतन्त्रा काचिदिति ।  
तथा च न तस्यां काचतापि पूर्वोक्तद्रवणावतारसरणिः—उच्यम्युपगमद्वारेण सिद्धान्त-  
यति—ज्ञानशक्तिरिति । उन्मीलितमायुष्मतो विवेकशक्त्या न कारणमत्र विज्ञो  
येन न तूष्णं विकसतीनि भावयन्तेनाह—तावदित्यादि ॥८४॥

उतथा यह वर्णन हस्तरूप कर्मेन्द्रिय की हस्त-प्राप्तता के समान हास्याभेद  
प्रतीत होता है ॥८३॥

इस प्रकार निष्कर्ष यह समझना चाहिए कि पश्यन्ती एक क्रिया है ।  
उसके पूर्व और पर दो भाग हैं । दर्शनव्यापार के पहले 'देखना चाहिए' इस  
प्रकार का एक इच्छारूप विचार क्या उस क्रिया का पूर्वोक्त नहीं है ? अर्थात्  
अवश्य है ॥८४॥

जिस प्रकार घट बनाने वाले कुम्हार के मन में 'घट बनाना चाहिए' इसप्रकार  
का एक इच्छारूप विचार या विमर्श पहले उठता है उसी प्रकार की स्थिति  
यहाँ भी है ॥८५॥

सा स्थिता पूर्वतस्तस्या इच्छायाः प्रसरः कथम् ।  
 यावन्न सूक्ष्म उल्लासश्चितः कार्योन्मुखः स्थितः ॥८६॥  
 तस्या अपि सानरस्ये व्यवस्थावान् स्थितः शिवः ।  
 एवं भवप्रक्रियाया अपि सूक्ष्मतरा स्थितिः ॥८७॥  
 स्थिता सा न पुनः सत्या बाधो वायुगमात्मनः ।  
 इष्यते ब्रह्मरूपत्वं घटादेरपि कथ्यताम् ॥८८॥  
 यथा सर्वपदार्थानां भवगवच्छिन्नरूपता ।  
 तद्वद् वागिन्द्रियस्यापि न पुनः सा परा दशा ॥८९॥

इच्छाया अपि चित्तव्यगच्छन्निर्गुणमनोऽपि मिष्टजनकार्योन्मुख्यक्षणं विना प्रागुक्त-  
 न्यायान् कथं प्रसरः । तस्या अपि शिवो निर्गुणोन्मुखेच्छाजानक्रियाक्रमव्यवस्थाया  
 यत् सानरस्यम् = एकीभावः, समादैनविताः तत्र व्यवस्थावान् = व्यवस्थापकयो-  
 जक्रम जिवभट्टारकः स्थित इति । एवं ज्ञानमस्मिताग्निप्रायेणापि पश्यन्त्या भवक्षण-  
 प्रक्रियां प्रति सूक्ष्मतराश्रयाणि पररूपा निविरिति । ततः साप्यनुमन्तव्या न तु  
 वायुगमात्मिकाया बाधः सत्यात्मना ब्रह्मरूपत्वमेष्वप्यम् । एवमिदमामे भवत्या-  
 विशेषात् घटादेरप्येवमुच्यताम् ॥८८॥

तत्रापि सर्वाधर्मां ज्ञानगोचराणां निवृत्तः प्रवेष्टान् चित्तक्षणपरमेस्वररूपता  
 तस्या = क्रियायाः । ब्रह्मरूपत्वमिति—यदि च सामान्यतयास्या वाच्यतहि  
 घटादेरपि तथा प्रकल्पनामित्यर्थः । अत्रापि = पश्यन्तीविचारे । एवम् = तस्या  
 ब्रह्मत्वे ॥८७॥

इस प्रकार दर्शनक्रिया की इच्छा का विस्तार भी तब तक सम्भव नहीं है  
 जब तक चित्ततन्त्र अर्थात् चैतन आत्मा का कार्योन्मुख रूप उल्लास न हो अर्थात्  
 उच्चतम मन्त्रे प्रथम चरण में है ॥८६॥

उस शिव का भी जब सामरस्य हो गया अर्थात् क्रिया ज्ञान में, ज्ञान उच्छा में  
 निरन्तर जब क्रमरहित हो गई तब तो शिव भट्टारक की स्थिति हो जाती है ।  
 उगी प्रकार आप जो पश्यन्ती से संसार का विकास मानते हैं उसमें पश्यन्ती के भी  
 पहले एक सूक्ष्मतर तत्व की स्थिति मानिये । और वह अवस्था है अन्यथा—॥८७॥

यदि आप वायुनिर्गमनात्मकत्व वाणी को परमतत्त्व मानते हैं तो स्थूल घट  
 आदि को भी ब्रह्म क्यों नहीं मानते ? ॥८८॥

अतः जिस प्रकार ज्ञान के विषयभूत समस्त पदार्थ चित् में अनिरिक्त न  
 होने से शिवस्वरूप है, उगी प्रकार वागिन्द्रिय भी शिवस्वरूप है; वह परमतत्त्व  
 नहीं है ॥८९॥



कण्ठादौ वदने वायोर्वापारो वायुतस्य सा ।  
करणं, नादरूपादिशब्दस्यास्ति शिवात्मता ॥९०॥  
तस्यापि कथिता पञ्चतत्त्वदीक्षाविधौ क्वचित् ।  
न वाच इष्यते तद्वत् तस्मात् सर्वं शिवात्मकम् ॥९१॥

परमार्थतो यथा, तथा वागिन्द्रियस्यापि शेषस्वीकृतिर्भावादनेत्येवमन्वाद्यैः; तथापि वागिन्द्रियवशात् परा न भवति, मायात्मकत्वात् शिवारोधादन्वाद्या तदुत्थानात् । तथा हि कण्ठस्थानादौ वदने काले वदतोर्वागिन्द्रियवशात्तः शब्दाभिर्भावहेतुं यत् नाम तत्तत् सा करणम् । अतः न सर्वत्र शब्दमन्वाद्यात्मकता । अथ नादव्यवस्थं स्मृतस्य मृक्षमस्य परमं न शब्दव्यवस्थि मन्वात्मकः परमातिशयतया तद्विष्टा कथिता पञ्च-  
तत्त्वदीक्षाविधौ = दीक्षायाश्च, न पुनर्यं वाच इन्द्रियकतायाः, परमानन्दस्वभाव्यं वा जगत्तु गुरुम् । अतः सर्वं हि शास्त्रकर्मतोपाशमिति शिष्यम् ॥९१॥

एति श्रीमत्पद्मसंज्ञासहितौ श्रीशिवसूत्रिणी द्वितीयमाह्निकम् ।

यथेति—ननु न वदतोर्वातत् पञ्चतत्त्वमिति कथयामिति यत् सर्वार्थां जान-  
गोचरव्याप्तिरूपं प्रवर्तमानमिति परिपूर्णमप्यत्र परमेश्वरत्वमिति; तथा साम्येऽपि  
वाचः, इमान् विदोः पञ्चतत्त्वमिति वाच्यम् । सर्वान्तिर्भावस्तु सर्वत्र समान  
एवेति ब्रह्मसाक्षात्परिचितेन वदता एव पञ्चतत्त्वमिति वाच्यम्—इत्येव्यादि ।

‘न पुनः सा परावृत्ता’ इत्येतत् कथा शब्दोक्तौ विद्येते मन्वन्तीनि ध्वनितम् ॥९१॥

वदन के कण्ठ वायु आदि किसी एक स्थान में वायु के अभिधान में जो  
बद्धोत्पत्ति होती है, वागिन्द्रिय उगका करण है । और वह उत्पन्न शब्द स्वयं  
शिव है ॥९०॥

पञ्चतत्त्वदीक्षा शास्त्र में उस मन्वात्मक शब्दस्य की शिवात्मकता वर्णित है ।  
किन्तु इन्द्रियवशात् तानों की शिवात्मकता कहीं भी नहीं कही गई है । इस प्रकार  
सब कुछ शिवात्मक है उससे अतिरिक्त कुछ नहीं ॥९१॥

## तृतीयसाहिनकम्

अथ शक्तेः परावस्था यैर्भक्त्या परिगीयते ।

युक्त्या प्रकाशितो देवस्ततः शक्तिदशा यतः ॥१॥

बृ०—अत्र यवादः भिन्नः, पञ्चम्याविचारानन्तरं स्वयंभूतानन्दस्यवादिनः प्रतीक्षातो-  
मारम्भः । तथा च तैस्तु—

यस्या निरुपधिज्योतीरूपायाः शिवसंज्ञया ।

व्यपदेशः परां तां त्वामम्भां नित्यमुपास्महे ॥ इति ।

तत्राह—अथेति । लिङ्गविशेषान्यथातुपास्या शक्तिस्त्वेवैवाभिमन्यमानस्य परावस्था-  
रूपाभिधानं भक्तिरेव, ततः परस्य शक्तिमतीभावात्, शक्तिमदभिज्ञा हि तत्त उद्धृत्यापि

टि०—स्थितः = स्वमिद्वान्तः निश्चयेन दृढीकृतः । स्वयंभूतान् = स्वसमानजान् ।  
आरम्भ इति—न तु निराकरणमित्यर्थः । शक्तेरिति—अयं भावः—शक्तिरिति  
पराधीनत्वादस्याः स्त्रीलिङ्गस्य पुल्लिङ्गविशेषरूपत्वाच्च निद्रा एव, स्वयं तस्यास्वद-  
धीनत्वे यत्परस्याभिधानं ना केवलं तत्तत्त्वोत्कर्षप्रख्यापिका भक्तिरेव । शक्तिस्तत्र  
प्रेमानुशयः रचना च । रचनया संस्तोतृकर्मप्रख्यापनेन शक्तिमत्प्राधान्यमेव सूचि-  
त्यर्थः । ननु च यदि भक्तिरेव तद्व्यपदेशः परन्तु शक्तिमानेवास्त्वयैव स्थापितः,  
अलं तर्हि तान् प्रति प्रत्याक्षेपकरणेनेत्यत आह—युवत्वेति । युक्तिर्हि काश्चित् सूक्ष्म-  
दृष्टीन् प्रत्येवोपयुक्ते इति तदुक्तिरुपगमेव सर्वोपकारकत्वाभावादित्यर्थः ॥ न च तेषां  
शक्तिरेव स्वातन्त्र्येण मतेति मन्तव्यमित्याह—तत इत्यादि । लिङ्गविशेषान्स्था-

बि०—वैयाकरणममत पञ्चम्या के ऊपर विचार करने के बाद अब शक्ति को ही  
परमतत्त्व मानने वाले शक्तिभिद्वान्तवादी के विषय में विचार प्रस्तुत है । इस मत के  
अनुसार शक्ति ही चरमतत्त्व है । वह स्वयं अपने अधीन है । लोकसादृश्य के आधार  
पर जो उसको घनितमान् के अधीन मानकर शक्तिमान् को ही परमतत्त्व माना  
जाता है वह उस शक्ति के प्रति शक्ति ना प्रेमानुशय का प्रदर्शनमात्र है । इस  
विषय में सोमानन्द का कथन है कि—

जो लोग शक्ति के कारण शक्ति की परावस्था का मान करते हैं वे लोग  
प्रकाशान्तर से शक्तिमान् देव शिव का ही प्रकाशन करते हैं । क्योंकि ये ही लोग  
उस शक्तिमान् देव में किञ्चित् उच्छलना इत्यादि शक्ति की दशा का वर्णन  
करते हैं ॥१॥

तथा तद्वचपदेशश्चेद् व्यपदेशः शिवात्मकः ।  
न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी ॥२॥  
शिवः शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीदृशान् ।  
शक्तिशक्तिमतोभेदः शैवे जातु न वर्ण्यते ॥३॥

प्रयोजनवशाद्विचित्र्यमाना तस्यात्मन्येण तदनन्तरं निदेशमर्हति । यतः तैरेव ततः  
परावस्थातोऽनन्तरं शक्तिवशात् किञ्चिदुक्तमन्तेत्यादिनोक्ताः । ततो यैः शक्तेः परत्वं  
गीयते तस्या धर्मभूतया धर्मी स्वाश्रयः स्वतन्त्रो वास्तवाभेदव्युत्पत्त्या देवः = शिवः;  
प्रकाशितः । अनिमित्तमेव तु विज्ञेयात्मनि स्वीकृतिं किमित्यभिनिवेशः; पुस्तं हि  
स्वीयुमयोः नामान्यं लिङ्गम्; तपुंसकं पुनः शक्ततापवायकं तैर्विभक्तिश्चेश्वर-  
निदेशावसरे युक्तोपवादनमित्याभेदाभिधानार्थं शक्तिरहितोः पुंस्त्वेनोक्तपत्तिः ॥१॥

तथा = स्वीकृतिं पश्यन् पश्यन्वैव व्यपदेशो यतः पुंस्त्वेन गोष्ठि व्यपदेश  
उक्त्यायात् शिवशब्दात्मकः कार्यः । अभेदमेवाह—न शिव इति । जगत्या

नुपपत्त्या = नामान्यं पुलिङ्गं विनैवार्थः ॥ ननु च यदि प्रथमतस्तत्त्वात्मन्यभावा  
शक्तिः—'न ब्रह्मेदीक्षिता शक्तिः पृथग्निर्देष्टुमर्हति ।'—इतिन्यायेन युक्तिबोधनार्थं  
भवत्या वाग्भिधानं कथं संभवतीत्यत आह—तत्त्वास्तन्मध्येति । तस्याः स्वयं  
स्वातन्त्र्यं व्याघातविरोधादिपदप्रसङ्गादित्यर्थः । यत्तरतैरिति—न च नैगमन-  
नभिधेयं येन तदुक्तिरन्यथादिवत् प्रतिक्षेपपक्षे व्यवभिधेयत्वाह—तरतैरिति ॥ विशेषेण  
तत्पक्षं व्यवस्थापयति—अनिमित्तमित्यादिना । का हानिरत्र ?—उत्वाह—पुंस्त्वं हीति ।  
नखत्र यदि स्वीकृतिव्यपदेशे विशेषणत्वाद्दोष आनवयते तर्हि पुलिङ्गेऽपि शक्तिरन्त-  
रूपप्रख्यापके दोष आपत्तयेव सखलदृशामिति निर्दोषं तपुंसकलिङ्गमेव गृह्यताम्, येन  
शक्तिरिति स्वातन्त्र्यं तपुंसकलिङ्गेनैव तन्निर्देष्टुमर्हति इत्यत आह—तपुंसकमिति ॥२॥

उक्त्यायात् = पुलिङ्गं नामान्यमिति न्यायात् । न शिव इति—न ज्ञानयोः  
परस्परं भेदो युक्तः येन स्वीकृतिव्यपदेशोऽप्युपपत्स्यत इति स्वमतेन सिद्धान्ताति ।

यदि आप स्वीकृतिं मे भी परमशिव का ही व्यवहार मानते हैं तो ब्रह्म ही  
शिवात्मक ही है । क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् में अभेद होने के कारण पाल्य  
है तो दोनों और स्वीकृति है तो दोनों । क्योंकि शिव कभी भी शक्ति से रहित  
नहीं हो सकते और शक्तिशक्तता की भी बिना जागर अर्थात् शिव के कल्पना नहीं  
की जा सकती ॥२॥

शिव शक्त अर्थात् शक्तिमान् होने पर ही सृष्टिमन्त्रकी पदार्थों को अपनी  
उच्छा से करना चाहते हैं । शक्ति और शक्तिमान् की भिन्नता अन्य दर्शनों में  
अने ही वर्णित हैं, शैव दर्शन में कभी भी वर्णित नहीं होती ॥३॥

शक्तेरेव स्वतन्त्रत्वात् कर्तुं भावान् विचित्रकान् ।

सामर्थ्यं यदि कल्प्येत तन्नामानन्त्यमेव वा ॥४॥

रहितः = शून्यो न यद्यपि शिवः तथापि कथमेक्यं तदाह—न शक्तिर्व्यति-  
रेकिणीति । तथा हि तेन तेनैव वैचित्र्येनैदृशानतिदुष्करानिच्छामात्रेण शक्तः  
शिवः कर्तुमिति व्यवहारेऽप्यभेदः, शक्तितद्गतोर्भेदाच्चाप्युपपन्नमानवान् शैवे न  
कदाचिदवान्तरादिभेदेष्वपि वर्धते यथाऽन्यत्राप्रामाणिक्यदर्शनेषु ॥३॥

तदेव विचारवन्नाह—शक्तेरेवेति । तत्र यदि शक्तिस्तत्किमसौ शक्ता  
करोति ? अथाशक्ता ? अशक्तस्य करणेऽतिप्रसङ्गः; शक्तत्वे तस्याः शक्त्यन्तरयोगे  
शक्त्याश्रयस्य शिवस्यैव शक्तिरिति नाम स्यात् । अथ शक्त्यैव सत्या भिन्नशक्ति-  
योगः ? तस्यैव भिन्नशक्तिः कार्यं कुर्यात्, कथं वा कुर्यादशक्ता ? शक्तत्वे शक्त्यन्तर-  
शैव इति—इदं प्रामाणित्वकथनार्थम्, तेन च तेषामपि तद्व्यवस्थितिरेव दर्शिता  
नामदर्शनस्थितिः । अत एव वृत्तिकारेण स्वसूक्ष्मान् इति कथितम् ॥३॥

अभेदेन व्यवस्थाप्य भेदं तयोः स्पष्टयितुमाह—शैव इति । ननु सत्यमेतत्—  
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्धते ।” इति, तथापि यदेव शक्तिमतः शक्तित्वं  
नाम स्वातन्त्र्यम्, तेनैव तस्य शक्तिमतोऽपि स्वस्वपदानोऽपि शक्तिप्रसार इत्यलं  
शक्तिमत्स्वस्वविशेषेण । येनोक्तम्—“तथा तद्व्यपदेशश्चेद्व्यपदेशः शिवात्मकः ।”  
इत्यादि, तत्र पृच्छति—तत् किमसौ शक्तेरिति ॥ अतिप्रसङ्गः = शून्यादपि सर्व-  
भावोत्पत्तिः स्यात् । अनिष्टोत्पत्तिः प्रसङ्गः । शक्तत्व इति—तदेव शक्तत्वं यत्  
स्वात्मनि शक्यविच्छेदः, शक्तिगमवायं विना शक्तत्वस्यैवानिर्वाहात् । यदि च  
शक्तियोगः शक्तेस्तहि फलितं समैव मनोरथकत्वात्तयेत्वाह—शक्त्यैव शक्तिरिति  
नाम स्यादिति ।

अभेदानामभेदपक्षे न कथंचनापि शक्तिव्यपदेशो यदि शक्तिवादी भेदपक्षमन-  
यागशृणोति—तत्र शिवेऽप्युक्ताह—अथेत्यादिना । यदुक्तं शक्तिमतः शक्तत्वं धर्म-  
भूतं स्वभावकल्पमेव येन शक्तिमानिति व्यपदेशः, तत्र, भिन्नैव शक्तिः शक्तिमत इति—  
तथापि पृच्छति—तद्विज्ञाशक्तिरिति । अत्रापि पूर्ववन्नायः; अशक्तस्य करणेऽति-

आप यदि शक्ति को परतन्त्र न मानकर स्वतन्त्र मानते हैं तो वह बताइये कि वह  
शक्ति विचित्र जागतिक पदार्थों को सामर्थ्यरहित होकर करती है ? या सामर्थ्यवती  
होकर ? यदि पहला पक्ष है तो असामर्थ्य के कारण नृष्टि ही नहीं होगी क्योंकि  
अशक्त कुछ भी नहीं कर सकता । और यदि सामर्थ्यवती है तो वह सामर्थ्य फिर  
किसी दूसरे सामर्थ्य को अपेक्षा करेगा और दूसरा तीसरे को, इस प्रकार अनवरथा  
घोप खा जाता है । इसलिए शक्ति को शक्तिमान् से अभिन्न मानिये ॥४॥



भेदे हि शक्तिः किं कार्यं करोत्युत च शक्तिमान् ।  
शक्तिमानेव शक्तिः स्याच्छिववत् करणार्थतः ॥५॥  
शक्तेः स्वतन्त्रकार्यत्वाच्छिवत्वं न कचिद् भवेत् ।

कल्पनेनानवस्था स्यात्; आनन्त्यापत्तेः । किञ्च शक्तिरपि शक्त्यन्तरयोगात्कुर्वती  
शक्तिमानेव स्यात् । करणरक्षणार्थं प्रवृत्तिनिमित्तात् कर्तृत्वादित्यर्थः; यथा  
शिवभट्टारकः । शक्तेः स्वतन्त्रम् = अनिवचनम्, कार्यं नान्याश्रयमिति शिवता  
नान्यत्र कचिद् भवेत्, इति शैब्यदर्शनानुपपत्तिः स्वपूज्यानाम् । शक्तिं मुञ्चतो  
विविक्तस्य शिवभट्टारकस्याश्रयमे..... तत्त्वात् स्वातन्त्र्ये ज्ञेयनिष्ठत्वाभावात्.....  
नाम्नाजिज्ञेयाप्रकाशनात् । तच्च..... अथवा निजशक्तिव्यापे..... हि तस्य  
स्वस्वातन्त्र्यस्य..... तत्रैव ज्ञानं स्यात्..... शक्तिमतः शक्तेः पृथग्भावेन प्रतीति-

प्रसङ्गः नस्तत्रैव पुरातनस्याप्यन्यत्तत्त्वाप्यस्यदिव्यात्स्वातन्त्र्याज्जवत्त्वाप्रसङ्ग इति ॥  
न केवलं शक्तेः शक्त्यन्तरयोगेन शिवस्य शक्तिरिति भवदभीष्टमेव नाम निर्वहेद्येन  
नवनवविद्वत्वाच्चानुसारेणान्यथावेति साह-किं चेत्यादिना ॥ शक्तिमत्त्वं हि कर्तृत्व-  
मुच्यते, शक्तिमत्त्वं हि करणत्वम्, शक्तेः शक्ततायोगे स्फुटमेव तस्या एव शक्ततायाः  
करणत्वम्, एतस्याश्च तत्रागत् कर्तृत्वमिति शक्तिरपि शक्तिमद्व्यपदेशमिति न काच-  
कापि शक्तिरिति स्यादिति । येन शिवो तत्करयमिति ॥५॥

ननु किमिदमुच्यते शक्तियोगे शिवस्यैव शक्तिरिति नाम तथा 'शक्तिमानेव शक्तिः  
स्यात्' इति च, यत्तद्वदेव शक्तेः शक्तिमत्त्वं कर्तृत्वात्तन्त्र्येण स्वात्मन्येव = अनिवचनमेव  
कार्यकारित्वम् । तथा च कार्यत्वमपि स्वतन्त्रं तदेकाकारं नाम्नाश्रयमिति ?-तदेतदपि  
शिवव्यपि-शक्तैरेत्यादिना । शिवभट्टारक इति-करणरक्षणाश्रमे शक्तता तथा  
शिवभट्टारकस्य कर्तृत्वमित्यर्थः । नान्याश्रयमिति-तथा च कुतोऽयं निर्देशात्तः कुतः-  
शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते ।

शक्तव्योऽस्य अमत्यर्थे शक्तिमांस्तु महेश्वरः ॥ इति ॥५॥

ननु च न शैब्यदर्शनानुपपत्तिः स्वपूज्यानां येनोक्तम् 'शिवता नान्यत्र कचिद् भवेत्'  
इति । अन्त्येव शिवताता विषयः यावद्वि शक्तिरवमायेतः तावन्तैव शिव इति

यदि शिवः शक्तिमाने है तो वह कताये कि नृष्टि का कार्य शक्ति करती है वा  
शक्तिमान् ? यदि पक्ष पक्ष है तो वह प्रकारान्तर से शक्तिमान् हो हुई, अथवा  
आपने प्रकारान्तर से शिवभट्टारक को ही स्वीकार कर लिया । क्योंकि शक्तिमान्  
कारण में कार्य करने के लिए कोई कारण का शिवता अपनी कर्ता चाहिए है ॥५॥

और यदि वह स्वतन्त्र होकर कार्य करती है तो वह क्यों भी शिव नहीं हो  
सकती अपनी उमरे शिव ही होंगी । और फिर शैब्यपति हो जायगी अपनी

मुञ्चतोऽपि निजां शक्तिं स्वातन्त्र्ये ज्ञानमापतेत् ॥६॥

रस्ति केवलमेकस्मिन्नेव यस्मिन् वस्तुनि प्रतीतेः किञ्चिद् भवति तत्समानं शक्तं व्यवहारसारमेवमच्यते शक्तिमानिति ॥६॥

तदाह—न हिमस्येति । शक्तिः = शक्तत्वम् = शक्तस्य धर्मः; न न धर्मो धर्मिणो भिद्यते; तथा हिमवद्भूयोः शीतोष्णस्पर्शान् पृथगुपलभ्येते ॥६॥

व्यपदिश्यते ? तद्व्यतिरेके तु विविक्तत्वात् शिव इति व्यपदेशः केनापहनृयते ?—इति विविक्तविषयत्वात् स्फुटमनयोः स्वकृपलाभोऽन्येव । तत्राह—स्वातन्त्र्ये ज्ञानमापतेत् इति । अयं भावः—यद्यत्र भवद्भिर्विषयवेदेन व्यवस्थाप्यते तर्हि तावत् 'शक्त्या गर्भा-न्तर्धत्तस्या शक्तिगर्भे परं सहः ।' इति लक्षणं शिवभट्टारकस्य भवदन्तरोधेन छिन्नात् । छिन्नं वा नास्त्येव नव कोऽपि भरः । तथापि 'स्वातन्त्र्ये ज्ञानमापतेत् ।' स्वातन्त्र्यं हि स्वतन्त्र्येन शक्तिमत्तः स्वभावगुणो धर्मः स्वभाववन्तं विना न कथनार्हमिति भावः ॥ 'भ्रुवर्गमे' इति प्रसूति 'ज्ञानं स्वात्' इत्यन्तं निम्नलिखितः पाठः कर्माख्योपग्रन्था-लक्ष्मीपाण्डुलिप्यां दृश्यते—नास्त्यत्र भवता विप्रतिपत्तिरस्वभावनाऽपि केवलं स्वातन्त्र्ये शक्तिमत्तं विनाऽपि शक्तौ स्वभावभूते धर्मे ज्ञानं स्वतः संभावनार्थापत्तिरायाति । न चेष्टा, नहि भवताम् । किञ्चिद् भवतीति—आश्रित्यसिद्ध तस्याः स्फुटस्वरूपं किञ्चि-ज्जलनात्मकत्वात् । व्यवहारसारम् = किञ्चिच्चलता । शक्तिमानिति—इदमेव तात्पर्यम्—एकमेवेदं स्वस्वभावार्थं शक्तिगर्भे शक्तिगतस्वरूपं तत्रैवाद्देशे यत्किञ्चित् प्रतीते-रश्रित्यं यदा स्फुरति तत्तदा शक्तिरिति भण्यते । तदाश्रयत्वेन च तत्समानं तदेकगंधट्ट-मोदुव्यवहारसारं चलतात्मकस्वरूपाभासनविश्रान्तिसारम्, अत एव शक्तिमिति तच्छक्ति-महितां शक्तिमानिति कथ्यते, न तु शक्तिशक्तिमतोर्वस्तुनो भेदो लक्ष्यत इति ॥६॥

तन्वस्तु शक्तिशक्तिमतोरभेद एव तथापि यथाऽग्नितदीष्णयोर्हिमदीप्तयोश्चा-भेदेऽपि औष्ण्यशैत्याभ्यामेव व्यवहारो नाग्निना, नापि हिमेन, तथाऽज्योरपि चाग्नेदेऽपि शक्त्यद्वयवाद एव युक्तियुक्तः न शिवाद्भवत्वाद् इत्याक्षेपाह—न हिमस्येति । अयं भावः—सत्यमेव शक्त्यैव व्यवहारदर्शनात् तद्वत्त्वाद् एव वक्तुं युक्तम् इत्येतद् यद्यपि, तथापि न धर्मिणं विना धर्मो व्यवहारशक्तः । न हि हिमाग्नी विना जैत्यो-ष्ण्यदर्शनी जातुचित् सम्भवतः तद्व्यवहारेऽपि । तथा शक्तिगम्यत्वेऽपि सर्वत्र तद्व-

त्वेदर्शनं वा आधार हो विवृत हो जायगा । और यदि वह शिव आनी शक्ति अर्थात् स्वातन्त्र्य को छोड़ देगा तो वह स्वातन्त्र्य ही ज्ञान का विषय हो जायगा और शिव ज्ञान का विषय नहीं रह जायेंगे । व्यवहार में भी देखा जाता है कि शीतलता हिम से और उष्णता अग्नि से पृथक् नहीं होती । इसी प्रकार शक्ति का भी शिव से पृथक् होना सम्भव नहीं है ॥६-६॥

न हिमस्य पृथक् क्षैत्यं नाग्नेरौष्ण्यं पृथग्भवेत् ।  
 मन्त्रस्तम्भनतायां हि नासौ वह्निस्तदोच्यते ॥७॥  
 हेमादिवद्भास्वरं तद् द्रव्यं तैर्व्यभिचारितम् ।  
 यद्यौष्ण्यव्यतिरेकत्वे दृष्टान्तो दाहकाश्रयात् ॥८॥  
 शैवैः सद्भिर्वाच एव पश्यन्त्यादिक्रमे स्थिताः ।  
 कल्पितास्तैरशैवत्वमात्मनः प्रतिपादितम् ॥९॥

मन्त्रेणौष्ण्यस्तम्भनं यस्य तथा शक्तिव्यतिरेकता शक्तिमत उच्यते । तत्र उक्तं वह्नित्वम्, तदभावे यत्ताग्नेरौष्ण्यं तापशून्यत्वे यत्तस्मादानीमसौ वह्नित्वसंज्ञो मन्त्रेणैव यथा सुवर्णादि द्रव्यं भास्वरम् । अथ तैरेव हेमादिभिरग्निमंजतेजोमहाभूतान्मभि-  
 (रग्निमहचरिभिः) रेव दृष्टान्तो यदि (शक्तिव्यतिरेकता शक्तिमत उच्यते तत्र दोषः यतो) दाहकत्वेन तत्र उष्णः सन् (य) वह्निः शक्तिव्यतिरेके दृष्टान्तीकृतो न वह्निमात्रम् ॥८॥

व्यवहारदर्शनात् तथा यस्मिन् व्यवसाय व्यवहारो युक्त इति शिवाइत्यत्र एव युक्ति-  
 युक्तोऽङ्गीकृत्य इति ॥ यद्यपि हिमवदन्त्योरत्र दृष्टान्तत्वेन व्यपदेशो युक्तस्तथाऽप्यनु-  
 भवशक्तिनामोक्तकर्मस्वाभावतया दार्ष्टान्तिकत्वेन योजित इति बोध्यं तद्दाह-तथेति ॥९॥

ननु च यथा मन्त्रेणौष्ण्यशक्तितत्त्वमनेऽपि वह्नेर्गोममानव्यान् 'वह्निस्त्वम्' इति  
 मयीं प्रत्येति, तथा शक्तिव्यतिरेकेऽपि तस्य व्यवस्थानान् कर्मयुक्तं 'युवतोऽपि'  
 इत्यादि ? तथा, यथा च तत्र पृथगेधान्वया कथं मन्त्रेण स्वम्भनं विधेदिति, तथा  
 च शक्त्यनयोऽनेन उक्तत्र समर्थयति—मन्त्रस्तम्भनेत्यादि ॥७॥

मन्त्रेणौष्ण्यस्तम्भनं यस्य तस्य वह्नेर्यथा शक्तिव्यतिरेकत्वे तथा तत्कृतितत्त्व-  
 स्मनतायां वह्निः स्वभावेन निष्ठो न न तेनैव वह्निरिति ज्ञानम् । तथा ज्ञानवपगमे  
 शक्तिव्यतिरेकता । न च ज्ञानवैव शक्तिमत्त्ववपवपदेश उक्तार्थः ॥८॥

यदि यह कहिये कि मन्त्र के द्वारा अग्नि की उष्णता को स्तम्भित अर्थात् नष्ट  
 कर देने पर भी वह अग्नि बह्नायी ही है तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि उस  
 दमा में वह अग्नि नहीं बहो जायगी बल्कि सुवर्ण आदि के समान भास्वर द्रव्य  
 कही जायगी । यदि दाहकत्व के अभाव में भी ज्ञाप उने वह्नि मानते हैं तो  
 उष्णता के रहने पर दाहक होने के कारण वह वह्नि है, दाहक न होने पर वह्नि  
 नहीं है यह दृष्टान्त ही व्यभिचारित हो जायगा ॥७-८॥

धैवद्रव्यन के अन्य विद्वान् जो यह मानते हैं कि पश्यन्ती आदि वाणियाँ ही  
 विश्व के विकासक्रम में स्थित हैं और इन प्रकार समस्त विश्व शक्तियुक्ततम  
 ही है; वे लोग अपने ही सिद्धान्त में अपने को अशैव सिद्ध कर रहे हैं ॥९॥



शैवे वाच इन्द्रियत्वमथ नादादिनोदिता ।  
तदभ्यासे फलावाप्तिः सूक्ष्ममन्त्ररश्मिरूपता ॥१०॥  
कथिता कालपादादौ नादाख्यं यत्परं त्विति ।  
परापरादिभेदश्च तत्रैव प्रतिपादितः ॥११॥

अन्यच्च यैः शक्तिवादिभिः “अन्या निरूपयिष्योतीरूपायाः शिवसंज्ञया ।  
व्यपदेशः.....” इत्येवमभिधानात् शैवज्ञानस्थितिरपि तद्विवाच एव शिव-  
व्यवस्थिताः = पश्यन्तीमध्यमार्थकरीमंजाभिधिश्रुतात्मतया कल्पिताः; यदाहुः—  
“.....सावतोन्मेषभागणः ।

न तावदर्थं वर्तते स चोन्मेषः क्रिया मता ॥  
क्रिया च नानारूपैव.....”

इत्युपक्रम्य—“स्वमयभावस्थितिं मुक्त्वा तन्मात्रान्वाग्निं मा दद्यात् ।

शिवे यस्या न वाग्रूपं सूक्ष्ममप्राप्तमिति ॥”

इति तैरशैवत्वमात्मन उक्तम् ॥९॥

तथा हि शैवे हि वाचः सांख्य इव कर्मेन्द्रियत्वमेवात्यन्ताश्रयतनदशायाम् ।  
अथ ‘नादे प्रलीनचित्ते’ इत्यादिना वाच एव फलावाप्तिः कथिता सूक्ष्ममन्त्रात्मकता  
काव्योत्तरादौ—

‘नादाख्यं यत् परं बीजम्.....’

इत्यादिना परापरादिभिन्नता चोक्ता इति, तस्मादनेन शैवग्रन्थेन वाच एव परात्मता

अथेदानीं स्वातन्त्र्यापरपर्यायसक्यद्वैतपक्षेऽनुपपन्नेऽपि चान्ये शक्तिवादिनः  
पुनरपि प्रत्यवतिष्ठन्ते । पश्यन्त्यादिवाच एव मन्त्राद्विश्वमागुर्य यतो वर्तन्ते ततो  
वाचः शक्तिरूपत्वाद्वागद्वैतमयं शक्त्यद्वैतमयं सर्वं विश्वम्; अलं शिवाद्वैतवादेनेत्यत  
आह—‘शैवैरन्यादि ॥९॥

अथैतन्नायं भावः—वैयाकरणैर्हि कर्णरूपा बुद्धीन्द्रियादप्यतिनिकृष्टकर्मेन्द्रियरूपा  
पशुप्रमातृभिस्तिर्यगादिभिः साधारणा ध्वनिजनिकाहंकारवृत्तिरेव काचिद्वाक्-  
पाण्यादिवदभ्युपगता कथं तत्र परत्वमिति ? अथ सामान्यं शूलसूक्ष्मरूपमाश्रित्य

उक्त शैवसिद्धान्ता “नादे प्रलीनचित्ते.....” इत्यादि के द्वारा वाणी को  
इन्द्रिय ही मानते हैं और उनके अध्याम ने इष्टफल की प्राप्ति होने में उनको  
सूक्ष्ममन्त्ररश्मि मानते हैं । आगे शैवतन्त्र में ‘नादाख्यं यत्परं बीजम्’ वाक्य के द्वारा  
नाद को पर तथा वाणी को अपर कहा गया है । इस प्रकार वाणी के पर-अपर  
का भेद शैवतन्त्र में ही प्रतिपादित है । फलतः वाणी का परत्व शैवतन्त्र में  
वर्णित है और वैयाकरण को तो मान्य है ही ॥१०-११॥



इत्यनेन वर्णिताऽत्र वाच एव परात्मता ।  
नैतन्न वाचः कथितं पतिशब्दस्य वर्णितम् ॥१२॥  
शब्दस्य विषयाख्यस्य न कदाचिदुदाहृतम् ।  
तथा चाह खेटपालः शब्दरार्शोविशेषताम् ॥१३॥

कथमयुक्ता ? परं त्रिति तुशब्दः पादपूरणे ॥ तदेतत्तः न हि वागिन्द्रियस्य  
वद्वानुव्यवस्थितस्य तत्तत्र कथितम्, विषयाख्यस्य वा शब्दस्य तत्तत्त्वं कदाचित्  
क्वचित् प्रतिपादितम् अपि तु पनिभावे ईश्वरतामभापत्तौ यो महामन्त्रमयः शब्दनात्मा  
तस्योक्तम् ॥१२॥

खेटपालगुणः श्री स्वायम्भुवशास्त्रदीपायां किं शब्दरार्शोविशेषोऽस्ति ।"  
इत्यादिष्व "बाह्यमेकः शिवात्मकोऽन्वयश्च पाशात्मकः" इत्यादिना परत्वेन  
शब्दरार्शोविशेषस्य कर्तृशक्तावयवत्वात् विशिष्यमाणतामाह न तु शब्द इत्येव  
कृत्वा शब्दरार्शोविशेषत्वम् । तथा व्याहृतिनिर्गमकेन गुणता नतङ्गटीकायांमेवमेव  
विशिष्टमुक्तम् । तथोक्तम्—"प्रमातृभूविगतानां सन्त्राणां परभूनिगतानां च  
पृच्छति-अथेत्यादि । कालपादादौ = यैवतन्त्र एव । तत्रैव = कालपाद एव ॥११॥

नैतन्नेति-अत्र हि 'अहम्' इति वाक् शुद्धकर्तृत्वप्राणा अगंकुचितमहामन्त्रमयी  
शब्दतत्त्वा या तस्या एवेनदुक्तमित्यर्थः । ये पुनरमी मायीया वर्णाः शब्दात्मानस्ते  
घटादिस्थानीयाः; तदुत्थापकं चाधिकल्पसविकल्पत्वं पश्यन्तीमध्यमात्मकं ज्ञानं  
ज्ञानान्तरस्वानोयं च; तन्निरुक्तं च वागिन्द्रियं पाण्यादिस्थानीयं द्वैतात्मकमायापक्ष-  
निशितं च; तत्कथमिव परतत्त्वं स्वादिति ? ननु यत्र तत्रापि स्वकृत्यप्रसाधकत्वं  
दृश्यते तत्र किं कथनीयम् ?-अत्रोच्यते-तत्तु 'अपि त्वात्मबलस्पर्शात्' इति परत्व-  
बलस्पर्शकृतमिति । तत्र = कालोत्तरादौ ॥११॥

उच्यते वाचो न जातुचिदिति-अत एव भट्टनारायणेनाप्युक्तम्-

सुगिरा चित्तहासिष्या पश्यन्त्या दृश्यमानया ।

जयत्युल्लसितानन्दमहिमा परमेश्वरः ॥ इति ।

अत्र च पश्यन्तीशब्देन श्रीमदाशिवभूमिर्गानेशक्तिस्वभावा योक्ताऽमी महापश्यन्तीनां

किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि वाणी का स्वामी पशुप्रमाता वदजीव है ।  
उमके द्वारा किया गया कथन पतिप्रमाता का कथन नहीं हो सकता । और चूंकि  
पतिप्रमाता का कथन ही परतत्त्व हो सकता है इसलिए पशुप्रमाता के द्वारा  
उच्चरित शब्द परतत्त्व नहीं हो सकता ॥१२-१२३॥

अथाध्वम्भुवस्य टीकायां बाढमिथादिना गुरुः ।  
 तथा मतङ्गटीकायां व्याख्यानिगुरुणोदितम् ॥१४॥  
 मन्त्राणां परशब्दानामुक्तं वाचो न जातुचित् ।  
 तत्र वा तदुपायत्वात् परत्वेनोपधारिता ॥१५॥  
 किरणेषु तथा चोक्तं नादबिन्दुादिनेदृशम् ।  
 तदुपायात् परत्वं चेद्दीपादेरप्युपायता ॥१६॥

शब्दाणां न तु वागिन्द्रियस्य कदाचित्; वागिन्द्रियं हि मायापद एव स्थितम्, शब्दस्तु परतन्मात्ररूपः परब्रह्मनहाभूतभयः परमेश्वरस्य पञ्चब्रह्मविन्दुासे ब्रह्ममुच्यते ।” दशितं चैतदीश्वरप्रत्यभिज्ञायात् ॥ अथ परमशब्दप्राप्त्युपायत्वात् परत्वं पश्यन्त्या एवोपचारयोगेन मतम् । तथा च श्रीकिरणसंहितायां नादबिन्दुादिनेर्वाविधमुपचारवस्तु कथितम् । किरणादावन्यथा तदुक्तम्, तत्र प्रत्यगात्मरूपाणामविनागात्मिका परमहापश्यन्ती, तथा च योऽनावानन्दमहिमा परमस्वानन्ध्यात्मोऽन्धमनीयः सा भगवतः परा वागिति ॥ ननु किमिदमुच्यते—

“शैवेः तद्भिर्वाच एव पश्यन्त्यादिक्रमे स्थिताः ।”

“तैरशैवैः तन्मात्मनः प्रतिपादितम् ॥” इत्यादि ।

यतः पश्यन्तीज्ञानशक्तिमयीत्वादस्याः परमंचिदुपायत्वात् परत्वमुच्यते । दृश्यते हि उपायत्वेऽप्युपेयताऽऽरोपः, यथा परेऽविमर्शोपायत्वाच्छास्त्रस्य संबिद्विमर्श एव शास्त्रमिति भण्यते तथेहापि ?—इत्याशङ्क्याह—तत्र वेत्यादि ॥१५॥

यदा यदाशिवभारत्वे ‘अहम्’ इति चमत्कृतिरन्तःकुतानन्तविश्वेदन्ताचमत्कृति-पूर्णवृत्तिः स्यात् पश्यन्ती स्वात्मानं परमंचित्परावर्तितकं करोति तदा तदुपायत्वा-

यही बात स्वाध्वम्भुवशास्त्र की टीका में खेटपाळ गुरु ने भी कही है “शब्दराशि का वैशिष्ट्य क्या है ?” यह प्रश्न कर उन्होंने कहा—“एक शब्द शिवात्मक है दूसरा पाशात्मक ।” यह कहते हुए उन्होंने मन्त्रों के परत्व की ओर संकेत किया है न कि पाशात्मक शब्दों की ओर । यही बात व्याख्यानि नामक गुरु ने भी मतङ्ग टीका में कही है ॥१३-१४॥

अथवा मन्त्र अर्थात् पर शब्द की प्राप्ति का उपाय होने से पश्यन्ती को भी लाक्षणिक रूप से पर मान लिया गया है । श्री किरणसंहिता में भी नाद बिन्दु आदि के द्वारा लाक्षणिक रूप से पश्यन्ती का ही वर्णन है ॥१५-१५॥

किन्तु यह भी अनुचित है । क्योंकि यदि उपायात्मक माधनों को आप साध्य की श्रेणी में रखते हैं तो दीन आदि भी ज्ञान के साधन हैं उन्हें आप पर मानिये; यदि यह अस्वीकार्य है तो वह भी अस्वीकार्य होना चाहिये ॥१६॥

तस्मात् समग्राकारेषु सर्वासु प्रतिपत्तिषु ।  
विज्ञेयं शिवरूपत्वं स्वशक्त्यावेशनात्मकम् ॥१७॥  
स्वनिष्ठे शिवता देवे पृथिव्यादावपीदृशम् ।  
पिण्डे वा कटिकायां वा किं सुवर्णत्वमिष्यते ॥१८॥

तदुपायमात्ररूपत्वात् परमं दीपतरपि ज्ञानोपायत्वात् परताप्रसङ्गादियेषां शैव-  
दर्शनस्थानां पश्यन्तीपरत्ववार्तात्पक्षः । पूर्वोक्तनीत्या च स्वतन्त्रशक्तिवादः  
प्रवृत्ताऽप्येषामयुक्तः ॥१६॥

तस्मात् चक्षुःमात्रवाद्यान्तुपपन्नत्वात् सर्वासु प्रतीतिषु इन्द्रियमनोमात्रजन्यामु-  
ये स्फुरन्ति आकाराः, तेन सर्वमेव चक्षुःमात्रगर्वाच्छिवरूपत्वं स्थितं ज्ञेयं पूर्वोक्तपर्व-  
निजशक्तिसामरस्यमयमुपदेशमगमम् ॥१७॥

यथा स्वनिष्ठे शिवनामावस्थितो परमेश्वरे शिवता = सर्वव्यतिविलोला,  
तथा पृथ्वीपर्यन्तायामपि तादृशमेव रूपम् । न हि तत्तद्भूषणादिव्यक्तावयवविकारम-  
प्राप्त एव पिण्डे कस्यचिद्व्यभिन्न एव सुवर्णता न तु कुण्डलादिविति वक्तुं शक्यम्,  
त्वरत्वं केनाप्यस्तूयत इत्याह—अन्वयेति । पश्यन्तीपरत्ववादः = पश्यन्त्वामेव तात्पर्येण  
यत् परत्वं तद्वाद उक्त्यर्थः । प्रवृत्तोऽपीति—अनेन पश्यन्तीपरत्वोपगम एषामप्रकृत  
पक्षेऽन्यर्थः ॥१६॥

इदानीं सर्वमतानुपपत्त्या यन्मिदं तत्कथयति—तस्मादिति । तदिदानीं  
शक्त्यद्वयवादः कथंचनानि नोपपन्न इति स्थिते यत् फलितं तदाह—तस्मादिति ।  
आकारः = पदार्थवपुः, प्रतिपत्तिः = तदाकारप्रतिज्ञानकारणम् । तदेवं स्थितं  
द्वितन्त्रमयमेव सर्वं विश्वं तदन्वर्मात्रात् सर्वस्य, तेन सर्वमेव योऽचिन् पञ्चवजातं  
तत्सर्वमेव ब्राह्मणप्रलयमयमेव । तत्र सर्वत्र शिवरूपत्वं तत्सर्वं शिवमयमेव । आचार-  
निर्देशस्तूपदेशवज्जापेक्षया । ननु 'नाप्रकाशः प्रकाशेन' इति नीत्या मिदमेवैतत्;  
कोऽयं चमत्कारः ?—इत्यत आह—'स्वशक्त्यावेशनात्मकम्' इति । पञ्चशक्ति-  
नामरस्यात्मकं यच्छिवतत्त्वं तदेव सर्वं यदादिनदार्थज्ञाननोत्पत्त्यर्थः ॥१७॥

अतः शक्त्यद्वैतवाद के अनुपपन्न होने से यह मानिये कि इन्द्रिय मन आदि  
के द्वारा जो भी आकार स्फुरित होने हैं वे सब पञ्चवजात के सामरस्यस्वरूप  
शिव के ही रूप हैं ॥१७॥

यदि देवता में शिवत्व मानते हैं तो पृथिवी आदि में भी शिवत्व मानिये क्योंकि  
वह भी तमन्य ही हैं ॥१७॥

जिन प्रकार आप यह नहीं कह सकते कि पिण्ड और कंटा में सुवर्णत्व है,  
कुण्डल और केयूर में नहीं है; बल्कि सर्वत्र आपको सुवर्णत्व मानना ही पड़ता है



न भूषणे कुण्डलादौ यथा तत्र स्वशक्तिः ।  
 रूपकत्वं गतं हेम न शक्यैव स्वतन्त्रया ॥१९॥  
 तथेच्छया समादिष्टस्तथा शक्तित्रयेण च ।  
 तथा तथा स्थितो भावैरतः सर्व शिवात्मकम् ॥२०॥  
 इत्युक्तेऽत्र समाक्षेपः पक्षस्यास्य विधीयते ।  
 आदौ तावद्विकारित्वं शिवतत्त्वस्य जायते ॥२१॥

अपि तु सर्वत्रैव साम्येन स्वयं विकारापत्तिशक्तियुतं हेमैव स्थितम्, पिण्डाभ्य-  
 मुवर्णमेव तथा शक्तिम् प्रसरति । कुण्डलमपि पुनरभ्यश्चा प्रसरति शक्तिमदेव ।  
 न तु शक्तिरेव स्वतन्त्रा हेमस्तथात्वज्ञारणम् । तस्यास्तद्व्यतिरिक्ताया अनुप-  
 लक्षणात् । दृश्यमानहेमरूपत्वे च शक्तेर्नास्ति विवादः; तस्या अपि च पुनः  
 कुण्डलादिगमने शक्तिरेष्टव्यत्वादि प्रागुक्तम् । एवं सुवर्णवत् परमेश्वर एव  
 पूर्वोक्तेच्छादिशक्तिमान् तथा तच्च भुवनकार्यकणादिप्रकारवैचित्र्येण सर्वैः पदार्थगन्धि-  
 भूतलक्षणैः स्थितः; अतः शिवात्मकमेव सर्वं न तु शक्यात्मकम् । व्यावहारिकशक्ति-  
 भेदाश्रयणे तु शक्यात्मकमुक्तम्—‘शक्तयस्तु जगत् कृत्स्नं.....’ इति । वस्तुतस्तु  
 शिवात्मकमेव ॥२०॥

एवं शिवात्मकत्वे सर्वस्यैवोक्तेऽस्मिन् सति परैरस्य पक्षस्य बहुमुखमाक्षेपः  
 क्रियते । विश्वात्मकत्वे चिन्मयस्य शिवतत्त्वस्य शश्वदेवोपचयापचयरहितस्याभि-  
 मतस्य विकारिता मृदादिनाम्येन प्राप्ता, इत्ययमेव प्रथमतो महान् दोषः । पृथिव्या-

एतदेव दृष्टान्तप्रदर्शनद्वारेण समर्थयति—पिण्डे वेत्यादि । व्यक्तौ = अवयव-  
 विकारं प्राप्ते । इत्यादि = अनवस्थादि ॥२०॥

क्योंकि सुवर्ण ही स्वर्णकार की इच्छा से भिन्न-भिन्न रूप को प्राप्त हुआ है न कि.  
 स्वयं अपनी शक्ति से; उगी प्रकार इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन तीन शक्ति-यों से  
 आविष्ट शिव ही सर्वत्र भिन्न-भिन्न रूपों में स्थित है । अतः सब कुछ शिवात्मक  
 है ॥१८-२०॥

इस प्रकार मिद्धान्ती के कथन पर हमारे का आक्षेप है कि यदि सब कुछ  
 शिवात्मक है तो इसमें निम्नलिखित अनौचित्य होगा—

१. शिव के विश्वात्मक होने पर चिन्मय शिव मिट्टी आदि के समान विकारी  
 हो जायगा ।

२. भिन्न-भिन्न विकृत रूपों में परिणत होने के कारण वह पृथिवी, जल आदि  
 के समान जड़ हो जायगा ।



नानाविकाररूपेण जडतैवमवस्थिता ।  
 तथा सावयवत्वं च पराधीनत्वमेव च ॥२२॥  
 क्षीरवत् परिणामित्वे शुद्धाशुद्धपरापर-  
 न्यूनत्वादि विनाशित्वं तथोल्लङ्घननिष्कृतिः ॥२३॥  
 यत्रोपरि न हस्तोऽन्यन्नेयमीश्वरसंनिधौ ।  
 तत्र पादविहारादेः स्फुटमेव निषिद्धता ॥२४॥  
 एवं सति समग्रस्य व्यवहारस्य भङ्गिता ।  
 तथैवं संप्रवृत्तौ तु निमित्तकलनाऽऽपतेत् ॥२५॥

दिवेद्यवस्तुनानारूपेण चावस्थाने जडताऽस्य । तथा = तद्वन् सावयवत्वम् ।  
 निदेकरूपस्यापीश्वरस्यापि चोत्पत्तिविनाशेषु अन्यापेक्षतया योग्यत्वात्वेन च  
 परायत्तत्वम् । क्षीरदधिवन् परिणामवादाभ्युपगमे शुद्धाशुद्धादिविरोधिरुपापत्तिः ।  
 यथा क्षीरं शुद्धं मूलत्वेन परिणतमशुद्धम्, तथा प्राकृतदशायां परता महत्त्वं च ।  
 कार्यकलापावस्थाने तु अपरता न्यूनत्वं च । तथा पूर्वावस्थाननाशे तदनेदान् तस्मैव  
 नाशोऽमत्कार्यवादाश्रयणे वा । तथा पृथिव्याः शिवरूपायाः पादलङ्घननिष्ठीवनादि-  
 विषयत्वे प्रायश्चित्तापत्तिः । यस्मिन् व्यवहारे सत्तिहिने ईश्वरेऽन्यस्य तथैव चोपरि  
 हस्तोऽन्यत् = काष्ठादि च न नेतव्यं तत्र पादन्वासादिक्रिया निकृष्टवान् दूरोत्सा-  
 रित्वेन । एवं च पादविहारादेर्विराधे सर्वव्यवहारोत्पादः । शिवभट्टारकस्यैव च  
 विश्वात्मनाऽवस्थानप्रवृत्तौ निमित्तं विचार्यम्, तस्य कर्माद्यविषयत्वान् ॥२५॥

३. इसके अतिरिक्त जड़ता आने पर सावयवत्व और फिर घट पट आदि  
 के समान योग्यता होने से शिव की पराधीनता होगी अर्थात् स्वातन्त्र्य का लोप  
 होगा ।

४. जिस प्रकार क्षीर शुद्ध है किन्तु पीने के बाद उसका परिणाम मूत्र अशुद्ध  
 होता है उसी प्रकार शिव भी शुद्ध-अशुद्ध, प्रकृतिरूप में पर एवं महत्, विकृतिरूप में  
 अपर एवं न्यून आदि तथा इस प्रकार नश्वर भी होने लगेगा ।

५. पृथिवी भी शिवरूप है इसलिए उसके उल्लङ्घन, उस पर निष्ठीवन, मल-  
 त्याग आदि करने से समस्त जीवलोक प्रायश्चित्त का भागी बनेगा ।

६. जहाँ यह नियम है कि ईश्वर के समीपस्थ होने पर किसी के ऊपर हाव  
 या काष्ठ आदि नहीं रखना चाहिए वहाँ पैर आदि रखने की बात तो बहुत दूर  
 की है । वह तो स्वयं निषिद्ध है । इस प्रकार 'सर्वं शिवात्मकम्' ऐसा मानने पर  
 संसार का व्यवहार ही रुक जायगा । इस प्रकार का सिद्धान्त मानने पर सांसारिक  
 व्यवहार का निमित्त क्या होगा यह भी एक सोचने की बात हो जायगी ॥२१-२५॥

नानाबाधैः स्वसिद्धान्तैः साकमत्र विरोधिता ।

सर्वभावशिवत्वेन नास्तिता बन्धनोक्षयोः ॥२६॥

तदभावाद्देवगुरुशास्त्रोच्छेदो भवेत्तराम् ।

निरर्थकत्वं शास्त्रस्य करणे तत्तिरूपणे ॥२७॥

सर्वेषामेव मुक्तत्वे स्थिते कस्योपदेशता ।

धर्माधर्मौ न सम्बद्धौ शिवस्य न तयोः कृतिः ॥२८॥

ततश्च शिवधर्मदिवेदादेरकृतार्थता ।

निमित्तात्मजाध्यादिकारणेषु समानता ॥२९॥

सर्वशिवत्वबाधे सर्वदर्शनेः स्वसिद्धान्तेन च सह विरोधः । सर्वधर्मनिष्ठत्वात् तेषामपि आन्त्याधी (भाव) अश्वत्थम् । स्वसिद्धान्तेऽपि च मायाप्रधानकर्मविः पृथग्भूतस्य जगत्कारणत्वेनोक्तोः । सर्वेषां च भावात् शिवत्वाभ्युपगमे प्राणिनोऽपि सर्वशक्तिव्यान् नित्यनिर्मुक्ता इति धर्ममोक्षाभावः । तत्र हेतोर्भावेऽपि विभागाभावात् देवगुरुशास्त्रोच्छेदप्रकारप्रमाणोच्छेदो लोकायताधिक्येन भवेत् । तस्य हि कदाचिद् दृष्टार्थं तदभ्युपगमः स्यात् । सर्वशिवत्वे तु कः कस्योपायः ? तथा

और भी विपत्तय आतित होंगी—

७. सर्वशिवत्ववाद की स्वीकारने पर समस्त दर्शनों एवं शैवसिद्धान्त से भी विरोध होता है । क्योंकि कोई भी दर्शन इस सिद्धान्त को नहीं मानता । और स्वयं शैव दर्शन भी माया, अविद्या, कर्म आदि को, जो कि शिव से पृथक् है, जगत् का कारण मानता है ।

८. सभी भावों के शिवात्मक होने से समस्त प्राणी सर्वशक्तिमान् होंगे फिर वे नित्यमुक्त होंगे और इस प्रकार बन्धन-मोक्ष की व्यवस्था समाप्त हो जायगी ।

९. इस व्यवस्था के न रहने से गुरु शास्त्र आदि, जो कि पुरुषार्थप्राप्ति के उपाय हैं, का भी उच्छेद हो जायगा । अर्थात् शास्त्रों का निर्माण एवं व्याख्यान गुरुदेवश्रवण आदि निरर्थक हो जायेंगे, क्योंकि सभी मुक्त हैं, फिर किमको मुक्त होने के लिए शास्त्र का उपदेश होगा ?

१०. चूंकि आपका शिव कर्ममल से अभ्युक्त है इसलिए धर्माधर्म का भी सम्बन्ध समाप्त हो जायगा और शिव धर्माधर्म के कर्ता नहीं रहेंगे । इस प्रकार जैव वैष्णव आदि कर्म तथा वेद आदि निष्प्रयोजन हो जायेंगे ।

११. समवायो-असमवायी तथा निमित्त कारणों का भेद, जो कि स्पष्ट, परि-रक्षित होता है तथा न्याय आदि शास्त्रों में वर्णित भी है, समाप्त हो जायगा क्योंकि शिव तो एक है और सब कुछ शिवात्मक है ॥२६-२९॥

पृथिव्यादिकल्पनया कल्पनावान् शिवो भवेत् ।

शिवतत्त्वे सानुभवे पश्यन्तीतुल्यता तदा ॥३०॥

इच्छावत्कार्यनिष्पत्त्या पुनरिच्छान्तरोद्गमे ।

शिवस्य हेतुर्वक्तव्यो यदर्थं सा नवोद्गता ॥३१॥

विश्वस्यासत्परूपत्वं यैर्वावयैर्विणितं क्वचित् ।

शिवोक्तैस्तैर्विरोधः स्यात् सर्वसत्यत्ववादिनः ॥३२॥

न शास्त्रस्य करणे निरूपणे व्याख्याने श्रवणे न निरर्थकत्वम् । सर्वेषामेव शिवत्वेन मुक्तत्वात् कस्य शास्त्रस्योपदिश्यमानता ? भर्माश्रमपि शास्त्रसमुक्तम्, शिवस्य काममत्याशवान् न भर्माश्रमी समवेत्तौ; न तु तयोः शिवे करणम्, मिथ्याशान्तनाशिकारणत्वात् प्रवृत्तीनाम् । एवं च शिवभर्मादीनां वेदस्य च भर्माश्रवाशावाचकतु-प्रयोजनता । तथा समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणेषु शिवत्वेन विशेषः शास्त्रान्तरोक्तः परिदृश्यमानश्च न स्यात् ॥३१॥

किं च पृथिव्यादिकल्पनयाऽऽत्मानं परिकल्प्य तथाऽऽस्त इति मते कल्पनावान् शिवभट्टारकः प्राप्नोति । निर्विकल्पश्च न इत्यने, विवक्षितानां शिववस्तुसूक्ष्मतेना-विश्रान्तत्वात् । अथ न नविकल्पं शिवत्वम्, अपि तु सानुभवम्, अनुभवा हि नायथार्थी भवति, एवंस्ते तस्मिन् किमभावानुभवति ? किमात्मानम् ? उत परमात्मान-मपि ? किमननुभूतम् ? उतानुभूतम् ? अन्भाव्यानुभावकयोश्च भेद एव, इत्येवमा-दिपश्यन्तीविषयोक्तदण्णावसरतदा विनिष्टेच्छावशाच्चाभीष्टे वज्रगन्धक्षणकारी-गम्भ्या हेतुभूतया इच्छाकारणविन्ती पुनः स्थितिप्रख्यादौ परादिविशाने वा उच्छान्तरोद्गमे को हेतुः ? कः प्रयोजकः ?—यत्प्रेरितस्य शिवस्य पूर्वस्वभावनिवृत्ताव-पूर्वस्वभावान्तरोदये चेच्छा नवनवा प्रवर्तते । सर्ववस्तुनां च शिवकल्पस्यै मन्त्रत्वं

आपका यह भी सिद्धान्त है कि शिव अपने को ही पृथिवी आदि के रूप में परिकल्पित करता है यह मानने पर शिव तो कल्पनावान् हो जायगा तथा उसके कल्पनावान् होने पर वह पश्यन्ती के समान हो जायगा फलतः पश्यन्ती के समान दोष शिव में आजायेंगे ॥३०॥

इसके अतिरिक्त एक बार इच्छातुकूल जगत् रूप कार्य के पूर्ण हो जाने पर पुनः संसार की भिमृक्षा, जो शिव के अन्दर होती है, का कारण क्या होगा जिस कारण शिव के अन्दर नवीन इच्छाएँ उत्पन्न हुआ करती हैं ? एक दोष यह भी है कि समस्त जगत् के शिवात्मक होने पर चूंकि शिव सत्यस्वरूप है इसलिए तदात्मक विश्व भी सत्य होगा फिर पारमेश्वर शास्त्र जो विश्व को मायेन्द्रजाल के समान असत्य समझते और कहते हैं, उनके वचन के साथ विरोध हो जायगा ॥३१-३२॥



इत्याक्षेपरक्षणार्थमत्र

प्रतिविधीयते ।

चिदात्मनो हि स्थूलस्य सूक्ष्मस्याथ विकारिता ॥३३॥

क्षीरमायाप्रकृतिवत्तस्य चेच्छैव यादृशी ।

परस्य तादृगात्मत्वमुत्पद्येतात्र योगिवत् ॥३४॥

स्यात्: एवं च मायेन्द्रजालोपमत्वं जगतः पारमेस्वरैरेव शास्त्रैर्यद् वर्ण्यते तद्विरुद्धं स्यात् ॥३२॥

अत्राह—इत्याक्षेपेत्यादि । ईदृशान् परकृतात्महाक्षेपान् स्वदर्शनस्य रक्षणार्थं जगत् वा आक्षेपस्य रक्षणार्थम् = निवारणार्थम्, अत्र = आक्षेपे मति स्वदर्शनेऽत्र वा समर्थनं क्रियते । चिदात्मनः स्थूलत्वे क्षीरस्येव दधनिष्पत्ती जगन्निर्माणे विकारिता स्यात् । सूक्ष्मत्वेऽपि वा मायाप्रकृतिवत् । तत् तयो रव यावता न स्थूलो नापि सूक्ष्मः परमेश्वरश्चिदात्मा, अपि तु ततः परम्, सर्वतोऽपि जडस्यैव हि स्थौल्यमादिपरिणाम-योगो न चित्तमयस्य, तस्य तु परस्य यादृगात्मत्वमपीष्टं तथाऽवस्थानमेवोत्पत्तिर्व्य-गिनामिव ॥३४॥

इत्याक्षेपरक्षणार्थमित्युक्तम् । न च यत्तावदुक्तमादी तावदित्यादिनैष एव प्रथमतो जडान् बोधे इति तत्रैव जडताभाववत्त्वपराधीनत्वादीनामन्तर्भावान्नेव तावन्निर्देयितुमुपधिकरणविज्ञात्वनयेत तस्मिन् महादोषे विगतशक्तिके मति तदुपरिवर्तिनोऽन्ये स्वयमेवोपशाम्यन्तीत्याह—तदात्मनो हीत्यादि । हिशब्दः नादिति सर्वनाम्ना प्रसिद्धताद्योतकेन विश्वात्मतायामप्रच्युतप्राच्यवरूप-त्वं ध्वनितम् । परकृताक्षेपे समर्थनतां शोभयति । अथ = पक्षान्तरे । अयं भावः—यावत् इति स्थूलं सूक्ष्मे वा कारणे परिणामादियोगो यत्र सम्भवति तत्र कार्यापत्ती परिणामादा-वपि विकारिताऽवश्यं सम्भवत्येव क्षीरस्य स्थूलत्वाद्विरूपेण परिणामेऽपि विकारिता, मायाप्रकृत्यादेस्तु सूक्ष्मस्य जडस्य त्रिगुणात्मकस्य कार्यतापत्तावपि तादृशमेव रूपम्, तदेव निष्ठम्, यादृशं कारणं तादृशमेव कार्यम्, कारणरूपताऽपत्ति-रेव काये न तु कार्ये कारणमनुगच्छतीति ॥३३॥

स्थूलत्वे = पक्षे मति । सूक्ष्मत्वेऽपत्ति—यथा सूक्ष्मा कारणभूता माया जडा-कार्यमपि तादृशमेव, तथा सूक्ष्मा त्रिगुणात्मिका प्रकृतिस्तत्कार्यमपि त्रिगुणात्मक-

पुर्वे पक्षी द्वारा इस प्रकार के आक्षेप प्रस्तुत होने पर उसका उत्तर दिया जाता है—

चिदात्मा को यदि स्थूल माने तो क्षीर से दधि के समान उसका विकार भी स्थूल होगा और यदि सूक्ष्म माने तो घेदान्तियों की माया वा सांख्यमतानुयायियों



इच्छया सर्वभावत्वमनेकात्मत्वमेव च ।

नात्र स्वात्मविकारेण जनयेद् भावमण्डलम् ॥३५॥

तदिच्छासामनन्तर्यं तथा भूतात्मता यतः ।

यथा न योगिनोऽस्तीह नानासैन्यशरीरकैः ॥३६॥

तदेवाह—इच्छयेति । उभयोप्येव निदेशः । यथा योगिनां सर्वभावत्वमिच्छ-  
याजेकात्मत्वं वा भवतीति दृष्टं तथा परमेश्वरस्यापि सन्तव्यम् । न ह्यसौ योगी  
स्वात्मनो मूर्तिपञ्चयेव चिद्विस्तृतुपादि-पविकारपरिणामक्रमेण कुम्भवान् इव  
घटमिव भावमण्डलं जनयति, अपि तु यस्य वादृशीच्छा तत्सामनन्तरमेवेष्टकार्यात्मा-  
भिलाषात्मतया स्थितिः, तथा चिदात्मनोऽपि ॥३५॥

पुनराह—यथा चेति । यथा न योगिनो नानासैन्यशरीरकैः गजगधतुरगपदानि-  
कैरवस्थितस्वात्मविभागः, तथा परमेश्वरस्य जघ्रोत्कृष्टनिकृष्टकैः = देवमनुष्यनिर्य-  
मधवविकारापन्नं चेतनैः । तयोः तत्कार्यविकारयोः । ननु यदि तस्य न  
परिणामादिभोगः क्व किम् न तदनुगता नाम येनाक्तं शिवात्मकमिदं सर्वमिति ?  
तदेवाह—एवाह—ननु सति । अयं शब्दः—न जघ्नादिवमत्र शिवत्वम्, तस्य  
तथेष्टात्मात्रमस्त्वान् । शिवात्मकं च तत्सामान्यात्मकत्वाद्युत्पत्तेः । तथेति—  
न तु तदेव तथेति वक्तुं शक्यमित्यर्थः ॥३४॥

इच्छयेति—इच्छया च निर्माणं स्वप्नमल्पादी इष्टमेव; घटादेः प्रसिद्धकारण-  
परम्परापराकरणेन तदवस्थार्थं घटादांति चेन् ? अस्तु तत्रावेतन्, तथापि  
योगी पुरसेनादिनिर्माणमिच्छावशादेव करोतीति सिद्धमेतत् । तत्र हि तदिच्छया  
वदिति संवदिताः परमाणव उपदानमित्युच्यमाने यदि प्रसिद्धा घटगम्पादकः  
समस्तकमसि तमर्थाधर्मदण्डादिनहकारिणाहितः स्वोपादानोचितः कषादादिकारणकला-  
पाङ्गमुपेयते तत्कुलविशेष प्रवार्य योगोक्त्यादातम्; तृणमात्रेणापि तु प्रसिद्धपुष्पघने  
स्वप्नमल्पकामनाकारित्वेनपरिदृष्टमावातामनिर्माणतामर्थं संविद एवेति ॥३५॥

की प्रकृति की भांति समस्त विकार जड़ होता । किन्तु ऐसा नहीं है । यह जगत्  
जड़चेतनमय है । अतः चिदात्मा पर अर्थात् शिव, जो कि इन जगत् का कारण है,  
योगाशन के समान जब जेसो आवश्यकता होता है तब वैसा ही स्मृत या सूक्ष्म  
हो जाता है ॥३३-३४॥

जिनप्रकार योगी, उसीप्रकार परमशिव भी इच्छामात्र से समस्त भाव-  
जगत् एवं अनेक पशुका जीव के रूप में उल्लसित होता है । यह भावविकारमय  
जगत् उनका पुरादधिवत् विकार नहीं है । क्योंकि यह उसकी इच्छामात्र है  
जिनके बाद इष्टकार्यरूप जगत् प्रवृत्त हो जाता है ॥३५-३६॥

विभागस्तद्वद्विशस्य मध्योत्कृष्टनिकृष्टकैः ।  
 भावैर्नास्ति विभेदित्वमपवाऽम्बुधिकीचिवत् ॥३७॥  
 तत्र कीचित्त्वमापन्नं न जलं जलमुच्यते ।  
 न च तत्राम्बुरूपस्य वीचिकाले विनाशिता ॥३८॥  
 निश्चलत्वेऽपि हि जलं विचित्वे जलमेवतत् ।  
 वीचिभिस्तद् विशिष्टं चेत्तन्नैश्चल्यविशिष्टकम् ॥३९॥  
 अत एव परेच्छातो न जडत्वमवस्थितम् ।  
 पृथिव्यादितत्त्वगणे जडत्वं चेत् प्रतीयते ॥४०॥

गादिरूपैः अविभेदः, सर्वशक्तिबोधमात्ररूपस्यैकत्वनिगमान् । अथवाऽत्यन्तप्रसिद्धोऽयं  
 दृष्टान्तः । यथाऽम्बुमेतत्तद्भाषाणां चैक्येऽपि व्यवहारभेदस्तथा शिवस्य विश्वस्य च ।  
 तत्र हि व्यवहारे वीचिता प्राप्तं जलं न जलमित्युच्यते, न च तत्र वीचिरूपे जलता  
 विनष्टा । तथा हि निश्चलत्वे चलवीचित्वे च जलमेव, जलविरोधत्वाद् वीचेः । अथ  
 जलं तद्वीचित्वविशिष्टं न जलमात्रम् ? तदेतदस्त्वु, वीचिताविशिष्टत्वेऽपि न अतिजगत्स्य;  
 तादवस्थान् । वीचिविशिष्टत्वे जलत्वाभावे (वीं) निश्चलत्वविशिष्टेऽपि जलता न स्यात्  
 एवं भावरूपत्वेऽपि शिवता स्थितैव ॥३६-३९॥

अत एव योगिन इव परमेश्वरस्येच्छावशादेव तथाऽवस्थाने पृथिव्या-

उभयोः = चिदात्मयोगिनोः । इष्टमिति-स्वप्नमङ्कणादाविष्टं मा भूत् ॥ ननु  
 भयतु चेच्छया सर्वकार्यकारित्वं योगिन इव, तथा पुनः स्थित्वद्वस्त्रायां स्फुटमेव  
 विलक्षणरूपत्वात् एषां काऽत्र व्यवस्था तदेकरूपत्वे ?-इत्यत आह—यथा नेत्यादि ॥

जिसप्रकार योगी अपनी इच्छाशक्ति के द्वारा हाथी घोड़ा रथ पदादि के  
 समूहका सेना को प्रकट करता है और उस सेना का उन योगी में भेद नहीं  
 रहता उमाप्रकार परमेश्वर का भी उत्कृष्ट अर्थात् देव, मध्य अर्थात् मनुष्य और  
 निकृष्ट अर्थात् तिर्यक् योगिनसमूह रूप भावजगत् से कोई भेद नहीं है । अथवा  
 समुद्र और उसकी लहरों के समान अभेद समझना चाहिए । जैसे जल जब लहर  
 के रूप में परिवर्तित हो जाता है तब उसे जल नहीं कहने बल्कि लहर कहते हैं,  
 किन्तु लहर की स्थिति में भी जल नष्ट तो नहीं होता । वह निश्चल रहने पर तो  
 जल रहता ही है लहररूप में भी वह जल ही है । यदि लहर से उसका भेद है तो  
 वही निश्चलता रूप विशिष्टता के कारण । उगी प्रकार वीचिरूप भावजगत् के प्रकट  
 होने पर भी परमेश्वर की सत्ता जल के समान अधुण है ॥३६-३९॥

इसलिए परमेश्वर की इच्छा के कारण ही भावजगत् के प्रादुर्भूत होने के  
 कारण यह पृथिव्यादि भावमय जगत् जड़ जैसा कि सांख्य-योग न्याय-वैशेषिक

न यथा जडता क्वापि तथाऽग्रे सुविचारितैः ।

वर्णयिष्याम एवात्र न च सावयवः क्वचित् ॥४१॥

कश्चिदस्तीह वक्ष्याम एतदप्यग्रतः स्फुटम् ।

स्वेच्छातो भावरूपत्वे पराधीना कुतः स्थितिः ॥४२॥

धीरवद्यदि वोच्येत पराधीनं जडं भवेत् ।

एतयैव दिशा शोध्यं शुद्धन्मूनादिदूषणम् ॥४३॥

दितत्त्वगणे जडता नास्ति, इच्छाविशेषरूपत्वान्; न तु प्रधानादिजडोपादानताऽप्य । अथ तत्रेदन्तानिर्देश्यतात्त्वा जडता प्रतीयते ? तत्र; यथा न क्वचिदिदन्तानिर्देश्यत्वेऽपि तत्त्वतो जडता तथोत्तरत्र सुष्ठु विचारणाभिर्वक्ष्यामः । सर्वात्मत्वे शिवतत्त्वस्य सावयवप्रभङ्गदूषणमपि अग्रे निराकरिष्यामो यथा न कश्चित् कस्यामप्यवस्थायां सावयवः स्यात् । स्वयं शिवात्मताऽवस्थाने स्वयं विश्वात्मतयाऽवस्थाने च किमपेक्षया भोग्यता यथा सावयवत्वं स्यात् ? ॥४०-४१३॥

स्वेच्छावशाद् विश्वभावरूपस्य पराधीना न स्थितिः, अपि तु स्वेच्छायत्तैव । विश्वरूपता धीरायत्ता दधिरूपत्वेन कारणपरिणामभावेना यदि कथ्येत पराधीनो ननु माऽन्तु योगिनः सैन्धवादीरकाणां भेद उत्पन्न यथा परमेश्वरमपि भेदव्यवहारश्च स्फुटमवधारमानस्तन्मानेषा चान्योऽयं कथमपहनूयते ?—इति कुतः कर्मोहान्धविन्दुस-विज्ञानदृष्टान् प्रति स्फुटताप्रतीत्यै पुनरन्यदृष्टान्तेन प्रवक्ष्यामि—अथवेति । न यथेति—न शब्दोऽत्र काकाशिशूलकन्यायेन योज्यः ॥४१॥

ननु चास्तु सर्वत्र तस्यैव व्यवस्थितत्वाद्वैक्यम्, अस्तु च व्यवहाराय संज्ञाकरण-मात्रम्, तथापि यदुपरोधान् संज्ञाकरणमात्रमायाति माऽपि कश्चिद् यद्यपि आभाग-आदि का मिद्वान्त है । ) नहीं है । यदि यह कहिए कि आत्मतत्त्व के अवधोधरूप अहंप्रतीति होने के कारण वे भावतत्त्व जड है तो आगे चलकर हम अच्छीप्रकार विचार करते हुए वक्तव्यायेने कि कैसे इनकी जडता नहीं है । इसके अतिरिक्त हम यह भी आगे स्पष्ट करेंगे कि किसी भी प्रदेश में कोई भी तत्त्व सावयव (जैसा कि नास्तिकदर्शनों का मत है) नहीं है ॥४०-४१३॥

जब परमेशिव स्वेच्छा ने भावजगत् के रूप में उल्लसित हुआ है तो इस जगत् की स्थिति पराधीन कैसे ? जैसे वही का बनना दूध के अधीन होता है वैसे यदि विश्व उस कारणरूप शिव का परिणाम होता तो पराधीन विश्वात्मा जड होता, किन्तु ऐसा है नहीं । अतः विश्व के जड होने का प्रश्न ही नहीं है । उसी प्रकार इस जगत् के ऊपर लादे गये शुद्धाशुद्धत्व उपचयानुचयत्व आदि दोषों का निराकरण भी समझना चाहिए ॥४२-४३॥



अभन्नेऽस्य स्वरूपत्वे मुद्वन्मुनादिकं कुतः ।  
 पतद्ग्रहादिके । हेमिन् हेयत्वं मुकुटादिके ॥४४॥  
 स्थितमेव च हेम्नोऽस्य काचिदस्ति विभेदिता ।  
 चण्डालतश्च गो वह्निर्न वह्निरिति कथ्यते ॥४५॥  
 तदेवं स्यादथोच्येत वल्लेः संस्कारचोदना ।  
 शास्त्रेषु वर्णिता कस्मात् कार्पार्थ्यं कार्यमेव तत् ॥४६॥  
 न स्वरूपविभागोऽत्र स्वरूपे तत्स्वरूपता ।  
 परापरविभेदोऽत्र तद्व्यवहाराय कल्पितम् ॥४७॥

विश्वात्मा तदा जडः स्वान्, विद्रुपत्वापेक्षाऽनुसन्नेः, यावता विश्वरूपत्वे विद्रुपत्वे ।  
 अनयैव विद्रुपत्वाहानिदिना मुद्रामुद्रत्वोपचयापचयवत्त्वाददोषः परिहार्यः । स्वं  
 रूपं यस्य स स्वस्वः तस्य भावे = विद्रुपत्वे तदवस्थे मुद्वन्मुनादिदोषाभावान् । मुकुट-  
 पतद्ग्रहयोः मुवर्गनाम्नेन मुवर्गत्वम् । तथा हि चण्डालमुद्रमोर्जितः यदि तापिनः  
 स्यात्ततश्चरति स्वात् । अत्र वाहेयं मुकुटा न स्वात्तत्वात् कुतो मन्त्रैः संस्कारयोगः  
 कार्यसम्पादनाय शास्त्रे बोधते ? तस्मात् तस्यामुद्रया सम्भवत् ? तैवम्, कार्यमेव =

मानसमान्तरममेव तदाति मानसावसेदोऽप्येव ?—अन्ते आह—व्यवहार इत्यादि ।  
 अत्राश्रित्वा भी इति पर्यायान्तराद्यनेन न नियमे तात्पर्यम्, किन्तु स्वयं व्यवहारात्मका-  
 विद्यालक्षणं न भवतीत्यर्थः । तदाह—तथात्वेनेति ।

ननु चानु संगारव्यवहारः, तदात्मकत्वादपृथक्भूतं व्यवहारार्थं पृथक्भूतं कल्पितं  
 विपर्यस्तैरिति च यद्व्यपदिन तत्रापि तदर्थं जातानियमेनात्मम्, कुतश्च संगारव्यवहारं

यत्र परमशिव का स्वस्व जग्जिस्त हुआ ही नहीं तो जड़ता नृमता आदि  
 दोष कहां से आ जायेंगे । जैसे जिन मुवर्ग में ग्रह अर्थात् भूत-प्रेत का वास हो  
 गया है वह, तथा मुकुट में वर्तमान मुवर्ग, दोनों में मुवर्गत्व तो समान है उनमें  
 कोई भेद नहीं है । उसी प्रकार यदि चण्डाल के घर में रहने वाली अग्नि को  
 अग्नि न कहा जाय तो भावमय जगत् को जड कहा जा सकता है । यदि यह  
 कहिए कि यदि चण्डाल के घर में रहने वाली अग्नि जड़ है तो शास्त्रों में अग्नि  
 के संस्कार का जो वर्णन हुआ है वह व्यर्थ है अर्थात् उन प्रकार सभी शास्त्र व्यर्थ  
 हैं ? तो उसका उत्तर यह है कि यह शास्त्रीयविधान व्यवहार के निर्वाह के लिए है ।  
 इसमें अग्नि के स्वरूप का विभाग या भेद निश्च नहीं होता । जिस प्रकार यहाँ  
 साक्ष्य है उसी प्रकार समस्त जगत् और परमशिव का भी साक्ष्य है । संगार  
 में व्यवहार चलाने के लिए पर-अपर आदि भेद तथा नाम-रूप आदि भेद की  
 कल्पना की गयी है ॥४४-४७॥



व्यवहारोऽप्यविद्या नो तथात्वेनेश्वरस्थितेः ।

तेनैव वा तथा कष्टप्रस्तथा तदनुवर्तनम् ॥४८॥

न तत्स्वरूपभेदाय शास्त्रं यद् व्यवहारगम् ।

हेमपिण्डे हेमतैव स्याच्चेन्न मुकुटादिके ॥४९॥

अनुप्रेयमेव तद् व्यवहाराय, न तु स्वरूपे बह्वेचिभागः, स्वरूपे = निजरूपे स्थिते तु बह्वी उपगम्यमाने, तत्स्वरूपता = बह्विरूपता एव सर्वत्र, तद्वत् शिवरूपता जगत्स्य, तथेश्वरस्य तस्मात्पृथिव्यादिरूपतया व्यवस्थानात् परम्पूर्यगुणमतादिभेदः । तथा च सर्वत्रैक्ये सारव्यवहारस्य संशयमात्रं तत् कल्पितं भवति ॥४९-४९॥

संसारव्यवहारोऽप्यविद्या नाम न पदार्थान्तरं भवति, ईश्वरस्यैव तथात्वेन लोकयात्रान्ततया तथा व्यवस्थानात् । शास्त्रमपि वा व्यवहारगमि संस्कारोपदेशकं न शिवतत्त्वभेदाय; तेनैवेश्वरस्य तथात्वेन शास्त्रादिः कल्पितः, तथा च तस्यानुवर्तनं कल्पितम् । तत्तत्तद्विध्यात्मनो तद्रूपमेव नानुद्धिभेद वा शिवतत्त्वस्वरोपस्थापयति । भेदश्च जगद्रूपस्य सूक्ष्मेन यवतुम्, यदि हेमपिण्ड एव हेमता स्यात् न तु मुकुटादौ ।

नन्वमितिगमयति ?—उपासनेत्याह—शास्त्रमिति । अयं भावः—वाचद्वि व्यवहारः नानुवर्तनावनद्वय शास्त्रमपि सत्यमेव; अतिशयोक्त्यर्थे न नियम इत्यर्थः । ननु च विमिश्रकल्पने—“तथात्वेनेश्वरस्थितेः” इति । यदि च तथात्वमेव तर्हि न व्यवहारव्यवदेशोऽस्ति, व्यवहारव्यवदेशो अतः तथात्वव्यवदेश इति पक्षान्तरं समर्थयति—तेनैवेश्वरेणेति । एवं हि स्वातन्त्र्यवादमाश्रित्य समर्थितम् । स्वातन्त्र्याश्रया संगतानां हि कल्पितं न परमार्थवत्, तथा यदनुवर्तनमर्पति पूर्वस्मात् पक्षादधिकप्रमत्तः नानुवर्तनावनद्वयम् । तद्विच्छात्मकमेतद्रूपमेवेति—पक्षद्वयप्रधानमभेदगतमेव वक्ष्यति सत्यव्यम् ॥४८॥

ननु नास्तु सनाहपरासर्गो “नोःस्तनात् पाततः क्षीरे” इत्यादिनोऽप्याज्यविशेष एव तथाभेदे विशाद्वयम्, यत्र तु रसमिदन्तानिद्वेगे सावयवत्वादिविज्ञानस्य यत्र कथम् ?—उपासनाङ्गाशास्त्रार्थमाह—हेमपिण्डे इत्यादि । ननु च यदि कथं भावनपक्षं तदात्मकमेव यद्विच्यवत्त्वयान्तरकायविज्ञाना निवृत्त्यर्थं तत्कथं तथा तस्यान्तः

प्रश्न होना है कि क्या यह व्यवहारजगत् अविद्या का परिणाम है जैसा कि वेदान्त का मत है ? उनसे मे कहने है कि यह जगद्व्यवहार अविद्या नामक कोई दूसरा तत्त्व नहीं है बल्कि ईश्वर ही लोकयात्रा के लिए उसी रूप में स्थित है । अथवा उसी ने स्वयं वैसी व्यवस्था बनाई है और बनाकर स्वयं उसका अनुवर्तन कर रहा है । इसलिये व्यवहारजगत् को चलाये के लिए बने हुए शास्त्र भी उसके स्वरूप के भेद के विषय में प्रमाण नहीं हैं ॥४८-४९॥

युज्यते वक्तुमेतत्तदनित्यत्वं च यत्स्मृतम् ।

संस्कृतौ तद्विनिर्णयं या चोल्लङ्घनचोदना ॥५०॥

नियमानुप्रवेशाय शिवे चोल्लङ्घनेन किम् ।

एवकारो हेमपिण्डस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । यच्च भावानां नाशित्वात्तदात्मनः शिवतत्त्वस्य नाशित्वं चोद्यत्वेन स्मृतम्, तत् सत्कार्यवादमर्थनान्निर्णयते । यच्च पादलङ्घन-निष्ठोपनादि सर्ववात्मनि शिवे परिहार्यत्वेन चोदितं तत्तदात्मकनियतिशक्तिकृ-नियमरूपधर्मानुप्रवेशकालमंगारव्यवहारसम्पादनाय । वस्तुतश्च शिवतत्त्वं तेनोल्लङ्घनेन किं दुष्यति ? न किंचिदित्यर्थः ॥४८-५०३॥

जननपरिणामादिरूपतां विनैव एवमवस्थानमात्रलक्षणजगन्स्थितिप्रवर्तने तस्य न तस्याप्यनित्यता ?—इत्यत आह—तदनित्यत्वमिति । हेमपिण्डे = अवयवविकारमा-प्राप्ते । मुकुटादी = अवयवविकारमापन्ने । सत्कार्यवादेति—अयं भावः—यदि कार्य-मुत्पत्त्यनन्तरमेव सत् स्यात् पूर्वं चासत्, तर्हि चागत्कार्यत्वात्तस्यासत्त्वं शिवतत्त्वस्य विनाशित्वं प्रमज्जेत । पूर्वं च तत्प्रदेवेति कस्य विनाशित्वम् ? तदेतदीश्वरप्रत्य-भिज्ञायामुक्तम्—

“चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद् बहिः ।

योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥” इति ॥

शिवतत्त्व इति—शिवतत्त्वं हि धर्माधर्मयोरभाव एव, तच्च लङ्घनादिकमधर्माय ततो न कर्तव्यम्, अधर्मोत्पत्तिर्हि तथा स्यात् । धर्माधर्मसंगारव्यवहाराभावे यथाऽलङ्घनेन न धर्मेण तस्योपयोगस्तथा लङ्घनेनाधर्मेणापि ॥५०॥

“तथैवं संप्रवृत्तौ तु निमित्तकलनापत्तेत् ।” इति—तत् समर्थयति—एवमिति ।

प्रश्न है कि संसार तो अनित्य दिखाई देता है और शिव नित्य माना गया है फिर दोनों में अभेद कैसे ? उत्तर है कि यदि सुवर्णत्व केवल सुवर्ण में ही रहता मुकुट आदि में नहीं, तो प्रश्न ठीक था । और संसार को शिवमय मानने पर संसार के नष्ट होने पर शिव भी अनित्य होने के कारण नष्ट हो जायगा यह कहना मांख्यदर्शन के सत्कार्यवादी को ही शोभा देता है । तथा ‘प्राणियों को नहीं लांघना चाहिये,’ ‘नदीतट इत्यादि पर मलमूत्र त्याग आदि नहीं करना चाहिये’—इत्यादि शास्त्रीय वचन तो धर्माधर्मफलरूप संसार के व्यवहारसम्पादन के लिए हैं । परमार्थतः तो शिव ही शिव के द्वारा शिव का उल्लङ्घन आदि करता है । इस प्रकार कोई दोष नहीं है ॥४९३-५०३॥

नवीन उत्पत्ति अथवा परिणति न होकर जब शिव ही इस संसार के रूप में उल्लसित है तब किसी कारण को कल्पना असंगत प्रतीत होती है क्योंकि कारण

एवं प्रवर्तते तस्य न निमित्तसमुद्गमः ॥५१॥  
यदि स्वरूपविभ्रंशाच्छाक्तरूपादिकल्पना ।  
तद्वक्तव्यं निमित्तत्वं किमर्थं रूपमुज्जति ॥५२॥  
यावता सर्वरूपाणां तत्स्वरूपस्वरूपिता ।  
शक्तित्रयस्वरूपत्वं सर्वं यस्यास्त्यवस्थितम् ॥५३॥  
निमित्तं कल्प्यते तत्र निमित्तं तत्र कल्प्यताम् ।  
अतयात्वे तथाभावो यत्र स्यादथ चोद्यते ॥५४॥

निमित्तं चोद्यम्, पूर्वकार्याभावात् । यदि हि शान्तस्वरूप्य शाक्तादिरूपान्तरग्रहणं शिवतत्त्वत्यागे स्यात् तत्कस्यानिदर्थस्यात्र निमित्तं वक्तव्यम्, प्रष्टव्यं न 'किमर्थमयं रूपमुज्जति' ?—इति यावता शान्तिरूपताया शिवे जगद्रूपतयाऽपि न शिवस्वरूपेणैव स्वरूपवत्त्वम् ॥५१-५३॥

इच्छादिशक्तित्रयमयचिदान्मकत्वं सर्वस्यामवस्थितौ यस्यावस्थितमस्ति तत्र निमित्तं कल्प्यते ? कावचा योज्यते—किं कल्प्येत ? नैव कल्पनीयमित्यर्थः । तत्र हि कल्प्यतां निमित्तं यत्रानवस्थिते तद्रूपतोद्भवः । अथैव चोद्यते—पूर्वं शान्तरूपत्व-अयं भावः—प्रवृत्तिकारी हि तदा प्रवृत्तिं करोति यदि स्वस्मान् किञ्चिदाशिव-मनुभवति, यदि न स्वयमेव न तथाभूतः, केन निमित्तेन प्रवृत्तिं करोतीति ? निमित्तमिति—स्मिन्निप्रवर्तनेऽपि यतस्तत्स्थैवमवस्थानमेव न जननपरिणाभादिविकारः ततो न निमित्तकलना काङ्क्षी, यदि ह्याशिवं स्यात्तर्हि निमित्तकलनापि स्यात् । शक्तित्रयस्वरूपत्वम्—इच्छादिनामस्यात्मकम् । निमित्तमिति—भ्रूधेयपूर्वाभागेन योज्यम् ॥५४॥

की आवश्यकता तत्र होती है जब कहीं न्यूनाधिक्य होता है । यदि शिवतत्त्व अपने शान्तस्वरूप को छोड़कर शक्ति आदि रूप को धारण करने तब एतदर्थ कारण की कल्पना करती रहती । किन्तु शिव अपने स्वरूप को क्यों छोड़ेगे जब कि समस्त भावसय जगत् शिवरूप में ही भागमान है ॥५०३-५१३॥

स्वरूपता अथवा जगद्रूपता नभी अवस्था में जिसकी इच्छा जान और क्रिया में तीन शक्तियाँ शाश्वत वर्तमान रहती हैं उनके लिये आप निमित्त की कल्पना कर रहें हैं ? आवश्यक है ! अरे भाई निमित्त की कल्पना वहाँ होती है जहाँ कोई चीज पहले स्वरूपतः स्थित न हो और बाद में किसी स्वरूप में उत्पन्न हो जाय । यदि यह कहिए कि पहले तो शिव शान्तस्वरूप में थे जगत्स्वरूप में नहीं, बाद में वे जगत्स्वरूप में उत्पन्न होते हैं अतः वहाँ निमित्त मानना पड़ेगा ? तो ऐसी बात नहीं है । शिव की शान्तावस्था में भी शिवत्व रहता है और स्थूलजगत् के



पुरा शान्तस्वरूपत्वं पश्चात्तादृगवस्थितिः ।  
 शान्ते शिवत्वं स्थूलेऽपि शिवत्वं यत्र वर्णितम् ॥५५॥  
 तत्र का शान्तता ब्रूहि शान्तेः किं वस्तुता न ते ।  
 वस्तुता चेत्तथाभूतशक्तित्रितयसंगमः ॥५६॥  
 अङ्गाररूपे किं बह्वौ बह्विता न क्रियात्मके ।  
 ज्वालादिकेऽथ साऽवस्था निष्क्रियाज्ञानरूपिणी ॥५७॥

मज्जगद्रूपं पश्चाज्जगद्रूपान्तरपूर्वताया निमित्तं वाच्यमिति ? तत्र; यथाभ्युपगमे शान्तेऽपि शिवत्वं स्थूलेऽपि जगद्रूपे शिवत्वमेव वर्णितम्, तत्र शान्तता = शिवरू-  
 पता का स्यात् ? ब्रूह्ये तत् । शान्तमपि हि तत्र वस्तु वस्तु च सत्तामयम्, सत्ता =  
 भवता = भवनकर्तृता; स्वातन्त्र्यात्मकं च कर्तृत्वं निद्रूपस्येच्छादिशक्तिमत इति  
 सर्वं वस्तु शिवः ॥५३-५६॥

अङ्गाररूप एव बह्वौ किं बह्विता न तु ज्वलनवत्पतादिक्रियाऽऽविष्टे । अथ  
 तत्र बह्वि एव शिवोऽपि तद्भावभेदाविष्टोऽपि शिव एव । क्रियाव्यवस्थामुत्पेक्षेनैतत्  
 कथितम् । अथ शक्तिमेव शक्तिमत्तत्वात् शिवोऽस्मिन्, शान्तता तु निष्क्रिया ज्ञेयज्ञान-  
 रहिता कार्याकर्णान् चिकीर्षादिशक्त्येच्छाशून्या च, तेन न शिवः, नैव शक्यते वक्तुः

शान्ते इति—अजगद्रूपे, शिवत्व पञ्चशक्तिनामस्वान्मकमभेदत्वम् । स्थूले =  
 जगद्रूपे । सर्वस्याम् = जगद्रूपस्यैवशाभेऽपि ॥५६॥

अङ्गाररूपे इति—यथा ज्वलनमन्तापादिवत्त्वमेव बह्वित्वं तदभावे न बह्वित्व-  
 मिति स्थितं तथा भावशक्तिमन्त्वमेव शिवत्वं न तदभाववत्त्वमित्यर्थः ॥ अन्ये शक्तिमन्त्वे  
 शक्तिरूपत्वे शिवत्वं यतोऽस्ति तत्पञ्च ततोऽज्या नूदमाऽधिकत्वा दशावयवमवगमनीया ।  
 अन्यथा हि ज्ञानवेगवहितत्वाद् विकल्पमेव परमत्वमपि स्यात् उच्यतेतत्र शिवत्वमपि

रूप में उनके उत्कृष्टमिद होने पर भी शिवत्व वर्तमान रहता है । अब आप  
 बतारहे कि शान्तता क्या है ? क्या शान्तता अवस्था में शिवत्वच नहीं है ? अवश्य  
 है । और यदि शिवत्ववत्त्व वस्तु को आप शान्तावस्था में स्वीकार करते हैं  
 तो वहाँ सत्ता या भवता या भवनकर्तृता मानना पड़ेगी । और जब वह कर्ता है  
 तो उसे इच्छा ज्ञान क्रिया रूप शक्तिमय अवश्य मानना पड़ेगा ॥५३-५६॥

यथा अङ्गाररूप अग्नि में अग्नित्व है और जब वह अग्नि ज्वलनक्रियाशील  
 हो जातो है तब उसमें अग्नित्व नहीं रहता ? उसी प्रकार शिव भी उत्पन्नरूप  
 भेद से युक्त होने पर भी शिव ही है । यदि वह कहिये कि शिव की शान्तावस्था  
 निष्क्रिय ज्ञानरूप है वहाँ इच्छा नहीं है, उमलिय शक्तिरहित होने से वह शिव नहीं  
 है वक्ति शय है ? तो ऐसा कहना अनुचित है । क्योंकि उस शान्त निष्क्रिय अवस्था



निरिच्छा न च ज्ञयेत वक्तुमेवं कदाचन ।  
अस्ति स्थितोऽसावेतस्यामवस्थायां शिवो यदि ॥५८॥  
नैषा क्रिया भवति किं निरिच्छे किं क्रिया भवेत् ।  
निजनि वा ततो ज्ञेयं नाशक्तिः काचन स्थितिः ॥५९॥  
अथ चित्रत्वमत्रास्ति भावयुञ्जे न तच्छिबे ।  
शिवस्य तत्स्वरूपत्वं वैचित्र्यं यत् परस्परम् ॥६०॥  
अपेक्ष्य भाववैचित्र्यं तस्य तेभ्यो विचित्रता ।  
सर्वं शिवात्मकं यद्वत् कञ्चनीयमिहाप्रतः ॥६१॥

कदाचन; सर्वदा भवनक्रियाविग्रहान् । ननु क्रियाविग्रहे शान्तावस्थायामपि यदि शिवः स्थितोऽभ्युपगम्यते तदस्ति स्थित इत्येवा भावस्थानादिक्रिया क्रिया किं न भवति ? भवत्येव । क्रिया न कर्तृस्वरूपभूता, कर्ता न स्वतन्त्रः चेतन एव; स्वेच्छातः प्रवृत्तिः स्वानुसृत्यं यतः, यतोऽस्ति स्थित इत्येव बुभूषानिष्टामालक्षण-च्छादित्येव । यावत् कदा कर्तुं भवितुं श्यात् वा न जानाति नावत् किं क्रिया भवति ? भवतीत्यादि शिङ्गलनिर्देशः । तन्मात्रज्ञानत्वं यद्वत् नैच्छादिशक्तिरहिता काचन स्थितिः कस्यापि । इच्छादिशक्तिमत्ता न शिवताः प्रदोऽस्ति; हिमालयो-

नानुमन्तव्यम् । मत्तं चेद् विज्ञानमध्य एव यतोदित्याह—नाऽवस्थेति ॥ तत्र = ज्वलन-क्रियाविशिष्टे । यदुक्तम्—

शान्तेऽपि शिवत्वं स्थूलेऽपि शिवत्वं तेन नात्र विमितकालता । इति ।

शान्तत्वे शिवत्वमुत्तुंगविभुमाह विमितताऽऽपादनाश्रयम्—शान्तता इति ॥५७॥

मे भी नत्वा अर्थात् भवनक्रिया चलती रहती है । बिना क्रिया के एक क्षण भी रहना मुश्किल है । इच्छा ज्ञान क्रिया रूप शक्तित्रय में रहित शिव की कल्पना भी असम्भव है । क्योंकि पहले स्थित होने की इच्छा अर्थात् निधान या बुभूषा होती है; फिर स्थित होने के लिये ज्ञान होता है और तत्पश्चात् स्थितिरूप क्रिया होती है । साथ ही ये तीनों शक्तियाँ शिव में अनादिकाल से वर्तमान हैं ॥५७-५९॥

प्रश्न है कि इन भावमय जगत् में नानाविध वैचित्र्य है ऐसा एक चिन्मयशिव में एकत्र कैसे सम्भव हो सकता है ? अतः शिवस्वरूप जगत् या जगत्स्वरूप शिव नहीं है ? उत्तर है कि यह जो वैचित्र्य दिखाई दे रहा है यह भी शिव का ही स्वरूप है । उस एक शिव का भावमय जगत् की विचित्रता की ओशा से वह शिव भी विचित्र है । अर्थात् वह शिव स्वयं ही नानारूपों में भागित हो रहा है । वस्तुतः सब एकनिवात्मक है यह बात आगे कहेंगे ॥६०-६१॥

जलाहरणशक्तश्च घटो यदि न भव्यते ।

घटः केवल एवात्र तदेवंविधमुच्यताम् ॥६२॥

नानावादैर्ना विरोधः कथनीयमिहाग्रतः ।

उक्ते वा कालपादादावागोपालाङ्गनादिना ॥६३॥

उक्तिः अगदन्ताति न यथा नाधिक्यं शिवतायाः करोति तथेश्वरप्रत्वभिजायां विचारितम् ॥१७३-१९॥

अत्रापि भाषाणां परस्परानां वैचित्र्यं दृश्यते तस्मिन्नेव चिदेकरूपे कथं सम्भवेत् ? नत्रापि शिवस्यैव तद्विचित्रस्वरूपत्वं भावना यदन्योन्यवैचित्र्यम्, तेषां च घटपटादीनां वैचित्र्यमपेक्ष्य तस्य तेभ्यः = तद्वज्रान् प्रचित्रता भाति चिदेकरूपस्यापि मतः । सर्वं च चिदस्वरूपत्वेन शिवात्मकं यथा = स्वायानुसारेण तथाऽग्रतां वक्ष्यते ॥६०-६१॥

यदि चात्र जगन्मुदकाहरणशक्तो घटो नोच्यते अपि तु केवलस्तत्क्रियावैगुन्य एव घटः, तदेतत्तद्वृत्तमेव केवल एव शिवो न जगद्वत् इत्येतदप्युच्यताम्: यावता नैवम्, तत् सर्वदाऽपि शिव एव ॥६२॥

नानादर्जनैश्चास्मिन् यैवाद्भुते नो विरोध इत्यग्रे कथनीयम् । स्वमिद्वान्न एव वा श्रीकालोत्तरादावुक्तम्—

“आगोपालाङ्गना बाल्य नित्यमेव ब्रूवन्ति तम् ।” इत्यादिना मन्वात्मशिवस्वरूपं

एवम्—उदकाहरणशक्त एव ॥६२॥

आदौ स्वशास्वत आह—उक्तं वेति । ननु कथं नानावादैर्विरोधः सर्वत्र भिन्न-भिन्नार्थकल्पनात् ?—तत्रचाह—उक्तं वेति । अयं भावः—आप्तप्रणीतत्वं ह्यागमत्वम्, तच्चादौ त स्वागमानां साक्षाद् भगवत्स्वभट्टारकोक्तत्वात्, श्रुतीनामप्यनादिकथनाद-

यदि एक स्थान में पड़े हुए निश्चल घट को घट कहा जाय और जल लाने वाले जलपूर्ण घट को घट न कहा जाय तो फिर जगत् को भी शिवस्वरूप मत कहिये । चूँकि घट के विषय में उपर्युक्त व्यवहार नहीं है अतः जगत् और शिव के बारे में भी भेददृष्टि उचित नहीं है ।

अन्य दार्शनिकमिद्वान्तों ने हमारा कोई विरोध नहीं है यह हम आगे कहेंगे । अथवा श्रीकालोत्तर आदि पूर्ववर्ती ग्रन्थ में भी कहा गया है कि—“परम अनभिज्ञ गोपालों की मित्रियां तथा लड़के भी उन शिवतत्त्व को नित्य कहते हैं ।” खेदाल गुह ने भी कहा है—“इस पदार्थमूह में जो कोई शक्ति छिपी है वह सब परमशिवकी ही है । क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् मैं अनेक सर्वत्र कहा गया है । “केवल एक स्वर ही है और दुगरी कुछ नहीं ।” इत्यादि वचन वेदों

तदैक्यं खेटपालोऽपि प्राह या काचन स्थिता ।  
शक्तिः पदार्थजातस्य देवदेवस्य साऽखिला ॥६४॥  
शक्तिशक्तिमतोरुक्ता सर्वत्रैव ह्यभेदिता ।  
'एकोरुद्र' इतीत्यादि श्रुतावुक्तं तथा परः ॥६५॥  
पुरुषः सर्वमेवेदमिति हासादिपूदितम् ।  
महेशस्याष्टमूर्तित्वं यावत् पार्थिवमूढता ॥६६॥

जन्तूनाम् । गुरुर्वापि निर्देयमपदिशन्ति । तथा च खेटपालगुरुः प्राह—'या काचन' इत्यादि । सत्त्वं देवदेवशक्तिरेव पदार्थशक्तिरुक्ता, शक्तिशक्तिमतोरुक्ता न भेदः, ततो देवदेव एव पदार्थ इत्युक्तं भवति । यदि 'इदं न एको रुद्रः' इति च रुद्रैक्यम् । तथा 'पुरुष एवेदं सर्वम्' परः इति चांशं वेदः । पुराणेतिहासादिषु चाष्टमूर्तित्वमुक्तं महेश्वरस्य सत्त्वस्वभावमपार्थिवमूर्धन्येण मूढतापि स्वरूपमेव ॥६३-६६॥

अन्वेयः इतिहासपुराणादिषु तदर्थव्याख्यानादन्वेय प्रमाणत्वम् । तस्मादेकस्यैवाशेषजगत्प्रभृतिहेतोर्महाविभूतेर्गोचरस्य सृष्टिनिमित्तप्रत्यक्षार्थविभागयोगाद् व्रततेति विष्णुरिति रुद्र इति च व्याख्यानं, अन्वेया पुनरुक्तप्रमाणान्वात् प्रमाणम् । तदेतन्निर्वाणमप्रामाण्यं संवादयति—उक्तं वेदादिना ॥६३॥

गुरु आह—तदैक्यमितिहासिना । सर्वेषामपार्थिवमूर्धन्यमाह—अभेदितेति । श्रुतप्रमाणमाह—एको रुद्र इति । अविगोर्नाशयष्टप्रामाण्यमाह—इतिहासादिष्विति ॥६५३॥

विधिरूपस्य वाचकस्य नाशान्मुष्टेयान्वादेषु प्रामाण्यम्, अर्थवादरूपस्य पुनः

मे भी मिलने है । इसी प्रकार पुरुषसूक्त में कहा गया है—“यह विश्व ब्रह्माण्ड जो भूत था, जो भविष्य में होगा और जो वर्तमान है वह सब यह पुरुष ही है ।” वही बात इतिहास आदि में भी कही गई है । उसी प्रकार शिवमहिम्नस्तोत्र में महेश्वर की, आठ मूर्तियों वाला बहकर, स्तुति की गई है और पार्थिव जड़ता को भी शिव माना गया है ॥६३-६६॥

१. त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह ।

स्त्वमापस्त्वं व्यास त्वम् अरणिरात्मा त्वमिति च ॥

परिच्छिन्नामेव त्वयि परिणतां विभ्रति गिरं ।

न विद्यस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि ॥

॥शिवमहिम्न० २६॥

‘सोऽरोदीत्’ इति वेदेऽस्ति नार्थवादो निरर्थकः ।

विध्यङ्गत्वेन चेत्सत्या नासत्यस्याङ्गता स्थिता ॥६७॥

‘सोऽरोदीत्’ इति च सूत्राभिनिर्वचनेऽपि वेदेनोक्तं तदैक्यम् । अर्थवादोऽयमन-  
त्यार्थो विध्यनुष्ठानतात्पर्यादित्येतदपि न युक्तम् । अर्थवादस्य या विध्यङ्गता नत्या-  
ना कथममत्याश्रित्य स्यात् ? स्वार्थमभिधान एव हि अर्थवादो भवति; न च वेदेऽपि  
मिथ्यार्थताः रात्रिकृतपु चार्थवादप्रामाण्येनैवानुष्ठेयत्वात् फलं प्रदर्शितं  
जैमिनीयैः ॥६७॥

साक्षात्तन्नामस्मन्नात् तत्र प्रामाण्यमिति केषांचिद् विधिपरत्वात् केषांचिदर्थवादपर-  
त्वात् न परस्परं तयोः सम्बन्ध इति कथं सर्वत्रैवतवादः ?—इत्याशङ्क्याह—सोऽरोदी-  
दिति । आगोषालेति—‘उनेनं गोषा अदृशतुनेनमुदहार्यः ।’ इति श्रुतिश्च ।

महार्थमञ्जरी च—

“यं जानन्ति जडा अपि जलहार्योऽपि यं विजानन्ति ।

यस्यैव नमस्कारः स कस्य स्फुटो न भवति कुलनाथः ॥” इति ।

एको रुद्र इति—“एको रुद्रोऽवतस्थे न वै द्वितीयो नञ्चन ।” इति । तथा—

“यो रुद्रोऽग्नी योऽप्सु य ओपर्धापु यो वनस्पतिपु ।

यो यो विश्वा भुवना विवेण तस्मै रुद्राय नमोऽस्तु देवाः ॥”

“पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।” इति ॥६५३॥

यथा [शिवमहिम्नस्तोत्रे—]

“त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह-

स्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च ।

परिच्छिन्नामेव त्वयि परिणतां विभ्रतु गिरं

न विद्यस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि ॥” इति ।

अत्रापि भगवतो महेश्वरस्यैकात्म्यमेव सर्वत्र दक्षितम् । तथा हि—पञ्चभूताद्येव सर्वं

प्रश्न है कि वेद मे विधिवाक्य साक्षात् अनुष्ठान को बतलाते है इसलिए वे  
तो प्रामाणिक है; परन्तु अर्थवादवाक्यों का साक्षात् क्रिया से सम्बन्ध न होने  
के कारण उनका प्रामाण्य नहीं है फिर आपका शिर्वैवाक्यता का मिथ्यात्व वेद  
में स्पष्टित हो रहा है ? उत्तर में ग्रन्थकार कहते है कि उनका विधिवाक्यों  
के साथ अङ्गाङ्गीभावक सम्बन्ध है अतः यदि अङ्गी-विधि सार्थक और प्रामा-  
णिक है तो उनके अङ्ग अर्थवाद, ‘वह रोया’—इत्यादि, भी प्रामाणिक है । इसके  
अतिरिक्त रात्रिमण में अर्थवाद ही प्रामाण्यवाचक होता है । अतः अर्थवादों का भी  
प्रामाण्य है ॥६७-६७३॥



अर्थवाददपि फलं रात्रिकृतपु दर्शितम् ।  
बन्धमोक्षौ न विद्येते सर्वत्रैव शिवत्वतः ॥६८॥

सर्वस्य शिवत्वे बन्धमोक्षाभावान् शिवोऽहम् इति सर्वत्रैव किमिति ज्ञानं न  
विकारावस्थापन्नं जगदिति स्थितम् । तत्र यत्पुष्टं प्रमाणप्रमेयात्मकमवस्थाशुक्लं  
नदर्कतोमगच्छाम्बामुक्तम्, यतोऽजैवाहन्नेदन्तायुगलकमपि सदाशिवदिव्यपदेषेन शिवा-  
म्यति कि पुनस्त्यत्र कथनीयं यत्र संदेहं पार्थिवं यत् तत्त्वमपि शिव एव । अत एव  
तस्यान्तेऽत्र व्यपदेशः । अनेदमेवैवामाह—आत्मेति । एषां सर्वेषां सपन्दविशेषाणां  
यदभेदात्मकं प्रत्यग्रूपं तदेव भवानस्मीति किमन्यद् यत्र भवत्यवस्थापल्लवः ?

“सोऽरोदीत् । यदरोदीतद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् ।” इति ।

अयमर्थः—यत् स रुद्रोऽरोदीत् = मुखार = यन्निहारेण विश्वरूपतयाऽन्वा, तदस्य  
रुद्रस्य रुद्रत्वम् = रुद्राभेदमयत्वम् ॥६८-६९॥

अर्थवाद इति—अप्रवृत्तप्रवर्तनं विधिः, तथा साक्षादुपदेशकत्वं विधिः । प्रवृत्त-  
स्वात्मात्मानमर्थवादः, तथा परस्परपक्षेयकत्वमर्थवादः । अवार्थवादे साक्षादुपदेशा-  
भावमाशङ्कनाह—अर्थवादोऽयमिति । विद्यतुष्टिनन्वैव ह्यर्थमर्थवादः समर्थः, तत्रश्च  
साक्षादनुष्ठानाभावान्नार्थवादस्य सत्यत्वम् । अर्थवादस्येति—यत्त्वार्थवादस्य विध्यङ्गता  
सत्या तर्हि कथं स्वयमगत्यार्थवत्त्वम्?—इत्यर्थः । यथा हि—“वाक्यं श्वेतामजमालम्भेन  
भूतिकायः” इति विधिः । “वायुर्वै क्षेमिष्ठा देवताः वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति;  
स एवैनं भूति गमवति”—इत्यर्थवादः । तत्र विधिव्याक्यगता वायव्यादिशब्दा अर्थवाद-  
शब्देनोपदेशेनैव विविष्टमर्थं विदधति; अर्थवादशब्दाश्चेतरैरुपदेशेनैव भूतामित्या-  
श्रिते—क्षिप्रगामी वायुः स्वोचिनेन भागेन तोषितां भागप्रदायैश्वर्यं प्रयच्छति—इत्युक्ते  
रामायणभारतादिविव कश्चिन् प्रतीयते न त्वनुष्ठेयं किञ्चित्; अत एव सात्वत्त्वा-  
भावात्तात्पर्यार्थवादस्य प्रामाण्यमिति विधिप्रामाण्यवादिन आहुः ।

अवाहूर्जेमिनीयाः—मा भूद् विध्यर्थवादयोः पदैस्त्वाक्यता, वाक्यैस्त्वाक्यता तु  
भवत्येव । विधिवानर्थं तावत् पुरुषं प्रेरयितुं विधेयार्थस्य प्राणसत्यमपेक्षते; अर्थवादवाक्यं  
न फलवदर्थविद्योपपन्नमिनाध्ययनविधिरिगृहीतत्वेन पुरुषार्थमपेक्षते । ततः पुरुषा-  
र्थपर्यवेमितिविध्यपेक्षितप्राणसत्यं लक्षणावृत्त्या नमर्पवदर्थवादवाक्यं विधिव्याक्येन गते-  
वाक्यतामापद्यते, यतः क्षिप्रगामिस्त्वभावतया क्षीप्रकलप्रदो वायुरस्य पञ्चोद्देवता ततः  
प्रशस्तमिमं वाक्यं पञ्चमालभेत—इति वाक्ययोरन्वयः । तस्मादर्थवादः प्रमाणमिति ॥  
रात्रिकृतपु शिविति—तत्र ह्यर्थवादेनैवार्थः पूर्यते इति न प्रतीत्यङ्गत्वमेवार्थवादस्य, कार्या-  
ङ्गत्वमपि । यथा—“प्रतितिष्ठन्ति ह वा एता रात्रीरासते” इत्यर्थ्यमाणाविका-  
रस्य रात्रिविपेरविकारांशोऽर्थवाददेव लभ्यते । “तत्र हि प्रतिष्ठाकामाः सत्रमा-

विज्ञानमीदृक् सर्वस्य कस्मान्न स्याद् विमोहिता ।

सैवैषा सा च संसारो बन्धमोक्षावतः स्थितौ ॥६९॥

विभिन्नशिवपक्षे तु सत्ये दाढर्यं परत्र नो ।

प्रतीतिमात्रमेवात्र तावता बन्धमोक्षता ॥७०॥

भवतीति ? अत्राप्युच्यते—यथा सैवैषा विमोहिता, एवम्—अज्ञानलक्षणा, सा च संसारो बन्ध उच्यते ।” इति शिवावज्ञानरूपो बन्धमोक्षा ॥६८-६९॥

यदा तु सर्व एव भावाः कर्तृत्वादिव्याप्तिशक्तियोगान् प्रत्येकं शिवरूपा इति पक्षः, तदा तत्र विभिन्नशिवपक्षे सत्ये यथास्थितस्यार्थभेदस्य दाढर्यम् । यदा

सीरन्” इत्यर्थवादवशाद्वाक्यार्थः । क्वचिद् विभिन्नावयवस्यार्थान्तरदेहेज्ज्वादात्मका-  
द्वाक्यशेषोपात्तनिश्चयो भवति । यथा “आक्ताः शर्करा उपदधाति”—इत्यर्थजनद्रव्ये  
घृतनैल्लवशादिभेदेन गन्दिह्यमाने ‘तेजो वै घृतम्’ इत्यर्थवादाद् घृतनाशः शर्करा  
उपाधेया इति गम्यते ॥६७॥

यदुक्तं—सर्वभावशिवत्वेन नास्तित्वा बन्धमोक्षयोः ।”—इति दूषणं तदपि  
दूषयति—विज्ञानमित्यादि । अयं भावः—सर्वभावशिवत्वे बन्धमोक्षयोरभेद इति पक्षे  
समर्थयति उद्गृह्य विज्ञानं सर्वस्य कस्मान्न भवतीति, ‘शिवोऽहम्’ इति सर्वस्यैव प्रता-  
तावस्थेयं बन्धमोक्षाभाव इति पृष्टे निदान्तवादी एवमेव पक्षं तदुक्तिद्वाराव्यवपूर्व-  
मर्थोक्तस्यैवानुपपन्नं समर्थयति—यथा—“विज्ञानमेतत्तत्त्वस्य कस्मान्न स्याद् विमो-  
हिता ।” अयं भावः—यत् सर्वस्य ‘शिवोऽहम्’ इति भेदज्ञानं नैव विमोहिताज्ञान-  
लक्षणो भ्रमः; तथा च बन्धनिरासार्थं मोक्ष एव ॥६९॥

तनु किमिदं भवद्भिन्नपूर्वदोषादीपणं क्रियते—विज्ञानमीदृक् सर्वस्येतिवादि । सर्व-  
स्याहमित्यन्यत्रपरिपूर्णाहन्तापदामणे विमोहिता क्वाव्यव्याप्तिमाहित्यं स्यादित्यस्यैव

प्रश्न है कि यदि सबत्र शिवतत्त्व ही है तो तबतो ‘मे शिव हूँ’ ऐसा ही  
ज्ञान होने के कारण बन्ध मोक्ष नहीं होगा ? उत्तर है कि सबको ‘मे शिव हूँ’  
ऐसा यदि ज्ञान होगा तो यह तो भेदज्ञान है क्योंकि जाना जान और जेय इसकी  
पृथक् प्रतीति ही भेद है । और जब भेदज्ञान हो गया तो यही अज्ञान है । फिर  
बन्ध मोक्ष तो स्वाभाविक और अकाल है ही । उपर्युक्त बात तो तब है जब सर्वत्र  
एक शिव मानने है । और जहाँ सभी पदार्थ कर्तृत्व, इच्छा, ज्ञान, क्रिया वाले  
होंगे वहाँ तो भिन्न-भिन्न शिव होने से अर्थभेद की दृढ़ता बढ़ जा रही है । यहाँ  
तो बन्ध और मोक्ष केवल प्रतीतिमात्र हैं । अर्थात् शिव में भिन्नता की प्रतीति बन्ध  
है और अभिन्नता की प्रतीति मोक्ष ॥७०॥

नासत्ये सत्यबुद्धित्वखण्डनाऽस्ति काचन ।  
कथनं सर्वसाम्याय विवादिहननाय च ॥७१॥

त्वेकशिवत्वमेव तत्त्वं तथा तस्मिन् पक्षे न दाह्यं भेदस्य, अपि तु शिवाभेदप्रतीति-  
मात्रं मोक्षः, तदप्रतीतिस्तु बन्ध इति तावता = प्रतीतिमात्रेण, न तु वस्तुव्यवस्थायै  
बन्धमोक्षयोर्बन्धमोक्षता ॥७०॥

न चाप्यत्र भेदेष्वन्येषु सत्यबुद्ध्या भ्रान्तिरुपा खण्डनाऽस्ति; वेदोक्तवत् ।  
यतो भावानां सर्वेषामेव शिवरूपत्वे स्थिते बहुत्वमेकत्वं वा । यत्पुनः शिवतत्त्वे-  
तात्पर्यं तावद् विवेकमिति—ब्रिजिनेति । इदमत्र तात्पर्यम्—यदि सर्वसम्यक्त्वत्र  
भिन्नापेक्षया सर्वतामनिर्देशः तर्हि भेदेनानेकत्वेऽर्थभेदोऽस्त्येव, तदपेक्षया मोक्ष इति  
बन्धमोक्षव्यवस्था स्थितैव । अथ सर्वशब्दो न भिन्नप्रमाणोक्तया किन्तु सर्वसम्यक्मेव  
विज्ञानात्मकभेदमारमहमिति विमर्शनं तच्छिवाभेदप्रत्यवमर्शस्य मोक्षप्रतीतिना  
बन्धस्याप्यनुपप्लोऽस्त्येवेति मिदं समाहितमस्माकम् । परमार्थतो वस्तुवृत्त्या न  
किञ्चनापि बन्धमोक्षव्यवस्थाः प्रतीतिमात्रेणास्ति इति॥ परमार्थभेदोऽर्थभेदस्यैव  
दाह्यं भेदोक्तवत् ॥ परत्र = एकत्वपक्षे ॥ तदप्रतीतिरिति—तदवमर्शः—प्रतीत्यप्रती-  
तिभ्यां मोक्षबन्धव्यवस्थाया व्यवस्थितव्यायुक्तं—“नास्तितः बन्धमोक्षयोः” इति,  
तदभिद्धम् । न च बन्धमोक्षव्यवस्थानाच्छिवाद्वयतात्पर्यं नष्टमाने; प्रतीतिमात्रकत्वाद्  
बन्धमोक्षयोर्न वस्तुव्यवस्थाः ॥७०॥

अस्तु प्रतीतिमात्ररूपत्वमेव बन्धमोक्षयोः, अस्तु च वस्तुतः शिवाद्वयमयत्वमेव,  
तथापि यदि प्रतीतिमात्ररूपत्वं तदेव तर्हि प्रमाणोक्तव्यम्, यदि च शिवाद्वयमयत्वमेव  
तर्हि तदेव, कोऽयं नयः वस्तुद्वयत्वकथने?—इत्याशङ्का निवर्तयितुमाह—नासत्य  
इति ॥ वेदोक्तवदिति—वेदप्रक्रियाया हि संकोचतारतम्यकथनान् “नेह नानाऽस्ति  
किञ्चन” इत्यादिवाक्यैरन्येषु भेदेषु सत्यबुद्धिभ्रान्तिरुपाक्ता । अयं भावः—  
अस्मन्मते सर्वथा शिवैकरूपत्वं प्रतिपादनीयम्, तच्च भावानामेकत्वमस्तु, अनेकत्वं  
वास्तु, न केनापि खण्डन इति ॥ बहुत्वमिति—यद्यपि वस्तुतः शिवरूपत्वे सर्वेषां  
बहुत्वमेकत्वं वा न विरोधावहमिति तथात्वकथने न कोऽपि दापः; तथाप्यद्वयवा-  
दोक्तिः, शिवतत्त्वे न कस्यचिदुक्तव्यं, नापि कस्यचिदपकर्ष इति कथ्यतांम् । तथा

वैदिक प्रक्रिया अर्थात् वेदान्त में असत्य अर्थात् भेद में अभेदबुद्धि भ्रान्ति कही  
गई है । शैव दर्शन में ऐसा नहीं है । यहाँ असत्य अर्थात् भेद में सत्यबुद्धि अर्थात्  
अभेद का खण्डन नहीं है बल्कि सर्वत्र समत्वबुद्धि लाना लक्ष्य है अर्थात् यह  
कि शिव को छोड़कर और कोई दूसरा तत्त्व है ही नहीं । अथवा हमारा प्रयास उन  
प्रतिपक्षियों के पराजयाय है जो भावमय जगत् को शिवमय नहीं मानते ॥७१॥



तथा तथा शिवावस्था स्वेच्छातः स तदात्मकः ।

तदात्मत्वे नास्ति बन्धस्तदभावात् मोक्षणम् ॥७२॥

किमर्थं गुरुशास्त्रादि चेतथा तदवस्थितेः ।

देवस्य शास्त्राद् बोधेन किं प्रयोजनमेव च ॥७३॥

नैवमप्य कथनं तत् सर्वेषां शिवतन्त्रेण साम्बाय उत्कर्षाभिकर्षनियाराणाय; यदि वा ये जित्वन् भावानां न प्रतिजानते तद्विवादिपराजयाय ॥७१॥

शेदेऽपि तथा भेदत्वेण शिवस्यावस्थानं स्वेच्छायजान्; स च भेदः शिवात्मकः । एवं च भेदस्य शिवात्मकत्वे नास्ति बन्धः; तदभावात् तदपेक्षो न मोक्षोऽपि ॥७२॥

तथा भेदरूपतया शिवस्यैवावस्थितेऽतोमोक्षाभावात् किमर्थं गुरुशास्त्रानुष्ठानाधिकम् ? न हि देवस्य निराप्रबुद्धस्य शास्त्रेणाद्वैतानं मप्रयोजनम् ? आगतामन्त्रानि ज्ञानाणि ? त्वमेव शिवस्यवादी वा किमर्थं शास्त्रमारब्धवान् ? कस्य-बोधाय ? ॥७३॥

बहुवैकल्यकथने पदार्थस्वरूपमेव तथा तथा स्वादिति पदार्थवाद एवाभ्युपगमो भवेदित्यर्थः ॥ यत्पुनरिति—तनु यदि बहुवैकल्यकथनं तुभ्यमेव तर्हि कुतमद्वयवादेनेत्याह—यत्पुनरिति ॥७१॥

तथा वाच्यमथनपूर्वं बन्धमोक्षव्यवस्था दृढीकृता, शिवाभेदतात्पर्यं च तेनैव निश्चिन्तितम् । अवेदार्तो परमार्थतो व्यवहारेऽपि शिवानेदं समर्थयति—तथा तदेत्यादिना । तदभावात् = बन्धपूर्वत्वान्मोक्षस्य । एवं चेति—अत्रापि च स्फुटं बन्धमोक्षनिर्देशेऽपि बन्धमोक्षव्यवस्था व्यवस्थितैवेति बोध्यम्; तथातयेति कथनम् । स्फुटीभविष्यति जैनम् ॥ तथा = भेदरूपतयापि । तस्य = शिवसदृशकस्य । देवस्येति—वाक्येति = ब्रूयतीति देवः । प्रयोजनमिति—अपूर्वबोधनार्थं हि शास्त्रप्रवृत्तिः ।

तुभ्यन्तु वृजन्त्यायेन तथा अर्थात् भेद के सत्य मानने पर तथा अर्थात् दृश्यमान भेद भी शिव की ही भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं । और जब समस्त भेद शिवात्मक ही है तब बन्ध कितना ? और जब बन्ध नहीं है तो मोक्ष भी नहीं, क्योंकि मोक्ष बन्धपूर्वक होता है ॥७२॥

प्रश्न है कि जब बन्ध और मोक्ष हैं ही नहीं तो मोक्ष के लिए दीक्षा गुरु-परम्परा शास्त्र आदि का क्या प्रयोजन है ? क्योंकि आप तो देव अर्थात् परमेश्वर को ही भेदरूप में स्थित मान रहे हैं ? फिर, उस परमेश्वर को शास्त्र से अथवा ज्ञान से क्या लेना देना है ? नाथ ही यह बताइये कि आपने शैवदर्शन या त्रिक-शास्त्र का प्रारम्भ किमनिमित्त किमके ज्ञान के लिए किया है ? ॥७३-७३५॥



किमर्थं भवताऽऽरब्धं शान्त्रं बोधाय कस्य वा ।  
 स एवेत्थं स्वेच्छयाऽऽस्ते तत्कर्तृत्वेन बोध्यतः ॥७४॥  
 स एव बुद्धरूपत्वे तथा भवति तत्क्षणम् ।  
 स एव संप्रजायेत तदनुष्ठानतत्परः ॥७५॥  
 फलं वा तदनुष्ठाने स एव हि तदा भवेत् ।  
 वादित्वप्रतिपादित्वे कस्माच्चैतस्य तत्स्थितेः ॥७६॥  
 व्यवहाराय वा सर्वं व्यवहारो न वस्तुगः ।  
 स्वरूपं वस्तुगं विद्धि व्यवहारो न जातुचित् ॥७७॥

देव एवाग्रेण प्रकाशेन स्वेच्छया निप्रयोजनमासीत् । तदेव दर्शयति—तदस्मदा-  
 दिनास्त्रकर्तृत्वेन तथा बोध्यतो बोध्यं निप्रयोजनमासाच्चाऽऽस्ते । तथा तस्मिन्नेव  
 काले प्रबुद्धरूपत्वे वा स्थितो भवति । तथा वास्वातुष्ठानपरः सम्पद्यते । तथाऽर्थकामा-  
 दिफलरूपत्वेनापि स एव स्वकाले भवति ॥७५॥

तस्मिन्नेव वर्जनमेव जायमान् वादित्वं प्रतिपादित्वं च कुतः यदुक्तम्—‘त्रिवादि-  
 जननाय च’ उच्यते ? तदेवमपि तस्मिन् तथा स्थितेः । लोकस्वरूपाय वा सर्वं वास्व-  
 तथा च नप्रयोजनता ॥ अत्रोपा हि त्रैलोक्याज्जातार्थमस्तु तत्र प्रवृत्तिः, भवतां तु  
 तदभावात् तुल्यता—किमर्थमिति । सुखास्त्रेति—न च भवतां तत्प्रकटीकरणा-  
 शंसमपि तत्र प्रवृत्तिः तथा च स्वतन्त्रस्य देवस्य स्वातन्त्र्यस्य हानिः स्यात् ॥

वाह्य इत्यनेन वाह्य एव तस्य भ्रमन्त्यमवस्तुत्वं वाऽस्तु, स्वरूपे न भ्रमत्वं नाप्य-  
 वस्तुत्वमित्यर्थः । धर्माधर्मैरिति—यच्चोक्तम्—

उत्तर है कि वह परमेश्वर ही स्वेच्छा से बिना किसी उद्देश्य के जगद्रूप में  
 उद्भूतमान है । वही शान्तों का कर्ता अर्थात् गुरु है तथा बोध्य अर्थात् शिष्य भी  
 वही है । आर गुरु के द्वारा प्रबुद्ध भी वही होता है । वाग्धों के अनुसार धर्म  
 आदि अनुष्ठान भी वही कर रहा है और अनुष्ठान सम्पन्न होने पर उनका फल भी  
 वही भोग रहा है ॥७४ई-७५ई॥

यदि सर्वत्र शिव ही है तो वर्जन से भेद न होने के कारण वादी और प्रतिवादी  
 का भेद कैसे सम्भव है ? उत्तर है कि वादी और प्रतिवादी रूप में भी उर्मा की  
 स्थिति है अथवा लोकव्यवहार के लिए ही मय वास्व आदि को मानिये । व्यवहार  
 तो वस्तु का अनुगामी होता नहीं । स्वरूप वस्तु का अनुगामी होता है । इस प्रकार  
 परमेश्वर वस्तुमय ही है वह अभिन्न है और व्यवहार वस्तु का अनुवर्ती न होने से  
 भेदस्वरूप भ्रमात्मक है ॥७६-७७ई॥

तदीश्वरव्यवस्थानादवस्त्वाभावरूपतः ।  
 सर्वमेकेन रूपेण यद्विचार्य तथाऽप्रतः ॥७८॥  
 धर्मधर्मैश्च सम्बन्धस्तथा तच्छिवसंस्थितेः ।  
 तत्फलाफलयोगेन युक्तता तस्य तत्स्थितेः ॥७९॥  
 निमित्तसमवाय्यादिवैचित्र्यात्तद्विचित्रता ।  
 कारणस्यैकरूपत्वे न दोषश्चितयात्मता ॥८०॥

वादिप्रतिवाद्यादि । लोकव्यवहारश्च तदभेदाख्यातिमयो न वस्तुगतः । यत्पुनः स्वरूपेण प्रकाशते तच्छिवरूपवस्त्वात्मकमेव; व्यवहारस्तु न कदाचित् वास्तवः अपि तु भ्रम एव; अवस्त्वपि ईश्वरात्मैव; अवस्त्वाभासरूपेण तस्यावस्थानात् । अत एव ईश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तनीत्या तदवस्त्वपि प्रकाशमानं चिद्रूपमेव । केवलं बाह्ये प्रकाशनाभावादवस्तु उच्यते । तदाह—सर्वमिति । सर्वम् = वस्तु अवस्तु च शिवरूपं यतस्तथाऽग्रे विचारणीयमेव ॥७८, -७८॥

धर्मधर्मैरिति तयोः फलेन न्यूनतया वा विपरीतेन फलेनाफलेन योगः । अथवा फलेनायोगः, अथवापि अधर्मस्य अफलेन = अनिष्टेन फलेन योगः, तेन हेतुना युक्तता न्याय्या, शिवस्य तथा स्थितेर्हेतोः; सर्वथा यद्यत्प्रतिभासते तच्छिद्रूप-शिवात्मकमेव ॥७९॥

शिवस्यैवैकस्य कारणत्वे निमित्तगमवाय्यसमवायित्ववैचित्र्येण तस्य विचित्रता

“धर्मधर्मौ न सम्बद्धौ शिवस्य न तयोः कृतिः ।

ततश्च शिवधर्मदिवेदादेरकृतायता ॥” इति ।

तच्च परिहरति—धर्मैवादिना । तत्स्थितेरिति—अत्रापि पूर्वोक्तं सर्व व्यवहारादि-कमनुसर्तव्यम् । “अभावे = स्वल्पभावे इति नञर्थमाश्रित्य विवृणोति—न्यूनतया वा विपरीतेति ॥७९॥

न पृथिव्यादिक इति—यदुक्तम्—‘पृथिव्यादिकल्पनया कल्पनावान्’ इति ।

परमार्थतः तो वस्तु अवस्तु, प्रमा भ्रम आदि एकरूप शिवात्मक है यह हम आगे विचार करेंगे ॥७८॥

धर्म और अधर्म के साथ सम्बन्ध के बारे में ऐसा समझें कि धर्म अधर्म और सम्बन्ध तथा उसका सम्बन्धी सभी रूप में वही स्थित है । साथ ही धर्म का इष्टफल से या अनिष्टफल से सम्बन्ध या असम्बन्ध सब में शिव की स्थिति ही युक्त है ॥७९॥

समवायि असमवायि निमित्त आदि कारणों का वैचित्र्य होने पर भी एक शिव की ही विचित्रता जाननी चाहिए । यदि यह कहिये कि कारण के एक होने

न राजाज्ञा समादिष्टा स्वयं वा स निमित्तकम् ।  
 समवायि तदिच्छैव तद्योगः सहकारणम् ॥८१॥  
 तस्यैव वा त्रिरूपत्वं व्यपदेशात्तथाविधम् ।  
 न पृथिव्यादिके तस्मिन् कल्पना संप्रवर्तते ॥८२॥  
 तथात्वेनैव कल्पमत्वात् तदा तत्कल्पना भवेत् ।  
 तदेवातत्कल्पितं किं सत्ये नामास्तु कल्पना ॥८३॥

त्रितयात्मतास्वा, न दोष उक्तव्यायेन, यतो राजाज्ञा न समा = तुल्या उपदिष्टा ।  
 अपि तु राजाज्ञारूपमाभ्येति, अन्यथा भेदः । तद्वत् तत्तुरूपेण संयोगरूपेण  
 च स निमित्तमप्यासने । अथ वा स्वयं न तावन्निमित्तकारणम्, तदिच्छा समवायि-  
 कारणम्; घटादिवस्तुनः मनेच्छान्वयान् स एव चावयवसंयोगः, सहकार्यममवायिका-  
 रणमित्यर्थः । अथवा तस्यैकत्वेऽपि त्रित्वं यथोक्तप्रकारं व्यपदेशात् = व्यवहारान् सर्व-  
 भेदव्यवहारस्याभेदाख्यानिरूपत्वम् ॥८१॥

न च पृथिव्यादिरूपतया प्रतीयमाने भावजाने निरूपिता कल्पिता भवति:

यदि मायापरमाण्वादिकारणभावेन तत्तत्कर्तृत्वमस्याभ्युपेयते, तदा भित्तवस्तु-  
 नद्भूतान् केन विकल्पनाज्जन् भण्यते ? यदि तु तदभावेन कल्पना, तर्हि भित्तवस्तु-  
 न्मुखत्वेन विकल्प एव; तच्च मुख्यप्रायम्; तदात्मकत्वे शिवतत्त्वमपि मुख्यप्रायमेव  
 संबोध्यतीति पूर्वाशयः । तदेतत् समर्थयति—नेत्यादिना । तस्मिन् = भवतन्त्रे ।

पर भी तीन रूप से वह कैसे दृष्ट हो रहा है ? तो यह कोई दाप नहीं ! क्योंकि  
 जैसे राजा के एक हाने पर भी उसका आज्ञाये भिन्न होता है उसी प्रकार शिव के  
 एक हाने पर भी उसका उद्गम भिन्न-भिन्न है । अथवा वह परमशिव स्वयं निमित्त  
 कारण है; उसकी इच्छा समवायि कारण और इच्छा के विषय घटादि के संयोग  
 के रूप में वर्तमान वह शिव ही असमवायि कारण है । अथवा समवायी असमवायी  
 और निमित्त तीनों रूपों में वही है । और उसका ऐसा निप्रकारक होना लोक-  
 व्यवहार के लिए है ॥७९-८१॥

जो यह प्रश्न था कि पृथिवी आदि की कल्पना ने शिव कल्पनावान् हो  
 जायगा ? उसका उत्तर यह है कि जब वह शिव स्वयं पृथिव्यादिरूप है तब  
 वहाँ कल्पना के लिए अवकाश कहाँ है ? हा यदि शिव को ही पृथिव्यादि रूप में  
 कल्पित मानलीजिये तो शिव पृथिव्यादिरूप में कल्पित नहीं बल्कि पृथिव्यादि  
 स्वयं शिव है । तो फिर नत्ववस्तु में कल्पना कैसे हो सकती है ? यह तो भ्रम है  
 वह भी व्यवहारार्थ ॥८२-८३॥

कटकेऽस्ति सुवर्णत्वं कुण्डले कल्पनाऽस्ति किम् ।

चित्रवह्नावशोकादौ कल्पना राजते कश्चित् ॥८४॥

वस्तुस्थित्यैव पृथिव्यादिरूपेण वा शिवतत्त्वस्यैव कल्पितत्वात् । अतद्रूपं तद्रूपं यदाऽवसीयते यथा मनोराज्यादि, तदा तत्कल्पना कल्प्यमानं भवेत् । यावता साक्षाच्छिव एव सर्वमिति वस्तुस्थित्या पृथिव्यादि शिव एव, शिवत्वेन किं कल्पितं भवति ? न भवत्येवेत्यर्थः । अथ सत्यतत्त्वमिमेव कल्पनेति वक्ष्यते तदवस्तु । अतस्तत्र कल्पनेति नामकृतिः ॥८२-८३॥

तदेवोदाहरति—कटक इति । कटके किं सुवर्णत्वं सत्यं कुण्डले तु कल्पितम् ? नैवेत्यर्थः । चित्रगते बह्नी, अग्निकपुष्पादौ रक्ते बह्नि-कल्पना जायते त्वचिदवसरे तथात्वेनैवेति—तस्यैव तत्तद्वैशिष्ट्येणापि व्यवहारे स्थितत्वात् । वल्लस्तत्वात् = अप्रतीयमाने प्रतीयमानत्वम् । तदेव = शिवतत्त्वमेव पृथिव्यादिरूपितम् । नामेति परतोपाश्रममितिः ॥८३॥

भवतीति—यतः—

स्वामिनश्चात्मसंरथस्य भावजातस्य भावनम् ।

अन्त्येव न बिना तस्मादिकलाऽप्यर्थाः प्रवर्तन्ते ॥ (टी० प्र० १.५.१०)

इति प्रत्यभिज्ञोक्त्या यतस्तत्र द्विभिन्नाभावाभावनाशयभावोऽपि नार्थमन्त्येव । तत्र च कस्यातद्रूपस्य तद्रूपाभावनं नाम तवमाभावनं कल्पनाकल्पितं भवेत् ?—इति भावः । वस्तुस्थित्यैव = परमार्थनयेन । पृथिव्यादिरूपेण = व्यवहाररूपा । वल्लस्तत्वात् = स्वयं सम्पन्नत्वात् । अतद्रूपम् = पूर्वमनतद्रूपमधुना तद्रूपम् । ननु क्वान्वयः कल्पितत्वं नाम ?—इत्यत आह—अतद्रूपमिति । मनोराज्यादावपि संबिद एव तत्तदाभावाभावनसामर्थ्यमितिः तत्रापि यदि कल्पितत्वं नास्ति तथाप्येतादृशये तत्र कल्पितत्वं वादिवादसमर्थनार्थमुपगतम् । यावता = एतान्तिश्रयेन । किं कल्पितमिति—यदि हि पृथिव्यादि पूर्वं न सम्भविष्यन् तदतद्रूपत्वात् तद्रूपावभावे मनोराज्यादिवद् वस्तुगुण्यतया कल्पितमेवाभविष्यन्; न तु पूर्वं नास्ति इति संभावनाऽप्यस्ति इति

क्या आप यह मानते की तैयार है कि कटक में सुवर्णत्व सत्य है और कुण्डल में कल्पित ? चित्रलिखित अग्नि में वा अग्निकपुष्प की रक्तिमा में अग्नि सत्य है ? यदि ऐसा नहीं मान सकते तो यह भी मत मानिये कि पृथिव्यादि में शिव की कल्पना है । बल्कि यह समझिये कि स्वयं शिव ही पृथिव्यादिरूप से सम्पन्न होकर विराजमान है । और जो लोग कल्पित वस्तु और कल्पना में अन्तर नहीं जानते उन्हें मेरा प्रणाम है । अर्थात् वे शास्त्रचर्चा की बिल्कुल योग्यता न रखने वाले मूर्ख हैं ॥८४-८४३॥



कृत्प्रकल्पनयोर्भेदं ये न जानन्ति नौमि तान् ।

शिवतत्त्वे सानुभवे पश्यन्त्या न समानता ॥८५॥

पृथिव्यादिरूपेण शिवः कृत्तः = सम्पन्नः = स्वयं स्थितः । कल्पितं पुनः स्वयं यं तथा केवलमिष्यते तेन रूपेणेति कृत्तस्य स्वयं कृत्तेस्तथा सम्पत्तेः; कल्पनायाश्च स्वयमनयाभूतस्य तथा सम्भावनामात्ररूपाया ये मन्त्रार्थत्वेन भेदब्रह्मस्ते ब्रह्माः इत्युपहासः ॥८४३॥

शिवतत्त्वे चिदात्मनि विश्वनिर्भरे विश्वानुभवरूपे पश्यन्त्या पूर्वोक्तदुपपत्त्या न समानता । यतो यथा गान्धिकोऽनन्तगन्धद्रव्यमौगन्धमिवत्तयाऽनवधारयत्क्रमेण सर्वमवधारयन्नास्ते, तथा विश्वान् भावान् देशकालक्रमशून्यान् वाच्यवाचकात्मनः पश्यन्नधिकल्पः शिवा भवति: 'अहम्'-इत्येव पूर्णाहंभावेनैवा प्रकाशनात् । अहंपरामर्श-वानप्यधिकल्पको यथा तथेश्वरप्रत्यभिज्ञातोऽवधारम् । गान्धिकस्यान्वयस्य च तुल्ये गन्धानामिवत्तयाऽनुभवे गान्धिकास्य गन्धामोदवत्तयाऽनवधारस्यैव तु तच्छून्यस्यैव । पूर्वमपि तद्रूपवाच्यपुनापि तद्रूपत्वं कल्पितं न भवेदित्यर्थः । तस्मिन्नेव = शिवतत्त्वे । नामकृतिरिति—परमार्थतो नात्र भेद इत्यर्थः ॥८४३॥

कटक इति—कटक एव सुवर्णत्वं तद्वत्तामिधत्वं विश्वम्, कुण्डल एव पृथिव्यादिरूपतया स्थितम् । वदचिद्वचर इति—अयं भावः—अन्वये नस्त्वर्गभावना तच्चिद-धर्मरे शोभते, किं पुनर्वचस्यं तद्रूप एव न ये संभावतेति ॥ तनु किं यथाऽऽकाशदा-नस्य सत्यवह्निर्गभावना, यथाऽऽकाशस्य, सिद्धमस्मदिष्टमित्यत आह—पृथिव्या-दीति ॥८४४॥

तनु चास्तु पृथिव्यादिरूपतयाऽपि नस्याधिकल्पता, तद्रूपताऽवधारनाभावात्; पूर्वमपि तस्य तद्रूपत्वमेव स्थितत्वात् । अवेदानीं तथैव पूर्वभाविशिवतत्त्वं समर्थनीयं येनाधर्ममपि तस्य मिथ्येति । तत्र चाहंपरामर्शो नाम वाद्यपश्चाद्विकल्प एवेति कथं तत्तादिकल्पत्वम् ?—इत्याजकुवाह—शिवतत्त्वं इति । तथा वन् पुनः पूर्वपक्षे प्रत्य-वस्थितम् "शिवतत्त्वे सानुभवे पश्यन्तीतुल्यता तदा ।"—इति, तदपि समर्थयति—

जो वैयाकरणयोग पश्यन्तीवाक् को परमतत्त्वं मानते है उनके विषय में मेरा कथन यह है कि परमशिवतत्त्वं चित्स्वरूप विश्वानुभवरूप है । वह जड़ पश्यन्ती-रूप कैसे हो सकता है ? जिस प्रकार अनेक निर-भिन्न गन्धों ( सेट एज ) आदि को वेचने वाले गन्धों के पास सभी पृथक् द्रव्यों की सुगन्ध क्रम, मात्रा आदि में रहित एक गन्ध के रूप में भावित होती है उसी प्रकार परमशिव समस्त भावमय जगत् का देश, काल, क्रम, वाच्यवाचकभाव आदि में रहित एकरूप में देखना हुआ पूर्णरूप में स्थित है ॥८५-८५३॥

यतो गान्धिकसौगन्ध्यवत्पश्यन्नविकल्पकः ।

सत्यानि स्वात्मरूपाणि पश्यतो न समानता ॥८६॥

अनेन विश्वनिर्भरता समर्थिताः तावन्मात्रेभ्यं दृष्टान्तः ॥ सादाख्येश्वरदशवोरपि न पश्यन्त्या समानता; सर्वमहमित्येवमात्माविभेदनात्मविश्रान्तानि मत्त्वान्येव वस्तूनि तथा पश्यति प्रमाता । पश्यन्त्यां तु सुपुसावस्थायामिव भित्तान्येव संसारदशोचितानि शिवतत्त्व इत्यादिना । पश्यन्त्येति—अत्र कारणे तयोपचार इति दृष्टा पश्यन्ती दूषणैरित्यर्थः ॥८५॥

शिवतत्त्वे इति—

“यान्युक्तानि पुराण्यमूनि विविधैर्भेदैर्देव्यन्वितम् ।

रूपं भाति परप्रकाशनिविडं देवः स एकः शिवः ॥”

इति तावदा यदनुस्यूतं महासामान्यनीत्या तच्छिवतत्त्वम् । उक्तं च आपासूत्रेषु—  
‘यद्विश्वं तत्तस्याभ्यन्तरता ।’ पूर्वोक्तदूषणयेति—किमभावभवति ? किमात्मानम् ?  
उत परात्मानम् ? किमनुभूतम् ? उताननुभूतम् ? कि क्रमिकम् ? उताक्रमिकम् ?  
इत्यादि ।

गान्धिक इति दृष्टान्तकथनं तत्तदनन्तवस्तुगन्धस्याक्रमवबोधनार्थम्; तेन च विकल्पताहानिः फलम्; तस्य वस्तुद्वयमापेक्षत्वात् । देशकालक्रमेति—भेदस्याभास-  
सदसन्वरूपत्वात्; क्रमस्य च भेदाश्रयत्वात्; तच्चाभाससदसत्त्वं प्रभोः प्राग्भवी शक्तिः;  
तदनाभासे कथमत्र देशकालयोगः ?—इत्यर्थः । क्रमस्वरूपपर्यालोचनया तदवभासकारी  
महेश्वर एव कालशक्तिमपकल्पत इत्यर्थः । उक्तं चेश्वरप्रत्यभिज्ञावाङ्—

“मूर्तिर्वैचित्र्यतो देशक्रममाभासयत्यसौ ।

क्रियावैचित्र्यनिर्भासात् कालक्रममपीश्वरः ॥” (ई. प्र. २.१.५.) तथा

सक्रमत्व च लौकिक्याः क्रियायाः कालशक्तिः ।

घटो न तु शाश्वत्याः प्राग्भवाः स्यान् प्रभोरिव ॥ (ई. प्र. २.१.२.) इति ।

अहमित्येवेति—प्रकाशस्यात्मव्यवहृतिपरामर्शः परावाच्यत्वात् स्वभावभूतः, अतश्च

प्रश्न है कि पश्यन्ती का साम्य परमशिव के साथ भले ही न हो सदाशिव के साथ तो है ही क्योंकि वही ‘इदंता’ का आभास होता है ? उसके उत्तर में कहते हैं कि सदाशिव की इस दशा के साथ भी पश्यन्ती की समानता नहीं है । क्योंकि सदाशिवअवस्था में प्रमाता ‘इदं सर्वं अहम्’ इस प्रकार समस्त सद् वस्तुओं को अपने से अभिन्नरूप में देखता है जब कि पश्यन्ती अवस्था में संसारदशा में प्रकट होने वाले पदार्थ भिन्नरूप में उगीप्रकार भासित होते हैं जैसे सुपुसावस्था में । यदि यह कहिये कि ‘ज्ञान और क्रिया सादाख्य कहलाती हैं’—इस सिद्धान्त के अनु-

पश्यन्त्याथो शिवावस्था क्रियाफलसमाप्तिः ।

क्रियाया वाऽथ प्रारम्भे कल्पनीया प्रशान्तता ॥८७॥

बीजभावेनानते । सुप्तोत्तीर्णोऽपि पश्यन्त्या अवियामयान्येव न दर्शने—इति शेषः ।  
अथ ज्ञानक्रियाप्रारम्भपर्यवसानयोः प्रशान्तता नाम शिवावस्था कल्पनीया; सा  
चेच्छादितकिञ्चिद्व्यवस्था निरनुभवा जडरूपेण्युच्यते ? ननु; यतोऽनु सा दशा, न तु  
तदापि सर्वजक्तिविह्वो वेन भिन्नत्वाद् भेदाय वा स्यात्; किन्तु सर्वोऽवस्थामु  
मुग्धमनसा इच्छादिगतिभोग इति प्रथमार्थिक एव निश्चितम् ॥८५३-८७॥

न विकल्पः । स हि प्रतियोगिनिषेधपूर्वः, न चात्र प्रतिवोगो नाम कश्चिदस्ति ।  
तथा हि प्रकाशादि प्रतियोग्यत्वात्प्रकाशमजः स स्वयमसिद्धः; कस्य प्रतियोगित्वम् ?  
अनाभागेन प्रकाशेनत्वाभावात् । अवभागे तु तथापि कः प्रतियोगो नाम ? तथा च  
नस्यानवभागेन व्यपोहनीयाभावात् कथं विकल्पत्वम् ? तदुक्तमोश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्—

“अहंप्रत्यवमर्शो सः प्रकाशात्माऽपि वाग्वपुः ।

नामो विकल्पः स ह्युक्तो ह्यशेषो विनिश्चयः ॥

भिन्नयोरवभासो हि स्याद् घटाघटयोर्द्वयोः ।

प्रकाशस्यैव नान्यस्य भेदिनस्त्ववभासमम् ॥”

(ई० प्र० १.६. १-२) इति ।

ननु नयंपामेवानन्तगत्यावभासोऽक्रमेणैवास्ति किमर्थं गान्धिकस्येति व्यवदेयः ?—  
उच्यते आह—गान्धिकस्येति । अन्यथा हि अनाभावभागेऽपि क्रमेण ग्रहणमस्य  
नममेवेति भावः । तच्छून्यस्य = गन्धामादरहितस्य । तावन्मात्र इति—‘स  
यदाऽऽस्ते’ इत्यादिना लक्षितलक्षणायामित्यर्थः ॥८५॥

ननु चास्त्वेवम्, अत्र हि न विद्वानास्माकं ग्रहणमद्वयं वा, महामान्वावययाऽप्य  
भवद्विषयगतत्वात् । वा पुनः सदाशिवेश्वरदशा, तत्र कथमनुभवति?—उच्यते आह—  
सत्त्वानीत्यादि । परावस्थायां हि स्वभावभूतत्वात् सर्वस्य न तत्रानुभवानुभवा-  
नार ज्ञान का स्फुट अवभास होने ने सदाशिव और क्रिया का आभास होने ने  
ईश्वर होने के कारण जड़ पश्यन्ता का उनके साथ तादात्म्य नहीं हो सकता तो न  
हो किन्तु क्रिया के फल की समाप्ति होने के बाद या क्रिया के पहले, तो परमशिव  
की विलकुल शान्त निश्चल अवस्था रहती है तो यह दशा तो परमशिव का  
सदाशिव और ईश्वर स भेद बतलाती हो है ? तो इसका उत्तर है कि यह भी उन  
सब के बीच भेदाभासक नहीं हो सकता । यह हम पहले ही प्रथम आह्निक में  
बता चुके हैं ॥८६-८७॥

अस्तु साऽपि न भेदाय यथा तत्प्रविनिश्चितम् ।

न च वाऽस्त्यन्तरालेऽत्र सा दशा या हि केवला ॥८८॥

प्राक् क्रियाफलनिष्पत्तेः समनन्तरमेव यत् ।

प्रसर्पत्यपरेच्छैव पुनरन्या तथाविधा ॥८९॥

न कदाचन तस्यास्ति कैवल्यं शक्तिशून्यकम् ।

यत्रात्मानुभवानिष्टा तत्रेच्छा च न किं भवेत् ॥९०॥

नास्त्यपि वाज्ज्तराले द्वितीयक्रियाप्रारम्भान् प्राक् अत्र सा दशा, या शान्तना शक्तिशून्यतालक्षणा स्वात् । यत् = यस्मात् क्रियाफलनिष्पत्तेः समनन्तरमेव प्रसरति अपरेच्छैव गुस्फुटपरमं विन् क्रियार्था, न तु तदा शून्यता । पुनरपि तत्क्रिया-फलममवाप्नोति तदनन्तरमेवान्या तथाविधेच्छैव प्रवर्तते । किं बहुना उभयथा न कदाचन चिद्रूपस्यान्तराललक्षणं कैवल्यं शक्तिशून्यकं नाम रूपमस्ति । तथा हि—  
वनानम्भानावनाशद्वाग्निः इदन्ताभासाभावात्; सदाशिवादाविदन्ताभामस्य भागविष्य-माणत्वात् कथं तत्रानुभव इति तत्र पश्यन्तीयाम्यमायातम् ?—इत्याशङ्क्याह—  
सत्यानीति ॥८९॥

ननु चास्तु पश्यन्त्यामहमित्यात्माभेदेन सत्यान्वेव वस्तुनि; 'अहम्' इत्यत्र 'ज्ञान-क्रिये सादाख्यम्' इति नीत्या ज्ञानरूपत्वात् सदाशिवस्य; क्रियारूपत्वाच्चेष्टरस्य; तयोरेव विशेषत्वेऽनुभवतीति युज्यते; विशेषस्य तु सामान्यपूर्वभावित्वान् पूर्वावस्था निरनुभवा सिद्धयति?—इत्यत आह—अथो इति ॥८७॥

इत्यमत्र ज्ञानक्रियाप्रारम्भपर्यवसानयोः शान्ततायामपि मूढमतया तादृगनुभव-शालिनामेवेच्छादिशक्तिसम्भवः सन्नप्याभाति । अवेदानो गर्वेषामेव स्फुटं यथेच्छादिशक्तियांगः तथा न्यायमप्याश्रित्य ब्रूते—न चेति । तत्र नदीपूरभेदेन

यह भी नहीं है कि एक क्रिया की समाप्ति और दूसरी क्रिया के प्रारम्भ के बीच का जो समय है उसमें वह तत्त्व शक्तिशून्य रहता है । क्योंकि एक क्रिया की फलममाप्ति के तुरन्त बाद दूसरी क्रिया के लिए परासंविद् की इच्छा का प्रसार शुरू हो जाता है । इस प्रकार कोई भी ऐसा समय नहीं आता जबकि परमासंविद् शक्तिशून्य केवली हो ॥८८-८९॥

जहाँ पर आत्मानुभव की प्रबल निष्ठा होगी क्या वहाँ इच्छारूप क्रिया नहीं होगी ? यदि यह कहिये कि आत्मानुभव तो प्रकटरूप में प्रकाशित नहीं होता तो ऐसा कहने पर क्या परमशिव की जड़ावस्था नहीं आ जायगी ? अर्थात् अवश्य आ जायगी ॥९०-९०॥



अथानुभवर्तनं नास्ति जडता सा न प्रसज्यते ।

उपलब्धैर्जडत्वैऽपि शिवत्वं ते कथं स्थितम् ॥९१॥

यथा न तत्र जडता तथाऽग्रे प्रविचार्यते ।

सफलायां समाप्तायां क्रियायां समन्तरम् ॥९२॥

यथात्मानुभवस्व अनिष्टा = विरक्तभावः, तवानुभवनक्रियार्थं किमिच्छाक्रिया नास्ति ? न हि अनुवृत्तां विनाऽनुभवः स्यात् ? अथात्मनोऽनुभवं नास्ति = न प्रकाशने-इत्यर्थः, ना = अवस्था जडा न प्रसज्यते ? प्रसज्येतैव-तावत्वा योजनीयम् । आत्मनो ह्यहमिति परामर्शोऽनुभवः नैव चाजडता जडत्वैरुपपन्नमिति ईश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तौक्त्या ॥८८१-९०१॥

अथ जडत्वैऽप्युपलब्धेः शिवत्वोपगमात् जडतान्नजनम् । कोऽयं दोषः ? न त्वयं दोष एव । यथा तूपलादेर्जडता, तथाऽग्रे नमीप एव प्रकर्षेण विचार्यते—इत्ययमेकः पूर्वोक्तप्रकारो वित्तव्य कथितः । अथवा स्थूलायां क्रियायां सफलायां समाप्तायां तदनन्तरमेव नफले क्रियान्तरे इच्छासम्भवो यावदपर्ववर्तमानम्, तत्र निमित्तभूता असन्नता यतोऽस्ति शिवशक्तीनाम् । शिवशक्त्यश्च नित्यमभूताया वृष्टेर्यथाऽनुमानम्, तथेहापि कार्येण कारणानुमानमित्याह—प्रसर्पतीति ॥८९॥

ननु चाहमित्यविकल्पकं पश्यति किमुच्यते, यतः सर्वमेवोपलब्धिकां जडमेव; तत्र जडत्वादेवाप्रकाशनाः अप्रकाशे तु कथमहमित्यविकल्पमेव परामर्शः सम्भवति ? न केवलमित्येव । तस्यापि शिवत्वे शिवोऽपि तथा जड एव प्रसज्येत । भेदे तूपलादिकं जडमस्तु चेतनं वास्तु न काचन भवदभ्युपगतशिवत्वहानिरित्यत आह—उपलादेरिति । अत्र “शिवत्वं ते कथं स्थितम् ।”—इत्येव साध्यम्, न तु जडे शिवत्वं कथम् इति । तस्य तूपलादेर्भवतामपि जडत्वमेवापगतमिति । जडता—शिवतत्त्वस्य । दोष एवेति—एवकारेणात्रोपलादेरपि जडतासम्भावना निरस्ता; तेन शिवत्वे जडता दुरापामर्शं मिद्धा । विचार्यते इति—अर्थलभ्यत्वादत्र शिवत्वं पुनर्न समर्थितमिति बोध्यम् । पूर्वोक्तप्रकार इति—तावन्मात्रस्थितौ इत्यर्थः ॥९१॥

अत्र प्रश्न है कि उपलब्ध अर्थात् पत्थर आदि तो प्रत्यक्ष जड़ है फिर वहाँ आपकी चैतन्यात्मक शिवता कैसे मानी जाय ? उत्तर है कि पत्थर आदि में भी जड़ता नहीं है यह हम आगे विचार करेंगे ॥९१-९११॥

भावजगत् में सम्पन्न होनेवाली स्थूल क्रियायें जब अपना-अपना फल देकर चरितार्थ हो जाती हैं तब उसके अग्रिम क्षण में क्रियान्तर की इच्छा उत्पन्न होती है । चूँकि शिव की शक्तियाँ अनन्त हैं और वे शक्तियाँ शिव में शाश्वत रहती

क्रियान्तरेच्छामभूतिस्तन्निमित्तमनन्तता ।

यतोऽस्ति शिवशक्तीनां ताश्च नित्यमवस्थिताः ॥९३॥

सरन्त्येव स्वभावेन तत्सरत्प्रकृतिः शिवः ।

ईश्वरस्य स्वतन्त्रस्य केनेच्छा वा विकल्प्यते ॥९४॥

वस्थिताः सरन्त्येव स्वभावेन । ताश्च शक्तयः प्रकृत्या यत्, तन् सरन्ती प्रकृत्यस्य न तवाभावः शिवः, तथाभूतलक्षणत्वात्तस्य । यथोक्तम्—

“अनया तु स्वानया स्वात् गृष्टमाद्वयं त्वत्तः ।” (भा० का० ४।१) इति ।  
इति द्वितीयः प्रकारो विनव्याक्तः । अथवाऽह—ईश्वरस्येति । केन वाऽनेच्छा विकल्प्यते स्वात् न स्याद्वेति । स्वातन्त्र्यं तावदवश्यंभावि, ईश्वरत्वादेव । तन्मयं विश्वं तथाविधमेव—इत्येतावत् तावत् स्थितम् । अथवा स्वातन्त्र्येणापि विश्वात्मताप्रसङ्गत्वात् स्वविभावाम्बादादप्यस्मात्तो यस्यास्ति स्वभावविशेषस्तस्य प्रासुक्तं सर्वदा विश्व-रूपताप्रसरणे निमित्तत्वेत्येवमभिनवेच्छादये निमित्तं नास्तीति दूषणम् ॥९१-९४॥

द्वितीय इति—परापरास्वयंशक्तिप्रसर इत्यर्थः । ईश्वरस्येति—यदुक्तं, दूषणो-  
च्युक्तबुद्धिभिः परमाशक्त्येवमकुण्ठः पूर्वपक्षिभिः विविधेच्छावादाभीष्टे यज्जगत्प्रधान-  
कार्यसम्पत्त्या हेतुभावया इच्छाकान्ताविरता पुनः शक्तिप्रलयादो पटादिविज्ञाने वा  
इच्छान्तरोद्गमे को हेतुः ? यत्प्रेरितस्य शिवस्य पूर्वस्वभावनिवृत्तावपूर्वस्वभावान्तरे  
चेच्छा नवमया प्रयन्ते इति ? तदपि तेषामन्तादप्युत्पन्नमर्थमिति—ईश्वरस्येति ।  
अयं भावः—यदि हि स्वतन्त्र ईश्वरः परिमितेनैवेच्छादिना व्यवतिष्ठेत तर्हि त्वस्य  
स्वातन्त्र्यमेव नश्येत् । स्वतन्त्रो हि यदा परिमितस्वरूपो नवनवोदयः । यदि च केवल-  
मिच्छाजन्य पूर्वभावविशेषान्थास्यत्, तर्ह्यस्य परिमितत्वेन मुख्यैवागनेत्यर्थः । अस्व =  
स्वतन्त्रस्य । तथाधिधनेवेति—कुत्र पुनः पूर्वस्वभावनादिनिवृत्तावपूर्वस्वभावान्त-  
रोद्गमादीत्यर्थः । दूषणमिति—काव्या न दूषणमित्यर्थः ॥९४॥

है, अतः इच्छा भी अनन्त है और उन इच्छाओं का स्फुरण होता और फिर  
शिव में वर्तमान शक्त का प्रसरण, यह शिव के स्वभाव के कारण होता ही रहता  
है । इस प्रकार उन शक्तियों का मूलकारण शिव है ॥९२-९३॥

उपर्युक्त प्रकार के अतिरिक्त एक प्रकार यह भी है कि ईश्वर स्वतन्त्र है; वह  
अपरिमित है । इसलिए उसकी इच्छा भी अपरिमित होने के कारण विकल्पजन्य  
है । वह ईश्वर स्वयं विश्व के रूप में अपना प्रसार कर अपने स्वरूपवैभव का  
आनन्द टीक उगीप्रकार लेता है जैसे कोई सुन्दरी अपने स्वरूप को अलंकृत कर  
अपने सौन्दर्य पर स्वयं आनन्दविभोग हो उठती है । इस प्रकार नयी-नयी इच्छाओं  
के उदय का कोई कारण नहीं है ॥९४-९४॥

विभवामोदबाहुल्यस्याथवोक्ता निमित्तता ।  
 विश्वतुच्छत्ववाक्यानां वैराग्याद्यर्थवादिनाम् ॥१५॥  
 तात्पर्येण न दोषोऽस्ति नानाचित्तत्वं न कल्पते ।  
 एकस्मिन्नेव देहे तु विभेदात् परमाणुगात् ॥१६॥

विश्वमन्त्रं यद्वदाममिति शिवाक्षरं विरोधः । यत् एषां  
 वैराग्यनिरात्मतादिप्रयोजनविधानवतामेकशिवात्मतासमर्थनपरत्वेन न दोषोऽस्ति ।  
 न च सर्वशिवत्वे नानाचित्तत्वप्रसङ्गः । तथाहि—एकस्मिन्नेव देहे तावन्तः परमाणु-  
 वन्तावन्तः शिवा इत्येवं परमाणुगादपि विभेदात् विभेदः स्यादित्यान्वय-  
 प्रस्तावनमित्येतादृशं न दोषः । ये ब्रह्मवः परमात्मादिपदवाचीन् एकशिवरूपा  
 इति कथं ब्रुवन्तम् ? न हि शिवा घटादिरूपः, अपि तु घटादिः शिवरूपः ।  
 ततश्चिद्रूपस्य देवताकल्पभावभेदाभावात् भेदः । एतदीश्वरप्रत्यभिज्ञायां प्रदर्शितम् ।  
 यैः पुनरणुभेदवादो गृहीतस्तेषां चातृतां स्वभावाच्छिवता । ना च मन्दावृता ।

विश्वेति—यत् पुनस्तत्—

“विश्वस्यानन्तरूपत्वं यैर्वाक्यैर्वर्णितं क्वचित् ।

शिवाक्षरं विरोधः स्यात् सर्वगत्यत्ववादिनः ॥ ( वा. सू. ३.३२ ) इति ।  
 तदपि समर्थयति—विश्वेति । एषां = शिवाक्षरवाक्यानाम् । यतोऽनन्तरूपं गत्य-  
 मेवाक्षरम्, तच्चानवयोभाद् विश्वगत्यत्ववृद्धिभिः तच्चानन्तरूपं कश्चिद्भागव्याप्त्या  
 भागे रज्यतेति भागशा व्याप्तिरन्येति वैराग्यवादादनाथं तत्रागत्यत्वम् । तथा येष्व-  
 स्वभावे एव वस्तुनां वस्तुनेति, तद्वादिनिरागार्थमेवा नैराग्यं दर्शितमित्यर्थः ॥१५॥

एकस्मिन्नेवेति—अर्थकै—‘ब्रह्मन् विश्वं प्रविभाति तत्तत्सर्वं शिवः’ इति  
 विशेषमन्त्रात् विदधते । तथा हि—ब्रह्मदिनि अनेकं नानाविधं भिन्नं विश्वमर्थजातं तत्सर्वं

जा लग विश्व को ब्रह्मापुत्रवत् तुच्छ मानते है ये लग भी नानात्मक विचित्र-  
 भावसय विलक्षण संगार को भेदमयी साह माया मे फँसकर दुःख भोगने वालों को  
 वैराग्य आदि को आर ले जाकर एकात्मशिवत्ववाद का हा पापण करते है ।  
 इसलिए वहाँ कोई दोष नहीं है । सब कुछ का शिवात्मक मान लेतेपर अनेक चित्त  
 का योगसम्पत्तिविलान्न भी दूरासमागित हो जाता है ॥१५-१५॥

जा परमाणुभेदवादो ( वैरोधित आदि ) एक ही देह में परमाणुओं के भेद  
 के कारण अनन्तचित्त होने में अनन्त शिव का आगच्छा करत है वह नानाचित्तात्मक  
 दोष उन्हीं भेदवादियों के मत में है । मेरा मत मे ता चूँकि मारे परमाणु  
 एक शिवरूप है न कि शिव अनन्त परमाणुरूपवाला है, अतः कोई दोष नहीं  
 है ॥१६-१६॥



एकत्वाच्छिवरूपस्य दोषोऽयं भेदवादिनाम् ।

एकाधिष्ठानतो वाऽपि तेषामपि न द्वयणम् ॥९७॥

आन्तरे कृमिचैतन्ये चित्रता स्वामिभूत्यवत् ।

तावदेकचित्स्वरूपशिवप्रसरणेन वा ॥९८॥

ततस्तेषामत्रोक्तज्ञानवशाद् यदि शिवस्वरूपव्यक्तिसन्तो भिन्नाः शिवाः । ते च देहस्थाः, तन्मयत्वे चाणुतां देहपरमाणव एव किमिति शिवाणवो न भवन्तीति भिन्नपरमाणुवादे न चित्तत्वस्य, ततस्तेषामेवायं दोषः ॥९५-९६॥

अथवा तेषामनुभेदवादिनां नानाचित्तत्वं न द्वयणम्, यत एकचिद्वृत्ति-शिवाधिष्ठिता नानात्मान एकस्यैव निजमायाप्रश्रवणान् इति यथा शिवाद्वयदर्शने । अस्माभिः रात्रिस्तरमिदमपि ईश्वरप्रत्यभिज्ञायामेव समर्थितम् । अभेदाख्यानिश्च तारतम्येन भिद्यते पुर्यष्टकभोगन्देकान् । चित्रता कृष्णादिचैतन्ये स्वामिभूत्यव-

शिव एवेति यद्यपि शिवाद्वयमेव, तथापि तेषां बहुत्वाद् भिन्नत्वाद् बहूनि भिन्नानि शिवान्यपि सम्भवन्तीति, तद् द्वययति—एकस्मिन्निति । विभेदादिति—विभेदात् परमाणुगान् इत्यत्र द्विधा गतिः । न्यायवाहुल्यं चान्यत्र । अत्र तावदेके भवन्ति—यथा प्रतीयतेऽयं बाह्या निराकारेण साकारेण वा ज्ञानेन नैकानेकरूपतया सावयवः, तथाज्युक्तः, एकत्वानेकत्वयोः परस्परपरिहारेणावस्थानादेकाग्रयत्नयोगात् । तस्माद्वि-स्वयव एक एवावयवी बाह्यो देवदत्तप्रतीतिविषयः; अवयवास्तु 'यक् प्रतीत्या ह्रस्वः पाद इति पृथग्भूताः प्रतीयन्ते, न त्वेकत्वानेकत्वयोरनेकाग्रयतेति अवयववादिन आहुः । यैरिति—अत्राहुरगरे—तदेतदयुक्तम्; हस्ते चलति चलतो देवदत्तस्य, पदादिषु वा चलत्सु चलतश्चलत्वाचलत्वलक्षणविरुद्धधर्मयोगः स्वादेकस्य । न चैतद्युक्तम्; तावन्मात्रलक्षणत्वाद्नेकत्वस्य । प्रत्ययवयवं च सर्वात्मना युगपत् समवेतेऽनेकत्वं स्यात्, एकाग्रयवापाये च नाशः स्यात् । अवयवान्तरावस्थानादनष्टस्यापि पर्यायिणै-कैकाग्रयवापायाविनाशिनः सर्वाग्रयवापायेऽपि अविनाशः स्यात् । तस्मात् परमाणव एव निरवयवाः सञ्चिता इति परमाणुमञ्जयवादिनः ॥९६॥

ननु च यदि चित्तेन्द्रेकात्तत्तच्छक्तिमद्व्यपदेशस्तर्हि पातललमनम्, तर्हि 'वत्तेश-कर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' (पा० यो० सू० १.२४) इति लक्षणं कृतमित्येतदपि शङ्कित्वा समर्थयति—पातञ्जलादीति ।

अथवा नानाचित्तात्मकता भी दोष नहीं है । क्योंकि उन नानाचित्तात्मक शिवों का उसीप्रकार परमशिव एक अधिष्ठान है जैसे स्वामी और सेवक के बीच शक्ता-शक्त का सम्बन्ध होता है । अथवा जैसे अनेक कौटों-मकोटों में एक ही चेतनता है । उसी प्रकार नानाचित्तों में भी एक ही शिवात्मक चैतन्य है ।



पातञ्जलादीश्वरेण न साम्यमविभेदतः ।  
इह तद्वन्न विज्ञेयं तस्मात् सर्वं स्थितं शिवः ॥९९॥

शक्तशक्तचैतन्यद्वयात्मत्वान् । अथवा तावत्परिमाणमनेककुम्भादिपर्यन्तमेक-  
चित्स्वरूपस्य शिवस्य यत् प्रसरणम्, तेन । अत्र पक्षे पुर्यष्टकाधरीकारेण चित्तेन्द्रेकान्  
विवाद् विभेदः स्तरयैव तथारूपत्वान् । अत एव मायाशक्तिवशान् तथैकत्वा-  
प्रश्रनान् अनेकत्वम्, वस्तुतस्तत्त्वभेद इति । पातञ्जलेन = पुरुषविशेषेणेश्वरेण तथा  
वैशेषिकादिस्थितेन न साम्यम्; तत्र भेदाभ्युपगमात्; इह त्वभेदः । तद्वदाश्वरदर्शने न  
ज्ञेयम् । अतः सर्वमेव भावजानं शिवात्मकं स्थितम्; तथाभावे सर्वरूपणपरि-  
हारादिति ॥९९॥

इति श्री शिवदृष्टिवृत्ती श्रोमदुत्तान्तदेवनिर्मिताया तृतीयमाह्निकम् ॥

ननु चास्तु सर्वथा शिवैक्यम्, तथाऽपि किंकृताञ्जं विचित्रताभेदः यतः कोऽपि  
बहुशक्तियुक्तः, कोऽपि न्यूनशक्तियुक्तः ?—इत्यत आह—अभेदास्मादिति । ननु च  
यदि पुर्यष्टकभोगोद्रेकाच्चित्रता, तर्हि तदधीनत्वान् तस्यापि स्वानन्त्यम् कुतः परेण स्वा-  
तन्त्र्येण ?—इत्याशङ्क्य पक्षान्तरेण कथयति—अथ वेति ॥९९॥

पातञ्जल योगसूत्रं मे वर्णित तथा वैशेषिक सूत्रवर्णित ईश्वर के साथ भी इस परम-  
शिव का साम्य नहीं है । क्योंकि वहाँ ईश्वर और अनेश्वर ( अर्थात् जीव-जगत् )  
का भेद है । यहाँ हमारे दर्शन में अभेद है । इस प्रकार समस्त भावजगत् शिवात्मक  
है और ऐसा मानने पर सभी दोषों का परिहार हो जाता है ॥९९-१००॥

## चतुर्थमाहिनकम्

अथेदानीं प्रवक्तव्यं यथा सर्वं शिवात्मकम् ।

नाशक्तो विद्यते कश्चिच्छक्तं वस्त्वेव तेऽपि नो ॥१॥

क०-परीक्षावनीयद्रूपणशङ्काविराकरणं कृते सर्वशिवत्वमिदानीं स्वरूपेणापवाद-  
यितुमाह—अथेदानीमिति । रूपणनिराकरणादनन्तरं विधिमन्वेनेव सम्प्रति तद्वक्त-

टि०-उद्भावनीयः = प्रकटनीयः । सर्वशिवत्वम् = सर्वं च तच्छिवम् । उपपाद-  
यितुम् = यथा नमादयितुम् । तद्वक्तम्—

“आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निवृत्तचिद्विभुः ।

अतिहृद्रेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः ॥” (शि० ८० १.२)

इति । यद्यपि सर्वथा मुख्यतो निपात्यम्, तथापि पश्चादिकुलकर्तृत्वात्प्राप्तभूमीभावेन  
मा तावत् विश्वं व्यामृहेत् इति परिमादिकुलकर्तृपाशुरेव तावत् गुणकमुगन्ध-  
शीतल्यमन्त्रेण प्रहतः । तथा हि सर्वत्रैवात्र वादिनां विप्रतिपत्तिः । आदौ तावच्छान्त-  
ब्रह्मवादिनां सर्वभागेष्वत्र विरोधः । यदि ब्रह्मणः स्वस्वभावभूतं स्वसत्तात्मकं स्व-  
प्रकाशत्वं ताम् प्रत्यक्षमर्शयन्, तच्च अधिकल्पश्रेयं निश्चितम् । विश्वप्रकृता प्रति-  
मायाशक्तिप्रवृत्त्यान् स्वातन्त्र्यमप्यपहतुमेव । तथा च तस्य मायामयत्वेन कुम्भितत्वात्  
कथं तत्रात्मत्वम् ?—उत्पपीष्टमेव; तेषां नेतिनेतिवाक्यैः सर्वस्य निराकरणम् । तस्य  
विश्वस्य कुम्भितत्वमथवा कथमस्य तत्रानिगृहेच्छत्वम् ? ज्ञानकाले च बुद्धिवृत्त्या-  
त्मनो ज्ञानस्वाश्रयणान् कथं प्रसरज्ज्ञानत्वम् ? क्रिया च प्राणसन्दातिकर्षेण कथं  
तत्र स्थान् ?—इति सर्वथापह्नव एव ब्रूयथादिताम् । पानञ्जयवैरोधिसाधिमते यद्यपि  
ईश्वरत्वमुपगतम्, तथापि भेदवादन्वादान्मैवेति कथं निश्चयेत् ? साक्षादा पुंसस्य  
निष्क्रियत्वे कथं क्रियाशक्त्युपगमः ? बाह्यादीनां अणिक्तत्वात् कथं विभुत्वनिश्चये ?

चि०-अथ हम् एतं समयं यह वक्तव्यं जा रहै है कि कैसे सब कुछ शिवात्मक भिन्न  
होता है । हम विश्व ब्रह्माण्ड में कोई भी तत्त्व वस्तुमान अर्थात् अर्थक्रियाकारी हों  
और अकिरहित हों ऐसा सम्भव नहीं । और यदि घट पट आदि अनेक पदार्थों को  
पृथक्-पृथक् अस्तिमान् माना जाय तो सबको स्वतन्त्र मानना पड़ेगा । फिर  
एक ही पदार्थ में इसका स्वयंकृत स्वातन्त्र्य नहीं है या निर्मातृकृत स्वातन्त्र्य  
प्राचीन है यह निश्चय न हो सकने के कारण दोनों की प्राप्ति हो जायगी । किन्तु  
व्यवहार जगत् में ऐसा दिवाई नहीं पड़ता । अतः एक ही तत्त्व मानिये ॥१-१॥

इष्यन्ते बहवः शक्ताः सर्वस्वातन्त्र्यमापतेत् ।

अथैकस्याधिकाशक्तिर्यूनशक्तिनिबन्धिनी

॥२॥

व्यमस्माभिर्यथा सर्वं शिवात्मकं मिथ्यति तदुच्यते । अशक्तश्चाथक्रियायां विद्यते च  
उच्येतावतामिह; प्रत्युपोपगम्याकरणेन तावद् व्यभिचारान् । शक्तं चेत्, तद्वस्त्वेव =  
परमार्थमदेव शिवरूपमिति । तथा हि—क्रियाकरणशक्तिः कर्तृता चिद्रूपता  
शिवरूपत्वमपि, चिद्रूपत्वेच्छारहितस्य कर्तृत्वायोगात् । घटपटादिकं करणशक्तं चेद्,  
तत् स्वतन्त्रं चिद्रूपं शिवरूपमेवेति । वज्रवश्च घटादयः प्रत्येकं शक्ता

शब्दब्रह्मावादे स्वातन्त्र्यापगमादधियाश्रयणान् कथमनिरुद्धेच्छत्वं मिथ्यति ?—इति  
सर्वथा तद्वादाभङ्गे शिवाद्यवादे स्थिते यथा तन्निबद्धमेव प्रतीतिगोचरतामेति तथा  
कथनीयमित्याह—परोद्भावनीयेति ।

अस्यान्तार्थस्य सर्वथा प्रणीतो विनिष्टत्वात् सर्वथा यदवाह्निके प्रतिपादनीयम्,  
तद्बीजाश्रमाह—अथेति । तथा हि—

“अकारः शिव इत्युक्तस्थकारः शक्तिरुच्यते ।” इति ।

रहस्यमधेनान् सर्वशिवत्वं मुख्यतः प्रतिपादनीयम्; तत्रापि तत्समिश्रित्वं शक्तयैव  
समर्थनीयमित्याशङ्क्यकाराभ्यां शिवशक्तिरूपदेशोऽत्र कुतः । तदेवातीमित्यप्येतादृग्भि-  
प्राप्तार्थमेव सूचितम्; तत् विस्तरभवाच्चेह विविच्यते । विधिमुखेनेवेति—ननु पर-  
वानिराकरणेनैव सर्वं गन्तव्यभावात् शिवात्मकं मिथ्यतीति किं पुनश्चक्ष्या ?—  
तवाह—विधिमुखेनेवेति । पूर्वं तु सर्वनिराकरणेनैव समर्थितमपि निषेधमुखेनेव  
साधितमित्यर्थः । प्ररूपेति—विद्यते यदि, तत्सर्वक्रियायामशक्त इति किमेतत् ? यत्र नत्र  
हि शक्तं तत्र नत्र शक्तत्वम् = अर्थक्रियाकारित्वम् । तदेवाह—प्ररूपेति । प्रख्या =  
गन्धमिति । शक्तत्वान्युपगमे च किम् ?—इत्यत आह—शक्तमिति । उच्छारहितं चिद्रूपं  
न किञ्चित्; तस्य स्वरूपान्युपगमरूपत्वात्; उतीच्छारहितं चिद्रूपं शिवरूपं कर्तृत्वम्—  
इत्यत आह—चिद्रूपस्येति । घटपटादिकमिति—अत्रापि पूर्ववन्त्यायः, यतो घटादिकं  
करण शक्तम्, ततश्च चिद्रूपम्; चिद्रूपत्वेच्छारहितस्य कर्तृत्वायोगादिच्छारहितं  
स्वतन्त्रं शिवरूपमेवेत्यर्थः ॥ अत्र जडत्वमेवामात्राद्बुध न्यायमाह—बहवश्चेति । ननु  
जडत्वेतन्व्यवस्थायां सर्वमेतत् मिथ्यति; एषां हि पराधीनत्वमेव स्फुटं भाति; एषा  
स्वतन्त्रचिद्रूपत्वेऽन्याधीनत्वात् सर्वं स्वात्मनि स्वतन्त्रा इति किमस्याधीनम् ?—इति

एक व्यक्ति में वर्तमान अधिक शक्ति दूसरे व्यक्ति में वर्तमान कम शक्ति की  
प्रतिबन्धिका होती है यह प्रत्यक्ष देखा जाता है । यह भी अनुभव में आता है कि  
अपने कार्य के प्रति जगत् के सभी पदार्थ समर्थ हैं । जैसे जलानयन में घट, तैलो-  
त्पादन में तिल आदि । जहां शक्ति होती है उसी का प्रतिबन्ध भी देखा जाता है ।

स्वकार्यविषये सर्वः शक्त एव निबन्धनम् ।

शक्तस्य शक्यते कर्तुमेवं चेन्नान्यशक्तता ॥३॥

नेष्यन्ते; सर्वेषां तथा स्वातन्त्र्यं प्रमज्ज्यते । ततश्च भिन्नाभिसन्धितया नवमिदमस्तु पुराणमथास्तु—इत्येकस्य नवपुराणभावविरोधप्रसङ्गः । न चैवं दृश्यते । अर्थकस्याधिका शक्तिर्यस्मादन्यशक्तिमयी निबन्धनाति = नियमयति । ततश्च तस्य न्यूना । स्वकार्ये विषयभूते तु सर्वः शक्त एव । निबन्धनम् = नियमनम् हि शक्तस्यैव; न तु तेलदानशक्तिः शिकतायु शक्यक्रिया । तदेवं यदि नवशक्तित्वमिष्यते, ततो नान्येषां घटादीनां प्रत्येकं शक्तता = स्वतन्त्रता ॥१-३॥

व्यवस्था तस्येत् इत्यत आह—बहुवश्चेति । प्रसज्यत इति—यदि च प्रत्येकं घटादीं स्वातन्त्र्यं स्वयं मण्यते एकप्रमात्रनधीनत्वाद् भिन्नभिन्न एवाभिसन्धिः सर्वत्र प्रमज्ज्यते, यथा च घटास्ततो नवं स्वकीयमेव स्वातन्त्र्यं किम् ? किं वा निमित्तकृत पुराणम् ?—इत्येकस्यैकत्र निश्चयाभावादुभयमापत्तिः; तन्नानिष्टम् । तत एतत् सिद्धं तस्यैव शक्तिमतः शक्तिस्वरूपं सर्वं पदार्थजातं शक्तमेव, न तु तस्य स्वकीयं केशनाशेनापीत्यद्वयमेव फलितम् । भिन्नाभिसन्धितया = अनुगन्धानेन । पुराणम् = प्रमातृ-तन्त्रम् । दृश्यते इति—प्रत्यक्षमिच्छत्वात् ॥१-३॥

निबन्धनी = निरोधिनी । शक्तः = स्वशक्तिकः । अत्र हेतुमाह—शक्तत्वेति । ननु किमिदमुच्यते—भिन्नाभिसन्धितया नवपुराणभावप्रसङ्ग इति ? पुराणा हि शक्तिरोक्तार्थभागिनी तत्कृतत्वादस्य घटादेरर्थजातस्य; घटादेः शक्तिः पुनस्तत्कृत-त्वादेव हेतुन्यूना, इत्यतः स्वयं शक्ताऽपि न्यूनत्वात्तस्य नियमयेति न नवपुराणभाव-प्रसङ्गः ? एकत्र सिद्धं च सर्वत्र शक्तत्वं प्रत्येकमेवान्यथाशक्तत्वान्भावे कस्य निबन्ध-नम् ? यथाक्तम्—

“प्रेर्योऽपि स भवेद्यस्य शक्तता नाम विद्यते ।”

नान्तदस्मदनीष्टमेवेत्याह—एवं चेदिति । तदेवमिति—तदेवं घटघटादीनां शक्तिमतः शक्तिरूपत्वात् स्वकार्यविषये शक्तत्वेऽपि स्वयं तदधीनत्वं प्रसङ्गनिराकरणार्थं समर्थितम् । अथेदानीं येऽपि स्वयं जडेभ्यश्चेतना इति लोकप्रसिद्धास्तेऽपि चेत्थ-त्वरूपता इति कैमुतिकन्यायाश्रयणेन का घटादीनां वार्ता ?—इत्याह—नृपादीति ।

यदि प्रत्येक पदार्थ की शक्ति स्वतन्त्र होती तो न तो अधिक शक्तिमान् कम शक्तिमान् को रोकता और न ही तिल से तेल निकालने के लिए किसी व्यक्ति या यन्त्र की आवश्यकता होती । और यदि होती भी, तो तिल की शक्ति स्वतन्त्र होने से उसके ऊपर व्यक्ति या यन्त्र का प्रभाव भी न पड़ता । अतः जगत् के समस्त पदार्थों को शक्ति परतन्त्र है । स्वतन्त्र शक्ति परमशिव की ही है ॥२-३॥



नृपादिसाधनापेक्षा स्वकर्मफलता भवेत् ।  
 सर्वः शक्तोऽपि सापेक्ष ईश्वरन्मोहसाम्ययोः ॥४॥  
 तस्मादनेकभावाभिः शक्तिभिस्तदभेदतः ।  
 एक एव स्थितः शक्तः शिव एव तथा तथा ॥५॥

तथा हि शैविननृपादिनाथनकाराणां चैव स्वात्मफलता स्यात् । स्वानि = भोग्यानि कर्मफलानि यस्त, तस्य भावः । ततः सर्वः स्वयं शक्तोऽपि सापेक्ष एव व्याप्रियते । यथा द्वैतदर्शनेऽपि स्वयं मोहम् = साधनात्मकम्, अपेक्ष्य सग प्रवर्तते; कमसाम्यं चापेक्ष्य अनुग्रहः न चाशक्तोऽप्युत्तरः । तस्मादनेकभावाभिः शक्तिभिस्ताच्छक्त्यभेदतः शक्तिमत्त्वात्प्राप्तत्वात् शिवत्वमेव, एक एव शिवः स्थितः; नेन नेन प्रकारेणानेकयत्तत्पट्यादिपदार्थात्मकत्वात्स्य । पटचित्तस्त्वावस्थावत्त्वायाः स्वान्त्ये पटचिता महानुगन्धानं न स्यात् । तस्मादेकमेव चित्तत्वमन्तविश्वरूपमिति ॥४-५॥

अयमर्थः—यथा नेवकस्य तदादौ शैविने स्वकार्यफलता साधनितया भवति; तदधीनत्वात्; तथा शक्त्यापि प्राप्तिनः स्वकर्मफलता पराधीनैवेति सर्वैक्येऽपि शक्तिमदेकत्वमेव सर्वत्र समर्पितम् ॥३॥

ननु चाशानं तर्हि भेदवादिनाभिः द्वैतमयत्वं विशिष्टत्वात् तन्मते ईश्वरस्य ?—इत्याशङ्क्याह तद्विषयाभम्—तस्मादिति । ननु शक्तत्वं कथं सापेक्षत्वम्, सापेक्षत्वं शक्तत्वमेव न सम्भवति ?—इत्थं शक्तत्वं सापेक्षत्वं दृष्टान्तकथनेन द्रव्यात—यथेति । कर्मसाम्यमिति—त्वं हि तत्प्रक्रिया—विरुद्धयोः कर्मणोः समवयवयोर्व्योज्यप्रतिबन्धे कर्मसाम्यम् । तदन्वयेऽप्यनुग्रहः भागोन्मुखयोरेव कर्मणोर्व्योज्यप्रतिबन्धः, ज्ञात्वा-वृत्तप्रदस्य कर्मणः प्रतिबन्धे तद्वै देहात्प्रसङ्गः । भागस्यैव नानाविशेषवाचित्वात् तद्रूपस्य प्रतिबन्धेऽनुग्रहो नान्यस्येति ॥५॥

उसी प्रकार राजा आदि की सेवा का फल भी शक्तिमान् नेवक का राजा आदि की शक्ति की अपेक्षा रखकर ही मिलता है । निष्कर्ष यह हुआ कि संसार में सभी कुछ शक्तिमान् होने हुए भी सापेक्ष है । जैसे कि द्वैतदर्शन ( साध्वदर्शन ) में ईश्वर मोह अर्थात् साधनात्मक की अपेक्षा रखकर ही सृष्टि में प्रवृत्त होता है और प्राणियों के कर्मसाम्य की अपेक्षा रखकर उन्हें साक्ष देने या उनपर अनुग्रह करने में प्रवृत्त होता है । उसी प्रकार हमारे अद्वैत दर्शन में भी नाना प्रकार की विविध स्वभाववाली शक्तिया के साथ अनेक सम्बन्ध से स्थित एक ही परमशिव अन्त विश्वरूप में सर्वत्र स्थित है ॥४-५॥

तथा यत्र सदित्येवं प्रतीतिस्तदसत्कथम् ।  
 यत् सत् तत्परमार्थो हि परमार्थस्ततः शिवः ॥६॥  
 सर्वभावेपु चिद्व्यक्तेः स्थितैव परमार्थता ।  
 मिथ्याज्ञानविकल्पानां सत्त्वं चिद्व्यक्तिशक्तता ॥७॥

शक्तं वस्त्वैवेत्युक्तम् । वस्तु च गदुच्यते । यच्च सत्, तच्चासदिति न एव परमार्थः । यस्माच्च परमार्थः ततः सत्त्वात् = परमार्थत्वात् शिवः । ननु कथं परमार्थमात्रत्वेन शिवः, जडोऽपि कथं न परमार्थः ? तन्न; जडस्य सत्तैव कथं चिद्व्यक्तिं विना मिद्धा । स्फुरद्रूपता हि सत्ता । स्फुरद्रूपता च प्रकाशमानता । ततश्च जडता तावन्नास्ति । प्रकाशमानता हि प्रकाशाभेदः । प्रकाशश्चानपह्नवनीयः सर्वप्रतिष्ठारूपः परमार्थः । सर्वेषां च घटादीनां प्रकाशरूपतया विशेषाभाववादेक-प्रकाशात्मता; तत एवैकशिवत्वम् । एतदीश्वरप्रत्यभिज्ञाया विस्तारितम् ।

परमार्थ इति—अयं भावः—यदि घटादिजडरूपस्तहि तस्याप्रकाशानां कथं परमार्थमात्रत्वमपीति कथं जडरूपत्वेन प्रथनम् ? अथ प्रकाशत इति प्रकाशमानताऽस्य स्फुरद्रूपता, ततश्च जडत्वेनास्य केन व्यपदिश्वत इति ?

ईश्वरप्रत्यभिज्ञायामिति—तत्र तु—

“वदोऽयमित्यवयवमा नामरूपातिरेकिणी ।  
 परेशशक्तिरात्मेव भागते नत्विदन्तया ॥” (१५-२०)

ननु किमिदमुच्यते—

“तथा यत्र सदित्येवं प्रतीतिस्तत् कथमसद् ।” इत्यादि ? केवलं सन्मात्रेण-तिप्रसङ्गः । न हि रजनादावर्थक्रिया लेशमात्रेणाप्यस्तीत्यर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वमिति तत्र तत्र निर्णयितम् । रजनादौ च मिथ्याज्ञाने काचनाप्यर्थक्रिया नास्ति । यदि च चिद्व्यक्तिशक्तताया एव घटादाविव तत्रापि प्रतिश्रूयत तर्हि कोऽयं सम्यक्त्वमिथ्या-

अत्र संसार का समस्त वस्तुसमूह शक्त होने के कारण सत् है ऐसा अनुभव होता है तो उसे मुच्यवादी वीर्यों के अनुगार असत् कैसे कहा जा सकता है ? जो पदार्थ असत् नहीं है सत् है वह सदा सत् अर्थात् परमार्थ है; और इस कारण वह शिव है । स्पष्टार्थ यह हुआ कि समस्त पदार्थों में चित्स्वरूप शिव की स्फुरता है और इस प्रकार सब जगह परमशिव ही स्थित है ॥६-६३॥

मिथ्याज्ञान ( रज्जु-सर्प ) विकल्प ( बन्ध्या-पुत्र ) आदि की सत्ता का जो आभास होता है वहाँ भी ज्ञान तो होता ही है और ज्ञान परमशिव से अभिन्न है अतः उन-उन स्थलों में भी परमशिव की सत्ता का स्पष्टन बोन कर सकता है ?

विद्यते तत्तदत्रापि शिवत्वं केन वायते ।  
 इति चेदेषु सत्यत्वं स्थिमेव चिदुदगमात् ॥८॥  
 तथा शिवोदयादेव भेदो मिथ्यादिकः कथम् ।  
 व्यवहाराय सत्यत्वं न च वा व्यवहारगम् ॥९॥  
 तथा च देशे क्वचन राजाज्ञा जायते यथा ।  
 व्यवहारोऽस्तु दीनारैरेतैरव्यवहारैः ॥१०॥

मिथ्याज्ञानविकल्पनीयानां रजनमतीदीनां घटादीनामिव चिद्व्यक्तशक्तता = प्रकाशमानता नाम विद्यते, तदेव सत्त्वम् = परमाश्रयम् अतोऽपि तच्छिवत्वम् । अनिवार्यं चैतदिष्यते एव एषु सत्यत्वम्, निदगिव्यक्तैः, तेन तेन रूपेण शिवस्य प्रसंगेऽयं यतः । घटज्ञानरजनज्ञानयोश्च द्वयोरपि सत्यत्वे सम्पूर्णमिथ्यात्वनेदन्तर्हि कथम् व्यवहाराय = व्यवहारप्रयोजनोऽयम् ? न चाप्रकृत्यान् व्यवहारगत्यत्वं वा सत्यत्वं भवति ॥६-९॥

राजाज्ञया कूटदीनारैरपि व्यवहारोऽस्त्येव । तथा व्यवहारी इच्छामात्रान् यथागतेन वस्तु अतोऽपि कालव्यवस्थापनमादिव्यवहारः । यदि पुनरप्रकृत्य त्वनयो लोकप्रसिद्ध इति ? तदेतत्परमार्थमिति—अत्रागच्छेति । मिथ्याज्ञानेति—यथा वृद्धस्य कर्णं ननैव चिद्व्यक्तं विना सिद्धं, चित्तशक्ती च मन्त्रायां स्फुरद्गुणायां प्रकाशमानतायां सिद्धायाः प्रकृताभेदात् सर्वप्रतिष्ठापनप्रमाणत्वात् जडता नाम काचनस्ति, तथा मिथ्याज्ञानविकल्पाणां सत्यैव चिद्व्यक्तिं विना न सिद्धा, चिद्व्यक्तौ च स्फुरन्तात्प्राप्तं सत्यं तेषामपि प्रकृताभेदात् सर्वप्रतिष्ठापनप्रमाणत्वं विना यत् नाम किञ्चन सम्भवति ॥ अप्रकृत्यात् = मिथ्येनादृष्टत्वात् ॥१॥

अत्र दृष्टान्तमाह—तथा चेति । यदि च व्यवहारगतात्वेन सत्यत्वं तर्हि व्यवहार-सत्यत्वे व्यवहारनैरेव दीनारैः सर्वथा व्यवहारः स्यात्, अव्यवहारैरेव कथम् ?

अत्र प्रश्न है कि यदि सर्वत्र ज्ञानस्वरूप शिव की ही सत्ता मानी जा रही है क्योंकि सर्वत्र ज्ञान होता है, तो मिथ्या और यथार्थ का भेद कैसे रंगन होगा ? उत्तर है कि यह भेद व्यवहारजगत् में तो मानना ही पड़ेगा लेकिन व्यवहारजगत् का सत्य परमसत्य तो होता नहीं ॥७-९॥

जिम प्रकार राजा के आदेश पर कागज के नोट में भी व्यवहारजगत् में रुपये का काम चलता है जब कि नोट यथार्थ वस्तु ( रुपया या सममूल्य की वस्तु ) नहीं है । उसी प्रकार यहाँ भी व्यवहार के लिए मिथ्या यथार्थ आदि का भेद परम-शिव की इच्छामात्र से चल रहा है ॥१०-१०३॥

प्रवर्तते तथाभूतैरन्धत्रापि तथाऽन्यथा ।  
 व्यवहारस्य सत्यत्वे सर्वत्र सत्यतैव ते ॥११॥  
 सत्यत्वे तस्य हानिः स्यात्पक्षेऽभ्युपगते किल ।  
 तस्यापि किं शिवावाप्तिः कथमुक्ता ह्यसत्यता ॥१२॥  
 व्यवहारतयैवास्ति सत्यत्वं न निबन्धनात् ।  
 विकल्पादेः समुत्पत्तिः सत एव प्रजायते ॥१३॥

व्यवहारस्यान्यस्यापि सत्यतेष्वने; तदेवंजानीयतया सर्वमिदं जगत् सत्यं स्यात्, अमत्यानापरमार्थ व्यवहारवदित्यर्थः । तस्य = जगतः, परमार्थतः सत्यत्वे सत्यं दोषो व्यवहारमदृशमत्यन्तात्मकः स्यान्नव । एवं च सर्वसत्यतावादपक्षेऽभ्युपगते शास्त्रादिते हानिः स्यात् । तस्यापि = व्यवहारस्य किं चिदुद्गमनात् शिवावाप्तिः = शिवस्वप्ता, उच्यते ? अनायासागतस्य शिवतैवत्यर्थः । एवं चेत् कथमस्य व्यवहारस्याप्यसत्यतोक्ता ? सत्य एवायमेवं नानि स्यादित्यर्थः ? सत्यम्: किन्तु व्यवहारतयैवाप्यस्य व्यवहारस्य सत्यत्वं न तु निबन्धनात् = निबन्धनस्यान् प्रसङ्गादित्यर्थः ॥१०-१२॥

तेषामास्त्यत्वात् ? तथा च तेषामपि कदाचित् सत्यत्वे कथं व्यवहारस्य सत्यत्वमसत्यत्वं वा ?—इति न व्यवहारेण सत्येनागतत्वेन वास्तविकताकारित्वमित्यर्थः ॥ अत्रानिदमङ्गमाह—व्यवहारस्येति ॥ ननु व्यवहारागतत्वं यदि चिद्व्यक्तिं विना नेत्यसि तदा तदमलामेवास्तु यस्तदपि चिद्व्यक्तिं विना न सिद्धयतीति कथमसत्यत्वं तत्र ? यदि च चिद्व्यक्तिस्तत्र नास्ति तर्हि कथमसत्यत्वम् ?—उत्थागतमाह—तस्यापीति ॥१२॥

यदि व्यवहारजगत् को पारमार्थिक सत्य मानने तो तब जगह आपको सत्यता माननी पड़ेगा, फलतः शास्त्रों में शिश्च को मिथ्या मानने के सिद्धान्त का व्याधान हो जायगा । साथ ही वहाँ भी मिथ्या और वस्तु के भेद के अनुभव में विपरीत होने के कारण आपका सर्वसत्यतावादी सिद्धान्त अप्रामाणिक हो जायगा ॥११-१२॥

प्रश्न है कि व्यवहार जगत् भी ज्ञानमय होने से शिवात्मक है तो इसे आप ( सिद्धान्ती ) अमत् कैसे कह रहे हैं ? तो मेरा ( सिद्धान्ती का ) उत्तर यह है कि व्यवहारात्मकता से तो यह जगत् सत्य है किन्तु परमार्थतः तो शिव ही सत्य है और कुछ नहीं ॥१२-१२॥

वन्द्यापुत्र आदि विकल्पात्मक ज्ञानवाले तथा मुनिरजत आदि मिथ्याज्ञान-वाले स्थलों में भी सत् अर्थ की उत्पत्ति नहीं होती । वहाँ तो उसी व्यवहार के



नाभाष्य व्यवहारार्थमेवं वाऽस्त्विति निश्चितम् ।

तथैवास्तु शिवावस्था केनासौ विनिवारिता ॥१४॥

मिथ्यात्वं क्रियते कस्य किं काले यत्र तद्भवेत् ।

काल एव स न भवेदिति चेन्नैव कुत्रचित् ॥१५॥

न विकल्पादेः स्वतन्त्रात् रज्ज्वादिजानाच्च निवृत्त्येन सत एवार्थस्योत्पत्तिः सम्पद्यते । किं तर्हि ? तथा आभाष्य = संकेतः, व्यवहारार्थमेवं कुट्टरीनारादेः क्रयोऽस्तु अनारम्भ कालगणनायामयं संवत्सरः संवत्सररम्भो वाऽस्त्विति । निश्चितम् = निश्चयः । अथवा एवं वस्तुमि सत्यमपि कालादिति निश्चितव्यवहारार्थम् । तस्य न तथैवास्तु गित्यन्तेतावत्स्मिन्, केन विनिवारिता चिद्वृत्तमात्रं गित्यन्तेतावत्योगात् ? विकल्पस्य व्यवहारस्य सत्यत्वागव्यवस्थाभेदे प्राप्तिर्निमित्तमुक्तम् यत् प्रकाशमानस्य सत्यत्वे सत्यत्वमेव । चिदभेदाभ्यानिमयत्वात् सत्यत्वमिति; एवं च सर्वत्रैव न विस्मरणीयम् ॥१३-१४॥

वाचकं न प्रमाणं सति तदैव रजतम् तदैव रजतम् : वृत्तिरिति—इति निषेधनिष्ठताया प्रतीति मिथ्यात्वं स्यात् । तेन वाचकेन प्रमाणेन मिथ्यात्वं कार्यम् । यत् कस्य

अर्थेदानीं सर्वो न कश्चिन्नानि व्यवहारेण कस्यापि सत्यत्वमस्ति, ततो यथा विकल्पादौ नन एव नोत्पत्तिः । अतः सामानाधिकरण्यात् प्रकाशवलेन व्यवस्थितत्वात् सत्य-सम्पत्त्येवमेतत् तथैव संकेत्यादिव्यवहारार्थमेव कुट्टरीनारादेर्व्यवहारेण प्रकाशवलेन व्यवस्था-पितृत्वात् सत्यम् । तथैवैव वस्तुतत्त्वमनोश्चापि कालादिकलनाव्यवहारस्यान् प्रमातृकमितः तथा वदन्ति तथाऽस्तु—इत्याह—विकल्पादेरिति । न विकल्पादे-रिति—यथा विकल्पादेः स्वतन्त्राज्जानात् रज्ज्वादिजानाच्चागतोऽप्यस्य सत्यत्व-मेवाभ्युपगमं तथाऽज्जानस्यापि कुट्टरीनारादिव्यवहारस्य कालादिव्यवहारस्य च स्थितत्वात् कथं न सत्यमेति ? चिदभेदेति—चिदभेदाभ्यानिमयत्वेन न कश्चिन्नानपि सत्यत्वमित्यर्थः ॥१४॥

तदैव व्यवहारसत्यत्वेन न कश्चिन्न सत्यत्वं मिथ्यात्वनिश्चयः, किन्तु परमार्थ-सत्यत्वेनैव सर्वो व्यवहारः सत्यत्वं मिथ्यात्वनिश्चय इति साधयति—मिथ्यात्वमिथ्यादि-

दिष्ट संकेत मानकर उसी प्रकार कार्य होता है । जैसे कागजी नोट को सत्य मान कर क्रय-विक्रय; या 'अमुक निधि में यह संवत्सर माना जायगा', यह सब व्यवहार होता है । वहाँ शिवावस्था को उसी रूप में अर्थात् संकेतरूप में मानिये; उस शिवावस्था को कौन रोक रहा है ? ॥१३-१४॥

यदि आप विकल्प या भ्रम आदि स्थल को मिथ्या मानते हैं सत्य नहीं क्योंकि उस ज्ञान का उत्तर काल में बाध हो जाता है तो यह बतलाइये कि आप मिथ्या

अकाले जननं किञ्चिद् बाध्यते वा जनिक्रिया ।

कुत्वा कार्य क्रिया याता गतायां किं प्रबाध्यते ॥१६॥

अथानुभवगा बाधा नानुभूतोऽन्यथा भवेत् ।

अथेन्द्रियस्य बाध्यत्वं तत्कालं यादृगिन्द्रियम् ॥१७॥

क्रियते ? तत्र किं यस्मिन् काले तद्रजतता भवेत् ?—न काल एव न भवतीति मिथ्यात्व-  
मित्यभ्युपगमः ? तत्रः नैव हि अकाले = कालाभावे कस्मिन् जननं नाम;  
किञ्चित्कालरहितायाः क्रियाया अयोगादित्यर्थः । जनिक्रिया वा यद् बाध्यते ? तत्र;  
रजतादिकार्यं कुत्वा क्रिया समाप्ता । तस्या अवस्थाः को बाधार्थः स्वयमेव  
तस्या अभावान् ? इदानीं च बाधाविषयस्याभावान् को बाधः ? ॥१५-१६॥

अथ यदि रजतानुभवगतता बाधा इष्यते ? तत्र; न हानुभूतो विषयोऽननुभूतो  
युक्तः । अथ रजतद्विचन्द्रादिज्ञानकारणमिन्द्रियमनिन्द्रियमिति बाध्यते ? तत्र;  
पूर्णवाक्यार्थनमन्वयः । अत्र वादिन आहुः—विकल्पबलादेवैतन् गिध्यति इति न  
“तथैवास्तु सिधारस्था केनातौ निनिधारिता ।” इति । तथा हि समस्तान्तर्बहि-  
र्व्यवहारव्यापकमस्त्यानन्वयप्रविभागनिश्चये निवृत्तानुभूतास्ति ह्ययं बाधव्यवहार  
इतिः तदेतदनुपपन्नमित्याह—मिथ्यात्वमिति । प्रतीती = रजतज्ञाने । तेनेति—अयं  
भावः—किमिदमुक्तं तथा तथा नम्यहमिथ्यात्वाभ्यां चिदनिव्यक्तेः शिवोदयान्  
नवींज्यं चित्प्रसरस्य इति ? बाधकेन प्रमाणन मिथ्यात्वस्य मिथ्याकल्पितत्वात्;  
तत्रैव व्यवहारमत्वत्वमेव सत्यत्वमिति न सर्वत्र सर्वथा तत्त्वत्वमिति नैतत्किञ्चम् ?—  
इत्याह—तत्कल्पेति । कल्पेति नाभावेन निर्दिष्टं विशेषेण विकल्पयति—तत्रै-  
त्यादि । इदानीन् = शुक्तिकाज्ञाने ॥१६॥

तदेवं कार्यभावे बाधदुपगमुक्त्वा कारणत्वेऽपि बाधव्यवहारस्य दुपगमाह—  
अथानुभवेति । तदादौ तावत् कार्यकारणयोर्मध्यमवलम्ब्य पृच्छति—यदीति ।

किमे कहे रहे है ? क्या उस काल को मिथ्या मानते हैं जिसमें सारा आदि का ज्ञान  
हुआ ? तो ऐसा कहना भ्रमार्थ अंगत है क्योंकि संसार का कोई भी पदार्थ काल-  
रहित अवस्था में पैदा हो नहीं होता । क्या जननक्रिया को मिथ्या मानते हैं ? तो  
यह भी ठीक नहीं । क्योंकि क्रिया तो फल को देकर नष्ट हो गई । नष्ट क्रिया वा  
बाध कैसा ? क्योंकि वह तो लुप्त होने से स्वयं बाधित है ॥१५-१६॥

यदि अनुभव का बाध मानते हैं तो भी ठीक नहीं क्योंकि एक बार जो अनु-  
भव हो गया उसे कैसे अननुभूत स्वीकार किया जाय ? यदि तात्कालिक इन्द्रिय  
का बाध मानेंगे तो वह बाधक इन्द्रिय का अभाव कैसे करेगा ? कर नहीं सकता ।  
देखा जाता है कि भ्रम के दूर हो जाने पर भी इन्द्रिय वैसा ही और वही रहता

तदाऽन्धं जयते केन तस्य कालान्तरस्थितेः ।

सर्वैः समत्वं बाधो वा सम्बन्धे जननं कथम् ॥१८॥

न हि बाधकेनेन्द्रियस्यार्थम् = अभावः कर्तुं शक्यम्; तद्वज्रादिज्ञानकाले  
बाधमिन्द्रियं तस्य तदानीं घटादीनामनुलब्धेः । अथ कालान्तरे यदा बाधकोत्पत्तिः ?  
तदा तदवधानवस्थानाद् बाधः । तत्कालान्तरस्थितेर्बाधोपपत्तये तदानीन्तनसम्यग्ज्ञानं न  
मिथ्याज्ञानानां समत्वं नाम बाधः प्राप्नोति । न चैवं युक्तम्; वर्तमानकालभाविनां  
घटादिज्ञानानां सम्यक्त्वेन सम्भवान् । अयेन्द्रियविषयादीनां सम्बन्धे बाधः ?  
तत्र; सम्बन्धबाधे हि कथं ज्ञानजननम् ? तस्माद् बाधसम्बन्धं विकल्पते सर्वथा  
रजतादिप्रतीती न किञ्चित्प्रियेभ्यः जयते—इति न कश्चिद् बाधार्थः । युक्तिका रजत  
न भवतीति च न बाधः । न हि रजतत्वेन युक्तिका प्रतिपत्ता इति वा प्रतीतेः;

तथा हि विषयापहारो हि बाध इति न विदुः । सोऽपि न कथंचनाप्युपपन्न इत्याह—  
तत्रेति । प्रतिभानत्वेन विषयस्य तस्य परिहर्तुमशक्यत्वमित्यर्थः । न हि बाधकं  
ज्ञानमित्यमुनिष्ठति यत् प्रतिभातं तत्र प्रतिभानमिति बाधः ॥ इन्द्रियमिति—न  
तावदिन्द्रियमिविषयो बाधाय भवितुमर्हति; सर्वथा तदुत्पादप्रसङ्गादिति भावः ।  
अथाहुरन्ये—दोषकमुपितमनेन्द्रियमिति । तदप्युक्तम् । दृष्टं कारणं स्वकार्यकरण  
एव कुण्डलमिति ज्ञानमिति तदेव मा जीजन्तु, विपरीतकार्यकरणस्य किं वर्तते ?  
न दृष्टानि चाविद्योऽज्ञानि यथाहुरकरणकौशलमवलम्बेरन्; तस्मान् कारणाभावादपि  
न बाधः । कालान्तरे बाधकोत्पत्तिः युक्तिज्ञानम् । युक्तिज्ञाने सति रजतज्ञानस्या-  
नवस्थितत्वं बाधः; तदयमिति—तत्कालेति । यदि हि तदानवस्थितत्वमेव  
बाधः, तर्हि तदानीन्तनानां सम्यग्ज्ञानमपि युक्तिकाज्ञानकालेऽनवस्थितत्वान्नैवामपि  
बाधप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ आचार्यधर्मकीर्तिसूत्रमाह—युक्तिकेन । यथा नृद्धं सुनलं  
घटाभावः तद्विद्वन्मत्वाद् घटाभावव्यवहारस्य, ततः शब्दभूतज्ञानमेव यथा  
घटाभावज्ञानं तथैव युक्तिकाज्ञानगत्यथार्थप्रकाशनलक्षणप्रामाण्यसंदेहनमेव युक्ति-  
ज्ञानस्य संवेदनानिर्गन्तं यत् प्रकाशते तदेवाच्यते, युक्तिविपरीतरजतज्ञानगता-  
न्यथार्थस्वभावाप्रामाण्यसंदेहनं स एव बाध इत्यर्थः ? अत्रोत्तरमाह—न हि  
रजतेति । अयं भावः—यदि युक्तिका रजतत्वेन प्रतिपत्तेति तदा भवेत् प्रतीतिरित्यं

है । और यदि कालान्तर में इन्द्रिय का बाध मानेंगे तो स्वार्थज्ञान की स्थिति  
में भी कालान्तर में इन्द्रिय का बाध प्राप्त होने लगेगा । लेकिन ऐसा होता नहीं ।  
यदि वह इन्द्रिय कि इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध का बाध होता है तो यह कथन  
भी अनुचित है; क्योंकि सम्बन्ध का बाध होने पर तो किसी प्रकार का ज्ञान उत्पन्न  
ही नहीं होगा ॥१७-१८॥

व्यवहारस्य बाधा चेद् व्यवहारे यथेष्टता ।

क्वचित् सत्यसुदर्णस्य प्रत्यन्ते व्यवहारिता ॥१९॥

कूटकार्पापणादौ वा व्यवहारोऽपि दृश्यते ।

तावता व्यवहारो वा यदात्माह्लादमात्रकम् ॥२०॥

शुक्तिदेशाद्यष्टमेनेत्यपि न किञ्चित्, सर्वमेव प्रकाशमानस्य स्वरूपदेशत्वात् । सर्वथा यथा यत् प्रतिभातम्, तथैव तत्, तान्यथा कर्तुं शक्यत इति सत्यमेव न किञ्चिन्मिथ्यात्वम् । एतच्चेष्टप्रत्यभिज्ञातोऽवसयम् ॥१७-१८॥

व्यवहारोऽपि यदि बाधने—'रजतव्यवहारो न कर्त्तव्यः' इति ? तदपि न; व्यवहारस्येष्टस्य प्रवृत्तेः । न तद्वज्जेन सत्याभिव्यक्तिभागः । तथा हि—प्रत्यन्तदेशे क्वचित्

तदभावेऽतिप्रसङ्ग इत्यर्थः । शुक्तिदेशेति—अध्यानी सर्वथा शुक्तिरजनादौ प्रतीत्यनुदयात् तदाधारकल्पनया बाधमाह । अयं भावः—

न ह्यालम्बनता कुना गतिमाननिवृत्तना ।

तदेवालम्बनं बहुयैर्दण्डासम्भारमैः ॥

"अथवा तद्वज्जेन सत्याभिव्यक्तिभागः ।" इति ।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञेति—तद्वज्जेन गतेनः—

स्वरूपमेव बाधेनैव गुणात्यात्मानमात्मना ।

वह्निर्निरुप्यमाणस्य ग्राह्यस्यानुपपत्तितः ॥

स्वरूपं सतताभासं तेन तेनात्मना वहिः ।

तद् बहुवचनं तु नै लोकव्यापामिदेर्दृग् ॥" इति ॥१८॥

अत्रेति—अध्यानी यतः कायज कारणेन न न कर्त्तव्यत बाधः निश्चयति, ततोऽ-

प्रश्न है कि तब मिथ्याज्ञान अर्थात् व्यवहार का ही बाध मानिये, अर्थात् शुक्ति में 'नेद रजतम्' उस प्रकार के बाध का तात्पर्य है कि 'अनया गुण्या रजत-व्यवहारो न कर्त्तव्यः' ? तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि जहाँ भ्रमात्मक व्यवहार बाधित है वहाँ चलता ही है । उदाहरण के लिए रूमनिया आदि स्पेसल देशों में सच्चे सोने का भी उसी प्रकार व्यवहार होता है जैसा कि लोहे का । अथवा नकली गिरी भी राजा को अच्छा ने सोने के भाव में व्यवहृत होता है । इस प्रकार यह समझना चाहिए कि जहाँ तक मानवसमाज के कल्याण में बाधा न पड़े वहाँ तक मिथ्या व्यवहार भा चलता है, उसका बाध नहीं होता । यदि व्यवहार-जगत् में कोई पदार्थ आपकी आवश्यकता को पूरा करता है तो वह व्यावहारिक दृष्टि से वास्तविक है, क्योंकि वह अर्थक्रिया में समर्थ है । इस प्रकार व्यवहार में भी बाधा सम्भव नहीं ॥१९-२०॥



अर्थक्रियासमर्थत्वमेव देवास्य वास्तवम् ।  
अथ चेद्देशबाधो वा तत्रै रजतं न हि ॥२१॥  
यत्र काले सरजतो देशोऽभूत् स गतस्तदा ।  
कालान्तरेण देशोऽसौ का बाधा भिन्नकालयोः ॥२२॥  
ज्ञानान्तरेण ज्ञानं तद्विरोधादथ बाध्यते ।  
न बाधो भिन्नकालत्वात् प्रावतनस्याप्यभावतः ॥२३॥

सत्यमुवर्णस्थ तथा व्यवहारेण यादृगयतः । कूटकागीणादिना च राज उष्ट्रत्वात्  
दृश्यते व्यवहारः । अथवा यदाह्लादमात्रकं तावन्व व्यवहारः । एतदेव बाह्याद-  
कारित्वमर्थस्य अर्थक्रियाकारित्वे स्वयंवेदनमित्यत्र, भ्रान्तत्वाद्वास्तवस्वप्नजलस्य  
पानार्थक्रिया भ्रान्ताऽपि स्यात् । तृप्तिवृत्त्या तु तृप्तः स्वयंवेदनमिहा न  
विशंवदति । मार्जनं बाह्यादिकार्थक्रिया कूटादेः स्वप्नजलादेर्वा स्यात् । तदपि  
मन्यं व्यवहार्यं चेति व्यवहारेण न बाधमिति । अत्रान्यदेवं रजतमन्यदेशमुप-  
लब्धमिति यदि वा देशबाधः ? तत्रः यस्मिन् काले न रजताययो देशोऽभूत्, स  
कालो बाधरजतज्ञानकाले तावन्ति बाधकज्ञानेन बाधः क्रियते; न चैवम्; रजत-  
देशयोर्द्वयोर्भिन्नकालत्वात् । तथा हि शुक्तिकारजतकालेऽन्यदेशरजतकालो गतः ।  
ततश्च कालभेदेन देशभेदस्याविरोधान्न का बाधा ? ॥१९-२०॥

अत्र तन्मित्रेव वस्तुनि रजतज्ञानं शुक्तिज्ञानं चात्र विरोधात् शुक्तिज्ञानेन  
रजतज्ञानस्य बाधः = निवृत्तिः क्रियते ? तत्रः एकवस्तुनि यगदन्वयात्त्वमवृत्तम् ।

बाध एव । अत्र भावः—तदन्वयदेशकालं यद्यप्यपि तथापाहानमिहितस्य सताऽपि  
तेन किं विगिष्यते ? यस्मिन्निति—उदमथ तात्पर्यम्—तौ तत्र देशकालो किं मन्वी  
प्रतिमानेन ? किमतावता ? यदि च मन्तावित्वमिमन्यमे तदा तद्देशकालमेवेदं  
रजतमवभातमिति न भ्रान्तिरेवा स्यात्, अगन्तो बुभावति रजतवदालम्बनं भवितु-  
मर्हन् इति ॥२२॥

पुनरपदिति—न हि शुक्तिज्ञानेन रजतज्ञानं बाध्यते स्वयमेव विषये आत्मनि च  
स्वस्वो द्वयोर्ज्ञानयोर्निष्ठितयोर्विश्रान्तयोर्न्योऽन्यं विरोधस्याभावात् । अथ परस्पर-

एक ज्ञान ( शुक्तिज्ञान ) ने दूसरा ज्ञान ( रजतज्ञान ) बाधित होता है,  
क्योंकि एक का दूसरे में विरोध है ? ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि दोनों ज्ञान  
भिन्नकालीन हैं । जैसे भिन्नकालीन होने से दूध और दही का परस्पर विरोध  
नहीं है उसी प्रकार इन दोनों ज्ञानों का भी परस्पर अविरोध है । पूर्वदृष्ट रजत  
दर्शन के अतीत अर्थात् निवृत्त हो जाने से स्वयं निवृत्त हो गया । वही बाध  
कैसे ? ॥२३॥

सहानवस्थितिर्नास्ति विरोधः प्राग्विनाशतः ।  
 अन्योऽन्यपरिहारो वा ज्ञानाज्ञानात्मकः स्थितः ॥२४॥  
 अज्ञानत्वे परिज्ञाते तदा स्यात् स्वविरोधिता ।  
 अज्ञानत्वे स्वभावेन विरोधः केन वार्यते ॥२५॥  
 नैवमत्र स्वभावत्वे विरोधो बाधनात्मकः ।  
 स विवेकदृशा ज्ञेयो न स्वभावेन कुत्रचित् ॥२६॥

क्रमेण तु क्षोरदन्तोर्न विरोधः । प्राक्तनस्य दृष्टस्य स्वरूपतो दर्शननिवृत्त्या तदन्ते,  
 नाभावतः । सहानवस्थितिरपि विरोधो नास्ति । न हि ज्ञानं क्षणिकत्वेन  
 प्राग्विनष्टमन्येन निवर्तनीयमुष्णेन जीवमिव विगृह्य भवति रजतगुक्तिज्ञानयोः ।

न चान्योऽन्यपरिहारात्मको विरोधो ज्ञानाज्ञानात्मको विरोधो ज्ञानात्मको भावा-  
 भावयोः ॥२३-२४॥

[ अज्ञानस्य ज्ञानेन सह स्वाभाविको विरोधः केनाप्यन्यथाविदुं न शक्य  
 परिहार एव विगृह्ययोग्यपद द्वयोः ? तर्हि मध्येषां ज्ञानानां विरोधाद्वाध्यवाधकभावस्य  
 निष्ठैव न लभ्येति नृपरा मन्तेतरविभागस्य विशेष जायतः ।

विनैकत्वमिति—ननु द्विभिन्नविन्यासनामेकसंमिश्रीकरणान्मकमेकप्रमानृत्वं विना  
 संविच्छिष्टा विषयव्यवस्थितय इति हि तावदागमेषु भण्यते; तद्विद्वत्तन्मपदार्था-

यहाँ पर सहानवस्थिति—( एक साथ न रहना ) रूप विरोध भी नहीं है  
 क्योंकि ज्ञान तो क्षणिक है । दूसरे ज्ञान के उत्पन्न होने-होते पहला ज्ञान नष्ट हो  
 जाता है ( बौद्धमिद्धान ) । अतः यहाँ निवर्तन-निवर्तकसम्बन्ध सम्भव नहीं ।  
 और ज्ञानाज्ञानात्मक अन्योन्यपरिहाररूप भी विरोध सम्भव नहीं । अर्थात् गुक्ति  
 का पहले अज्ञान था वह अज्ञान गुक्तिज्ञान से परिहृत हो गया, इस प्रकार का  
 विरोध यदि मानें तो यह भी सम्भव नहीं । क्योंकि अज्ञान यदि ज्ञात हो गया तो  
 यह तो अपने से ही अपना विरोध है क्योंकि ज्ञान होने पर अज्ञान कहाँ ? अज्ञान  
 में ज्ञान के स्वाभाविक विरोध को कौन रोक सकता है ? अर्थात् दोनों का स्वाभा-  
 विक विरोध अवार्य है ॥२४-२५॥

ज्ञान और अज्ञान को इस प्रकार की स्वाभाविक स्थिति में विरोध बाधनात्मक  
 नहीं है । बाधनात्मक विरोध कहाँ होता है जहाँ विवेकपूर्ण दृष्टि ने बात समझने की  
 स्थिति हो । इस प्रकार वह बाधनात्मक विरोध विवेकदृष्टि से ज्ञेय होता है । केवल  
 स्वाभाविकरूप में कहीं भी बाधनात्मकता सम्भव नहीं ॥२६॥

१ अतः परं शेषभागस्य व्याख्या वृद्धिताऽस्ति ॥ २-२५-२१ इति ।

तथा सर्वविकल्पानां सत्यरूपत्वदर्शनात् ।  
गण्डादिशरीरेषु विषभूतापहारतः ॥२७॥  
प्रतिष्ठादेवकर्मादिध्यानादिफलयोगतः ।  
सत्येऽपि न फलं दृष्टं बवच्चिदज्ञानिसेवितात् ॥२८॥

उत्तरार्थः । नैवमिति—ज्ञानाज्ञानयोः स्वाभाविको विरोधोऽत्र न द्राह्यः किन्तु बाधनात्मको विरोधः । स चायं बाधनात्मको विरोधो विवेकज्ञानेनावगन्तव्यो न तु स्वाभाव्यात् ॥२५-२६॥

“शब्दज्ञानानुपानी वस्तुसूक्ष्मो विकल्पः” ( पा० यो० सू० १.७ ) । जगति तृच्छनयाऽपि वर्तमानाः पदार्थाः सत्यत्वेन प्रतीयन्ते । यथा गण्डशरीरे विषापहारात् न कोऽपि पदार्थः वर्तमानो भवति अर्थात् तत्र विषापहारात्त्वं तृच्छम्, तथापि तद् दृश्यत एव लोके । एवमेव तान्त्रिकशरीरे भूतपिशाचवायानपहारात्त्वमपि लोकप्रसिद्धमेव एतेनेदमायात्वं यदेकैव चिद्व्यक्तिः सत्यासत्यात्मके सर्वत्र निगूढाऽस्ति ॥२७॥

प्रतिष्ठा—देवनायनने देवमूर्त्तीनां प्राणप्रतिष्ठा । तत्तन्मूर्त्तिप्रतिष्ठानात्तत्तत्कला-  
वातिश्रुतिः पुराणादौ कथ्यते । देवकर्म—देवायनननिर्माणादि । ध्यानम्—

तुस्तुर्नैकाभासात्मकाक्रमसंविद्विश्रान्तिं विना न कथं चनाभ्युपगच्छे । यदुक्तमीश्वर  
प्रत्यभिज्ञायाम्—

“तत्तद्विभिन्नसंविन्निमित्तैरेकप्रमानरि ।

प्रतिनिष्ठन्तु भावेण जातेयमुपपद्यते ॥”

देशकालक्रमबुधामर्थानां स्वगमापिनाम् ।

सकृदाभासमाध्वोऽभावस्तथा कः समन्वयः ॥ इति ।

अभावशब्दस्य = अभावत्वेन मतस्य । अत्यस्तासत्त्वेन = त्रिकालान्वयेन ।  
अभाववाचित्वेनेति—नेनात्र न सर्वथाऽभाववत्त्वमित्यर्थः अपि तु व्यवहारानुपयोग  
उत्तरार्थः ॥ ननु च शशशृङ्गं जायतेऽभिधीयते इति कथां क्रियायोगोऽत्र प्राणिपदिकभात्रे  
हि, विधिरवम्; न हि कर्मादिकारकयोगोऽत्र सम्भवतीति; व्यवहारस्य कर्मादिकार-

जिम प्रकार अज्ञान और ज्ञान का बाधनात्मक विरोध विवेक में ज्ञेय है उसी  
प्रकार समस्त विकल्प भी सत्यरूप में दृष्ट होना है, क्योंकि गण्ड आदि के शरीर में  
विष एवं भूत-प्रेत आदि के अपहरण की शक्ति देखी जाती है ॥२७॥

उसी प्रकार देवप्रतिष्ठा देवकर्म ध्यान आदि के फल के सम्बन्ध में भी यह  
देखा जाता है कि यदि वह अनुष्ठानक्रिया का ज्ञान न रखने वाले व्यक्ति के द्वारा  
सम्पादित है तो सत्य होने पर भी फल नहीं मिलता । इसलिये चैतन्य को सर्वत्र  
मानना आवश्यक हो जाता है ॥२८॥

तस्मादवस्थितं सर्वं सत्त्वं चिद्व्यक्तियोगिता ।

यत्र यत्र तत्र तत्र सत्यत्वं विश्वरूपता ॥२९॥

व्यतिरेके न युज्येत विज्ञानं हि घटाद्विषु ।

मूर्त्तामूर्त्तधर्मयोगो घटस्तस्य न गोचरः ॥३०॥

अमूर्त्ता न च वाऽणूनामन्तरेव प्रवेशिता ।

प्रतिपत्तुः कथं वेत्ति घटोऽयं प्रतिभेदतः ॥३१॥

प्रत्ययैकानता । आविना-उपागतातीर्थयात्रादिकं ब्राह्मम् । तेषामनुष्ठानान्  
तत्र फलवाप्तिः श्रुत्यै । सा चाप्रवचनत्वान् सत्त्वा । किन्त्वनुष्ठानादिकमाजानिना  
शेषितेभ्यस्तेभ्यः कर्मभ्यो न फलावाप्तिरिति ज्ञानस्य सर्वात्रयसावयवकत्वमिति सर्वत्र  
चिद्व्यक्तिः स्फुरत्येवमत्र नास्ति सन्देहोऽथावसरः ॥२८॥ ]

मूर्त्तामूर्त्तविनिर्धर्मयोगो यस्य घटादेः सः तस्य = विज्ञानस्य घटतमनो  
व्यतिरिक्तः सन् न गोचरो भवितुमर्हति । तदन्तर्मीश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्— 'त्राणि-

कापीन एवेति कथं क्रियानिमित्तत्वम् ?—उपासकस्य व्यवहारो न ब्रह्मावस्थायाः  
कारणतया प्रोक्तः । तत्र न च समर्थमिति येन येन ज्ञाताभावकत्वं सर्वं सत्त्वानमेवा-  
ध्यायमायत इत्याह—स्तुतश्चेति । हिमालय इति—अत्र हि क्रियास्वरूपं साध्य-  
मित्यर्थः । उत्तोजीति—यत्वं परमेश्वरस्य विश्वव्यक्तिसम्यक्त्वेऽपि स्मृतेश्च सा सूक्ष्म-  
समीक्षया महाज्ञानात्मन्येन विश्वस्य तत्त्वस्यैव सिद्धेऽपि न विज्ञानात्मनः प्रक्षेप-  
व्यापकर्षणोपाभावात्तत्त्वानस्य प्रयोजनम् । अथ च अवग्रहान्नात्र साध्यमित्या-

इय कारण यह सिद्ध हो गया कि जो कुछ सत् रूप में प्रतीत होता है वह  
सब ज्ञान अथवा चैतन्य का प्रकाश ही है । जहाँ-जहाँ ऐसा है वहाँ-वहाँ सत्य के  
रूप में विश्वात्मा विश्वरूप परमेशिव ही विराजमान हैं ॥२९॥

यदि आप ( विज्ञानवादी कोढ़ ) उसके विपरीत मानने को घट आदि में जा  
आप प्रवृत्तिविज्ञान स्वीकार करते हैं वह भी सम्भव नहीं होगा । मूर्त्तधर्म ( रूप  
रङ्ग आकृति आदि ) अमूर्त्तधर्म ( घटत्व आदि ) में युक्त घट भी ज्ञान का विषय  
नहीं होगा यदि आप घट को विश्वरूप परमेशिव में व्याप्त नहीं मानेंगे । घट-  
निर्माण के समवायकारण परमाणु जो कि अमूर्त्त हैं वे भी परमेशिव में ही प्रविष्ट  
हैं अर्थात् उनमें अभिन्न है अन्यथा भिन्न होने पर जाता 'यह घट है' यह ज्ञान कैसे  
कर पाता ? ॥३०-३१॥

१. श्लोकमतकस्य व्याख्यायास्फुटिर्वर्त्तते । तत्र [ ] इति विद्वद्भिक्ते तस्मादकस्य  
व्याख्या ज्ञेया ।



विनैकत्वं च न भवेत् कारकत्वं कदाचन ।  
शशशृङ्गादिके नापि स्याद् विभक्त्या समन्वयः ॥३२॥  
सर्वथाऽभावशब्दस्य नास्त्यभावात्मकं ववचित् ।  
इतोऽपि सर्वशिवता सत उत्पत्तियोगतः ॥३३॥

वार्थोऽप्रकाशः स्यात्" (१.५.५२) इत्यादिना । न च वा घटादयः परमाणुरूपत्वेऽ-  
मूर्ताः । अगर्भगतद्रव्यपरिमाणं देशयोग्यता वाऽपि हि सृतिः । तन्मतेषामप्यूनं  
बोधमयस्य शिवरूपस्य प्रतिपत्तुरन्तरेव प्रवेष्टित्वम् = अभेदः । इत्यर्थः । अन्यथा स  
प्रतिपत्ता प्रविभेदान् कारणात् कथं घटोऽतम् इति वेत्ति ? न कथञ्चिज्जा-  
नीयादित्यर्थः ॥३०-३१॥

घटादेश्च यदेतस्त्वकार्यकारणं भवतिरूपयते, तच्चिदेवस्वरूपं विना न स्यात् ।  
जडस्य निरभिमन्त्रेः करणाद्योगादित्येतराणि ईश्वरप्रत्यभिज्ञायामेवोक्तम् । तस्मात्  
यदर्थक्रियाकारित्वान् नन्, तत्सर्वं शिवरूपम् । यदप्यन्वयतामन्वेतामिमन्तं यशशृङ्गादि  
नवाथैर्वर्तमानस्य सर्वथैवाभाववाक्येन सतस्य शब्दस्य विभक्त्या योगो न  
स्यात् । यशशृङ्गं ज्ञायतेऽभिधीयते चेति कारकाश्रितत्वाद्भिभक्तीनामप्यन्यत्र

नृपङ्क्तिप्रयोजने वायन्तरभिमतिनिराकरणरूपेण मुख्यप्रयोजनेन च तत्त्ववस्तु-  
गतात्मकं चित्तिर्ब्रह्मिणिकिद्वयं सर्वप्रयोजकत्वेनाधिकरणमिच्छास्तनीत्या समर्थितमेव ।  
तत्र चित्तदृष्टिकर्मागोरोमेवमभावज्ञानजन्यत्वा तावद्वयवाद् समर्थितः । अथैवाना  
तन्मत्वातन्मत्वागोरोमेवमभावक्रियाशक्त्याऽपि तद्वयं समर्थयितुं कर्तुं कर्मभावोन्मील-  
नार्थं तत्कार्यवादमाश्रित्य तावद् वृत्ते—इतोऽपीत्यादि ॥३२॥

यदि आप परमशिव और विश्वब्रह्माण्ड को एक नहीं मानेंगे तो जो आन  
( = विज्ञानवादी ब्राह्म ) घट आदि कार्य का कारण घट आदि को ही मानने है यह  
भी सम्भव नहीं हो सकेगा । और सर्वथा तुच्छ अमत् पदार्थ यशशृङ्ग आदि है  
उनमें भी आकाश परमशिवता शिव का अस्तित्व मानना ही पड़ेगा, अन्यथा उन  
शब्दों का प्रयोग ही सम्भव नहीं होगा; क्योंकि अर्थवान् शब्दसमूह से ही विशिष्ट  
या योग होता है भले ही वह अर्थ बौद्ध हो या ब्राह्म । यहाँ तक कि अभाव-शब्द  
का भी यदि पद के रूप में प्रयोग करता है तो उसे भी अर्थवान् मानना ही पड़ेगा,  
और वह अर्थ होगा परमशिवरूप सत्ता । इसके अनतिरिक्त यदि अभाव का ज्ञान  
हो रहा है तो वह भी ज्ञानात्मक होने से विश्वरूप ही है । तात्पर्य यह हुआ कि  
विश्व में अभाववात्मक अर्थात् अशिवरूप कुछ भी नहीं है ॥३०-३२॥

इस कारण भी समस्तविश्व शिवरूप है कि उत्पत्ति भी मन् की ही होती है  
जैसा कि साख्यशास्त्र मानता है । तो मन् के रूप में वही परमशिव पहले से

स एवास्ते पुरा तादृक् शक्तिरूपस्वरूपकः ।

स एव कार्यरूपेण भगवानवकल्पते ॥३४॥

सत्कार्यं नोपपन्नं चेत् सतः किं करणेन यत् ।

अभिव्यक्तिरथास्यात्र क्रियते साऽपि किं सती ॥३५॥

कारकत्वायोगात्, क्रियानिमित्तकत्वात् कारकत्वम् । तस्मात् यद्यपि विभक्तियोगेन कारकत्वं सति सत्त्वं जिवताऽऽख्या । अस्तुतश्च घटोऽर्थक्रियामवसाहृणादिकान् करोतीति योऽयमवबोधः, स एव तथास्वरूपो न तु ततः पृथग्भूतो घटादिस्वतन्त्राकारी भिद्यतीति प्रत्यभिज्ञाश्रमेव 'हिमालयो नामास्मि' इति विचारे दक्षितम् । अत्रा-  
वोऽपि ज्ञायमानां बोधात्मैव तदात्मकत्वाच्च विश्वरूप एव । तस्मात्तान्त्वभावात्मक-  
मभिव्यक्त्यं त्वमिदमपि विश्वमध्ये । इतोऽपि हेतोः सर्वशिवता सम्मादृत्यन्तिमज्जावधानं  
भवेद्योऽप्यनेनैः तत्त्वभावस्य कार्यात्मनः प्रागपि विश्वद्वारात्तान्तराजयोगात् । तदेव  
न प्रागपि सदङ्कुररूपं स्यात्, यदि सत्तामन्वोऽङ्कुर शक्तिरूपः पूर्वमान्ये पुनरङ्क-  
रात्मककार्यरूपेण भवति ॥३२-३४॥

अत्र यदि सत्त्वं कार्यं नोपपन्नं सतः कर्णं विफलं यस्मान् । अत्र सतः स्वरूपं  
न क्रियते अपि तु तस्याभिव्यक्तिः ? तदपि न दुर्लभम्, यतः साऽपि किं सती क्रियेत ?

ननु यदसत्तदगद्युक्तेति नयेतास्तु तावन्त्यत एवात्पत्तिर्योगः । परं विग्रहकत्वं  
कथं ते तत्रावस्थिताः कार्याभिव्यक्त्या प्राक् कर्तव्यस्यायामपि ?—उत्तरत आह—पुरेति ।  
स एवेति—ननु चास्तु सत एवात्पत्तिः कारणावस्थायामपि तस्य तादृगवस्थानाभि-  
सन्ततात् । उक्तं तु विचिन्त्यं सतोऽयमन एवात्पत्तिरिति । तथा हि यथा घटोत्पत्तौ  
यावत्स्वरूपेणावतिष्ठते तावत्त कार्यात्पत्तिः । तत्र तु कार्यं सदस्त्वमद् वा नास्त्यत्र  
त्रिमितिः मुदाशंकां स्वरूपनाये गति घटोत्पत्तिः संभाव्यते नास्त्यथा । तथा विश्वरूप-  
कार्यात्पत्तौ तस्य विप्रत्यय आयातः इत्यनन्तकार्यावदभिहितस्यैवपि भिद्यतीति किमत्र  
शक्तिमान् कर्ता के रूप में विश्वमान रहता है और समग्र पाकर प्राणियों के अदृष्ट-  
वश स्वयं को कर्म के रूप में परिणत कर लेता है ॥३३-३४॥

यदि सत्स्वरूप कार्यं समग्र होकर नासने नहीं आया तो सत् को क्रियायुक्त  
करने से क्या लाभ ? अर्थात् सत् का करना ही व्यर्थ हो जायगा । यदि यह कहिये  
कि हम सत् का कोई अभूतपूर्व कार्य नहीं करने बल्कि अनभिद्युक्त सत् को ही  
अभिद्युक्त कर देते हैं ? तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि यह बताइये कि वह  
अभिद्युक्त भी सत् होता है या असत् ? यदि पहला पक्ष है तो उस अभिद्युक्त से  
क्या लाभ ? वहाँ तो कुछ मिला नहीं, अभिद्युक्ति सत् को सत् रह गई । यदि यह  
कहिये कि फिर इस दूसरे सत् की अभिद्युक्ति होगी तब वह भी सत् होने से फिर

क्रियते ह्यसती वाऽथ सत्त्वाः किं नोपलब्धता ।

व्यक्त्यभावादथानन्त्यमसत्त्वां हानिसम्भवः ॥३६॥

स्वयमेवाश्रिते पक्षे तद्वद्वा वस्त्वसद् भवेत् ।

नैवं यस्मात्तां विहाय सर्वत्रान्यत्र सत्क्रिया ॥३७॥

अथाऽसती ? तत्र सती चेदभिव्यक्तिस्तत् किं क्रियते किमिति कार्यस्य नोपलब्धता । अथ सत्त्वेऽपि अभिव्यक्तेरभिव्यक्त्यभावात् कार्यं नोपलब्धम्, तदभिव्यक्तेरपि अभिव्यक्तिः क्रियते इति तत्रापि पूर्वोक्तान् पातादानन्त्यमनवस्था; तन्न प्रकृतकार्यदर्शनातिवृत्तिः । अथासती क्रियतेऽभिव्यक्तिः ? तदसत्त्वाः कस्य स्वयमाश्रितत्वाद्धानि-प्रसङ्गः । अनवस्थापट्टिहाराद्यं वाऽभिव्यक्तावसत् कस्याश्चरणेऽभिव्यक्तित्वं यस्त्वपि अङ्कुरादिकसमवेव सत्कार्यमस्तु किमर्थजानीयेन ? ॥३५-३६॥

त्वदुक्तमेव न युक्तं यस्मात् तासमिव्यक्तिं वर्जयित्वाऽन्यत् सदेव कार्यमित्यस्माकं तावदभ्युपगमः । तद्धि सर्वत्र दर्शने सर्वत्रेवाश्रयस्तुल्यैर्भाव्यम् । तथा हि वैशेषिकेष्वाश्वर

जरणम् ?—उच्यते आह—स एवेति । अयं भावः—यदि कार्यकारणभावः स्यात् तदा भवेद्वदुक्तेः सम्भवः उह कत् कर्मभावः स तु यथाज्ञाततत्त्वज्ञानवार्थान्वर्गमी-कृतमसम्भवाच्चसन्दर्भः बहिर्भावेऽपि स्वस्वमेणावतिष्ठते तत्रेहापीत्यर्थः ॥३८॥

अवेदानीं सत्कार्यत्वाद्यं कत् कर्मभावेन सम्भवात्कस्या स्ववृत्त्यानां सम्भववशांश्चाथं प्रतिवादिबिभ्रतिनिगमनपूर्व प्रविपाद्याक्षेपेण युक्तिवमर्तेन स्वमतं नापमनि—सत्कार्यमित्वादिना । सत्त्वाः = अभिव्यक्त्याः । व्यक्त्यभावादिति—व्यक्तेः सत्त्वा अपि व्यक्त्यभावादव्यक्त्यपि । असत्त्वामिति—अतोऽभिव्यक्तेः पूर्वं तद्वाऽस्तु अतद्वा, तत्र न तदुक्तमस्य कार्यत्वम्, व्यक्तो हि कार्यत्व तस्या चागत्या सत्कार्यवा-दाऽनुपपन्न इत्यर्थः । स्वयमिति—यदुक्तं “तदभिव्यक्तेरप्यभिव्यक्तिः” इति तु न

अभिव्यक्ति को आवश्यकता का अनुभव करेगा और फिर जो अभिव्यक्ति होगी वह भी सत् होगी । इन प्रकार अनवस्था दोष आ रहा है । यदि दूसरा पक्ष मानने है कि वह अभिव्यक्ति अनन्त है तब तो अभिव्यक्ति न मानने से सत्कार्यवाद को ही हानि हो जा रही है । इन प्रकार न तो उत्पत्ति और न अभिव्यक्ति मानिये, किन्तु परमनिव को ही नानात्वों में प्रकाशित मानिये । क्योंकि यदि अनवस्था के पट्टिहार के लिये आर अगत् की अभिव्यक्ति मानने है तो उसीप्रकार वस्तु अभावि अङ्कुर आदि को भी अगत् मानिये । इन प्रकार शिव ही सत् होता है ॥३५-३६॥

किन्तु आपका यह अभिव्यक्तिवाद संगत नहीं है । इसलिये उस अभिव्यक्ति-वाद को छोड़कर अन्यत्र सबजगह हम सत्कार्यवाद ही मानने है । एक दर्शन सभी मामलों में दूसरे के समान हो ऐसा सम्भव नहीं । देखिये—वैशेषिक लोग



इत्यभ्युपगमोऽस्माकं नैकेनान्यत्र तुल्यता ।  
 कल्प्या वैशेषिकाणां हि कर्तृत्वैश्वरे स्थिता ॥३८॥  
 तद्वन्न किं पृथिव्यादेवौष्ठे ज्ञानमवस्थितम् ।  
 स्वान्यप्रकाशकं नान्यत् तद्वदन्यत्र किं भवेत् ॥३९॥  
 बाह्यं रूपादि जल्पन्ति प्रमाणं चोदनैव ते ।  
 नियमाद् धर्मविषये तस्मात्त्रैकेन तुल्यता ॥४०॥  
 वृहतां कल्पनीयाऽत्र न च वा व्यतिरेकतः ।  
 व्यक्तिः स्थिता पदार्थानां घटो व्यक्तोऽभिधीयते ॥४१॥

एष विव्यक्तीति न तु पृथिव्यादि इत्यम् । बौद्धदर्शने ज्ञानमेव स्वप्नप्रकाशकम्,  
 न रूपादि । ते जंमिनीया जल्पन्ति—नादनेव नियमेन धर्मविषये प्रमाणम्—  
 'नादनाल्लक्षणोऽर्थो धर्मः' (मो०गु० १.१.३) इति, न तु प्रत्यक्षादिकम् । तस्माद्  
 ब्रह्मात्मिकत्वज्ञाने प्रमेयाणां वा नैकेन नियतज्ञानाभिमतैरान्यस्यापि तुल्यताया-  
 द्बन्दीय उद्भावनीयः । तेन सर्वसामर्थ्यात् सत्तामेव कार्यता । तस्याऽऽभिध्वक्तिरभिव्यक्त्य-  
 कारीति तथा धर्म न चोक्तत्वादित्यादि प्रमाणानि, यथा न ईश्वरब्रह्मवत् पृथिव्या-  
 न्यस्य स्वभिव्यक्तिः सत्यैवेति । अनुपादयतामेव दर्शयति—सत्त इति । यतो विकलता-  
 दिदोषवत्तुः ज्ञान आह—अवेति । अभिव्यक्तिरिति—उत्पन्नव्यक्तिरप्यवस्था  
 करोति । ननु कार्यविध्वंसमस्त्वनवस्था, नैवाह—नतश्चेति । "एवमप्यनवस्था  
 स्वाद्या मूलक्षयकारिणी ।" उक्तम् ॥ अथासतीति—कार्यं तु सदैव ॥ पक्ष-  
 हानिरिति एकत्र सदस्त्वनामदिति हानिः, सा च न सर्वथा भाव एवेत्यर्थः ॥ ननु च—  
 वस्तुनिर्णयशून्याभिर्बोधिताभिः परस्परम् ।

अभिमानैककाराभिर्जिह्वोन्मस्तर्कबुद्धिभिः ॥ इति

स्वानाश्रयमेव स्वातुभयद्वयमाश्रयित्वे सत्कार्यत्वे निष्ठे तर्कदोषमाश्रयतो  
 न कदाचनानि बहुकमानव्यावृत्त्याः स्वादिति प्रोद्धोक्त्याभिव्यक्तावस्तवसत्कार्यत्व-  
 मिताव्यत आह—अभिव्यक्तिरिति । तां = अभिव्यक्तिम् । अन्यत्रेति—एकत्र  
 जगत् का कारण ईश्वर को मानते है; ईश्वर को मानि पृथ्वी आदि को नहीं  
 मानते । बौद्धदर्शन में ज्ञान स्वप्रकाश होने हुए परप्रकाश भी है किन्तु उर्वाप्रकार  
 दूसरे पदार्थ का रस गन्ध आदि स्वप्रकाश नहीं है । मीमांसक विविधावयव को  
 धर्म के विषय में प्रमाण मानते हैं न कि प्रत्यक्ष आदि को । इसलिये एक के साथ  
 अनेक को समानता विचारणीय नहीं है । पदार्थों को छोड़कर अभिव्यक्ति सम्भव  
 नहीं; क्योंकि व्यवहारजगत् में यह कहा जाता है कि घट अभिव्यक्त है । इस  
 कारण अभिव्यक्ति पदार्थ से अभिन्न है न कि पदार्थ से पृथग् वस्तु ॥३७-४१॥



तस्मात् स एव व्यक्तात्मा न व्यक्तेर्व्यतिरिक्ता ।

दीपेन क्रियते व्यक्तिघटादेः सत एव वा ॥४२॥

यथा सतः क्रिया व्यक्तिर्व्यक्ते सत्त्वे तथा कृतिः ।

एकेनापरतुल्यत्वान्न च वाऽसत उद्भवः ॥४३॥

द्विद्वयमपि विश्वमाणम् । उपनिर्गति नात्रास्ति, नाभ्युपगममात्रम् । तथाऽ-  
भिव्यक्तिस्त्वावयवादि अपतिरेकेन विनाः तथाऽनुपलम्भात् । अभेदेनैव व्यवहारः ।  
तथा हि यो व्यक्तोऽभिव्यक्ते व्यवस्थयेन । तस्मात् पदार्थ एव व्यक्तात्मा ।  
न च सन् क्रियो, न तु व्यक्तेर्यद्विरिक्तताया अपत्त्याः करणम् ॥३७-४१॥

नैतदुच्यते । प्रदीपेन हि घटादेः सत एवाभिव्यक्तिः क्रियते इति पदार्थ-  
एव क्रियते । तत्रैव यथा सतो पटादेर्व्यक्तिमंशा क्रिया तथा व्यक्तेरपि पदार्थ-  
रूपायाः सत्त्वा एव प्रदीपादिना कृतिः, बीजादिना बाह्यरूपायाः इति सर्वत्र  
तुल्यः सत्कार्यवादः । यतः पदाथेन सता कार्येण व्यक्तेरपि तदभित्तावाभ्युपलब्धम् ।  
व्यक्तिश्च प्रकाशमानता प्रकाशात्मता, अङ्गुरादेरनादिनिधनस्य सत एव चित्-  
प्रकाशस्य तेन तेन आत्मनाऽवस्थानमिव्यभिच्यक्तिवादिना सत्कार्यवाद उक्तो

यदनाधारं कर्तुं तद्वत्तत्त्व कल्पमानसत्त्वमन्त्रादीपुत्तिं स्यात् ॥ तथाऽपि-  
प्रसङ्गात्—कारण्येति ॥ दीप्ते = द्युत्तमे ॥ उपनिर्गमवान्तीत्या—न चेति ॥  
तदेवं “न च वा व्यतिरेकतः । व्यक्तिः स्थिता पदार्थानाम्...” इत्युक्तम् । अवे-  
दानांमनयोः सामानाधिकरण्येनैव नाथयति—दीपेनेति ॥ ननु च यदि सत्त्वे, तर्हि  
तस्याभिव्यक्तिर्नाम किम् ? अपाभिव्यक्त्या स्वरूपलाभस्तर्हिभिव्यक्तिरेवान्तु, कृतं  
सत्कार्यवादेनेत्यत आह—दीपेनेति ॥४२॥

व्यक्ते इति—तेन नात्र सत्त्वव्यक्त्योभिन्नमधिकरणम् : समानरूपत्वान् । इत्थं  
सुक्ता सत्कार्यवादं प्रमाथ्येदानीमनुभवेनापि स्वमतेन नाथयति—न च वेति ॥ ननु च  
यदि सदैव कारणे कार्यं तर्हि केयं व्यक्तिर्नाम ?—इत्यत आह—व्यक्तिश्चेति ।  
ननोऽत्र सर्वतन्त्रभूतनत्वापदार्थतत्त्वान्तरभेदानुगतं महागामान्यरूपं यत्, तदेवाना-  
दिनिधनं शिवत्वं नाम चित्स्वरूपत्वम् : तत्र कार्यरूपतयाऽवस्थानं न किञ्चित् : कारण-  
रूपतयैवावस्थानम् । परन्तु यदा तदैव विज्ञेयानुमेनापरसामान्यमिव कल्पितं रूपं  
तत्कार्यमुच्यते, तत्रैव कथं कुत्रान्तकार्यत्वम् ?—इति सूक्ष्मेऽयं तय इत्याह—अनादि-

प्रत्यक्ष भी देखा जाता है कि दीपक आदि सद् घट की ही अभिव्यक्ति करते  
हैं । जिस प्रकार सन् पदार्थ घट आदि की अभिव्यक्ति नामक क्रिया होती है उसी  
प्रकार पदार्थ रूप अभिव्यक्ति की भी क्रिया होती है । इस प्रकार एकपदार्थरूप  
कार्य के साथ अभिव्यक्तिरूप कारण भी अभिन्न होने के नाते समान है; अर्थात्

किमाश्रित्य प्रवर्तन्ते तदभावस्वरूपतः ।

घटान्तरं पूर्वदृष्टमाकलय्याथ चेष्टनम् ॥४४॥

भवति । यदि चासतः कार्यस्योत्पत्तिः तदा कारणानि किमाश्रित्य = किमुद्दिश्य, प्रवर्तन्ते = व्याप्रियन्ते । कार्यकारणभावस्य क्रियाकारकमन्वयमानत्वेनैश्वर-प्रत्यभिज्ञायां प्रवर्तन्ते पाकाद्यारम्भे स्वमिव बोधितम् । अथवा किमुद्दिश्य प्रवर्तन्ते कस्मिन् विषये तेषां सामर्थ्यम् ? विषयाभावे सामर्थ्यस्यानुपपत्तेर्विषयमापेक्ष-रूपत्वात्तस्य । विषयस्य च कार्यस्य तदानीमभावस्वरूपत्वात् ॥४३॥

अथ कारकाणां चेष्टनम् व्यापारः सामर्थ्यं वा पूर्वोक्तदृष्टाङ्गकलनेन ? तदयुक्तम् व्रीजादीनामन्वयेनाकलनाभावात् । यत्रापि गन्धेन कुम्भकारादि कारणम्, निधनस्येति; तेन तेनेत्यादि च । अन्योर्वस्तुवाभेदमेव कथयितुमीश्वरप्रत्याभिज्ञा-यामपि—

या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूपिता ।

अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः ॥" (१.७.१) इति उक्तम् ।

ननु चास्तु महानामान्यकल्पमनादिनिधनं जिवन्त्यं नाम, तथापि सत्त्वां मृदि घटो वत्तयाभावे भूमाभावे इति यथा, तथा घात्रे सत्त्वकुले जायते उत्पत्त्यं लोके कार्यकारणभावस्य दृष्टत्वात् कथं चिद्रूपस्य तत्र कारणता येन नातत उत्पत्तिः ?— उत्पत्ति आह—यदि चेति । कार्यकारणभावस्येति—अयंभाव—यदि च चिद्रूपमन्वानं विनापादं पूर्वस्य सामर्थ्यं परस्य सत्तेत्यादि मिथ्येति, तदा भवेद्भवदुक्तेः स्वमरोऽन्तः कार्यात्तादे । तत्तु न कथंचनापि स्वात्ममात्रनिष्ठानां परत्र विषयेऽभिज्ञातमात्रा-लेयानामनुक्तान्तरहितानां जडानामुपपत्तेः । एकानुगन्धानविषया हीय सर्वाऽपि कार्यकारणभावव्यवहारस्य निरित्येतत्प्रतिपत्त्याह—कार्यकारणभावस्येत्यादि । अर्था-न्तरमाह—अथ वेति । तस्य = सामर्थ्यस्य । तदानीम् = व्यक्तेः प्राक् ॥४३॥

ननु विभिन्नान्ये विषयस्य तदानीं समन्वयान् कस्मिन् विषये तेषां सामर्थ्यमिति ?

शान्तीं गच्छेत् अन्विष्यति तां केवलं उक्त कारण की प्रकाशमानता है । अमन् की उत्पत्ति तो हो ही नहीं सकती । यदि कार्य पहले से चिद्रूपमान नहीं है तो कारण किमनो लेकर व्यापार से प्रवृत्त होगे ? क्योंकि कार्य का अमन् तो अमव-स्वभाव है ॥४३-४४॥

यदि कहिये कि भविष्य में उत्पाद्य घट अमन् है ही, कुम्हार आदि कारणों का व्यापार तो अतीत में देखे गये घट को लेकर होता है ? तो यह कथन तो औः विचित्र है; क्योंकि देखे गये घट से भविष्यकालीन दूसरे घट का निर्माण अगमभव है ॥४४॥

अन्येनान्यस्य कलनाऽसम्भवादतिचित्रता ।

अङ्कुरो जायत इति न भवेत्कारकात्मता ॥४५॥

असत्त्वे कारकाणां हि समूहो न भवेत्तदा ।

कर्माख्यस्य ह्यसत्त्वात्तत्सम्बन्धोऽसता कथम् ॥४६॥

तस्मात् स एव भगवान् स्वयमेव प्रकल्पते ।

तथा तथा भावरूपैः सत्त्वेव परमेश्वरः ॥४७॥

तथापि पूर्वं घटान्तरं यदाकथितं स्यात्तदा कर्तव्यस्य घटान्तरस्य किमायातं येन तत्क्रियते ? तदर्थम्यातिचित्रता; अनुपपन्नमानस्यापि भावादित्युपहृतम् । अङ्कुरो जायते बीजभूमौ इत्यवगतोऽङ्कुरस्य कारणता = कर्तृता न स्यात्; घटं वा करोति कुम्भकार उत्पत्त्या कर्मणा कारणान्वयतां कर्तुं वा कः सम्बन्धः ? तत्कथं समूहः

यदि चैवमात्रमेवात्र साध्यं यत् पूर्वमपि सापेक्षत्वमिति, तदा मिद्धमेवन्; यतः पूर्वोत्पन्नमाद्यङ्कुराद्यपि, तत्सापेक्षत्वेन सर्वं मिद्धमिति ?—इत्याशयस्याह—घटान्तरमित्यादि । तदयुक्तमिति—इदमेव तात्पर्यम् एवं हि वक्तव्यं किं कुम्भकारोऽपि घटकर्त्ता वेहादि-त्वात्, उत्पत्तिस्तदपि निरुक्तः कश्चन चेन्नोऽपि ? यदि न वेहादिर्जडरूपः, तदत्रवक्तव्यं बीजादिभ्योऽप्येतेभ्यः कोऽयं विशेषः ? तेषामपि जडपक्षात्कृतत्वादात्मनासम्भवान् अथ तद्व्यतिरिक्तश्चेत्ततः ? तथापि किम् ?—इत्याह—यथापि सत्चेतनमिति; किन्नायात-मिति । न हि तत्सत्त्वज्ञानं सम्पन्नं येन सापेक्षत्वम्, अपि तु अन्तःकुम्भकारमविविदि सकुरन्नेव ब्रह्मिणिसंछतीति ॥४३॥

अथ चानेककारकसाध्यं हि कार्यम्, तत्रश्रैक्यमाभावेऽपि-किं सर्वेऽपि अमलकताः स्युः ? तथा हि अङ्कुरो जायते कर्मणोऽभावेऽपि कारणमस्त्येव; तथा घटं करोति कुम्भकार उत्पद्य कर्त्तृकारणकर्माधिकरणाद्यनेककारकसमन्वये कर्माभावमाद्ये किं न निहिद्विगीताम् ?—इति पूर्वपक्षमाशये कृत्वा कर्मण एवानेककारकसमन्वयं दर्शयति । कर्मणि सति सर्वमेवैतत्सिद्ध्यति, नान्यथेत्याशयेन कर्तृकर्मणोः सामानाधिकरण्य-दर्शनायम्—अङ्कुर उत्पाद्य ॥४५॥

‘अङ्कुर उत्पन्न होता है ।’ यह व्यापार देखा जाता है । यदि अङ्कुर असत् होता तो वह जननक्रिया का कर्त्ता कैसे होता ? वा ‘कुम्भकार घट बनाता है’ यह व्यवहार भी सत्यता है । यदि कर्म अर्थात् घट की सत्ता नहीं है तो कर्त्ता कारण अधिकरण आदि कारणों का पारम्परिक सम्बन्ध भी सम्भव नहीं होगा । इसलिये यह मानना निवार्य आवश्यक है कि कार्य सत् है और यह सत्ता स्वयं भगवान् शिव ही है । परमशिव जिम-जिम भाव की अभिव्यक्ति की कल्पना करते हैं उन्ही-उन्ही रूप में अपने को अभिव्यक्त करते हैं ॥४५—४७॥



स्वयं च न प्रजायेत केनान्येन प्रजन्यते ।

व्यतिरिक्तेन कर्त्राद्या यदि स्युस्ते तदात्मकाः ॥४८॥

कारकाणाम् ? ततः क्रिया नीतयेत । तस्मान्निद्रूपः परमेश्वरस्तथा तथा भाव-  
स्वरूपैः स्वयमेव प्रकल्पते = भवति । स च नित्यमेव सन्निति कथममलकार्यता-  
शङ्का ? ॥४५-४७॥

स्वयं चागत्वाद् घटादिः कथं जायेत = जननकर्ता कथं स्यात् यदा ? तदा  
केन नामधेयान्येनापि कुम्भकारादिना कथमगत् = जन्मयोग्यतालक्षणस्वभावगहितं  
यनशृङ्गादविशिष्टं जन्वेत ? जनयिता यद्यपि सन् तथापि तत्त्वत्ता जन्यस्य न  
काचिद् भवति; व्यतिरिक्तत्वात्; ततस्तथापि न तस्य योग्यतापत्तिः । एवं हि सा  
जन्मयोग्यतायां व्याप्रियेत यदि तथा तस्य जन्मिता युज्येत; यदि जनयिता = कर्ता  
सहकारिणश्च कर्णादिस्त्वा जन्मात्मकाः स्युः । व्यतिरिक्तैस्तु सद्गिरण्यमतः  
कथं जन्मिता भवेत् ? ॥४८-४८३॥

नतो न कर्तृत्वनापि जन्म कारणता येनागतोपि कार्यस्थोत्पत्तिः स्यात्तदेवद-  
यन्मिदमिदमित्याह—तस्मादिति ॥ अगत्वाच्च स्वयं यदि न जायत इति यदि सन्निति  
कथने, न हि स्वयमगत् यनशृङ्गादिगन्धेन जनयितुं शक्य इत्यर्थगक्षेपः । ननु  
चैतदेव कारणता कार्याद् वैशिष्ट्यं यदन्यजननम्, तदभावे कथं कारणमिति व्यपदि-  
श्यते ?—इत्यावाङ्मुखाह—स्वयं चेत्यादि । जननकर्त्तेति—भवन्मतमेतदित्यर्थः । कथम-  
सदिति—जन्मयोग्यतालक्षणस्वभावगहितं च यनशृङ्गजननदित्युच्यते । ततश्च तस्य न  
केनापि जननं युक्तम् । तथा यद्यदगत् सर्वं तत्तत् तथैवेति कथं जन्मानन्तापि संभ-  
वेति ?—इत्यर्थः ! तत्त्वत्ता = जनयितृमत्ता । जन्यस्य जनन इति शेषः । तथा = जनयि-  
तृमत्तया । तस्य = जनस्य । योग्यतापत्तिः = मत्त्वयोग्यता । सा = जनयितृमत्ता ।  
युज्येतेत्युक्तम्; तामेवोपपत्तिमाह—यदीति ॥४७-४८३॥

यदि घट आदि अगत् होने के कारण स्वयं नहीं पैदा होते जैसाकि आपका  
मत है तो फिर अगत् यनशृङ्ग को जैसे कोई नहीं उत्पन्न कर सकता उसी प्रकार  
अगत् घट आदि को भी कोई उत्पन्न नहीं कर पाता । जन्म के व्यक्तिक अर्थान्  
अभाव में जनयिता या कर्ता को मत्ता ही सम्भव नहीं । यदि कर्ता कारण आदि  
की मत्ता है तो वह जन्यमत्तात्मक ही हो सकती है । और जन्य का जन्म  
तभी युक्तिसंगत होगा यदि आप उसे सत् मानें । यदि जन्य को अमत् मानेंगे  
तो इससे भिन्न अर्थान् सत् भी कर्ता आदि की प्रजननयोग्यता कैसे सम्भव  
होगी ? ॥४८-४८॥



तत्तस्य जन्मिता युक्ता व्यतिरिक्तैः कथं भवेत् ।

जन्मकाले घटाभावात्सम्बन्धो नैव कारकैः ॥४२॥

नासम्बद्धस्य करणं सत्कार्याच्चेत् स विद्यते ।

सन्नप्यसावसंबन्धो

व्यञ्जकस्याप्यभावतः ॥५०॥

घटस्य जन्मस्य जन्मारम्भकारिणोऽभावात् कुम्भकारमृत्पिण्डादिभिर्न सम्बन्धः । न चाविविधमानसम्बन्धस्य करणम्; पूर्वमपि अन्यतोऽपि वा प्रसङ्गान् । जन्मासम्बन्धेऽपि तदपेक्षयैव जनकानामेव स समर्थस्य विद्येपो येन तेषु सन्तु तस्य विशिष्टस्यैव सत्ता, न तु यस्य कस्यचित् उच्येपोऽसत्कार्यवाद ईश्वरप्रत्यभिज्ञादी निराकृताः । अथ स विद्यते सम्बन्धः सतः कार्यात्मकत्वात् कार्यस्य ? नदति न; यतः सन्नप्यसौ जन्मो घटादिरर्थोऽसंबन्धः; अर्गवेद्यत्वाच्च सम्बन्धिनोऽप्रत्ययत्वेन सम्बन्धागमनं व्यञ्जकत्वं च कुम्भकारादेर्घटं प्रति नास्ति, यतः सर्वथा प्रतीत्यर्गोचरे वस्तुनि व्यञ्जको न भवति । निष्ठ एवायं व्यञ्जको सतः, यथा घटादौ दीप्तः । ततो व्यञ्जकस्यापि

ननु च नैव विवेच्यं यत् समतत्तत्तं जन्मकार्योत्पत्तिः । पूर्वं तु कुम्भकार-  
नयिदि बाजा वा परमेश्वरप्रकाशे वा सम्कार्यमन्तु भवताम्, असंमते वाऽसन्,  
न तत्र व्यर्थः ग्रहः । सन्तु जन्मारम्भकालस्तत्र विविधमाणव्यादेव सदसन्वसंशय इति  
स एव सम्बन्धिवेद्यः—उच्यते नमः किमुमाह—जन्मकाल इति । पूर्वमपि = कुम्भ-  
कारादिसम्बन्ध्यात् प्राक् । अन्यतोऽनियतमेव । उदासी पूर्वं सत एव तद्विक्रिया-  
सम्बन्धमाह—जन्मासम्बन्धेऽपीति । येन = पूर्वं सन्तु न हेतुता । = सतः = कुम्भ-  
कारादिक्रियाया निष्पाद्यत्वात् । तथोरिति—न हि कुम्भकारघटयोः परस्परस-  
व्यतिरेको येन कुम्भकारमृत्पिण्डयोः सम्बन्धः सिध्यन् । भावीत्वस्यार्थात्तरमाह—  
अथ वेति । नित्ययोगे मत्वर्थीय इतिप्रत्ययः ॥५०॥

अर्थं कारणभावेन सत्कार्यवादं समर्थयितुं कार्याभावेनापि सत्कार्यवादं समर्थ-  
यति—इतोऽपीत्यादिना ।

उत्पत्तिकाल मे भी यदि घट की सत्ता नहीं है, अभाव है तो कर्त्ता, मृत्पिण्ड चक्र आदि का पारम्परिक सम्बन्ध हो नहीं होगा; क्योंकि जिसका सम्बन्ध वर्तमान नहीं है उसकी रचना कभी नहीं होगी । यदि कहिये कि घट सन् है क्योंकि कार्य मे उसकी सत्ता पुष्ट होगी है तो भी यह समझिये कि सन् होते हुए भी वह व्यञ्जक के अभाव में संबन्ध नहीं होगा । और वह व्यञ्जक कुम्हार आदि नहीं है क्योंकि व्यंग्यता निष्ठ पदार्थ की होती है, जैसे दीप के द्वारा घट की; न कि अविविधमान पदार्थ व्यञ्ज्य होता है । इसलिए स्वयं भव अर्थात् शिव ही अपने स्वभाव मे भिन्न-भिन्न भावों के रूप में अपने को व्यक्त करते हैं ॥४९-५०॥

तस्मात् स्वयं स्वभावेन भावैर्भावी भवेद्भूवः ।  
 इतोऽपि विद्धि सत्कार्यं मृत्पिण्डात् किं घटः पृथक् ॥५१॥  
 अपृथक्त्वा पृथक्त्वे तु पटादेः करणं न किम् ।  
 अनुपादानतैव स्यादपृथक्त्वे स एव सः ॥५२॥  
 नामसंस्थानभेदश्चेद्वस्ते मुष्ट्याद्यभेदिता ।  
 स्थितमेव हि सत्कार्यमत्र एवाविनाशिता ॥५३॥

अभावतः कथं सम्भवः ? एव हि कारणं कार्यमना सत्तदा भवेत् यद्यव्यतिरेक-  
 स्तयोः स्यात् । न च प्रत्यक्षविच्छेदः । तस्मादविरुद्धगर्भावैकभावः स्वयं भव  
 एव परमेष्ठ्यस्तथाऽवस्थानस्वभावेन, नापरेण हेतुना कारणेन भावाभावाः संगार-  
 पत्तिभिर्भावी भवति; अर्थात् तत्त्वभावत्वात् । अथवा नित्यं भावगम्वन्धीनि शिव-  
 कारणतया सत्कार्यवादः ॥५०॥

इतोऽपि शिवस्वभावस्यावस्थाना सत्कार्यवादापत्तिं जानीहि यतो मृत्पिण्डघटयोः  
 सदा सत्कार्यवादेऽपि कार्यकारणतापत्तिः । मृत्पिण्डाद्वि घटस्य पृथक्त्वे तथा चास्यैव  
 पटस्यस्यविभागयोग्यमनन्वाविशेषात् करणं स्यात् । न चास्ति तत्; असत्ये  
 पदस्यसत्तायापत्तिहेतुः कार्यत्वेन स्वीकरणस्य कर्तृमज्जव्यवत्वात्; तस्य मृत्पिण्डादे-  
 रनुपादानतैव स्यात्, प्रकृतिस्त्वता नैव स्यादित्यर्थः । अपृथक्त्वे मृत्पिण्ड एव न  
 घटः, न त्वपूर्वः । ततः प्रागपि पिण्डो घटः स्यात् ॥५२॥

अथ मृत्पिण्डघटयोर्नामनिवेशभेदान् भेद एव, तत्कार्यं सत्कार्यमिति ? ततः  
 नामसंस्थानमात्र एवात्र भेदः, न तु मृदून्तायाम्, यथा हस्ते मुष्टिप्रसृततादेः । अत्र हि  
 हस्तता तुल्या द्वयोरपि तथा मृदून्ताजन्याः । एतच्चात्यन्तप्रतिद्वन्द्वमेव व्युत्पादनाथ

इस कारण भी कार्य सत् है—यह बातलाइये कि घट मृत्पिण्ड से पृथक् है या  
 अपृथक् ? यदि पृथक् है और आपके मतानुसार अगत् भा है तो फिर वह मृत्पिण्ड  
 जैसे पृथग्भूत अमद् घट का कारण है वैसे ही उसी पृथग्भूत पट या वाद्यशृङ्ग आदि  
 का भी कारण होना चाहिए । फलतः मृत्पिण्ड घट का उपादान नहीं होगा । यदि  
 आप घट को मृत्पिण्ड से अपृथक् मानते हैं तो घट और मृत्पिण्ड दोनों एक हुए ।  
 यदि यह कहिये कि मृत्पिण्ड और घट में नाम आकृति अवयवगन्धस्पर्श आदि का भेद  
 हे ने ने दोनों भिन्न है, इसलिए कार्य सत् नहीं है, तो यह कथन भी ठीक नहीं ।  
 क्योंकि वह भेद उदात्तप्रकार है जैसे हाथ में मुट्ठी बंधने और खुलने का भेद । उस  
 प्रकार कार्य सत् है—यह निश्चित हो गया । इसीलिए कार्य अविनाशी है । जिम्-  
 प्रकार कटक के नष्ट होने पर स्वर्ण जेप बचना है उन्नीप्रकार उदात्त के नष्ट होने पर  
 शिव शेष रहते हैं तथा वे सब में अनुगत हैं ॥५१-५३॥

शिवस्य भावनाशेऽपि मौलिनाशेऽपि हेमवत् ।

नाशः कटकद्वयेण सद्भावः कुण्डलादिना ॥५४॥

सुवर्णत्वेऽपि न भ्रंशः संस्थानेऽपि विचार्यताम् ।

किं शिवत्वेन तद्व्यापमव्याप्तं वाऽभिधीयताम् ॥५५॥

प्रदर्शितम् । वस्तुतो मृदपि पर्यालोच्यमानशब्दस्पर्शादितन्मात्रमयी जलादिविलक्षणा यावत्त्रैगुण्यतादवस्थम्; तत्तादवस्थेऽपि यानि कार्याणि महदादीनि पृथिव्यन्तानि पटाद्यन्तानि वा, तानि त्रैगुण्यमात्ररूपाणि; विश्वस्थैकव्यापनेः । तदधिकत्वे तु उदं शब्दतन्मात्रम्; अयमाकाशः इयं पृथिवी; अयं पटः अयं पट इति विभागः । विभागोऽपि च तदभेदाद्वास्तव एव । न च प्रकाशमानव्यावस्तुता गृह्यते; त्रैगुण्यमात्रं तथा प्राप्तेः । प्रकाशनं च प्रतीयमानता प्रत्यक्षेणास्तु अनुमानेन वा, सर्वथा महत्त्ववन्ता न्यात् । एवं च मृत्पिण्डोऽप्य एव, मृत्ति यस्मिन् पटा भवति; पटश्चाप्यस्य मृदप्यन्या या सर्वमृगमयेष्वनुगता; पटश्चाननुगतः । न चानुगताननुगतयोरेक्यं पटते, तत्रश्च पटादेः करणं न किमिति दापः । दार्णवत् विश्वप्रतिविम्बयोगि त्रैगुण्यमित्यव्युत्तममेऽपि यद्वशान् तथा प्रतिविम्बयोगः तदेव कारणम्, तथापि भेदाभेदशालोचनादनुपपत्तिरिति चिन्मयशिवरूपपदैव सर्वकार्याणामीश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तव्यायेन—उच्यते—स्थितमेव हि सत्कार्यमिति । अत एव शिवरूपतया तन्वाद्विनाशिता । न हि शिवस्य स्वमविद्रूपस्य गता विनाश इतीश्वरप्रत्यभिज्ञायामेवं ज्ञातम् ॥५३॥

मौलिनाशेऽपि हेमवदिति सर्वलोकानुगारेण पूर्ववन्निर्दर्शनम् । कटककुण्डलादिलोकिकनिर्दर्शनेन संस्थानमात्रभेद उक्तः । संस्थानेऽपि भेदो विचार्यताम् । तद्विचारेण च शिवकारणतामेव पर्यवमानयन्नाह—किं शिवत्वेनेति । मौलिशिवव्यव्याप्तौ मौलिविनाशे शिवविनाशः । शिवाव्याप्तत्वे वा शिवस्य प्रदेशवृत्तिता मौलिपटपटादिस्वरूपपदेश परिहारेणावस्थाने भिन्नस्वरूपपदेशत्वं ततश्चाविभुत्वमिति संस्थाने उभयथाऽभिधीयमानो दोषः ? न उक्तदोषः । यतो भावानां विनाशे विपरीते नेष्टताऽस्मान् प्रति । भावा न विनाशितोऽस्माभिर्विद्यन्त इति यावत् । अस्मद्दर्शने हि

कटक का नाश और कुण्डल की उत्पत्ति दोनों परिस्थितियों में सुवर्ण ता ज्यों का त्यों है । केवल संस्थान में भेद हो गया है । इसी प्रकार शिव सर्वत्र है केवल अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न रूप में हो रही है ॥५४-५४३॥

अब पूर्वार्थी का कथन है कि—यह बनलाइये कि कटक आदि शिव में व्याप्त है या अव्याप्त ? यदि व्याप्त हैं तो कटक का नाश होने पर शिव का भी नाश होगा ? और यदि अव्याप्त है तो फिर शिव सर्वव्याप्तो कैसे ? वे तो एकदेशी हो गये ? ॥५५-५५३॥



व्यापित्वे तद्विनाशित्वमव्याप्तौ स्मात्प्रदेशिता ।  
 नैवं यतो हि भावानां विनाशेऽस्मासु नेष्टता ॥५६॥  
 अंशाभिव्यक्तता नाशो न नाशः सर्वलोपिता ।  
 अभिव्यक्तेर्विनाशित्वे तत्राप्यानन्त्यमापतेत् ॥५७॥  
 इन्द्रियाणामसामर्थ्यमात्रमत्र विनाशिता ।  
 असावेवानभिव्यक्तिः स प्रच्छन्नस्तदा स्थितः ॥५८॥

मौलैः कटकोत्पादकाले अंशस्य = हेममात्रस्य, अभिव्यक्तिः प्राक्तनस्य मौल्यपरिणाम-  
 क्षणस्येति नाश उच्यते न तु सर्वांशादर्शनम् । नतो न निरन्वयविनाशदोषः; नाप्यंशस्य  
 निरन्वयताः अनभिव्यक्तिमात्रस्य नाशत्वात् ॥५६३॥

अत्र स्थितानामेवाध्यानां यथाऽभिव्यक्तिमात्रस्योत्पादकतया विनाशोऽपि तस्यैवेति  
 प्राक्तनाद्यमात्रस्यानभिव्यक्तिर्विनाश उक्त इति ? एतन्नः यतो यथाऽभिव्यक्तेरप्यमत्या  
 उत्पत्तिव्य सत्या इत्यर्थोत्पादोक्तदोषोऽनवरत्ना च, तथैवाध्यास्य विनाशो नोपपन्नः  
 सतो विनाशायोगान्, तथाऽभिव्यक्तेरपि । अथाभिव्यक्तिर्वाभिव्यक्तेर्विनश्यति,  
 न सता ? तत्तस्या अपि अभिव्यक्त्याभिव्यक्तेर्न सता नश्यति, अपि तु अभिव्यक्ति-  
 रित्यानन्त्यं स्यात्; अथवाऽभिव्यक्तेर्विनाशेऽपि किमगन्तुतद्यते ? अथ गन् ? असत्ये  
 सत्कार्यवद्धानिरनुपपत्तिश्च । सत्ये पूर्वमेव विनाशः स्यात् । अथाभिव्यक्ति-  
 विनाशस्य कारणेन क्रियते ? नत्सुर्वोक्ताऽनवस्थित्वानन्त्यम् । एवमस्मद्दर्शन ईश्वर-  
 प्रत्यभिज्ञोक्तनीत्या यथोभयेन्द्रियवेद्यत्वं शिवाभेदाख्यातिमयमर्थानां करणम्, तथा  
 विनाशः = उभयेन्द्रियवेद्यत्वाभावः शिवाभेदः शिवत्वेन प्रच्छादनम् । तदेवोक्तम्—  
 “इन्द्रियाणामसामर्थ्यम्” तथाऽसावेवानभिव्यक्तिः; स = घटादिः शिवतया  
 प्रच्छन्नस्तदा स्थित इति ॥५८॥

उत्तर पक्षी का कथन है कि ऐसा नहीं है । हमलोग यह नहीं मानते कि  
 पदार्थ विनाशी है । हम तो यह मानते हैं कि किरौट को नष्ट करने के बाद हम  
 बचता है उसी हेम की अभिव्यक्ति ही किरौट का नाश है, न कि हेममहित  
 किरौट का अदर्शन ॥५६-५६३॥

यदि अभिव्यक्ति का भी नाश मानेंगे तो वह नाश भी अभिव्यक्ति ही होगी।  
 फिर उग द्वितीय अभिव्यक्ति का नाश और फिर.... इस प्रकार अनवस्था दाप जा  
 जायगा । जिस प्रकार अन्तःकरण और बाह्यकरण इन दोनों से वेद्य होने का नाम  
 अभिव्यक्ति है उसी प्रकार इन दोनों करणों का वेद्यतामम्बन्धी अमामर्थ्य ही  
 पदार्थों की विनाशिता है; और यही अनभिव्यक्ति है । एम अवस्था में शिव प्रच्छन्न  
 होकर स्थित रहते हैं ॥५७-५८॥



इतोऽपि नाशो नास्त्यस्य घटस्य करणात् पुनः ।  
 नाभावप्राप्तरूपस्य करणं युज्यते पुनः ॥५९॥  
 तस्माद् भावविनाशेऽपि शिवतत्त्वाविनाशिता ।  
 इतश्च सर्वशिवताऽवयवेष्वपि न कुत्रचित् ॥६०॥  
 व्यतिरेकोऽवयविनस्तदेवेदं विचार्यताम् ।  
 भिन्नेष्वैक्यमभेदश्च यथा तत्र व्यवस्थितम् ॥६१॥  
 तथा तत्र परिज्ञेयं पट्युः सामर्थ्यमोदृशम् ।  
 अभिन्ने भेदता येन भिन्नेष्वप्यस्त्यभेदता ॥६२॥

इतोऽपि हेतुनाशो नास्त्यस्य; घटादेः पुनः करणात् । न हि यस्य सर्वथा जगत्त्रिपाणतुल्यमभाव प्राप्तव्यं तस्य अर्थस्य पुनः सत्ता भवेत् । ननु पूर्वोक्त्य एव घटः जगत्त्रिपाणतामेव न प्राप्तः अयं चान्य एव क्रियते ? तद्वैततारित्यं । न हि घटादन्यो घटः स्यात् महत्त्वलोहितत्वाच्चिदृशत्वादिनामान्यानन्तरमप्येकैक्यवस्थित एवेन्द्रियवेष्टाभेदास्मानिमयः क्रियत इति पूर्वमुक्तम् । तस्मादुक्तक्रमेण भावानां शिवतत्त्वनिमज्जनस्यापि तदभेदाख्यातिविनाशेऽपि शिवतत्त्वाविनाशिता । एवमुक्तत्विनाशाच्चान्यथाऽनुपपत्त्या सर्वशिवता व्यवस्थिता ॥५९॥

इतोऽपि च हेतुः सर्वशिवता—अवयवेष्वपि व्यतिरेकोऽवयवी न क्वचिद् जाने चाक्षुषे मानसे बाह्यभासने । यैरपि व्यतिरेक्तोऽज्ञो प्रतिजातस्तैः प्रतीतिः समवायवशादभेदेनैवेष्टयते । तच्चेदं विचार्यताम्—यद्यपि विततावभास्यवया भिन्ना व्यवस्थिताः परमाणुभावे ह्यभेदिनि वैतल्याभावात्तथाऽप्येक एव देवदत्तमंजोऽर्थो-

इमं कारणं भी घट आदि का नाश नहीं माना जा सकता क्योंकि फिर से घट आदि की रचना व्यवहार जगत् में होनी रहती है । यदि घट आदि कूर्मरोम आदि की भांति शब्द अभावान्मक होते तो फिर उन्हें बनाया कैसे जाता ? इस प्रकार अभिव्यक्त पदार्थों का जनभिव्यक्तस्वरूप विनाश होने पर भी शिवतत्त्व विनाशी नहीं है ॥५९-५९॥

सर्वशिवता का एक दूसरा कारण भी है—यह यह कि यह भी देखा जाता है कि कहीं भी अवयवी अवयव से अतिरिक्त नहीं होता । यद्यपि अलग-अलग रहने पर अवयव भिन्न प्रतीत होते हैं फिर भी एकत्र होने पर अभिन्न—एक मालुम पड़ते हैं । तो इससे यह समझना चाहिए कि यह भिन्न में अभिन्न को प्रतीति शिव का ही नामार्थ है जिस कारण अभिन्न में भिन्नता तथा भिन्न में अभिन्नता का आभास होता है । जिस प्रकार हाथ-पैर आदि अवयव भिन्न होने पर भी 'यह देवदत्त है' ऐसी एकत्वबुद्धि होती है उसी प्रकार भिन्न प्रतीत होने वाले विश्व के समस्त पदार्थों में भी एक शिव का रूप अनुस्यूत है ॥६०-६२॥

यथाऽवयवगं रूपं तथा सर्वपदार्थगम् ।

कृपाणिपादं क शिरो यथैक्यं भिन्नदेशगम् ॥६३॥

तद्वत् सर्वपदार्थानां जगत्यैक्ये स्थितः शिवः ।

शब्दादिर्ग्रहणं नास्ति पूर्वापरसहोदितैः ॥६४॥

मनसः प्रेरणं कस्मात् प्राज्ञानेन विना स्थिता ।

सर्वैकतास्त एवात्र तथा सौप्तबोधनम् ॥६५॥

घटते कथं निमित्तस्य प्रायोगायोगचोदितैः ।

योगे जाग्रदवस्थैव तस्मात् सर्वं शिवात्मकम् ॥६६॥

निःसन्धिवन्ध एकवन्तोऽवभाति इति भिन्नैर्देवावयवेषु ऐक्यं भाति । तत्र यथैक्यं तथा पत्युः = शिवस्य=चिन्मयस्य तत्सामर्थ्यमोश्वरप्रत्वभिज्ञायाम्कं येन सामर्थ्येनाभिन्ने देवदत्तैः अवयवभेदात्मताः अवयवेषु च भिन्नेषु एकैव देवदत्तता वृज्यते यथाऽवयव-भेदगमेकं रूपम् । एवं त्रैलोक्यवस्तित्वमि सर्वोद्देवायैव गवं शिवरूपम् ॥६३॥

नन्वेव व्यतिक्ति—ववेति । अवयवभेदस्यापि अभिज्ञावयविरूपता शिवरूपतयैवेति प्रतिपादितमोश्वरप्रत्वभिज्ञायान्; एवं जगत्यैक्ये शिवरूपतोऽपवादिका स्थिता । अत एव चात्र जगति सर्वैकता स्थिता यतः शब्दस्पर्शरूपादेविवचन्य सर्वस्य पूर्वा-

कहाँ हाथ-पैर और कहाँ शिर ? फिर भी उनमें जैसे एकत्वबुद्धि हाती है जबकि वे भिन्न-भिन्न स्थानों में हैं । उन्ना प्रकार इस विश्व ब्रह्माण्ड के भिन्नदेशग्य सभी पदार्थों में एक शिव वर्तमान है ॥६३-६३॥

शब्द स्पर्श आदि विषयों का सत्ता के पूर्व उनका ज्ञान तब तक सम्भव नहीं है जब तक उनकी सत्ता न मान लें, क्योंकि विषय के बिना ज्ञान सम्भव नहीं । अतः अव्यक्त अर्थात् शिवरूप में विषय शश्वत् विद्यमान है । तथा विषय की व्यक्तता ( सत्ता ) के बाद भी आपको आत्मा से पृथक् भी विषय की सत्ता माननी पड़ेगी नहीं तो विषय और आत्मा का ग्राह्यग्राहक सम्बन्ध ही अनुपपन्न हो जायगा । और जबतक आप विषय का ब्राह्म पृथक् अस्तित्व नहीं मानेंगे तबतक उसका ज्ञान करने के लिए आत्मा मन को प्रेरित कैसे कर पायेगा ? इसलिए आप यह मानिये कि शिवात्मक जगत् एक है फिर भी नियति की शक्ति से व्यवहार के लिए यहाँ पार्थक्य भी है । यदि आप नमस्त जगत् में ऐक्य स्वीकार नहीं करते तो यह ब्रताद्वेति कि ऊँचा आवाज मुनकर गोया हुआ आदमी उठ कैसे जाता है ? इसका मतलब है कि जाग्रत अवस्था में जो शिव है वही सृष्टि में भी है और वही शब्द में भी है । इसी कारण शब्दश्रवण से सृष्टि व्यक्ति जाग उठता है । क्योंकि ज्ञान एक है; जो जाग्रत अवस्था में था वही सृष्टि में भी रहता है ॥६४-६६॥

सामान्यरूपता वास्ति सा चाभिन्ना विशेषतः ।

भिन्नाभिन्नात्मकः क्वापि पदार्थस्तादृग्विद्यते ॥६७॥

बौद्धस्य चेन्न सामान्यमनुमानं निवर्तते ।

यथा सुवर्णभाण्डेषु न तथा हेमताम्रयोः ॥६८॥

परसहोत्पन्नैर्जनिर्वर्णमिच्छित्वाज्ज्ञानं नास्ति । तथा हि पूर्वं तावज्ज्ञानं कथं विषयेण विना स्यात् ? पञ्चाक्षरं महापि द्वयोः स्वान्मनि स्थितयोः कथं ब्राह्मसाहकभावः ? अर्थाभिगन्धिज्ञानेन च विना कस्मादात्मना मनसः प्रेरणाशब्दः ? तद्वाह्याश्रयमिति चेत्पूर्वं ज्ञानं किं मनःप्रेरणेन ? न चाभिगन्धिज्ञानेन बाह्याश्रयो ज्ञानरतदथ मनसः प्रेरणं न स्यात् । तस्माच्चिद्रूपशिवैक्ये सर्वदा सर्वदेवे स्थिते प्रक्रियामाश्रयिदं नियतिशक्तिः कुतमोदरप्रत्यभिज्ञोक्तमवेदाभिवाधिसर्वं द्रष्टव्यम् । तथा गाण्दी स्थितस्य प्रबोधनमुच्छेदः शब्दादिनमच्छायेन कथं पटेनकता विना ? तथा हि उच्छेदः शब्दादिज्ञानं प्रबोधनमिति तस्य च प्राग्बोधाश्रय न योग इति चार्थः कथं घटनम् ; तथा हि प्राक् शब्दादिज्ञाने न योगे जाग्रदवस्थैव स्यात् ; तस्यास्तथा लक्षणत्वात् ; प्राक्शब्दादिज्ञानस्य निमित्तस्य तु विरहे कथं प्रबोधः ? तदेतदेव स्याद् कृते विर्यकत्वं शिवत्वाद्यतिप्रक्रियामाश्रयेतस्यात् । तावज्ज्ञानैकताज्ञानेनाप्यावरणं नापतद्विनिर्मुक्तिरिति च पराक्तं कुतः प्रमाणास्तित्थम् ?—इति च न निश्चायकम् ॥६९॥

सामान्यरूपता वा सर्वेषां जावलेवादीनां विशेषाणामैक्यात्मिकाऽस्ति । सा चाभिन्ना तेषां विशेषेभ्यः । भिन्नाभिन्नात्मको हि पदार्थः सांख्याहृतादिदर्शने तथा प्रतीयते तादृग्वास्तव इत्यने । न च तत्त्वस्यैक्यं विना न स्वादिति वक्ष्यमाणन सम्बन्धः ॥६७॥

जिन जावलेय ( गाय ) आदि विशेष पदार्थों में आप सामान्यात्मिका जाति स्वीकार करते हैं वह जाति कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है । वह तो उन जावलेय आदि विशेषों में अभिन्न है । सांख्य जैन आदि दर्शनों में पदार्थ भिन्नाभिन्नात्मक माने गये हैं । वह मान्यता विना तत्त्व की एकता के सम्भव नहीं । क्योंकि एक होने पर यह मानना पड़ेगा कि परमार्थतः सब तत्त्व एक हैं । व्यवहार के लिए उनमें परस्पर भेद है ॥६७॥

जो कि बौद्ध लोग सामान्य नहीं मानते ( बौद्ध लोग सामान्य की सत्ता स्वीकार नहीं करते । और सामान्य के द्वारा होने वाली अनुगतप्रतीति को वे अगोह—तद्विषयभित्तव-नामक पदार्थ में साध्य मानते हैं । ) उन्हें भी सामान्य मानना पड़ेगा, अन्यथा उन लोगों का सम्मत अनुमान प्रमाण ही अमिद्ध हो



सुवर्णमानयेत्युक्ते शून्यता किं प्रतीयते ।  
 विशेषस्पर्शविरहात् कदाचिदपि युज्यते ॥६९॥  
 तत्त्वस्यैक्यं विना न स्यादेकस्यैव विरुद्धता ।  
 सामान्येन विशेषेण कथमेकस्य योगिता ॥७०॥  
 एकतत्त्वं विनैतच्च व्यवहारो न जायते ।  
 शब्दार्थयोर्न सम्बन्धो भिन्नयोर्भिन्नदेशयोः ॥७१॥

अथ सामान्यं बौद्धस्य नास्ति; तदनुमानं सामान्यविषयमभीष्टं हीयते ।  
 तथा सामान्यं विना यथा 'सुवर्णमानय' इत्युक्ते सौवर्णकटककेयूरादिषु अर्थेषु प्रतीतिः  
 न तथा हेमताम्रयोः; ताम्रार्मस्पर्शेन हेमन् एव प्रतीतिः; कटककेयूरादिषु तु न  
 कस्यचित् परित्यागः । अन्यापोहस्यापि सामान्यत्वेऽभ्युपगमे किं सुवर्णमानयेति  
 शून्यता प्रगज्यप्रतिषेधरूपा प्रतीयते विशेषस्पर्शविरहाद्धेतोः ? अपि त्वसौवर्ण-  
 व्यावृत्ताः सुवर्णप्रत्ययमर्शकारिणः त एतत्तामापद्यमाना विशेषा एवेति कदाचिदपि  
 युज्यते ?—इति कान्वा व्याख्येयम् । न कदाचिदप्येतद्युज्यते; शून्यताऽपि भातीति ।  
 तदेतच्चित्तत्वस्य पदार्थस्यैक्यं विना न स्यात्; एकस्यैवार्थस्य परस्परविरुद्धत्वात् ।  
 अचिद्रूपस्य बाह्यस्यैतन्न घटतः तद्वचनं किं सामान्येनेत्यभेदेन, विशेषेणेत्यभेदेन ।  
 चित्तत्वस्य पुनः स्वच्छन्दत्वात् विरोध इत्युक्तं प्रत्यभिज्ञायामेव ॥७०॥

जायगा ( क्योंकि अनुमान ने जिस माध्य व्यक्ति की मिद्धि होती है वह व्यक्ति  
 सत्ता से अनुस्यूत रहती है । ) जैसे कभी-कभी व्यवहार में 'सुवर्ण लाइये' ऐसा  
 सुनने पर सोने का ही आभूषण इत्यादि लाया जाता है न कि ताम्र का । इसमें  
 यह सिद्ध होता है कि कटक कुण्डल आदि आभूषणात्मक पदार्थों में सुवर्णत्व की  
 सत्ता अनुस्यूत है । बाह्य मिद्धान्त के अनुसार यदि सत्ता के स्थान पर तदभावा-  
 भावस्त्व प्रतीति में काम चलाने का मिद्धान्त मानेंगे तो सर्वत्र अभावस्त्व शून्यता  
 ही दृष्ट होगी । पर ऐसा अनुभव में आता नहीं बल्कि इसके विपरीत विविध स्पर्श  
 की प्रतीति होती है । इसलिए जैसे कटक कुण्डल आदि में सुवर्ण की सत्ता अनुस्यूत  
 है उसी प्रकार सुवर्ण आदि समस्त सांसारिक पदार्थों में चित् तत्त्व अनुस्यूत है ।  
 यदि एक तत्त्व स्वीकार नहीं करेंगे तो एक ही सुवर्ण पदार्थ कटक में दूसरा और  
 केयूर में दूसरा मिद्ध होने लगेगा । इस प्रकार एक ही पदार्थ सामान्य अर्थात्  
 अनभिव्यक्तस्त्व से तथा विशेष अर्थात् अभिव्यक्तस्त्व से सर्वत्र भावित हो रहा है ।  
 चूंकि परमतत्त्व स्वतन्त्र है अतः उसका इस रूप में भावित होना आवश्यक की बात  
 नहीं माननी चाहिए ॥६८-७०॥

वैयाकरण मिद्धान्त के अनुसार अर्थ और शब्द का वाच्यवाचक सम्बन्ध है ।



विरुद्धरूपयोर्भिन्नकरणग्राह्ययोरपि ।  
 मुखे हि शब्दो भूमौ च विद्यतेऽर्थः क संगमः ॥७२॥  
 अमूर्त्त एको मूर्त्तश्च द्वितीयो योगिता कथम् ।  
 तथाऽऽत्मादेरदृष्टस्य तच्छब्दैर्योगिता कथम् ॥७३॥  
 असतः शशशृङ्गादेः शशशृङ्गादिनाऽन्वयः ।  
 घटते जातुचिन्नैवमसतां व्यवहार्यता ॥७४॥  
 शब्देन चेत्तदेवं हि सर्वसंसारनाशता ।  
 असत्यव्यवहारेण तादृगेव जगद् भवेत् ॥७५॥

उत्पत्त्येकत्वम्; यत एकचित्त्वात्मनां विना व्यवहारो न जायते । यतः शब्दार्थयो-  
 र्योग्यमेव परामर्शमयो वाच्यवाचकलक्षणः सम्बन्धः स कथं चित्तत्वे भिन्नदेशत्वे  
 भिन्नमूर्त्तामूर्त्तत्वादित्वभावत्वे भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वे च सति स्यात् ? तदेव भिन्न-  
 देशतादि व्यक्त-मुखे हीति । योगिता = सम्बन्धिना । स चैकपरामर्शो भिन्नयो-  
 रपि नतोः ॥७१॥

अप्रत्यक्षस्यात्मादेः शशशृङ्गादेश्चागतः कथमात्मादिशब्देन शशशृङ्गादिशब्देन  
 च स्वपुष्पस्यापि स्वपुष्पशब्देन योजनम् ? नैवं दोषः असतामेव हि शब्देन व्यवहार्यता  
 शब्दानामगद्विषयत्वाद्यदि; तदेवं हि सर्वस्य संगमस्य नाशः प्राप्नोति । तद् व्यक्त-  
 असत्येन शब्दव्यवहारेण तादृशम्=असत्यमेव, जगद् भवेत्; जगतश्च प्रतिभाममान-  
 शब्द—[अतः परं श्रोमदुत्पत्त्येवकृता व्याख्या न लभ्यते]

एक चित् तन्त्र को माने बिना यह सम्बन्ध भी सम्भव नहीं होगा । क्योंकि शब्द और  
 अर्थ दोनों का स्थान भिन्न-भिन्न है; दोनों का स्वरूप भी भिन्न है और दोनों भिन्न-  
 इन्द्रिय ग्राह्य है । शशशब्द मुख से उच्चरित होने के कारण उत्पत्तिकाल में मुख में  
 रहता है और घट पदार्थ भूतल पर रहता है । घट शब्द अमूर्त्त है घट पदार्थ मूर्त्त  
 है । यदि दोनों के भीतर अभिव्याप्त एक तन्त्र को आप नहीं मानते तो दोनों का  
 सम्बन्ध कैसे बन पायेगा ? ॥७०-७२॥

प्रश्न है कि फिर अदृष्ट आत्मा (अर्थ) के साथ आत्मा (शब्द) का सम्बन्ध कैसे  
 है ? उत्तर है कि कभी-कभी अदृष्ट और अस्त शशशृङ्गा आदि पदार्थों का भी  
 शब्द के साथ अन्वय होता है, जब कि अस्त पदार्थ व्यवहार जगत् में नहीं है ।  
 किन्तु इस दृष्टान्त के बल पर यदि आप सर्वत्र शब्द के साथ अस्त पदार्थ का ही  
 सम्बन्ध मानेंगे तो संगम का नाश हो जायगा क्योंकि 'असत्य' शब्द का व्यवहार  
 होता ही है फिर उसके अर्थ की सत्ता ही नहीं रहेगी ॥७३-७५॥

तथाऽन्नित्वजातस्य तन्नाम्ना संगमः कथम् ।  
 तत्संगमस्यासत्यत्वे मन्त्रवश्यादिकं कथम् ॥७६॥  
 तस्मादैवयेन तत्त्वस्य सर्वं तदपि युज्यते ।  
 व्यतिरिक्तेन शब्देन मन्त्रेणानतिरेकिणा ॥७७॥

या गायन्तमवन्महो प्रतिदिनं पाताकुशादिवं-  
 र्या बाला यवतिर्जरां परिगता कृपयोरुद्गमिनी ।  
 आरुष्येन पटेन प्रावृततु रक्षात्पले संश्रिता  
 गायत्री चतुराननाऽक्षकलिता ध्याता शिवायास्तु नः ॥१॥  
 या कुनोत्पलदेवेन हृत्पूर्णाऽर्वात् वधेन ।  
 वृत्तिमादाय कुर्वे तां पूर्णां गुर्वनुग्रहात् ॥२॥

एतस्य चित्तव्यस्य सर्वत्रागत्यत्वस्वीकारे तत्रज्ञानशिरोवर्त्योः तस्य देवदत्तयज्ञ-  
 दत्तादिनाम्ना सम्बन्धापि न घटेन । एवं नामरूपजद्वयस्य शरीररूपात्मन च परस्परं  
 सम्बन्धो नास्ति चेन्मन्त्रेषु यज्ञोक्तगणीयस्य पुरुषस्य नामयोजनेन यत् यज्ञोक्तगणादिकं  
 क्रियते; त्रिके प्रत्यक्षं चानुसृजते, तत्र स्यात् । चिदैक्ये सर्वधोरीकृते सव समस्तसम् ।  
 तदपि = मन्त्रवश्यादिकम् । युज्यते = संगतिं याति । अथवा तत् = चित्तत्वं सर्व-  
 मपि = वाच्यवाचकस्वरूपपदार्थज्ञानम्, युज्यते = मिश्रितमस्ति । तन्न तत्त्वं व्यति-  
 रिक्तेन पृथक् प्रतीतमानान् मन्त्ररूपशब्दान् अनतिरिक्तमस्ति । तेन च सर्वमेव  
 व्याप्तम् ॥७६॥

तु शब्दार्थयोः परस्परं भिन्नत्वे यज्ञदत्तरूपातुपूर्वतः देवदत्तरस्य व्यत्तेर्वाधः कथं  
 न भवति ? न च यज्ञदत्तातुपूर्वतः यज्ञदत्तव्यक्तौ सकेतो न च देवदत्तव्यक्तापि यज्ञ-  
 दत्तस्यैव बाधो जायते न देवदत्तस्येति चेत् ? तर्हीदं तावद्वक्तव्यं यत् सकेतस्यात्र बोधे  
 किं कार्यम् ? किं शब्दार्थयोः संयोगो विधीयते सकेतेन ? तत् न सम्भवति; यतो हि

इस प्रकार मन्त्र-प्रसूत शिशु का उसके नाम के साथ सम्बन्ध कैसा सिद्ध  
 होगा ? और यदि नाम के साथ व्यक्ति का सम्बन्ध नहीं होगा तो मन्त्र के द्वारा  
 व्यक्ति का जो यज्ञोक्ति आदि किया जाना है उसकी सङ्गति कैसे बनेगी ? इस  
 कारण यह मानना ही पड़ेगा कि सर्वत्र तत्त्व एक है और वह सब में अभिव्याप्त  
 है । व्यतिरिक्त अर्थात् पृथक् प्रतीत होने वाले मन्त्ररूप शब्द ने वह अनतिरिक्त  
 अर्थात् अभिन्न है और उसी से सब व्याप्त है ॥७६-७७॥

अपूर्णा—अलक्ष्येत्यर्थः । कथञ्चन—केनापि कारणेन । वृत्तिकर्ता स्वयमकृतत्वात्,  
 कृतायामपि वा तेनेदानीमनुपलब्धे गति । गुर्वनुग्रहादिति—दीक्षागुरोः शिवचैतन्य-  
 वर्णिन अनुग्रहः = आशीर्वादस्तस्मात् ।

कथं न देवदत्तस्य यज्ञदत्तवदारब्धया ।  
 अत्र संकेतितत्वाच्चेत् संकेतेनात्र किं कृतम् ॥७८॥  
 संयोगश्चेन्न दूरेषु मूर्त्तिमूर्त्तेषु युज्यते ।  
 शब्दस्योच्चारितध्वंसात्प्रानष्टद्वये न च ॥७९॥  
 वाच्यवाचकरूपश्चेत्त एष नियमः कुतः ।  
 यत्तस्य वाचकत्वं हि वाच्यत्वमपरस्य तु ॥८०॥  
 वाच्यवाचकरूपत्वे वाच्यवाचकताऽन्वयः ।  
 इतश्चास्ति जगत्यैक्यं प्रत्यक्षाग्रहणादपि ॥८१॥

यज्ञदत्तशब्दोच्चारणकर्ता मथुरायां वर्तते व्यक्तिश्च यज्ञदत्तः पाटलिपुत्रे इति शब्दार्थयोः  
 दूरस्थत्वात् संयोगावसरः । अन्यच्च मूर्त्तामूर्त्तयोः संयोगमम्बन्धो न घटते: शब्दा-  
 भिमूर्त्तौ यज्ञदत्तश्च मूर्त्तिमान् । किं च शब्दः तृतीयश्रवणविध्वंसितयाऽऽवृत्तिनाशी,  
 चिरकालस्थायी च यज्ञदत्तः । तन्मात्रप्रानष्टयोः संयोगोऽप्रतमान अस्ति ॥७८-७९॥

ननु शब्दार्थयोः परस्परं वाच्यवाचकमम्बन्धः, तेन वाचकान् यज्ञदत्तशब्दान्  
 वाच्यस्य यज्ञदत्तजन्यवोचो जायते ? तर्हीदमपि न सम्भवति यत् शब्दस्य वाचकत्वं  
 वाच्यत्वं चाप्यस्येति । एतन् तदेव सम्भवति यदा वाच्यवाचकयोर्वाच्यतावाचकता-  
 रूपमम्बन्धोऽङ्गीकृतो भवेत् । एष च तत्तत्कारणमम्बन्धः तदेवैकं परमं तत्त्वमस्ति ॥  
 ८०-८०<sup>१</sup>॥

हेत्वन्तरं प्रतीति-इतश्चेति-चोक्त्यर्थे । एकतन्त्रमभ्यासङ्गीकारे प्रत्यक्षानुभव-  
 प्तमम्बन्धि स्थान् । बोद्धमने जगति सर्वेऽपि भावाः स्वलक्षणाः, नामजात्यादियोजना-

यदि शब्द और अर्थ परस्पर भिन्न हैं तो यज्ञदत्त शब्द में देवदत्त व्यक्ति का  
 बोध क्यों नहीं होता ? यदि वह कहिये कि यज्ञदत्त पद का संकेत यज्ञदत्त व्यक्ति  
 में है देवदत्त व्यक्ति में नहीं ? तो यह बतलाइये कि संकेत का यहा कार्य क्या है ?  
 यदि वह कार्य संयोग माने तो सम्भव नहीं क्योंकि परस्पर दूरवर्त्ती तथा अमूर्त्त  
 और मूर्त्त शब्द और अर्थ में संयोग हो नहीं सकता । दूसरी बात कि शब्द अधिक  
 है, उच्चरित होने के बाद नष्ट हो जाता है और पदार्थ स्थायी है । अतः नष्ट और  
 अनष्ट इन दोनों का संयोग कैसे सम्भव है ? ॥७८-७९॥

यदि आप प्रश्न करें कि अर्थ और शब्द का वाच्यवाचक सम्बन्ध है इस  
 कारण 'यज्ञदत्त' वाचक शब्द से यज्ञदत्तवाच्य व्यक्ति का बोध हो रहा है ? तो  
 यह कैसे सम्भव है कि शब्द वाचक हो और वाच्य कोई दूसरा हो ? यह नभी  
 सम्भव है जब कि वाच्य और वाचक में वाच्यता-वाचकतारूप सम्बन्ध मानिये ।  
 और यह तत्ता रूप सम्बन्ध एकमात्र परमशिव है ॥८०-८१॥

स्वलक्षणेन योगित्वाद्वचवहारस्य सर्वतः ।

लोके चानुपपत्तेश्च प्रमा च व्यवहारा ॥८२॥

बालमूकादिविज्ञानसदृशी कीदृशी क्रिया ।

सविकल्पस्य योगित्वाद्यथावस्तु ग्रहः कथम् ॥८३॥

रहिता इत्यर्थः । एतेषां भावनामनेनैव रूपेण ज्ञानं प्रमा; अर्थात् निर्विकल्पकं कल्पनाऽ-  
पीदं ज्ञानं प्रमा । एकमत्ताऽस्वीकरणे लोकव्यवहारमेव न प्रचलिष्यति । यतो हि  
व्यवहारः प्रमाधीनः, प्रमा च चित्तत्वम् । तच्च यावन्नामजात्यादियोजनाकलितं न  
भवति तावद्वचवहारस्याप्यसम्भविता ॥८२॥

समुच्चये—“बालमूकादिविज्ञानसदृशं निर्विकल्पकम् ।” तदेवोक्त्याप्य स्वपक्षं  
द्रवयति—बालमूकादीति । यच्चोक्तं निर्विकल्पकस्य लक्षणं तस्य क्रिया = कार्य व्यव-  
हार इति यावत्, कीदृशी = केन रूपेण निर्वहेत् । बौद्धगम्मतनिर्विकल्पकज्ञानेन  
लोकव्यवहारानुपपत्तिरित्यर्थः । लोकव्यवहारान्न सविकल्पकस्य योग आवश्यकः ।  
कृते च सविकल्पपक्षयोगे वस्तुनो वास्तविकं स्वरूपमावृतं भवति; तथाभूते च कथं  
वस्तुनो यथाश्च ज्ञानं स्यात् ? तस्मादिदं सन्तव्यं यदेक एव पदार्थो ज्ञेयरूपेण वर्त-

इय कारण भी संसार में एक तत्त्व मानना पड़ता है कि न मानने पर प्रत्यक्ष  
ज्ञान नहीं होगा । ( बौद्ध मत में निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रमा है और ) संसार के  
समस्त पदार्थ स्वलक्षण हैं अर्थात् नामजात्यादियोजनारहित हैं । ( इन पदार्थों  
का एही रूप में ज्ञान प्रमा है । ) यदि आप एक सत्ता नहीं मानेंगे तो सर्वत्र लोक-  
व्यवहार ही नहीं चलेगा । क्योंकि बिना नाम रूप जाति की योजना के, व्यवहार  
चलना असम्भव है । अतः वही एक सन् तत्त्व अभिव्यक्ति काल में नाम जाति  
आदि के रूप में अभिव्यक्त होकर सर्वत्र व्यवहार चला रहा है और वही व्यवहार  
जगत् में चलनेवाली प्रमा भी है ॥८१-८२॥

और जो आप यह कहते हैं कि 'बाल अथवा मूक आदि के ज्ञान के समान  
निर्विकल्पक ज्ञान होता है' तो उसका कार्य अर्थात् व्यवहार कैसे होगा ? इन  
व्यवहार के लिए आपको विकल्प अर्थात् नाम जाति आदि, को जोड़ना पड़ेगा ।  
और जब विकल्प जुट गया तब वस्तु का वास्तविक स्वरूप ही आवृत हो गया फिर  
उसका ज्ञान कैसे होगा ? अतः यह मानिये कि ज्ञेय पदार्थ एक ही है । व्यवहार  
के लिए उगने स्वतः अपनी विमर्श शक्ति के द्वारा भिन्नता की खाल ओढ़ ली है ।  
यथाश्च रूप में पदार्थों को भिन्न मानने पर किसी का किसी से सम्बन्ध न रहने पर  
ज्ञान असम्भव है ॥८३-८३३॥



तेन ज्ञेयमेकमेव वस्तु भिन्ने ग्रहः कुतः ।  
 तथाऽनुमानं न भवेद् धूमाग्न्योरन्वये क्वचित् ॥८४॥  
 अपूर्वयोग्गृहीतेऽपि तत्कालं गतयोर्द्वयोः ।  
 अगृहीते न गृहीतः सम्बन्धोऽग्निः प्रतीयते ॥८५॥  
 सामान्यमविशेषं चेदविशेषात् कुतः प्रमा ।  
 विशेषस्याप्यपूर्वत्वे कथं चास्ति समन्वयः ॥८६॥

मानः स्वयिमर्शमनया लोकव्यवहाराय तेन तेन रूपेण प्रकाशते । पदार्थानां परमार्थतो  
 भिन्नत्वस्य कारणं ग्रहः = ज्ञानं कुतः = कस्मान् ? न कदापि अभिप्रेतव्यार्थः ॥८३३॥

प्रत्यक्षप्रमाया अनुगतिं प्रदर्शयितुमनुमितिप्रमाया अनुगतिं प्रदर्शयति-तथा-  
 ऽनुमानमिति । एतन्नवानुगतिं धूमाग्नयोः सम्बन्धं कदाप्यनुमानं न स्यात् । तथा  
 हि-भवन्मते त्वं अज्ञिकम् । तथा च यौ धूमाग्नी आदाय अविनाभावनिश्चयो जातः  
 नो अज्ञिकत्वाद्विनाशोः यतोऽनितमपि नास्ति । अनुता यतोऽधूमाग्न्योरनुमितिकाले ज्ञानं  
 जायते ता त्वपूर्वा, ज्ञानपूर्वा इत्यर्थः । एवं धूमाग्न्योरविनाभावग्रहेऽर्थात् व्याप्ति-  
 स्मरणाभावे वनामानवाधमाग्नाः सम्बन्धः नः गृहीतः = ज्ञानः स्यात् । तेनाग्नेः  
 प्रतीतिरनुमानं न सम्भवति । तन्मादेका निश्चयवृत्तिर्यात्मतत्त्वा नामान्या स्वीकार्या  
 ना सर्वकाले विद्यमाना धूमादिनाग्न्यादिकमनुमापयतीत्यर्थः ॥८५॥

तस्य सामान्यचित्त्वस्य न्यातव्यं स्फुरयति-सामान्यमिति । सामान्यम् =  
 निश्चया सफुरता महात्ता अविशेषम् = देशकालवस्थादिवैशिष्ट्यरहिता यदि  
 स्यात् तर्हि तदा महात्तया प्रमात्मकं लोकव्यवहारसाधकं ज्ञानं न स्यात् । विशेष-  
 पाऽपि याद अपूर्वः = सामान्यरहितः स्यात् तर्हि समन्वयः = अतीतातानवर्तमान-  
 कालिको व्यवहारः कथं चास्ति = कथं भवेत् ? विशेषस्य सामान्येनानुस्यूतत्वाभावात्

यदि एक तन्त्र नहीं मानने तो धूम और अग्नि के सम्बन्ध के विषय में अनु-  
 मान भी नहीं होगा । जिन धूम और अग्नि के सम्बन्ध का ज्ञान हो रहा है वे  
 पहले से नहीं क्योंकि उनके सत्ताबारे सब अज्ञिक है । और जिन धूम और अग्नि  
 का लेकर अविनाभाव का निश्चय किया गया वे दोनों वर्तमान काल में नष्ट हो  
 गये । तो इस प्रकार धूम और अग्नि के अविनाभाव का ग्रहण न होनेपर वर्तमान  
 धूम के द्वारा अग्नि के सम्बन्ध की प्रतीति नहीं होगी । इसलिए एक सामान्य सत्ता  
 मानिये जो सब समय वर्तमान है । अभिव्यक्ति काल में वह विशेष से युक्त हो  
 जाती है; क्योंकि सामान्य को यदि विशेष से रहित मानने से तो बिना विशेष के  
 प्रमा को उत्पत्ति कैसे होगी ? और इस विशेष को यदि अतीतकालभावों नहीं  
 मानेंगे तो फिर धूम और अग्नि का समन्वय कैसे होगा ? ॥८४-८६॥

सादृश्यादथ चेन्नास्ति याथात्म्येन समागमः ।

न च वाऽत्रानुमानत्वं धूमतः केवलाद् भवेत् ॥८७॥

तत्सम्बन्धादथोच्येत सम्बन्धे द्विष्टता न च ।

द्विनिष्ठत्वादेकतरग्रहणान्नापि तद्ग्रहः ॥८८॥

संगारव्यवहृतिरेव न प्रचरिष्यतीत्यर्थः ॥८६॥

ननु भवतु नाम नामान्याभावादनुमाऽभावः सादृश्यमादाय त्वनुमितिर्भविष्यत्येव?—  
इत्याशङ्क्याह—सादृश्यादिति । यदि सादृश्येन हेतुना अनुमानं साधयितुमिच्छति भवात्म-  
हृदि सम्पन्नमनवम् । यतोहि सादृश्यं तु सम्बन्धः यथार्थता नावहति । सादृश्यं हि  
तद्विद्वत्त्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वं भवति । अत्र तु वर्तमानानां तयोर्ध्वाग्निगुम्भ-  
कयोर्नास्ति सर्वथा भेदः । वर्तनेऽपि चेद् तद्विद्वत्त्वकालिकमन्वागत एव । जात्या  
स्वरूपेण वाऽत्र भेदो नास्ति । तस्मात् याथातथ्येन=यथार्थतः, समागमः = सम्पन्नो  
ज्ञानं वा, नास्ति । न वा परेदृश्यमानेन केवलेन धूमेनाग्नेरनुमितिः स्यात् : साम्प्र-  
तिकस्य बल्लेऽभावात् । न च धूमस्याग्नेः सम्बन्धादनुमानं स्यादिति वाच्यम् : तत्र  
सम्बन्धे द्विष्टताया अभावात् । सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नत्वे सति द्विष्टत्वं सति  
विशिष्टवृद्धितिवानयो भवति । अत्र तु भवन्मते सत्तानामान्यान् बल्लेऽग्रे सम्बन्धस्य  
द्विष्टत्वं न सिध्यति । सम्बन्धस्य द्विनिष्ठत्वात् तस्य च भवन्मतेऽपि द्वित्वादेकतरस्य =  
धूमस्य ग्रहणात् = जानात् = प्रत्यक्षदर्शनान्, तद्ग्रहः=बल्लेर्ज्ञानमानुमितिर्वा नापि =  
न भविष्यतीत्यर्थः ॥८७-८८॥

ननु धूमदृष्ट्या = धूमदर्शनेन बल्लेः तद्यागितायाः = सम्बन्धस्य कल्पना  
स्यादिति चेत् ? न : तथा गत्यन्याऽन्याश्रययोः प्रवृत्त्यात् । तथा हि—अग्निज्ञाना-

यदि सादृश्य के द्वारा आप सम्बन्ध बनाना चाहते हैं तो यह सम्भव नहीं ।  
क्योंकि वह सम्बन्ध यथार्थ नहीं होगा । ( सादृश्य दो सर्वथा भिन्न पदार्थों में किसी  
एक धर्म को लेकर होता है । यहाँ अतीत और वर्तमान धूम और अग्नि के गुम्भक  
सर्वथा भिन्न नहीं है केवल कालिक दैहिक एवं मन्वागत भेद है, जात्यात्मक  
स्वरूपात्मक आदि भेद नहीं है । ) यह भी आप नहीं कह सकते कि केवल पुरो-  
दृश्यमान धूम में अग्नि का अनुमान हो जायगा, क्योंकि अग्नि है कहाँ ? ॥८७॥

धूम का अग्नि ने सम्बन्ध है उस कारण अग्नि का धूम ने अनुमान हो  
जायगा—यदि आप यह कहें तो सत्तासामान्य न मानने पर सम्बन्ध द्विष्ट नहीं  
हो सकेगा । नूँकि सम्बन्ध द्विष्ट ( = दो में वर्तमान ) होता है और आपके मत में  
यह सम्भव नहीं इसलिए एक ( = धूम ) के ज्ञान से दूसरे ( = बल्ले ) का ज्ञान  
नहीं हो सकता ॥८८॥

धूमदृष्ट्याऽथ कल्पेत वह्निस्तद्योगिताऽपि च ।  
 इतरेतरदोषोऽत्र दुर्निवारः प्रसज्यते ॥८९॥  
 यावन्न वह्निकलना न योगकलना भवेत् ।  
 यावद्वा योगकलना न वह्निकलनाऽक्षमा ॥९०॥  
 आप्नवाक्यादथास्तीह तत्सत्यत्वेऽदृष्टा सतिः ।  
 न राजते [द्वयो-] 'वक्ता सत्यभाषी कदाचन ॥९१॥  
 सोऽप्यन्यथा प्रदर्श्येताक्षयतो रागद्वेषयोः ।  
 पित्रादेरप्यसत्यत्वं तत्रान्यत्र न निश्चयः ॥९२॥

भाषे तस्य धुमेन सह सम्बन्धज्ञानस्याभावात्, सम्बन्धज्ञाने चाग्निज्ञानाभावात् ।  
 अत्राग्निज्ञाने नहि सम्बन्धज्ञानम्; सम्बन्धज्ञाने न सत्यग्निज्ञानमितीतरेतराश्रयत्वम् ।  
 तदेव स्फोरयमाह—यावन्नेति । वह्नेः कलना = ज्ञानम् । योगः = सम्बन्धः ।  
 यावद्वा दोषकलना न; वह्निकलना अक्षमा = असम्भवा ॥८८-८९॥

इत्थं नामान्यसत्ताऽनङ्गीकारे गौतमसम्मतमतुमान् रूपविश्वान्यैर्नैयायिनादिभि-  
 रनुमोदितस्य मन्दबुद्धिनामस्य गौतममतेनानिश्चितकरत्वात्तदवति = आप्नेति । नञ्वाप्त-  
 वचनान् वह् = प्रकृत्यन्तके अनुमान नास्ति इति चेत् ? नञ्वाप्तत्वे तस्य = ज्ञान-  
 वाच्यस्य सत्यत्वे = वचार्थत्वे तत्र द्रौढस्य जतिः अदृष्टा; तदनङ्गीकारान् ।  
 तदनङ्गीकारे हेतुमाह—न राजते इति । द्वयोः = धुमान्वाः वक्ता = सम्बन्ध-  
 व्यापकः सत्यभाषी = आपः कदाचन न राजते=न भवति । आप्तस्य लक्षणे वक्ता  
 चरके—आप्तो नाम वस्तुनत्वस्य वादन्येन निश्चयवान् रागादिवशादिति तत्त्वया-

प्रदानं है कि हम के दर्शन में अग्नि और उसके सम्बन्ध की कल्पना कर लगे ?  
 उत्तर है कि तब ही अन्योच्चाश्रय दोष हो जायगा । वह इस प्रकार—जब तक  
 अग्नि का ज्ञान नहीं होगा, धूम के साथ उसके सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होगा; और  
 जब तक सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होगा अग्नि का ज्ञान सम्भव नहीं है ॥८९-९०॥

आमवचन में उसका (=सम्बन्ध का) ज्ञान होगा यदि वह मानें तो आप-  
 वाद तो आप्तवचन को प्रमाण मानते नहीं । आपके मत में धूम और अग्नि दोनों  
 का वक्ता सत्यभाषा निष्ठ नहीं होता, क्योंकि राग और द्वेष के कारण वह अन्यथा  
 ज्ञान करा सकता है । यहाँ तक कि हम विषय में पिता आदि भी असत्य कह  
 सकते हैं तो फिर दूसरे के विषय में निश्चित रूप में कैसे कहा जाय ? इसलिए  
 भेदवाद मानने पर पक्षार्थों का ज्ञान, उनका सम्बन्ध आदि उपपन्न नहीं  
 होता ॥९१-९२॥

१. ह्ययो ।



तस्मात् भेदे भावानां तद्ग्रहाद्यपि युज्यते ।

क्षणभंगपरामर्शदिप्येतदुपपद्यते ॥९३॥

शक्ताशक्तविकल्पोऽहं दीपज्वालाद्युदाहृतैः ।

स्थिरता नोपपन्ना ते प्रत्यक्षेणापि च स्थिता ॥९४॥

वादी यः सः ॥९०-९१॥

सोऽपि = आसोऽपि, रागद्वेषयोः 'मुनानुशयी रागः' ( पा० यो० सू० २.७ )  
'दुःखानुशयी द्वेषः' ( पा० यो० सू० २.८ ) तयोः अक्षयतः = सर्वथाश्रीणत्वान्  
अन्यथा=अन्यार्थं प्रदर्शयेत् । ननु सामान्येन जनेनाश्रयश्चा वक्तव्यं नाम किन्तु पित्रादिना  
न तु सत्यमेव वक्तव्यम् : तेषामासन्नमत्त्वान् ?—उत्वाह—चित्रादेरिति । तत्र=आसद्धारोप-  
लब्धशाब्दप्रमाया हेतुत्वे चित्रादेरप्यसत्त्वत्वात् । तस्मात् कारणात् ? रागद्वेषयोस्त-  
त्रापि वर्तमानत्वात् । यदि पित्रादीनामीदृशी स्थितिस्तर्हि अन्यत्र = सामान्यजने,  
कथं यथार्थत्वस्य निश्चयः स्यात् ? तस्मात् भेदे = भेदवाचस्वीकारे भावानाम् =  
पदार्थानाम् : अहं = जानम्, आदिना सम्बन्धः, न, युज्यते = सङ्गतिं प्रयानि ॥  
९०-९१॥

अथ क्षणभङ्गमुपपन्नानि पदार्थानां जानानत्वात् 'प्रदर्शयितुमुपक्रमे—क्षण-  
भङ्गेति । क्षणभङ्गवादविचारेणापि एतदेव गिञ्जति । तथा हि—पदार्थानां  
अणिकत्वनिन्दये युक्तिद्वयी प्रदर्श्यते बौद्धैः । जलाजलविनश्यः दीपज्वाला चेति ।  
नद्याया यथा—अस्मिन् नद्यारे पदार्था अर्थक्रियाकारित्वे समर्थाः ? असमर्था वा ?  
यदि चर्मवत् समर्थमस्ति यथा चर्मनित्यं तथैव नद्येऽपि पदार्था अनित्याः अणिका  
इत्यर्थः । यदि चासमर्था आकाशवत् तर्हि निष्प्रयोजनास्ते । तदुक्तम्—

“वर्षास्तपाम्नां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम् ।

चर्मोपमश्चेत् नोऽनित्यः व्युत्पन्नश्चेदजलकलः ॥”

उति । तस्मात्सर्वेऽपि पदार्था अर्थक्रियाकारिणः अणिकाः । दीपज्वाला—यथा दीप-  
ज्वाला प्रतिक्षणं तज्यमानाऽपि स्थायित्वेव प्रतीयते, एवमेव सर्वेऽपि भावा द्वितीय-

क्षणभङ्गवाद पर विचार करने पर भी यही बात गिड़ होती है । आप (बौद्ध)  
के मत में क्षणभङ्गवाद के अण दो युक्तियाँ दी जाती हैं—१. जलाजलविनश्य—  
इसका तात्पर्य यह है कि संगार के पदार्थ या तो अर्थक्रिया करने में समर्थ हैं; जैसे  
चर्म; या असमर्थ हैं, जैसे आकाश । यदि चर्म के समान समर्थ हैं तो जैसे चर्म  
अनित्य है उसी प्रकार सकल पदार्थ अनित्य अर्थात् अणिक हैं । और यदि आकाश  
के समान असमर्थ है तो उनका कोई प्रयोजन नहीं । अतः क्षणभङ्गवाद गिड़ है ।  
२. दीपज्वाला—जैसे दीपक की ज्वाला प्रतिक्षण नष्ट होती रहती है फिर भी वह



स्थिरत्वं क्षणिकत्वं च प्रमाणां चिन्तया स्थितम् ।

अप्यसंवादरूपं च विरुद्धं तत्कथं भवेत् ॥१५॥

यावन्न सर्वभावानामेकत्वेन व्यवस्थितिः ।

परेण क्षणभङ्गस्य परामर्शगमः कुतः ॥१६॥

अणविवर्धितोऽपि स्थायित्वः प्रणिनास्तीति । इत्यमनेनोदाहरणद्वयेन पदार्थानां स्थायित्वमभिद्धं भवति । उदाह—ते = तत्र बोद्धव्यं, मने पदार्थानां स्थिरता नोपपन्ना = न भिन्ना । प्रत्यक्षेण = प्रत्यक्षप्रमाणेनापि च पदार्थानां स्थायित्वानुपपत्तिः स्थिता = सिद्धा ॥१३-१४॥

ज्ञेयानां क्षणिकत्वं न माध्येदानीं जानानामपि क्षणिकत्वं साधयति—स्थिरत्वं मिति । अप्रमाणां क्षणिकत्वं तु सर्वविधिनमेव । प्रमाणाम् = यथायं जानानाम्, स्थिरत्वं क्षणिकत्वं च चिन्तया स्थितम् । यदि जानानि स्थायानि तर्हि क्षणिकत्वं नास्ति तेषाम् । क्षणिकत्वे च स्थायित्वाभावः । परमसंवादरूपम् = परम्पर विरुद्धस्वरूपं चाभयं यदि; तदा तत् = असंवादरूपम्, विरुद्धम् = संवादरूपम्, कथं भवेत् ? क्षणिकत्वं स्थायित्वं च परम्परविरुद्धस्वभावी कथमेकत्र स्थास्यत इत्यर्थः । एतत् तद्वै न सम्भविष्यति यदा सर्वपदार्थानामन्यःस्थितौ, एकत्वेन = एकयत्नात्मिका व्यवस्थितिः = व्यवस्थापनाकृता स्यात् । अथ च यदि भवता परमैकमता न स्वीक्रियेत तर्हि भवदभिमन्यव क्षणभङ्गस्य परामर्शस्य = विचारस्य, आगमः = ज्ञानम् परेण = अन्येन, कथं स्यात् ? ज्ञानस्य द्वितीयक्षणविवर्धितत्वात् उत्तमं ज्ञानं कदापि एव उदाहरेत् प्रथमक्षणे; द्वितीयक्षणे च विनश्यतीति परः कथं प्रतिपद्येत ? तस्माद् भावानां शिवात्मत्वम् = निवः आत्मा = परमयत्ता तेषां, ते शिवात्मानः, तेषां भावः; उपपद्यते ॥१५-१६॥

एक और स्थायी प्रतीत होती है वैसे ही सभी पदार्थ द्वितीयक्षणविवर्धनी हैं तथापि स्थायी प्रतीत होते हैं । इन दोनों युक्तियों के द्वारा पदार्थों का स्थायित्व अभिद्ध हो जाता है, और प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध है । इसी प्रकार यथार्थ ज्ञानों का भी स्थायित्व और क्षणिकत्व निम्न का विषय है । क्योंकि स्थायित्व और क्षणिकत्व दोनों जब असंवादरूप अर्थात् परम्परविरुद्धस्वरूप है तो विरुद्ध अर्थात् दोनों के असंवाद के विरुद्ध संवाद अर्थात् सामञ्जस्य कैसे उपपन्न होगा यदि आप समस्त पदार्थों के भीतर एक महासत्ता को स्वीकार नहीं करते ? साथ ही आपके क्षणभङ्गवाद का ज्ञान दूसरे लोगों को कैसे होगा यदि आप और दूसरे में एक तत्त्व की सत्ता न मानें जाय ? इसलिए समस्त पदार्थों में एक शिवतत्त्व का मानना अपरिहार्य है ॥१३-१६॥

ततोऽप्येतच्छब्दात्मत्वं भावानामुपपद्यते ।  
 तथाऽर्थावगतिर्विधायात् पदाद्वा नोपपद्यते ॥१७॥  
 क्षणिकत्वेन शब्दानामनभिव्यक्तितोऽपि वा ।  
 स्फोटोभिव्यङ्ग्यपक्षे तु तत्रापि क्रमता कथम् ॥१८॥  
 निर्भागत्वात् स्फोटतत्त्वे स्फोटतत्त्वात्मकात् कथम् ।  
 आभासरूपवस्तुनां शब्दिकात्रो भवेद् सहः ॥१९॥

क्षणिकत्वचर्चायां प्रसङ्गादागतं शब्दक्षणिकत्वमुत्थाप्यार्थविश्रोधानुपपत्तिं प्रदर्शयति—तथाऽर्थावगतिरिति । तथा हि—वर्णा अकारादयस्तृतीयधर्माविवर्धयन्ति । न च ते व्यक्ताः नन्तोऽर्थमवबोधयन्ति; तथा ननु भवात् । समस्ता अति न; तेषामानुषिनाशित्वेन सामस्त्यासम्भवात् । तथा च वर्णमर्थप्रत्यय एव न भवितव्यः । किन्तु व्यवहारोऽर्थप्रत्यया जायते । न ह्यर्थमर्थप्रत्ययोऽहेतुका भवितुमर्हतीति वर्णमूहान् पदार्थप्रतीती कश्चिच्छेतुरङ्गीकरणीय एव । स तु वैयाकरणानां मते स्फोट इति कथ्यते । स चायं स्फोटो निरवयवो नित्य एकः क्रमरहितश्चेति वैयाकरणानां राज्ञास्तः । एष हि स्फोटो वर्णरभिव्यक्तोऽर्थबोधो कारकः । तत्रैवं सति जनानां मनसोयं भग्नभिर्भवति तद् वर्णा अर्थप्रत्ययं जनयति । एवमेव मनं नष्टयितुमप्यक्रमते—तथेति । वर्णममूहान् पदात् पदममूहाद् वाक्याद् वाऽर्थप्रतीतिर्न सिध्यति । अमिहो हेतुमाह—अणिकत्वेनेति । शब्दानाम्=वर्णानाम् अणिकत्वान् । ननु यद्यपि वर्णाः अणिकास्तथापि तेऽर्थाभिव्यक्तिं सम्पाद्य विनश्यति इति चेत् ? न; व्यक्तेः समस्तत्वेति वा तैरर्थावबोधजननायसम्भवादिति पूर्वमेव व्याख्यानम् । तदभिप्रेत्याह—

बोद्धनिष्ठान्ता का आलोचना के बाद वैयाकरण सिद्धान्त की आलोचना करने हुए लेखक का कथन है कि यदि जगत् के मूल में एक तत्त्व पञ्चमशिव को आप ( वैयाकरण ) नहीं मानेंगे तो वाक्य अथवा पद में अर्थबोध नहीं होगा । कारण शब्द अणिक अर्थात् तृतीयधर्माविवर्धनी है । अथवा यदि यह कहें कि शब्द अणिक है तो रहे अणिक; अभिव्यक्त अर्थ की अभिव्यक्ति तो स्फोट में होती है ? तो यह प्रमाण कि फिर अर्थबोध में क्रम की उत्पत्ति कैसे होगी क्योंकि स्फोट तो निरवयव है ? और दूसरी बात यह है कि शब्द स्फोटतत्त्वात्मक है यह कैसे ? क्योंकि एक अणिक ही और उसकी आत्मा नित्य निरवयव ही यह नैवत प्रतीत नहीं होता । उसके अभिव्यक्ति आप ( भर्तृहरि ) के मत में शब्दतत्त्व अक्षर अनादिनिधन है । उसने आभास अर्थात् विवर्तरूप वस्तु का ज्ञान होगा यह सम्भव नहीं । इस कारण इस प्रकार के विषय में युक्ति यही है कि सबके मूल में एक महामात्रा मानिये ॥१७-१९॥

तस्मादेवंविधेऽर्थेऽपि युक्तता स्यादिहेत्वतः ।  
 तथाऽऽत्मेच्छावशात्ताक्षग्रामे चेष्टोपपद्यते ॥१००॥  
 मूर्त्तचोदकवैकल्यान्मनश्चेत् प्रेक्षताऽस्य नो ।  
 एकत्वे पुनरीदृक् स्याद् सर्वत्रैव हि युक्तता ॥१०१॥

अतभिष्यन्तिनोऽपि वेति । ननु मा भूद्वर्गः भगवन्मैवमैवैवार्थप्रतीतिः स्फोट-  
 तत्वादिदार्था अभिव्यक्ता भवेयमिति चेत् ? नत्यम् । भवद्भिः स्फोटतत्त्वं निष्क्रमकं  
 निरवयवम् निरवयवकं च स्वीक्रियते । वाक्यार्थबोधे च क्रमोऽनुभूयते । यदि स्फोट  
 एवार्थबोधे हेतुः तर्हि क्रमगतिवान् स्फोटान् क्रमिकार्थप्रतीतिः जायते इति कथमेतत् ?  
 अन्यच्च-अर्थप्रतीतिरनु भागशो भवति, अर्थान् एकपदार्थबोधे जातेऽपरपदार्थबोध  
 उपपन्नो भवति । स्फोटानु भागगतिः, इति कथं कार्यकारणयोर्ममंतिः स्यात् ?  
 अपरं च स्फोटः यद्वद्व्याप्ताः तत्त्वस्य जगत्तत्त्वस्य निरव्यः स्फोट आत्मा स्वादिव्याप्य-  
 नमत्तमेव । किं न तथा भर्तृहरिणोक्तम्—“अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदधरम् ॥”  
 इति । तस्मादनादिनिधनादधरान् शब्दिकान् कारणान् आभासरूपवस्तूनाम् =  
 विवर्तस्वरूपपदार्थानाम्, ग्रह = ज्ञानम्, नो भवेत् = न स्यात् ॥१००-१०१॥

तस्मान् = उपर्युक्तविचारे ज्ञाने, एवंविधेऽर्थे = पदार्थ वाक्याद् वाऽर्थबोधने,  
 अपि इह = भगवन्मते, ऐक्यतः = एकपरमशिवान्मकगतास्वीकारादेव, युक्तता =  
 सङ्गतिः, स्यात् ।

शब्दबोधे परमशिवस्य हेतूनामा अनिवाच्यतां प्रदर्शयदानीं शब्दोच्चारणे  
 ऐन्द्रियप्रत्यक्षे वाऽपि वा पुष्पाणि—तथात्मच्छेति । तथा = परमशिवतत्त्वस्यानङ्गा-  
 करणान् । आत्मेच्छावशादिति—तथा चोक्तं पाणिनिशिक्षायाम्—

“आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।

मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥” इत्यादि ।

शब्दोच्चारण के विषय में या इन्द्रियजन्य ज्ञान के विषय में जो यह सिद्धान्त  
 है कि आत्मा के कारण ही सर्वत्र प्रवृत्ति होती है; यह भी तभी उपपन्न  
 होगा जब आप एक तत्त्व मानेंगे । अन्यथा आत्मा की इच्छा के बगैरे इन्द्रियाँ  
 चेष्टावान् होनी हैं यह सम्भव नहीं होगा । क्योंकि प्रेरक कोई मूर्त्त पदार्थ होना  
 चाहिए और आत्मा अमूर्त्त है । इसी कारण मन भी इन्द्रियों का प्रेरक नहीं हो  
 सकता ! क्योंकि ज्ञानाधिकरण न होने से उसे भी कोई प्रेरक चाहिए । यदि आप  
 एक सत्ता को मान लेंगे हैं तो वही प्रेरक हो जायगी एवं सर्वत्र संगति घट  
 जायगी ॥१००-१०१॥



न चापि भेदे भावानां ग्रहणं ज्ञानमेव वा ।  
 संयोगेनोपपद्येत यदि दृष्ट्यादिना भवेत् ॥१०२॥  
 नैवमक्षार्थसंयोगमात्रात् किं बोद्धुस्त्यमः ।  
 संयोगेऽन्यस्य संजाते कथमन्यस्य बोद्धृता ॥१०३॥  
 मनसोऽभिन्नकालत्वात्, स्मृतिज्ञानमथोच्यते ।  
 प्रारब्धश्चासमाप्तश्च वर्तमानः क्रियामनु ॥१०४॥

आत्मन इच्छा, तद्वशात्, अक्षग्रामे = इन्द्रियग्रामे, चेरटा = कायव्यापारः, न सिध्यति । तत्र हेतुमाह—मूर्त्तचोदकवैकल्यादिति । आत्मा यदेच्छावांस्तर्हीच्छा मूर्त्तस्य धर्मः । प्रेरणाऽपि मूर्त्तस्यैव गुणः । आत्मा च भवन्मतेऽमूर्त्तः तस्मादमूर्त्त-स्यात्मनः प्रेरकत्वं न सम्बोध्यतीति । ननु मा भूदात्मनः प्रेरकत्वम्, मनसैव चेष्टामिन्द्रि-स्यान् इति चेत् ? न; प्रेरकत्वाभावे अस्य = मनसः, प्रेर्यता = प्रेरणानुयोगित्वम्, नो = न स्यात् । यद्यात्मा मनो न प्रेरयेत् तर्हि मनः कथमिन्द्रियाणां प्रेरकं स्यादिति तात्पर्यम् । अस्मन्मते तु परमशिवस्य मूर्त्तामूर्त्तसंबन्धिभ्यश्चविशिष्टत्वात् कापि त्रिपंगतिः ॥१००-१०१॥

ज्ञानकर्मेन्द्रियाणां वैकल्यमपि स्यात्स्वस्यकर्मणि—इत्याह—न चापीति । भावा-  
 नाम् = पदार्थानाम्, भेदे = सर्वथा भिन्नत्वाङ्गीकारे सर्वेषां मूलभूतपरममन्ताऽ-  
 नङ्गीकारे इत्यर्थः; तेषां पदार्थानां ग्रहणम् = तद्विषये कर्मेन्द्रियाणां व्यापारः;  
 ज्ञानम् = बुद्धीन्द्रियाणां व्यापारः न सम्भवति । ननु चक्षुरादिना पदार्थानां  
 संयोगेन = सन्निकर्षेण, ग्रहणं ज्ञानं वा मिद्वच्यति इति चेत् ?—तत्राह—नैवमिति ।  
 अक्षाणाम् = इन्द्रियाणाम्, अर्थः = पदार्थः गृह्य संयोगे सम्पन्ने तैर्नैव न ज्ञानग्रहण-  
 मिद्वी बोद्धुः = आत्मनः उद्यमः = यत्नः किम् = किमर्थम् स्यात्?—इत्यर्थः । विषये-  
 न्द्रियाणां संयोगे संजाते आत्मनश्च तदभावात्कथमात्मनो विषयस्य ज्ञानं स्यात् ?—  
 इति कान्था योजनीयम् । तदेवाह—संयोग इति । अन्यस्य = इन्द्रियस्य पदार्थेन गृह्य

पदार्थों को सर्वथा भिन्न मानने पर और एक मत्ता न मानने पर न तो उन पदार्थों का ज्ञान हो सकता है और न ग्रहण । यह भी नहीं कह सकते कि चक्षु आदि इन्द्रिय तथा विषयों का संयोग होने से ज्ञान की सिद्धि हो जायगी क्योंकि इन्द्रिय और विषय का संयोगमात्र होने से ज्ञाता अर्थात् आत्मा का उगम क्या प्रयास है ? और संयोग विषय तथा इन्द्रिय का है तो ज्ञान आत्मा को कैसे होगा ? ॥१०२-१०३॥

यदि आप कहें कि अभिन्न अर्थात् एक ही काल में मन का आत्मा तथा इन्द्रिय दोनों से संयोग होता है इस कारण आत्मा को विषय का ज्ञान हो जाता है ? तो



प्रक्रियामात्रमेवैतद् यतः पूर्वापरात्मता ।  
क्रियायाः कारकाणां हि क्रमोऽस्त्येव स्वकर्मणि ॥१०५॥  
यत्र पूर्वापरौ शब्दौ कालैक्यं तत्र युज्यते ।  
मनसा नीयते तस्य किं पदार्थस्वरूपता ॥१०६॥

संयोगे जाते, अन्यस्य = आत्मनः बोद्धता = ज्ञातृता कथम् ? कथमपि नास्ती-  
त्यर्थः ॥१०२-१०३॥

मनसः, अभिन्नः कालो यस्य, तस्य भावः, तस्मान्, एकस्मिन्नेव काले मनसि  
आत्मनेन्द्रियेण च सह संयोगाद् ज्ञानमुपपद्येनेति चेत् ? अथ = तर्हि स्मृतिज्ञानम्  
कथं भविष्यति ?—इति उच्यताम् । यतो हि विषयाणां प्रत्यक्षं वर्तमानकालिकं  
भवति; वर्तमानस्य कस्यादिकदपि क्रियायाः प्रारम्भादारभ्य समाप्तिं यावत्लक्ष्यते ।  
स्मृतिञ्च वर्तमानकालिकस्य ज्ञानस्य न भवतीति एतत्सर्वं मनसि निधायान-  
प्रारब्धत्वादि ॥१०४॥

न च पूर्वापरत्वादौना भविष्यद्भूतवर्तमानत्वादिकस्य वा व्यवहारः संसारस्य  
प्रक्रियामात्रम्, संसारस्य संसर्गाय केवलां भवति न तु पारमाथिकम् । दृश्यते चैवं  
यत्कारकैः स्वस्वकर्मणा विनश्ये निष्पाद्यमानानां क्रियाणां क्रमो भवत्येवः आवश्यक-  
मपि च तत्, क्रमं बिना फलावाप्तेरभावात् । क्रमश्च काल एव । अन्यच्च यत्र  
पूर्वापरौ शब्दौ विद्यमानौ सन् तत्रापि कालस्यैव एव भवति । तस्मान् वर्तमान-  
यह बताइये कि प्रत्यक्ष के विषय में तो यह बात ठीक है किन्तु स्मृति ज्ञान कैसा  
होगा ? क्योंकि विषय का प्रत्यक्ष वर्तमान काल में होता है और वर्तमान किसी  
क्रिया के प्रारम्भ में लेकर समाप्ति तक का काल होता है तथा स्मृति तो वर्तमान  
की होती नहीं ? ॥१०४॥

यदि यह कहिये कि पूर्वता और वर्तता या भूत वर्तमान और भविष्य का  
व्यवहार तो संसार की प्रक्रिया मात्र है अर्थात् संसार को चलाने के लिए है  
क्योंकि कारकों की क्रिया का अपने कर्म के विषय में क्रम होता ही है । बिना  
क्रम के कार्यरूप फल की प्राप्ति ही नहीं होगी । और यह क्रम ही काल है । इसके  
अतिरिक्त जहाँ पूर्व तथा पर दोनों शब्द वर्तमान रहते हैं वहाँ काल तो एक ही  
होता है । इसलिए वर्तमानकालिक स्मृति तथा अतीत का अनुभव दोनों में कालिक  
सामञ्जस्य वगैरे से स्मृतिज्ञान की भी उपपत्ति हो जाती है ॥१०४३-१०५॥

अब प्रश्न है कि क्या आप काल की पदार्थस्वरूपता मन ने स्वीकार करते  
हैं ? उत्तर है कि यह अमम्भव है, क्योंकि काल अमूर्त है । यदि कोई कहे कि  
उसका रूप है ? तो फिर हम पूछते हैं कि वह रूपा गुण होने के कारण गुणी से

साऽशक्याऽमूर्तरूपत्वाद्रूपं चेन्न कथं गुणः ।

गुणिनो नीयतेऽन्यत्र [तृपार्तं चातकं]<sup>१</sup> प्रति ॥१०७॥

अथ ज्ञानं न, मनसस्तज्ज्ञानमुपपद्यते ।

करणत्वाज्जडत्वाच्च तस्य चेदात्मनाऽत्र किम् ॥१०८॥

करणे ज्ञानसम्बन्धाद् बाह्यार्थे किं न कल्प्यते ।

बुद्धेर्गुणत्वं, मनसि प्राप्नुयादथ चेत्सा ॥१०९॥

कालिकस्मृतेरनीतान्भवस्य बोधयोर्मध्ये कालिकविपरीतेरभावान् स्मृतिज्ञान-  
मुपपद्यते ॥१०४-१०५॥

ननु तस्य = कालस्य पदार्थत्वेन स्थितिः मनसा नीयते = स्वीक्रियते किन् ?  
शास्त्रादिदर्शनेषु पदार्थगणनायां कालस्यानुबन्धादिनि चेन् ? तत्राह—  
साऽशक्येति । तत्र हेतुमाह—अमूर्तरूपत्वादिति । ननु कालं तामूर्तरूपम्,  
यद्द्रव्यापाधिमादाय कालस्य व्यवहारः क्रियते तस्यैव द्रव्यस्य रूपं कालस्यापि  
रूपम्; तस्मान् न कालोऽमूर्तः किन्तु तस्य द्रव्यस्य गुणो रूपमिति चेन् ? यथा  
जलवती मेघस्य गुणो जलं गुणिना मेघान् पृथक्कृत्य तृपार्तं चातकं प्रति नीयते  
तथा कालोऽपि स्वाभारोधादेः पृथक्कृत्य कथं न नीयते ? न चेत्तद् दृश्यते लोके ।  
तस्मान् कालस्यैक्यं तस्य द्रव्यत्वादिकं च तावत्कालमनम्भवि यावन् त्वं नवन्ति-  
र्यामिनी महासत्तां नोररीकरोषि ॥१०७॥

अथेति नन्वर्थः । ननु कालो हि गुणो गुणिनः पृथक् वर्तन्ते स्वभावतः; अस्माकं  
तु तस्य ज्ञानमेव न भवति इति चेन् ? न; मनसस्तज्ज्ञानस्योपपत्तेः । न च  
मनसा ज्ञानकरणत्वाज्जडत्वाच्च यदि तत्र ज्ञानस्योत्पत्तिः स्वीक्रियते भवता  
तर्हि आत्मनः किं तार्थक्यम् ? आत्मा हि ज्ञानाधिकरणमिति तत्तत्तन्वैपक्यम् ।  
अन्यच्च ज्ञानस्य करणे = साधने, ज्ञानस्य सम्बन्धो मन्वन् यदि भवद्विस्तर्हि  
बाह्यार्थे = घटपटादौ, ज्ञानस्य साधने बुद्धेर्गुणस्य ज्ञानस्योत्पत्तिः किं न कल्प-  
ते = स्वीक्रियते । यदि ज्ञानस्योत्पत्तिर्मनसि प्राप्नुयाद् भवन्मते तत्तत्तन्वैपक्यं यन्

पृथक् कथो नही व्यवहृत होता ? जैसे जलवान् मेघ वा गुण जल, मेघ से अलग  
होकर तृपार्तं चातक से पास पहुँच जाता है उसी प्रकार काल भा गुणी से पृथक्  
पहुँचना चाहिए । पर ऐसा होता नहीं । अतः काल की एकता इत्यादि तब तक  
सम्भव नहीं जब तक आप इसके पीछे एक स्वप्रकाश शुभ्र सत्ता को नहीं मान  
लेते ॥१०६-१०९॥

१. तृपार्तंश्चाकृति ।

एवंविधो घटोऽत्रास्त इत्यात्मा प्रतिबोध्यते ।

तदेवं पूर्वदृष्टस्य वर्णनासदृशं भवेत् ॥११०॥

वर्णनेन च चैतन्यमेतावन्मनसो यदि ।

स्वात्मशक्तिसमावेशादमूर्त्तविशता कथम् ॥१११॥

चेतसा = मनसा कारणेनात्मन्यधिकरणं ज्ञानमन्वयते उदाहरते च । तस्य ज्ञानस्य स्वरूपमाह—एवंविध इति । एवंविधः = पूर्वदृष्टप्रकारकः घटोऽत्रास्ते इत्यात्मा प्रतिबोध्यते मनसा । तत् = तस्मात् कारणात्, एवम् = पूर्ववद्वतानुसारणेन प्रतिबोधनं पूर्वदृष्टस्य घटस्य वर्णनायाः सदृशं भवेत् ॥१०८-११०॥

ननुयुक्तवर्णनेन यदीदमायात्वं यन्मनसाऽऽत्मा प्रतिबोध्यते तत्स्वेदं तात्पर्यं यन्मन एतावत् = कयाचिन्मात्राया, चैतन्येन संयुक्तमस्ति, तच्च स्वशक्तेः समावेशात् = साहाय्येन आत्मनो बोधं कारयति । नहि अमूर्त्तविशता कथम् = मूर्त्तं मनसा सह, अमूर्त्तस्य आवेशता = संयोगः कथम् ? मूर्त्तयोरेव संयोगनिमित्तः । ननु तेन = मनसा वाऽप्यीयबोधे जाने तदात्मना = तेन = मनसा युक्तेनात्मना किं क्रियते ? न च विषयस्वरूपात्मसंयोगः क्रियत इति वाच्यम्; अभिप्रेक्ष्योः = एवस्मिन् स्थाने काले च वर्त्तमानयोरेव संयोगात् । अत्र तु आत्मा जगत्पञ्चदेवान्तर्वर्त्ती

यदि आप कहें कि कायरूप गुण गुणी से पृथक् रहता है उसका हमको ज्ञान नहीं होता ? तो यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि मन में उसका ज्ञान होना मिथ्य है । तब पुनः प्रश्न होना है कि मन तो ज्ञान का कर्ण और जड़ है उसको ज्ञान होता है यदि आप ऐसा मानेंगे तो फिर आत्मा का सार्थक्य किम प्रकार सम्भव होगा ? हमारी बात यह कि यदि ज्ञान का सम्बन्ध आप ज्ञान के कारण से मानते हैं तो वाच्य पदार्थ भी ज्ञान के कर्ण होते हैं फिर घट पट आदि में भी बुद्धि के गुण ज्ञान की उत्पत्ति आप क्यों नहीं मानते ? यदि आप ज्ञान की सत्ता मन में मानते हैं तो यह मानिये कि ज्ञान मन में नहीं उत्पन्न होता बल्कि मन के माध्यम से आत्मा को यह ज्ञान कराया जाता है कि 'एवंविध अर्थात् पूर्वदृष्ट-प्रकारक घट यहाँ है' । और इस प्रकार यह प्रतिबोधन पूर्वदृष्ट घट के वर्णन के सदृश होता है ॥१०९-११०॥

अब यहाँ प्रश्न है कि उपर्युक्त वर्णन से यदि यह मिथ्यान्त निकला कि मन आत्मा को बोध कराता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह किसी मात्रा में चैतन्ययुक्त है और अपनी शक्ति के समावेश अर्थात् साहाय्य से बोध कराता है, तो यह बताइये कि आत्मा तो अमूर्त्त है फिर उसके साथ मन का आवेश अर्थात् संयोग कैसे होता है ? ॥१११॥



तेन वा सम्प्रतीतेऽर्थे क्रियते किं तदात्मना ।

तत्स्वरूपात्मसंयोगः संयोगोऽभिन्नदेशयोः ॥११२॥

मनसाऽऽवेदितार्थस्य तद्देशित्वमथोच्यते ।

वर्णिते योगिता कस्य, यदि वा तत्स्वरूपतः ॥११३॥

संस्करोति तदात्मानममूर्त्तं संस्कृतिः कथम् ।

तद्रूपमात्मन्येतद्येनाश्लेषो यदि चोच्यते ॥११४॥

विषयश्च बाह्यप्रदेशो संस्थितः इति देययोऽभिन्नत्वम् । इत्याह—मनसेति । मनसो-  
मध्यमपरिमाणत्वादात्मनश्च विभुत्वात्मनसा पदार्थेन महात्मा सन्निकृष्यते इत्या-  
त्मनसोः तद्देशित्वम् = एकदेशित्वम् उच्यते = उपापन्नं भवति ।

ननु पूर्वस्मिन् काले वर्णिते = प्रत्यक्षीकृतेऽधुना च स्मर्यमाणे इति द्वयोः पदार्थ-  
योर्मध्ये कस्य = पदार्थस्य आत्मना सह योगिता = संयुक्तता = संयोगः भवति ?  
यदि तस्मिन् काले, तत् = मनः, स्वरूपतः न तु ज्ञानं सन् आत्मानं संस्कुर्वते-  
अन्तरं च विषयस्मृतिः संजायते तर्हीदमुच्यता यदमूर्त्तस्यात्मनः संस्कारः कथं  
सम्भवति ? संस्कारो नाम गुणाधानम् तच्च स्मर्यैव क्रियते न त्वमूर्त्तस्य ।  
येन = मनसा तद्रूपम् = संस्कारस्वरूपम्, आत्मनि, एतत् = संस्कारः मिलति =  
प्रतिविम्बितं भवति, तदेव च यदि आश्लेषः = संयोगः = सम्बन्ध उच्यते तर्हि  
अमूर्त्तं चैतन्येन = आत्मना, अन्यस्य = अमूर्त्तातिरिक्तस्य मूर्त्तस्य मनसः  
मिश्रता = संयोगः, कीदृशी ?—न कश्चमपि स्यादित्याशयः ॥११०-११४॥

यदि यह कहिये कि मन ने ही विषय का ज्ञान होता है तो फिर आत्मा उस  
समय क्या करता है ? यदि आत्मा विषय के स्वरूप में अपना संयोग करता है यह  
कहे ? तो प्रश्न होता है कि संयोग तो एक स्थान में रहने वाले दो पदार्थों के बीच  
होता है; वहा तो आत्मा गरीरावच्छेदेन अन्दर है और विषय बाहर ? तो इसका  
उत्तर यह है कि चूंकि मन आत्मा को विषय का बोध कराता है इसलिए मन के देश  
में आत्मा और विषय का संबन्ध उपपन्न हो जाता है ॥१११-११२॥

अब प्रश्न उठता है कि पूर्व काल में वर्णित अर्थात् प्रत्यक्षीकृत किन्तु अधुना  
स्मर्यमाण पदार्थ में किसका आत्मा में संयोग होता है ? यदि आप कहे कि उस समय  
मन स्वरूपतः ( स्वरूपं सन् न कि ज्ञानं सन् ) आत्मा का संस्कार करता है और  
विषय का स्मरण हो जाता है ? तो यह बतलाइये कि अमूर्त्त आत्मा का संस्कार  
कैसे ? जिस कारण मन का स्वरूप आत्मा में मिल जाता है अर्थात् प्रतिविम्बित हो  
जाता है यदि यही आश्लेष अर्थात् संयोग है तो यह बतलाइये कि अमूर्त्त चैतन्य  
के साथ मन की मिश्रता कैसी ? ॥११३-११४॥



चैतयेनाप्यमूर्तेन मिश्रताऽन्यस्य कीदृशी ।  
 किं स्वयं तत्प्रमेयत्वमस्य चेदतिरेकतः ॥११५॥  
 मनसा किं किमक्षेण तेन चेतत्परम्परा ।  
 एवं तदन्धपारम्पर्यत्वरूपमिदं स्फुटम् ॥११६॥  
 किमात्मप्रेरणेनात्र ज्ञातेऽज्ञातेऽथवा बहिः ।  
 ज्ञाते तु ज्ञानरूपत्वात् प्रेरणं केन हेतुना ॥११७॥  
 अज्ञातेऽमुत्र याहीति प्रेर्यते केन मानसम् ।  
 प्रेर्यप्रेरणतत्कर्तृद्वयैक्यादुपपद्यते ॥११८॥

ननु अस्य = आत्मनः, अतिरेकतः = अभावेऽपि, सार्वविभक्तिकतमिः,  
 तत्प्रमेयत्वम् = तस्य = विषयस्य, प्रमेयत्वम् = प्रमाविषयत्वम् चेत् = यदि  
 मन्यते भवता तर्हि मनसः इन्द्रियाणां च किं सार्वक्यम् ? अपि च, एकोऽपि विषयः  
 स्वयं प्रमेयः स ज्ञातश्चेदन्त्येषामपि विषयाणां स्वप्रमेयत्वमापनियतीत्यन्धपार-  
 म्पर्यत्वं स्फुटमेव ॥११५-११६॥

अन्यमपि दोषं प्रकटयति—किमिदवादिना । यदि विषयाणां स्वप्रमेयत्वं मन्यते  
 भवता तर्हि बहिः = बाह्ये, ज्ञातेऽथवाऽज्ञाते विषये यन्मनुष्य आत्मानं योजयति  
 तेनात्मप्रेरणेन अत्र = अस्यां परिस्थितौ किम् = को लाभः ? अज्ञाने विषये तज्ज्ञा-  
 नाय, ज्ञाते च परं प्रतिबोधयितुमान्मनो ज्ञानं वा दृष्टीकर्तुं नरः स्वं योजयति ।  
 ज्ञाने विषये, स्वात्मप्रेरणानर्थक्यं वर्तते; विषयस्य ज्ञानरूपत्वात् यतो हि

और यदि यह मानें कि आत्मा के बिना ही विषय स्वयंप्रमेय है तो फिर  
 मन की, इन्द्रियों की सार्वक्यता क्या होगी ? नाथ ही यदि एक विषय स्वयं  
 प्रमेय हो गया तो फिर अन्यान्य विषयों के प्रमेयत्व का अन्धपरम्परा ही  
 जायगी ॥११५-११६॥

यदि विषय स्वयंप्रमेय है अर्थात् विषय को स्वयं अपना ज्ञान होता है तो  
 बाहरी ज्ञात अथवा अज्ञात पदार्थों के विषय में व्यक्ति स्वयं को लगाता है इससे  
 क्या लाभ होगा ? यदि पदार्थ ज्ञात है तो उसके ज्ञान की आवश्यकता नहीं फिर  
 मन को प्रेरित किसलिये किया जायगा ? और यदि अज्ञात है तो फिर 'वहाँ'  
 जाओ' इस प्रकार मन को प्रेरित कोन करेगा क्योंकि ज्ञान के लिए आत्मा की  
 आवश्यकता होती है और यहाँ विषय के स्वयं ज्ञानमय होने से आत्मा का उसने  
 सम्बन्ध है नहीं ? यह प्रेर्य की प्रेरणा और प्रेरक मन दोनों को एक मानने पर  
 ही 'वहाँ चलो' ऐसी प्रेरणा की उत्पत्ति होगी । इस कारण समग्र संसार का एक  
 पदार्थ शिव में ही प्रतिष्ठित मानिये ॥११७-११८॥

तस्माज्ज्ञेयं समग्रैक्यवस्तु शैवं व्यवस्थितम् ।  
 तथा स्मरणयोगाच्च स्मर्यते किं तथा विधम् ॥११२॥  
 यादृग् दृष्टं दृष्टता स्यादथवा ज्ञानमेव तत् ।  
 दृष्टस्मरणयोरैक्ये स्थिते तदुपपद्यते ॥१२०॥  
 तथा सा प्रत्यभिज्ञानात् स एवायमिति स्थितिः ।  
 युज्यते कथमत्रैव ज्ञानयोः कालभिन्नयोः ॥१२१॥  
 द्वयोरैक्यमनैक्यं वा तदैक्यं भिन्नयोः कथम् ।  
 अनैक्ये न स एवायमिति स्याद् घटदण्डयोः ॥१२२॥

विषयः एवं सदा जानाति । यदि जानातो विषयस्तर्हि 'त्वम् अमुत्र याहि' इति केन मनः प्रेरितो भविष्यति ? जानात्यात्मन आकष्यकत्वं भवति, अत्र तु विषयस्य स्वयं ज्ञानमप्यवादात्मनो वैकल्यमापन्नमिति प्रेरणस्यैवाभाव आसन्नः । तस्मात् प्रेरणस्य प्रेरणं तत्कर्ता चेत्यनयोर्द्वयोरैक्यस्य स्वीकरणादेव सर्वं समञ्जनं स्यात् ।

तस्मात् समस्तमपि एकतापन्नं पदार्थज्ञान शैवम् = शैवमिदं ज्ञानं स्वीकारे नान्येव वायव्यस्थितत्वमाप्नोति नात्यथा ॥११७-११८॥

अत्रान्न पदा मनसः स्मरणेन योगो भवति, अर्थात्मनः कश्चिद् विषयं स्मरति, तदाज्ज्ञेयं यादृग् दृष्टं, तथाविधम् = तत्प्रकारकम्, किन्=कथम्, स्मर्यते ! ननु न यादृग् दृष्टं यस्तु तस्य स्मरणं दृष्टता वा भवेज् ज्ञानमेव वा । एतद्द्वयातिरिक्तं न कोऽपि तृतीयः पन्था वर्तते । दृष्टता तु दृष्टपदार्थगता धर्मः पदार्थान्तर्वर्ती । ज्ञानं चात्माधिकरणकम् । तत् = स्मरणम्, दृष्टस्मरणयोरैक्ये = पूर्वकाले दृष्टस्य एवानीं स्मरणविषयीभूतस्य च पदार्थस्यैक्ये, स्थिते = सिद्धान्तरूपेण स्वीकृते उपपद्यते ॥११९-१२०॥

यदि च भवता नाङ्गीक्रियत ऐक्यं तर्हि 'अयं स एव' इति वर्तमानकाल-विशिष्टस्य अवमितिपदवाच्यस्य तथाज्ज्ञेयकालविशिष्टस्य सइतिपदवाच्यस्य पुरुषस्य सम्बन्धिनोः कालो भिन्नो ययोः तो, तयोः ज्ञानयोः, अत्रैव = अस्मिन्नेव

इसके अतिरिक्त जब मन का स्मरण में योग होता है अर्थात् जब किसी विषय का स्मरण होता है तो अन्त में जैसा देखा है उसी प्रकार का स्मरण किस प्रकार होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिसका स्मरण होता है वह या तो दृष्टता है या ज्ञान । दृष्टता या ज्ञान का यह स्मरण तभी संगत होगा जब दृष्ट और स्मरणविषयक पदार्थों में ऐक्य माना जाय ॥११९-१२०॥

इसी प्रकार 'यह वही है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा में, कालिकरूप में भिन्न दो ज्ञान 'वही' तथा 'यह' इन दोनों की एकत्व की स्थिति करने संगत होंगी जब तक कि

तस्मादैक्यमिह स्पष्टं संसारे समवस्थितम् ।  
 एषैव वार्त्ता संयोगे वस्तुरूपतया स्थिते ॥१२३॥  
 परस्पररेण चाप्यत्र तेषां रूपेण वाञ्छया ।  
 तस्मात् समस्तभावानामैक्येनैवास्ति संगमः ॥१२४॥

प्रकरणे स्थितिः = संगतिः कथं पुञ्जते ? न कथमपि संगतिः स्यादेकतन्त्रानुगो-  
 कारे—इत्यर्थः ।

उच्यतां अतएव 'स' 'अयम्' अतयोर्द्वयोर्मध्ये किमेतयमस्ति ? अतएव वा ?  
 यदीक्यमिति मन्वते ? तदसंगतम् : तद्देशतत्कालाभ्यामेतद्देशतत्कालाभ्यां विविष्ट-  
 त्वाद् भिन्नसोर्ध्वोः पदार्थयोरैक्याभावात् । अतएव च नवीकृते यथा परस्परं सर्वथा  
 भिन्नयोर्घटदण्डयोर्नैक्यं तथा प्रत्यभिज्ञातपदार्थेभ्यः । तस्मात् इह = पुनरावृत्त्य-  
 माने चराचरात्मके संसारे, ऐक्यम् = एकतत्त्ववस्तुभ्युत्पत्ता, स्पष्टम् = असदिगम्  
 समवस्थितम् । एषैव = पुरो वर्णितम्, वार्त्ता = एकतत्त्वात्मना जगति वस्तुरूप-  
 तया = वस्तुस्वरूपेण, स्थिते = वर्तमाने संयोगे = विशिष्टमस्त्वन्वे, अप्यस्ति । प्रत्येक-  
 मपि वस्तु केनाप्यस्तेन वस्तुना संयुक्तमेव तिष्ठति । न कोऽपि पदार्थ एककी उचि ।  
 एष च संयोगः सैव स्फुरणशीलमहासत्ताऽस्ति । ते च भयोगवन्तः पदार्थाः परस्-  
 परेण = परस्परं संयुक्ताः दृश्यन्ताम् अन्यथा वा न वा दृश्यन्ताम् ; समस्तपदार्थानां  
 एकत्वाभिमतत्वादेव संगमः = संगतिः अस्ति ॥१२१-१२४॥

आप एक तत्त्व नहीं मानते ? यह बताइये कि 'स' तथा 'अयम्' उन दोनों में  
 ऐक्य है ? या अतएव ? यदि ऐक्य है तो तद्देश तत्काल तथा एतद्देश एतत्काल रूप  
 से भिन्न दो पदार्थ एक कैसे हो सकते हैं ? और यदि एक नहीं है तो जिन प्रकार  
 दण्ड और घट के बारे में 'स एवायम्' ( यह घट पूर्वदृष्ट दण्ड है या यह दण्ड  
 पूर्वदृष्ट घट है ) इस प्रकार का ऐक्यावबोध नहीं होता वैसे ही एक ही देवदत्त  
 के बारे में भी 'स एवायम्' बोध नहीं होगा ॥१२१-१२२॥

उसलिए इस संसार में स्पष्ट रूप में एक तत्त्व वर्तमान है । वही बात वस्तुओं  
 के रूप में स्थित संयोग के बारे में भी है । अर्थात् प्रत्येक वस्तु किसी न किसी में  
 संयुक्त है । कोई भी पदार्थ अकेला नहीं है । और यह संयोग और कुछ नहीं बल्कि  
 एक स्फुरणशील महासत्ता है चाहे वे पदार्थ पारस्परिक रूप में प्रत्यक्षतया संयुक्त  
 दिखाई पड़े या न पड़े । समस्त पदार्थों का सामञ्जस्य एक तत्त्व को मानने में ही  
 होगा ॥१२३-१२४॥

शिविकोद्वाहकानां च न्याय एवोऽनुवर्तताम् ।

परचित्परिज्ञानात् तस्माज्ज्ञेयैक्यता ततः ॥१२५॥

साथंसेनावनाद्यात्मजगत्यैक्यं स्फुटं स्थितम् ।

इति श्री शिवदृष्टी अनुपपत्तिचोदनालक्षणं चतुर्थमाह्निकं सम्पूर्णम् ।

अस्मिन् विषये न्यायमुदाहरति—शिविकेति । यथा शिविकाया उद्वाहकाः = स्वतन्त्रधाराः परस्परं पृथक् पृथक् सेनावन्तो दृश्यन्ते किन्तु तेषां मनसि शिविको-  
द्वाहनविषयिणी एका भावना सर्वानपि नानेकस्यामेव दिशायां प्रवाहयति अग्न्यथा  
परस्परं भिन्नास्ते भिन्ना दिग्गमेव याग्यन्ति, तथैवास्मिन् जगति पृथग्दृश्यमानेषु  
पदार्थेषु एकैव महागता वर्तमाना राजते, यथा समग्रमपि विष्वं स्वरवातस्यादिष्टा  
दिशं नेतीयते । परेण मनसि वर्तमानानां विचाराणां परिज्ञानादपि ऐक्यता  
ज्ञेया ।

इदं जगत् सार्वबन्, सेनावन् वनवद् वा वरीवर्ति । यथा साथे यात्रिणामस्ति-  
त्वं पृथग् भवतिः यथा वा सेनायां याद्वारः पृथग् भवन्ति; यथा च वने वृक्षाणां  
सत्ता पृथक् परिलक्ष्यते किन्तु व्यवहारस्तु, साथं, सेना, वनम् इति एकत्वेन भवति  
यत्तन्नात्र पार्श्वक्येऽप्येकमन्तर्हितम्, तथैवात्र पुरोदृश्यमाने सर्वतो विलक्षणाकारे संसार-  
ज्जगत् पृथक् पृथक् प्रतिभानमानेष्वपि पदार्थेषु एका परमशिवात्मकसत्ता राजमाना  
अस्तीति नात्र सन्देहलेशावसरः ।

इति श्रीरामेय्यामचतुर्वेदिकृताया शिवदृष्टिवृत्ती चतुर्थमाह्निकम् ।

इसलिए जैसे पालकी होनेवाले कटार स्वयं पृथक् प्रतीत होते हैं फिर भी  
उन सबके अन्दर पालकी होनेवाली एक सत्ता ( शिविकावाहकत्व ) काम करती  
है, अन्यथा वे भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न दिशाओं में जाते और कार्य न हा  
पाता; जकी प्रकार यहाँ भी पृथक् दृश्यमान पदार्थों में एक सत्ता है जो सृष्टि को  
एक निर्दिष्ट दिशा में ले चल रही है । यह ऐक्य हमारे के विचारों को समझने  
वाली स्थिति से भी जाना जा सकता है ।

यह समार साथ अर्थात् काफिला, सेना या वन के समान है । जैसे काफिला  
का हर एक यात्री पृथक् होता है या सेना का हर निपाट्टा अलग होता है या वन  
के हर वृक्ष का स्वतन्त्र अस्तित्व होता है, फिर भी व्यवहार एक काफिला, एक  
सेना एक वन का होता है उसी प्रकार इस संसार में भी एक परमशिवात्मक-  
सत्ता विराजमान है । व्यवहार के लिए सर्वत्र भेद की प्रतीति होती है ।



## पञ्चममाहिनकम्

अथ चेत् सर्वभावानां न विना तत्त्वमेककम् ।  
समन्वयोऽस्ति तद्विदं कथमैक्यं विभेदितम् ॥१॥  
तदपि सर्वदाऽस्तीह तदर्थमिह वर्ण्यते ।  
यथा सर्वेषु भावेषु समताऽस्त्येकरूपता ॥२॥

वृत्तिः—एकतत्त्वानुद्धारके लोकवाधायामनेका अनुपपत्त्याः संचीयेदानीं सर्वत्र चराचरात्मके जगति परमैकतत्त्वस्य समन्वयं संभावयितुमुपक्रमो—अथ चेदिति । नवंपदार्थानाम् एककम् = एकम्, स्वाथ कन्, तत्त्वं = परमजिवान्मकम् विना, समन्वयः = समता, संगतिः, नास्ति तत् = नहि ऐक्यम् = एकतत्त्वस्य शाश्वद्रूपेण वर्तमानता, कथं विभेदितम्=भिन्नतां प्रापिता । एकमेव परमं तत्त्वं नानारूपेण केन-कारणेनाधिरभूत् । तदपि = भिन्नरूपां प्राप्तमपि एकतत्त्वं स्यैव रूपेण अथदिक-रूपेणापि इह = विश्वब्रह्माण्डे सर्वदा = कालानवच्छिद्यत्वेन, अस्ति; परमजिवः स्वस्वान्त्येणात्मानं नानारूपेण स्वीकरोति स्वकीयं नास्तिकं तत्त्वमेकतत्त्वान्मकं न जहाति; यथोक्तं प्रवृत्तिज्ञाद्वये 'जिनि स्वतत्त्वा विश्वमुपिदेव' (सू० १) 'मा मोक्षया स्वनिता विश्वमुन्मील्यति' (सू० २) इति । यथा च सर्वेषु भावेषु = निदचित्स्वभावं पदार्थेषु एकरूपता समता अस्ति, तदर्थम् = तस्मै प्रयोजनाय = तमेव विषयमवगमयितुं इह = अस्मिन् आह्निके, वर्ण्यते = वर्णना क्रियते । यथा जातु चिदपि = कदाचिदपि, विभेदित्वम्=भेदावस्थानम् = पदार्थेषु परस्परं भिन्नत्वम्, न = नास्ति तथा तत् = भिन्नत्वाभाववन्त्वम्; उपकर्ष्यतान् = श्रूयताम् ।

पूर्वं भूमिकामुपक्रम्येदानीं विषयं प्रस्तौति—चित्त्वादिति । सर्वे च ते पदार्थास्तं-  
पाम्, चित्त्वात् = एकचिदात्मकतिस्यस्वरूपत्वात्, विशेषः = भेदः, केन हेतुनाऽस्ति  
इति भवद्भिः शीवाह्वैतपास्त्रमन्त्रजिः कथ्यताम् । विभेदेष्वपि = नानारूपेणभास-  
मानेष्वपि पदार्थेषु, तस्य = एकतत्त्वस्य व्याख्या, भेदेष्वपि एकता, स्थिता =

चिन्—यदि समस्त पदार्थों का एक तत्त्व के बिना समन्वय सम्भव नहीं है तो फिर वह एक तत्त्व कैसे भिन्न हुआ, तथा वह भिन्नरूपता को प्राप्त एक तत्त्व उस विश्वब्रह्माण्ड में सर्वदा शाश्वत रूपेण वर्तमान है—वही इस आह्निक का वर्णनाय विषय है । समस्त पदार्थों में एकरूप समता जिस प्रकार है तथा जिस प्रकार कभी भी भिन्नता नहीं है—वह आप उस आह्निक में सुने ॥१-२॥

न जातुचिद् विभेदित्वं तथा तदुपकर्णताम् ।  
 चित्त्वात् सर्वपदार्थानां विशेषः केन कथ्यताम् ॥३॥  
 विभेदेऽपि तद्व्याप्त्या भेदेऽप्येकता स्थिता ।  
 इच्छावन्तः सर्वे एव व्यापकाश्च समस्तकाः ॥४॥  
 अमूर्ताश्च तथा सर्वे सर्वे ज्ञानक्रियात्मकाः ।  
 प्रभवश्च तथा सर्वे इच्छाऽऽमर्शास्तथाऽखिलाः ॥५॥  
 सर्वे स्वात्मपरिच्छेदवन्तो नित्यमवस्थिताः ।  
 विकासाह्लादवन्तश्च सर्वे निर्वृतिप्रोमिनः ॥६॥

निष्ठा । एकत्वं संसाधयति—इच्छावन्त इति । यथा हि परमशिवः इच्छाज्ञान-  
 क्रियात्मशक्तिविवस्वभावः यतश्च सर्वपदार्थरूपेण भ एव भगवान् स्फुरितोऽस्ति,  
 यथाह—

सुसूक्ष्मशक्तिव्रित्तयसामरस्येन वर्तते ।

चिद्रूपाह्लादपरमो निर्विभागः परस्तदा ॥ (शि० दृ० १.४)

एवं सर्वेषु यथा सा शिवरूपता ।

नीलपता निर्युनिर्वा शक्तिव्रतयोगिना ॥

सचित्त्वं संस्थितं नित्यं कथनीयं तथाऽग्रतः ॥

(शि० दृ० १.४६.४७)

तस्मान् सर्वेऽपि पदार्थाः इच्छावन्तः समस्ता एव समस्तकाः, स्वाद्ये कन्, सर्वे  
 इत्यर्थः । व्यापकाः = परममन्त्रपरिमाणवन्तः, परमशिवस्य व्यापकत्वान्, व्यवहा-  
 रात्मके जगति मूर्तत्वमाद्यमाना अपि सर्वे पदार्थाः परमार्थतोऽमूर्ताः तथा परमेश्वर-  
 स्य ज्ञानक्रियात्मकत्वान्, तन् एव च प्रादुर्भावान् सर्वेषां सर्वे एव पदार्थाः ज्ञान-  
 क्रियात्मकाः । सर्वे प्रभवः परस्य, स्वस्य वा स्वामिनो जनका वा सन्ति । तथा  
 चाखिला इच्छाजगताश्चिन्ताः । सर्वे स्वात्मपरिच्छेदवन्तः । एतेन परमशिवस्य  
 जगत्स्वरूपत्वं व्यज्यते । यथाह—

नूक्तिं नभो पदार्थं चित्स्वरूपं है अतः किम कारणं न भेदं कदा जाय ?  
 नूक्तिं भिन्नता मे भो वह् चित्तन्त्र व्याप्त है अतः भेद मे भी एकता की शिद्धि हो  
 जाती है ॥३-३६॥

संगार मे सब कुछ का सभी कोई इच्छावान् व्यापक अमूर्त ज्ञान-क्रिया वाले  
 तथा प्रभु अर्थान् अपने वा किसी न किसी के स्वामी वा जनक है । तथा इच्छामय  
 वाले अर्थान् इच्छामहित सभी आत्मचेतना वाले हैं । सभी विक्रामशील आनन्दपुत्र  
 तथा मोक्ष चाहने वाले हैं ॥४-६॥

घटादीनां समस्तानामिच्छादेरल्पताऽस्ति चेत् ।  
अन्यत्र देहे सर्पादौ दीपादौ नाग्निताऽल्पके ॥७॥  
स्वल्पतेजसि दाढर्चाद्वा सर्वत्र शिवतुल्यता ।  
भवेदिच्छादिविषये सर्वत्र प्रविसारिणी ॥८॥

आत्मप्रच्छादनक्रीडां कुर्वतो वा कथंचन ।

मायारूपमितीत्यादि पट्त्रिंशत्तत्त्ववृत्तम् ॥

(शि० दृ० १.३२)

एवंभूनास्ते पदार्थाः नित्यं तिष्ठन्ति । अथवा परिच्छेदः = ज्ञानम् । सर्वेऽपि  
आत्मज्ञानिनः । विकासाह्लादवन्तो निर्वृत्तियोगिनः इत्येताभ्यां परमशिवमयत्वं  
समेपां भावानां दर्शितम् ॥१-६॥

ननु घटादीनां समस्तानां जडतया जायमानानां पदार्थीनां मध्ये इच्छाज्ञान-  
क्रियाणामल्पतमत्वं परिदृश्यते चेत् ? न कापि क्षतिः । अन्यत्र देहे सर्पादौ तथात्वा-  
भावान् । किं स्वल्पतेजसि = क्षीणप्रकाशके अल्पके = स्वल्पाकृतौ दीपादौ; आदिना  
उन्मुकाचिरादिकं ग्राह्यम् । अग्निता = अग्नेः सत्त्वं न=नास्ति ? अवश्यमेवास्ति इति  
कावचा योजनीयम् । दाढर्चाद्वि = दृढतया विचारं कृते, सर्वत्र = निखिलेऽपि समग्रे,  
शिवतुल्यता = परमशिवस्य तुल्यरूपेण सत्त्वं अस्ति । सर्वत्र इच्छादिविषये =  
इच्छाज्ञानक्रियान्तमके जगति सैव शिवतुल्यता, प्रविसारिणी = प्रसृत्यमानाऽस्ति ।  
यथोक्तमोश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्—

तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन् ।

भान्तमेवान्तरर्थाप्रतिच्छया भागयेद् बहिः ॥

(ई० प्र० १.६.७)

तथा भट्टनारायणेन—

प्रतिक्षणमविश्रान्तस्त्रैलोक्यं कल्पनाशनः ।

कल्पयन्नपि काण्ड्यको निधिकल्पो जयन्धजः ॥८॥ इति ।

यदि यह कहिये कि घट आदि समस्त जड पदार्थों में इच्छा ज्ञान और क्रिया  
नहीं के बराबर हैं ? तो अन्यत्र सर्प आदि के शरीर में ऐसा नहीं है । इसी प्रकार  
छांटे में दीपक आदि में अग्नि स्वल्प है । किन्तु इन स्वल्प तेज वाले पदार्थ, जो  
कि इच्छा ज्ञान और क्रिया के विषय हैं, में भी दृढतापूर्वक विचार करने पर सर्वत्र  
शिवतत्त्व का साम्य फैला हुआ परिदृशित होता है ॥७-८॥

दुःखादिना विशेषश्चेत् तत्राप्यशिवता न च ।

दुःखेऽपि प्रविकासेन दुःखार्थे धृतिसंगमात् ॥९॥

दृश्यते बन्धनं तेषु धृतिः कीटादिके तथा ।

निर्वृत्या यत्र योगोऽस्ति तत्रैव शिवता स्फुटम् ॥१०॥

अथ चेच्चिद्वतामेतद्वक्तुं युक्तं कदाचन ।

पृथिव्यादेर्हि मूर्त्तस्य घटादेर्वा न युज्यते ॥११॥

ननु परमशिवस्य चिद्रूपाद्धादपरमत्वात् यत्र दुःखादिना विशेषः = शिव-  
त्वम् दृश्यते तत्र शिवत्वं नास्तीति चेत् ? न; दुःखेऽपि तस्यैवेच्छाया प्रसारत्वात् ।  
दुःखेन संयुक्तोऽर्थः, दुःखार्थः ( मध्यमवदलोपि समागः ), = दुःखनयो विषय;  
तत्रापि धृतिसंगमात्; धृतिः = धैर्यम् = स्थिरता सा च शिवस्य स्वरूपम् । तस्या  
संगमः = संयुष्टिः, तस्मान् । तेषु = दुःखार्थेषु बन्धनम् = मोहः दृश्यते । तथा  
कीटादिके = कूटशूकरकीटपतङ्गादिषु चापि धृतिः = योगता, परिलक्ष्यते । एतेन-  
दमवसेयं यद्यत्र दुःखादिकं परिस्फुटं तत्र शिवतत्त्वमपरिस्फुटम् तत्र च निर्वृत्या =  
मोक्षेण = दुःखपरिहाण्या योगः = संश्लेषः अस्ति, तत्र शिवतत्त्वं सुस्फुटमिति  
स्पष्टार्थः ।

ननु चिद्वताम् = चैतन्यशील्यानां भावानां विषये कदाचन - तुष्यन्तु दुर्जनन्या-  
येन, एतत् = शिवतत्त्वस्य स्फुटत्वारोपः, वक्तुम् = भिद्धान्तयितुम्, युक्तम् =  
समीचीनमस्तु, पृथिव्यादेस्तु महत्परिमाणवत्त्वा मूर्त्तस्य घटाटादेर्वा विषयस्या-

प्रश्न है कि शिवतत्त्व तो मुन्नात्मक है अतः कहा दुःख दिखाई देता है वहाँ  
हम विशेष मानेंगे ? अर्थात् वहाँ शिवतत्त्व का प्रसार नहीं समझा जायगा ?  
उत्तर है कि वहाँ शिवतत्त्व नहीं है ऐसी बात नहीं है । दुःख में भी उमी का  
विकास है । दुःख होने पर भी जो धैर्य का संयोग दुःख के साथ रहता है वह धैर्य  
शिवतत्त्व ही है । दुःख मोह प्रमाद जालस्थ आदि विषयों में बन्धन की दृष्टि रहती  
है तथा दुःख आदि ने परिपूर्ण कीट पतङ्ग आदि में धैर्य भी देखा जाता है । इससे  
यह समझना चाहिए कि जहाँ दुःख आदि परिस्फुट हैं वहाँ शिवतत्त्व अपरिस्फुट है  
और जहाँ दुःख आदि ने छुटकारा मिल गया वहाँ शिवतत्त्व परिस्फुट है ॥९-१०॥

अब यदि आप वह कहें कि चैतन्य पदार्थों के विषय में यह कहना तो ठीक है  
परन्तु पृथिवी जल आदि अचैतन्य तथा घट आदि मूर्त्त पदार्थों के बारे में यह कथन  
ठीक नहीं ? तो आपका यह कथन अनुचित है, क्योंकि घट के अन्दर भी चैतन्य  
है; कारण, उसे अपने कर्म के विषय में ज्ञान है । तभी तो उससे जलाहरण होता  
है किन्तु वह गृहनिर्माण का उपादान नहीं बनता । बिना ज्ञान के घट जलाहरण



नैवं, घटस्य चैतन्यमस्ति ज्ञानात् स्वकर्मणि ।  
नाज्ञात्वा कर्तुमिष्येत तथा चिदबोधनात् ॥१२॥  
प्रकाशज्ञानजननाज्जनेः कर्ता जडः कथम् ।  
जडेन व्यज्यते नापि चैतन्यमजडात्मकम् ॥१३॥

अन्तरे धिवस्य मनान्बोकारो न तु क इति चेत् ? मैवम् । अत्रानुमानमाह—घटस्य,  
चैतन्यमस्ति, स्वकर्मणि ज्ञानात् । घटः स्वकर्मणा विषये ज्ञानवानस्ति; एतस्मादेव  
कारणात् स जडाहरणादिकां क्रिया निष्पादयति न तु गृहनिर्माणादिकां क्रियाम् ।  
अत्र तर्कनगतिं प्रदर्शयति—नाज्ञात्वेति । ज्ञानाभावे नति किमपि कर्तुमिच्छा न  
जायते । यथा विशुज्जनिकां क्रियामज्ञानत् पाशुत्यादौ ह्यालिको न विशुज्जननाय  
स्पृहयति । अन्वमपि हेतुमाह—तथेति । चितः = ज्ञानव्य, अबोधनात् । यदि  
भवात् घटादिकं संशया जडमेव मन्वते नहि प्रकाशस्वरूपज्ञानस्यैव बोधो भवति न  
त्वप्रकाशस्य जडः ॥१२॥

प्रकाशस्वरूपज्ञानस्य जननात्, जनेः = जनक्रियायाः, कर्ता घटः, जडः =  
चैतन्यरहितः कथं स्यात् ? न स्यादित्यर्थः । अपि च अजडात्मकं चैतन्यं जडेन  
घटेन न व्यज्यते; घटादिकं भावज्ञानं तु तस्यैव चित्तो विमर्शः, तच्च निरुदादानमिति  
मूनरां गिद्धं घटादांवा चैतन्यात्मकत्वम् । बाह्यात्म्यतेः = बाह्याद्यज्ञानस्य, चैतने-  
च्छायापादुत्पत्तेः कारणात् घटः, अजडः = चैतनः कथं नास्ति ? अस्त्येव चैतना घट  
इत्यर्थः । तथा चोक्तसौश्वरप्रत्यक्षिज्ञायाम्—

“चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद् बहिः ।

योगोऽत्र निष्पादानमर्थज्ञानं प्रकाशयेत् ॥”

(१.१.७) इति ।

तस्मात् ‘कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते’ इति न्यायात् इदं बाह्यं जगत् कथं  
चेतनं न स्यात् ? न्यादेवेत्यर्थः । किं च ‘घटस्तिष्ठति’ इतिव्यवहारो लोके प्रचलति ।  
माब्दवाधस्तु—‘घटस्यावच्छिन्नघटानुसूतकान्तु कवर्त्तमानकाजिका गतिनिवृत्त्यनुसूतो  
व्यापारः ।’ एककान्तु कवर्त्तमानकाजिकगतिनिवृत्त्यनुसूतव्यापाराश्रयो घटस्यावच्छिन्नो

आदि क्रिया कैसे करता ? हमसे बड़ा भी चैतन्य का ज्ञान होता है । यदि आप  
घट आदि को जड़ मानते तो प्रकाशस्वरूप ज्ञान का जनन करने से जनक्रिया  
का कर्ता घट जड़ कैसे होगा ? साथ ही यदि घट जड़ है तो अजड चैतन्य को कैसे  
व्यक्त करेगा ? इसके अतिरिक्त यह बाह्यममस्ति अर्थात् विश्वब्रह्माण्ड चैतन  
इच्छा से उत्पन्न हुआ है तो फिर ‘कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते’ इति  
के अनुसार यह बाह्यजगत् भी अजड अर्थात् चैतन्य क्यों नहीं होगा

की  
गिहान्त  
इसके अति-

चेतनेच्छावशाद् बाह्यसम्पत्तेरजडः कथम् ।  
 तिष्ठत्यादिक्रियायां हि कर्तृत्वं न जडे भवेत् ॥१४॥  
 कर्तृत्वमुपचाराच्चेत् क्रियाया अप्यसत्यता ।  
 प्रयोज्यत्वमथोच्येत प्रवृत्तं हि प्रवर्तते ॥१५॥  
 जानन् कर्तारमात्मानं घटः कुर्यात् स्वकां क्रियाम् ।  
 अज्ञाते स्वात्मकर्तृत्वे न घटः सम्प्रवर्तते ॥१६॥  
 स्वकर्मणि ममैतत्तदित्यज्ञानान्न चेष्टनम् ।  
 कूलं पिपतिपति गोर्व्यवहारः प्रसिद्धयति ॥१७॥

घटः, उति वा । यदि घटो जडः स्यात्तर्हि स्वाधाताः कर्तृत्वं तस्मिन् कथं प्रयुज्येत ? न च घटो जडः, कर्तृत्वं च तस्मिन् उपचारात् — लक्षणया, स्यात्, अर्थात् घटे वास्तविकं कर्तृत्वं नास्तीति वाच्यम्; तदा तिष्ठतीति क्रियाया अप्यसत्यत्वापत्तेः । ननु घटः प्रयोज्यः, अर्थात् स्वयं स्वाधाताः कर्ता नास्ति किन्तु केनापि प्रयोजकेन घटः प्रयुज्यते इति चेत् ? तदापि प्रयोजकः कस्मिन् प्रवृत्तः — प्रवर्तनक्रियावन्तम् एव; प्रवर्तते = प्रवर्तयति, न त्वप्रवृत्तम् । एतेनापि घटः चेतनत्वमायाति ॥१५॥

किं न घटः आत्मानं कर्तारं जानन्नेव स्वकीयां जलाहरणादिकां क्रियां करोति । यदि तस्य स्वात्मकर्तृत्वमज्ञातं स्यात् तर्हि न न जलानयनादिके सम्प्रवर्तते ॥ स्वस्य कर्मणि = जलानयनादिके मम = चेतनस्य घटस्य, एतत् = कर्म, इत्याकारकाज्ञानात् जलानयनादिके न चेष्टनम् = कायव्यापारः, स्यात् । एता-  
 नेवात्मनो युक्तिं दृष्टान्तेन पृष्णाति—कूलं पिपतिपतीत्यादिना । पतिनुमिच्छति पिप-

त्रिक 'घटः तिष्ठति' यह व्यवहार प्रत्यक्ष है । यदि घट मयथा जड़ है तो वह 'स्वा' धातु का कर्ता कैसे होगा क्योंकि कर्तृत्व तो चेतन का धर्म है ? ॥११-१४॥

यदि कहिये कि जड़ घट में कर्तृत्व लाक्षणिक है अर्थात् वास्तविक कर्तृत्व नहीं है ? तब तो क्रिया भी वास्तविक नहीं है ऐसा भी मानना पड़ेगा । यदि यह कहें कि घट प्रयोज्य है अर्थात् स्वयं 'स्वा' धातु का कर्ता नहीं है बल्कि किसी के द्वारा कर्ता बनाया गया है ? तब भी तो जो प्रवृत्त होता है प्रयोजक उसी को प्रवृत्त कराता है और प्रवृत्त होनेवाले को आत्मकर्तृत्व का बोध रहता ही है ॥१५॥

घट अपने को कर्ता नमज कर ही अपनी जलानयन आदि क्रिया करता है । यदि उसे आत्मकर्तृत्व का बोध न होता तो वह जलानयन आदि में कभी भी प्रवृत्त न होता । अपने कर्म के विषय में जिसको यह ज्ञान नहीं रहेगा कि 'यह मेरा है', वह कभी भी उस कर्म को प्राप्त करने के लिए चेष्टा नहीं करेगा । उमीश्वर 'कूलं पिपतिपति' यहाँ तू धातु का कर्ता कूल है । यदि कूल जड़ है तो वह गिरने

घटादेर्भवता ज्ञातमाचैतन्यं कथं यदि ।

चेष्टोन्मेषाद्यभावात्तन्मूर्च्छिते किं करिष्यसि ॥१८॥

प्राणाद्युन्मेषविरहादभिव्यक्तं तु कस्य तत् ।

सर्वचैतन्यवादे तु चार्वाकोऽत्र न सिध्यति ॥१९॥

तिपति, उच्छायां गन् । कूलं पतितुमिच्छति अत्र पतनेच्छाश्रयः कूलम् । यदि तच्चेतनं न स्यात्तर्हि कथं पतितुमिच्छेत् ? एवमेव 'गोव्यवहारः' इत्यपि लोके प्रसिद्धिरस्ति । व्यवहारो हि नाम बुद्धिमत्तुल्यम् । स च जडे मूखे गवि यद्यस्तीति स्योक्रियते तदैवसि सर्वकर्तव्यं गन् सर्वत्र चैतन्यमस्त्येव । क्वचिदस्पृष्टं क्वचिच्च परिस्फुटम् ॥१७॥

अथैवं भवता वक्तव्यं यद् घटादिः अवैतन्यन्, भवता कथम् = केन प्रकाशेण, आज्ञातम् ? तत्तु घटादीं चेष्टोन्मेषाद्यभावाच्चैतन्याभाव इति चेत् ? न; मूर्च्छिते-  
ऽपि मनुष्ये पञ्चादीं वा चेष्टोन्मेषाद्यभावात्तन्मूर्च्छितं तत्र जडत्वस्वीकारात् । तदेवाह—  
तत् = तर्हि, मूर्च्छिते, किं करिष्यसि ? = किं जडत्वं मम्यते भवता ? १८॥

न च घटादीं प्राणाद्युन्मेषस्य विरहः = अभावः, तस्मात्, तत्र जडत्वं स्वी-  
यितव्यमिति वाच्यम्; कस्य = पुरुषस्य तत् = प्राणादिव्यवहारभावत्वम् अभि-  
की उच्छास्य कार्यं वीमे करेगा ? उसी प्रकार 'गोव्यवहारः' इस स्थल में भी  
व्यवहार समझकर प्राणी का कार्य है फिर भी जड़ अर्थात् मूर्ख बुद्धिहीन गौ का भी  
व्यवहार मानना पड़ता है । इसमें भी यही सिद्ध होना है कि वहाँ भी चैतन्य है;  
भले ही वह परिस्फुट न हो ॥१८-१९॥

उसके अनिश्चित और यह बताइये कि घट आदि का चैतन्याभाव आपने जाना  
कैसे ? यदि चेष्टा और उन्मेष आदि के अभाव के कारण आप उन्हें अचेतन मानते  
हैं तो मूर्च्छित आदमी को भी चेष्टा उन्मेष आदि के अभाव में, क्या कीजियेगा ?  
जड़ मानियेगा ? यदि यह कहिये कि वहाँ घट आदि में प्राण आदि का उन्मेष नहीं  
है इसलिए वह जड़ है ? तो यह बनाविधे कि घट आदि में प्राण आदि के उन्मेष  
का अभाव किमको ज्ञात है ? जब समस्त स्थूल पदार्थ पञ्चीकृत हैं तो घट में भी  
वायु है और वायु ही तो प्राण आदि है; अतः घट में प्राण आदि की नन्ना उसी  
प्रमाण से सिद्ध है । इस प्रकार आपको या तो सबको जड़ मानना पड़ेगा या  
चेतन । सबको चेतन मानने पर चार्वाक मत का खण्डन भी हो रहा है क्योंकि  
चार्वाक चैतन्य को पृथक् सत्ता नहीं मानता । उसका मत है कि पञ्चमहाभूत ही  
विशिष्टमात्रा में मिश्रकर चैतन्य उत्पन्न करते हैं ॥१८-१९॥

१. किण्वादिभ्या मदशक्तिवद् विज्ञानम् । बृह० सू० ५ ।



प्रत्येकं परमाणौ चेच्चैतन्येऽनेकचेतनाः ।  
घटादयः प्रसज्यन्ते परमाणुकथा नहि ॥२०॥  
तथा वा शिवतत्त्वस्य सम्भूतेरथवास्तथा ।  
एकैकशोऽस्ति चैत यमनभिव्यक्तरूपकम् ॥२१॥  
इतश्च तेऽपि चिद्वन्तः स्वात्मनि ज्ञानयोगतः ।  
स्वयमेव न चेज्ज्ञानमात्मन्येषां प्रजायते ॥२२॥

व्यक्तम् = परिस्फुटम् ? न कस्यापीत्यर्थः । यदा जगति सर्वेऽपि पदार्थाः पञ्चीकृताः तेन घटादिष्वपि वायोः मत्त्वान्, वायोरेव च प्राणादित्वात् घटादावपि प्राणादेः सत्त्वं सुमिद्धमिति । एवं च संसारोऽस्मिन् सर्वेऽपि पदार्था भवता चेतना वा स्वीकृतव्याः स्युः ? अचेतना वा ? सर्वचेतन्यवादे तु भवन्मित्रस्य चावीकस्य शिद्धान्तः खण्डितो भवति; तेन पञ्चमहाभूतातिरिक्तस्य कस्यापि चेतनत्वस्यास्वीकरणान् । यदि च भवता एकैकोऽपि परमाणुश्चेतनः स्वीक्रियते तर्हि एकस्यामेव घटव्यक्ती अनेके चेतना आपतेयुरिति वैशेषिकस्य परमाणुवाद एव निरस्तः स्यात् । तदेवाह—परमाणु कथा न हीति । तस्मादेवं मन्तव्यं यत् शिवतत्त्वस्य = परमेश्वरस्य तथा = तेन तेन परिदृश्यमानप्रकारेण सम्भूतेः = उत्पत्तेः = प्राकट्यात् सर्वं समज्जसम् । अथवा, अतथा = यदि भवता तेन तेन रूपेण शिवतत्त्वस्य सम्भूतिर्न मन्यते तर्हीदमेव मन्तव्यं यदेकैकश एव चैतन्यमस्ति, सर्वत्रैवास्तीत्यर्थः । स्थूलधियां पुंसां मतिर्यत्र जडत्वमुपलक्षयति तत्रापि परमार्थतश्चैतन्यमस्त्येवेत्याशयेनाह—अनभिव्यक्तरूपकम् इति ॥२०—२१॥

घटादीनां चैतन्ये हेत्वन्तरमुपस्थापयति—इतश्चेति । यतः स्वात्मनि = स्वस्वाम्यन्तरे, ज्ञानयोगतः = ज्ञानस्य मिश्रणम्, तस्मान् कारणान् ते = घटादयः,

इसके अतिरिक्त यह बताइये कि क्या घट आदि में प्रत्येक परमाणु पृथक्-पृथक् चेतन है ? यदि ऐसा है तो घट में अगण्य परमाणुओं के रहने से घट आदि असंख्य चेतनवाले हो जायेंगे और इस प्रकार वैशेषिक का परमाणुवाद का निश्चान्त ही समाप्त हो जायगा । इसलिए आप यह मानिये कि शिवतत्त्व की उत्पत्ति इस प्रकार की है कि वह एक-एक चैतन्य के रूप में सर्वत्र ( अभिव्यक्त या ) अनभिव्यक्त है । अर्थात् जहाँ आप स्थूल वृद्धिवाओं को जड़ता प्रतीत होती है वह जड़ पदार्थ भी अपने पारमार्थिक रूप में जड़ नहीं अपितु चेतन है । अन्तर इतना ही है कि वह चैतन्य अभिव्यक्त नहीं है ॥२०—२१॥

इस कारण भी वे चैतन्यमय हैं कि उनके अन्दर ज्ञान भी है । यदि उनके अन्दर आत्मज्ञान न हो तो देवदत्त आदि को उनका ज्ञान कैसे हो सकेगा ? यदि



नान्यथा ग्रहणं तेषां देवदत्तेन चेद् भवेत् ।  
 देवदत्तोऽत्र किं कुर्याच्चक्षुश्चेत् प्रेरयेद् घटे ॥२३॥  
 गोलकं न प्रयातीह, शक्तेरव्यतिरेकतः ।  
 शक्तिमद्भोगतायां वा तत्रैव यदि वेदनम् ॥२४॥  
 आत्मनो व्यापकत्वेन शरीरे व्यर्थता भवेत् ।  
 जडत्वादथवा शक्तस्तच्छक्त्या तद्घटो भवेत् ॥२५॥  
 पुरा शक्तेरानयने चक्षुः शक्तं न वेति वा ।  
 तस्यापि शक्तेः कल्प्यत्वे भवत्यानन्त्यसंगमः ॥२६॥

चिद्वन्तः = चेतनाः । यदि ते चेतनाः स्युस्तर्हि देवदत्तादिना तेषामवबोधः कथं क्रियेत ? तदेवाह—स्वयमेव नेति । स्वोक्तमेव स्फोरयति—नान्यथेति । यदि देवदत्तः घटे चक्षुः प्रेरयेत् = नयति तर्हि किं करोति तेन नयनेन ? तस्य चक्षुर्गोलकं घटपर्यन्तं न प्रयाति, प्रत्यक्षदृष्टत्वात् । ननु शक्तेः, अव्यतिरेकात् = सर्वत्र सत्त्वात्, शक्तिमतो = देवदत्तस्य भोगतायाम् = भोगसम्पादनविषये, तत्रैव = देवदत्तशरीरे एव, वेदनम् = घटादेर्ज्ञानम्, जायत इति चेन् ? न; आत्मनः परममहत्परिमाणवत्त्वेन यत्र यत्रात्ममत्ता तत्र सर्वत्र ज्ञानोत्पत्ती शरीरस्य व्यर्थत्वापत्तेः । न च शरीरोऽयं जडत्वात् = चैतन्याभाववन्त्वात् शक्तः = शक्तिस्वरूपचैतन्यमपेक्षत इति वाच्यम्; घटस्यापि तच्छक्त्या एव अपेक्षत्वे तत्रापि चैतन्यस्यावश्यमेव स्वीकारात् । तस्मात् घटादावपि चैतन्यमुरीकर्तव्यमित्याशयः ॥२२-२५॥

ननु घटे ज्ञेयताशक्तिः स्वाभाविकी नास्ति किन्तु चक्षुषा तत्राधीयत इति चेन् ? तर्हि वक्तव्यं यत् तच्छक्त्याधानसामर्थ्यं चक्षुषि स्वाभाविकम् ? परेणाहितम्

देवदत्त घट पर दृष्टि डाले तो वह दृष्टि डालकर भी क्या कर लेगा ? क्योंकि देवदत्त का चक्षुर्गोलक तो घट तक जाता नहीं ? यदि आप यह कहें कि शक्ति के अव्यतिरेक अर्थात् सर्वत्र सत्ता के कारण शक्तिमान् देवदत्त आदि का भोग सम्पादन करने के लिये देवदत्त में ही घट आदि का ज्ञान हो जाता है तो आत्मा तो व्यापक है फिर जहाँ-जहाँ आत्मा होगा सर्वत्र ज्ञान हो जायगा फिर शरीर की क्या आवश्यकता ? यदि प्रश्न हो कि शरीर जड़ होने के कारण शक्त होता है अर्थात् शक्तिस्वरूप चैतन्य की अपेक्षा रखता है ? तो उत्तर है कि फिर उसी शक्ति की अपेक्षा जड़ घट को भी है । अतः वहाँ भी चैतन्य मानिये ॥२२-२५॥

यदि आप यह कहें कि घट में शक्ति नहीं है किन्तु वहाँ चक्षु के द्वारा लाई जाती है ? तो यह बताइये कि चक्षु में वह शक्ति लाने का सामर्थ्य अपना है ? या वही से लाया गया है ? यदि इसमें सामर्थ्य अपना है तो फिर घट में क्यों नहीं ?

प्राक्शक्तेरथसामर्थ्यं शक्तेः शक्तत्वमापेत् ।

मनसो न च बाह्योऽस्ति तस्यापि प्रसरः क्वचित् ॥२७॥

शक्तिघट्टेऽत्र किं कुर्याद् गृहीत्वाऽन्तरथाऽऽविशेत् ।

बुध्नोदरादिकं तत्तु गृहीत्वा न च युज्यते ॥२८॥

वा ? स्वाभाविकं चेद् घटे एव किं न मन्यते भवता सा स्वाभाविकी शक्तिः ? परेणाहितं चेद् भगवत्यानन्त्यसंगमः = अनवस्थाऽऽपातः । न च शक्तौ सामर्थ्यं न कुतोऽप्यानीनं किन्तु तस्यां शक्तौ तत् प्रथमत एव विद्यमानमस्तीति वाच्यम्; शक्तेः शक्तत्वस्यापातात् । अपरिमितान्तर्भावः । शक्तिशक्तिमनोभिन्नत्वान्, एकस्य गुण-रूपत्वादपरस्य आश्रयत्वात् ॥ मनस इयं शक्तिरिति मन्येद्यदि, तर्ह्यशक्तिपद्वयम्—न्यायवैशेषिकमनयेन, तस्य मनसः क्वचिदपि, बाह्ये = बहिःप्रदेशे, प्रसरः = गमनं नास्ति, तस्याणत्वान्, तेन घटपटादीनां ज्ञानमसम्भवि स्यात् । यदि वेदान्तादि-शास्त्रमनुसृत्य तस्य मध्यमपरिमाणतया बाह्यप्रसरः स्वांक्रियेतर्हि शक्तिः अत्र घट-विषये किं कुर्यात् ?—एति प्रश्नः । उत्तरं ददाति—गृहीत्वेति । मनः घटादिकमुपमृत्य घटव्यक्तिम् गृहीत्वा = आदाय, अन्तरथा = शरीराभ्यन्तरम्, आविशेत् = प्रविशेत्, उन्मेषापत्तिः । वेदान्तनये यथा जलं तडाभादन्त्यं ततो निर्गत्य कुत्वात्मना केदारादिकं प्राप्य केदाराद्याकारेण परिणमते, तथैव मनोऽपि उन्मियप्रणालिकया शरीराद् बहिर्निर्गत्य विषयप्रवेशं प्राप्य विषयाकारेण परिणमते । त्वत्तिमिद्वान्तेन च तत्तु = मनस्तु, बुध्नोदरादिकम् बुध्नं च तदुदरं तदादिष्वस्य न बुध्नोदरादिकः 'शेषाद्

और यदि उसमें शक्ति अपनी नहीं है अपितु कल्पित है तो वह जहाँ से कल्पित हुई उसमें भी वह कहीं से कल्पित हुई होगा फिर उसमें भी कल्पित । इस प्रकार आन्त्य या अनवस्था दोष आ जायेगा । यदि यह कहा जाय कि शक्ति में शक्ति या सामर्थ्य कहीं अन्यत्र से नहीं आया प्रत्युत उसमें पहले से ही विद्यमान था तब तो शक्ति को शक्त मानना पड़ेगा और यह अनुचित है, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् दोनों भिन्न हैं । एक गुण अथवा आश्रयी है दूसरा गुणी या आश्रय ॥२६-२६३॥

यदि यह माना जाय कि यह शक्ति मन की है तो उसमें दो आपत्ति है—

१. न्यायवैशेषिकमिद्वान्त के अनुसार मन का शरीर के बाहर प्रसरण होता नहीं । अतः घट पट आदि का ज्ञान असम्भव है । २. यदि उसका प्रसार मान भी लिया जाय जैसा कि वेदान्त या जैनदर्शन आदि का मिद्वान्त है ( कि मन या अन्तःकरण मध्यम परिमाण का है ) तो मन घट तक पहुँच कर घट व्यक्ति को लेकर ज्ञाता के शरीर में घट के साथ प्रवेश करने लगेगा जो कि अनुचित और अव्यावहारिक है । क्योंकि वेदान्त का यह मिद्वान्त है कि अन्तःकरण विषयप्रवेश में जाकर तदा-

तथाऽऽकारगुणत्वान्न द्रव्याच्च चलनं पृथक् ।  
 शक्तेर्न चापि तज्ज्ञानं येन सा तन्निवेदयेत् ॥२९॥  
 अन्तर्विशति चेच्छक्तिरन्तरप्युपलम्भनम् ।  
 अप्रवेशान्न मनसः सम्बन्ध उपपद्यते ॥३०॥  
 विभुत्वेनेन्द्रियाणां ते किं वृथैव शरीरता ।  
 चक्षुषा चेदर्पितं मे मनसाऽऽत्मन्यथार्प्यते ॥३१॥

विभाषा' इति कर्त्तुं तम् घटादिकम्, गृहीत्वा शरीराभ्यन्तरं निविशेत् । यतो हि मनसोः घटादिव्यः पृथग्भूत चलनादिकमसम्भवः । तदेवाह—न द्रव्याच्चेति । शक्तेः पार्श्वे तथाभूतं ज्ञानमपि नास्ति, येन सा = शक्तिः, तम् = घटम्, निवेदयेत् = ज्ञापयेत् ।

ननु घटाभ्यन्तरे वर्तमाना शक्तिरेव शरीराभ्यन्तरं प्रविशतीति चेत् ? न; शक्त्या सह शक्त्याश्रयस्य घटस्यापि प्रवेशस्यावश्यकत्वान् । यावच्च न घटस्य शरीरे प्रवेशस्तावदणुप्रमाणेन मनसा घटस्यासम्बन्धाद् घटज्ञानस्यानुपपत्तेः । अतः घटे शक्तिस्वीकृतिरसंगता ॥२९-३०॥

यदीन्द्रियाणां विभुत्वेन मध्यमपरिमाणवत्त्वेन, घटादिज्ञानानां मिद्धिमन्यते तर्हि किं ते = तव मनो, शरीरता = शरीरस्य सत्त्वम्, वृथैव=व्यर्थमुरोग्रिप्यते ?—नेत्यर्थः । ननु चक्षुषा विषयमादाय मनसे समर्प्यते; मनश्च तमात्मने समर्पयतीति काराकारितं हा जाता है ।<sup>१</sup> इस कारण जब मन घटाकाराकारित हो जायेगा तो वह घट के साथ ही शरीर में प्रवेश करेगा । उसका घट पद आदि द्रव्य से पृथक् होकर चलना सम्भव नहीं । और शक्ति के पास वह ज्ञान है नहीं निगते वह ज्ञाता के पास आकर घट को बतलाये ॥२७-२९॥

यदि घट में वर्तमान शक्ति को ही शरीर के अन्दर प्रविष्ट माने तो भी ठीक नहीं क्योंकि शक्ति के साथ-साथ शक्त्याश्रय घट का भी शरीर में प्रवेश होना चाहिये । जबतक घट का प्रवेश नहीं होगा तब तक अणु मन से घट का सम्बन्ध नहीं होगा फलतः घटज्ञान भी नहीं होगा । अतः घट में शक्ति मानना सम्भव नहीं ॥३०॥

यदि आप इन्द्रियों को व्यापक मानें और इस कारण घटादिज्ञान की मिद्धि होनी मान लें तो फिर यह बतलाइये कि क्या आप शरीर को व्यर्थ मानने के लिये तैयार हैं ? यदि यह कहें कि चक्षु विषय का समर्पण मन को करता है और मन



तदात्मन्यपरोक्षत्वे भवेदाप्तवचः स्फुटम् ।

ये विकल्पाः शक्तिगतास्तेऽप्यायान्ति मनः प्रति ॥३२॥

चक्षू रश्मिगमत्वं चेत् स प्रत्यक्षोऽर्करश्मिवत् ।

भावानां प्रतिविम्बत्व आत्मनोऽपि न युक्ता ॥३३॥

प्रतिविम्बेष्वसत्यत्वादमूर्तेष्वेध्वगोचरात् ।

तस्माद् घटः स्वमात्मानमवगच्छन्नवस्थितः ॥३४॥

सरण्याऽऽत्मनो घटादेरपरोक्षानुभूतिर्भवति इति चेत् ? तर्हि भवताम्, आप्तवचः = शैवसिद्धान्तः, स्फुटम् = मनसि आयातम्=स्वीकृतं भवता मतिमद्भाषितम्—इत्याशयः; अस्माभिः मदैवात्मनो ज्ञानेच्छाक्रियावन्स्वीकारात् । शक्तेर्ज्ञानस्य हेतुत्वस्वीकारे ये विकल्पाः समुत्थिताः मनसो ज्ञानस्य हेतुत्वस्वीकारे, त एवापतन्ति । अतः सर्वेऽपि पदार्थाः इच्छाज्ञानक्रियावन्तः स्वीकर्तव्याः । इच्छादिकं च परमशिवस्य स्यात्तन्मयम् ॥३१-३२॥

यथा अर्कस्य = सूर्यस्य, रश्मयोः विषयस्य प्रकाशनं विषयप्रवेशं गत्वा कुर्वन्ति तथैव लोके घटादीनां पदार्थानां चक्षू रश्मिगमत्वमस्ति । भावानां च प्रतिविम्ब-मात्मनि समापतन्ति तत्रश्च घटज्ञानं जायते इति चेत् ? आत्मनो विषय एतस्यापि वही विषय आत्मा को समर्पित करता है, फलतः आत्मा का घटादि विषय का अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है ? तब तो आप हमारे ही मन का मण्डन कर रहे हैं । क्योंकि हम तो मदैव ने आत्मा को ज्ञान इच्छा और क्रिया वाला मान रहे हैं । शक्ति को ज्ञान का कारण मानने में पहले जितने विकल्प उठ खड़े हुए हैं मन को ज्ञान का हेतु मानने पर उतने ही विकल्प उठ खड़े होंगे । अतः आप सभी पदार्थों को इच्छा ज्ञान क्रिया वाला मानें और यह इच्छादि परमशिव की शक्ति ही है । ३१-३२॥

यदि यह कहा जाय कि जैसे सूर्य की किरणें विषय का प्रकाशन विषयप्रवेश तक जाकर करती हैं उन्ही प्रकार चक्षु की रश्मि ही घट तक जाकर घट को प्रकाशित करती हैं और उनका प्रतिविम्ब आत्मा में पड़ता है फलतः घटज्ञान होता है ? तो आत्मा के विषय में यह ठीक नहीं, क्योंकि १. प्रतिविम्ब असत्य होता है जबकि घटज्ञान सत्य होता है अतः घटज्ञान का प्रतिविम्ब नहीं हो सकता । २. आत्मा अमूर्त है अमूर्त में घट आदि का प्रतिविम्ब सम्भव नहीं । इसलिए यह मानिये कि घट स्वयं अपने को जानता हुआ विद्यमान है । उसके साथ चक्षु का ऐक्य होने से यह प्रत्यक्ष को प्रक्रिया चलती है । उन्ही प्रकार जिव का सृष्टि के साथ ऐक्य होने से जिव का या आत्मा का ज्ञान होता रहता है ॥३३-३४॥



तदैक्यात्तच्चक्षुषैव प्रक्रिया चेत् कथं स्थिता ।  
 तथा शिवस्य सर्गाद्वा प्रक्रियायास्तथात्मनः ॥३५॥  
 अन्धादेरन्यदृष्ट्याऽत्र घटः किं प्रथते न चेत् ।  
 शिवत्वस्य तथा व्यक्तेर्घटस्येच्छा तथाऽस्ति वा ॥३६॥  
 इच्छावत्त्वमनेनैव न्यायेनास्य निजां क्रियाम् ।  
 अनिच्छुर्न करोत्येवं यत एवास्ति निर्वृतिः ॥३७॥

युक्ता न । अत्र हेतुमाह—प्रतिबिम्बेष्विति—प्रतिबिम्बममलम् घटज्ञानं च  
 सत्यम् इत्यनयोः पारस्परिको विरोधः, अत्मा चामूर्तः । अमूर्तेषु एषु = घटा-  
 द्यात्मासु, अगोचरात् = घटादेः प्रतिबिम्बामम्भवान् ॥ तस्माद् घटः स्वम् =  
 आत्मानम्, अवगच्छन् तिष्ठतिः इच्छाज्ञानक्रियावान् घट इत्यर्थः । तेन सह  
 ऐक्यात् प्रत्यक्षस्य प्रक्रिया चक्षुषा चेत् कथम् = केन कारणेन, स्थिता = अवरुद्धा ?  
 तथा शिवस्य सर्गात् = सृष्ट्याः हेतुना ऐक्यात् तथाऽऽत्मनश्च विषयैः सहैक्यात्  
 प्रक्रियायाः = विषयप्रत्यक्षादेः मिद्धिर्भवति ॥३३-३५॥

ननु सर्वत्रैकस्यैव चैतन्यस्य सन्वादन्यादेरपि प्रत्यक्षं स्यात् ?—इत्याशङ्कमान  
 आह—अन्धादेरिति । अन्यदृष्ट्या = चक्षुष्मतां दृष्ट्या, अन्धादेः । आदिना बधि-  
 रत्वविशिष्टस्यान्यत्रवर्णेन्द्रियेण शाब्दप्रत्यक्षं बोध्यम् । घटः = घटप्रत्यक्षं किं न  
 प्रथते = कथं न भवति ? उत्तरमाह—शिवत्वस्येति । परमशिवः स्वयमेवात्मानं  
 तथा व्यनक्ति येनान्यस्य घटप्रत्यक्षं न भवति चक्षुष्मतश्च भवत्येव । विकल्पमाह—  
 घटस्येति । अथवा पश्चान्तरे घटो यतश्च ज्ञानेच्छाकृतिमांस्तेन तस्यैवेदृशीच्छा

अब प्रश्न है कि यदि घट अपने को स्वयं जानता है तो यह सिद्धान्त कि  
 चक्षुरिन्द्रिय का घट के साथ सन्निकर्ष होने पर घटज्ञान होता है, कैसे संगत होगा ?  
 शिव का मृष्टि के साथ कारणकार्य सम्बन्ध कैसे बनेगा ? तथा आत्मा का भिन्न-  
 भिन्न आत्मन्तर और बाह्य विषयों के साथ जानाज्ञेयसम्बन्ध कैसे बनेगा ?  
 इसी प्रकार यदि सर्वत्र एक चैतन्य है तो अन्धे को भी उसी आँख से उसी प्रकार  
 जान होना चाहिए जिससे कि चक्षुष्मान् को होता है क्योंकि चक्षुष्मान् और चक्षु-  
 हीन का चैतन्य एक है ? ॥३५-३५३॥

उत्तर है कि यह भिन्नता शिव की इच्छा से है; अथवा घट व्यक्ति की उगी  
 प्रकार की इच्छा है कि वह चक्षुष्मान् को दृष्ट होता है और अन्धे को नहीं । इसी  
 न्याय से इच्छा का सिद्धान्त सर्वत्र समझना चाहिए । जो इच्छारहित होता है  
 वह अपनी क्रिया नहीं करता । और इमीलिय निर्वृति अर्थात् कर्म करने के प्रति  
 उन्मुक्तता होती है ॥३६-३७॥

नानिर्वृतौ प्रवर्त्तत स्फुटे ज्ञानक्रिये स्थिते ।

कर्मप्रभवणत्वात्तत्प्रभुत्वमवधार्यते ॥३८॥

स्वेच्छाकर्मविमर्शेन स्वेच्छाकर्मत्वमादृतम् ।

सर्वे पदार्थरूपेण सामान्येनार्थवत्तया ॥३९॥

व्यापका व्यपदिश्यन्ते स्वकार्यव्यापनादथ ।

यदि ते न स्वयंग्राह्या गृह्यन्ते नैव चक्षुषा ॥४०॥

बाह्यावयवतद्योगात्तदन्तरवियोगतः ।

पटो गृहीतः सकल इति न स्यात् प्रमा क्वचित् ॥४१॥

येनान्वस्य न चाक्षुषं प्रत्यक्षं घटस्य । अनेनैव न्यायेन अस्य = शिवस्य घटादेर्वा  
इच्छावत्त्वम् = इच्छायाः सिद्धान्तो ज्ञेयः सर्वत्र । यदा इच्छावांस्तदा क्रियां करोति;  
अनिच्छुः = इच्छारहितश्च, निजाम् = स्वेन निष्पाद्यमानां क्रियाम् = व्यापारम्,  
न करोति, अत एव = इच्छावत्त्वादेव; निर्वृतिः = कर्मोन्मुख्यम्, अस्ति =  
भवति ॥३९-३७॥

ज्ञानक्रिययोः स्पष्टतया वर्त्तमानत्वेऽपि, अनिर्वृतौ = कर्मोन्मुख्याभावे सति,  
कश्चिदपि पुरुषः न प्रवर्त्तत-कर्म कर्तुम् इति शेषः । कर्मप्रभवणत्वात्=प्रभवत्यस्मा-  
दिति प्रभवणम्=कारणम्; कारणे ल्युट्, कर्मणः प्रभवणम्, तस्य भावस्तत्त्वम्, तस्मात्;  
कर्मणा हेतुत्वात्-इत्यर्थः । तत्प्रभुत्वम् = कर्मणः स्वामित्वम्, अवधार्यते = निश्ची-  
यते । स्वेच्छायास्तथा च क्रियमाणस्य कर्मण इत्युभयोः विमर्शः = अवबोधस्तेन,

जब तक निर्वृति नहीं होगा कोई भी व्यक्ति ज्ञान और क्रिया के स्पष्ट रहने  
पर भी प्रवृत्त नहीं होगा । व्यक्ति चूंकि कर्म का प्रभवण अर्थात् कारण होता है  
अतः वह कर्म का प्रभु कहा जाता है । अपनी इच्छा और उस इच्छा के अनुसार  
क्रिये जानेवाले कर्म का अवबोध होने के कारण ही स्वेच्छाकर्म का सर्वत्र आदर  
है ॥३८-३८१॥

जगत् के समस्त पदार्थ पदार्थ के रूप में सामान्यतः अर्थक्रियाकारी होने और  
अपने-अपने कार्य को व्याप्त करने के कारण व्यापक कहे जाते हैं । यदि उनमें  
स्वयं ज्ञान कराने की शक्ति न हो तो चक्षु आदि से उनका ज्ञान असम्भव है ।  
यदि आप पदार्थों में ग्राहकता शक्ति नहीं मानेंगे तो चक्षुरिन्द्रिय का संयोग कपड़े  
के थान के बाहरी अंश से ता होता है परन्तु थान के भीतरी भाग से किसी भी  
प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता फिर भी 'हमें कपड़े का सम्पूर्ण ज्ञान है' ऐसा व्यवहार  
होता है । यदि कपड़े के थान में ग्राहकता शक्ति न हो तो यह यथार्थ ज्ञान कभी  
भी उत्पन्न नहीं होगा ॥३९-४१॥

सर्वज्ञत्वमप्रवेशाद् व्यवधानादियोगतः ।  
 न चान्यावयवत्वेन तदन्येष्वनुमानता ॥४२॥  
 न चान्यावयवैः सार्धं सम्बन्धग्रहणं पुरा ।  
 तस्मान्नान्येन गृह्यन्ते प्रत्यक्षेण कदाचन ॥४३॥

स्वेच्छाकर्मत्वमुभयमपि आदृतम् = नमाद्रियते जनैरिति शेषः । अस्मिन् विचित्रभावाभरणे  
 अनन्तव्यवहारेण जगति सर्वे = समस्तपदार्थाः सामान्येन पदार्थरूपेण = पदार्थत्वेन =  
 षट्पटादिकस्य सर्वस्यापि वस्तुनो विषये 'अयं पदार्थः' इति तृष्ट्या व्यवहारेण च;  
 अर्थवत्तया = अर्थक्रियाकारित्वेन च कारणान्, अथ च स्वकार्यव्यापनात् = जला-  
 हरणादिकृत्ये नशमत्वात् तत्पूरकत्वाच्च, 'व्यापका इमे' इति व्यपदिश्यन्ते = व्यव-  
 ह्रियन्ते । यदि ते स्वयं ज्ञानं योग्या न स्युः कथं चक्षुषा गृह्येयुः ? पदार्थम् ग्राह-  
 कतासक्तिं स्याच्चेत् परिश्वेष्टितस्य पटस्य बहिर्भागेन, तद्योगात् = चक्षुरादीनां सक्ति-  
 कपत् तदन्तः = तस्य पटस्याभ्यन्तरे, अद्वियोगतः = विधिष्टो योगः वियोगः,  
 वैशिष्ट्यं च नद्योगसंयुक्तमवयवादिनां; न वियोगोऽद्वियोगः = सन्निकर्षाभावः,  
 तस्मात् । 'सम्पूर्णः पटो ज्ञातो मया' इति, प्रमा = यथार्थानुभवः, वयचित् =  
 कदापि कस्मिन्नपि पटे न स्यात् ॥३८-४१॥

पटस्य सर्वस्मिन्नवयवग्रहे चक्षुरादीनाम् अप्रवेशात्, व्यवधानादिकारणान् सर्व-  
 ज्ञत्वम् न स्वादिनि शेषः । नन्वेकस्यावयवस्य दर्शनादवशिष्टस्यानुमानं स्यादिति  
 चेत् ? न; अन्यावयवैः = इदानीं चक्षुषा प्रत्यक्षीक्रियमाणावयवैः सार्धं पुरा =  
 अतीते, सम्बन्धग्रहणं न = नास्ति; भवन्मते पदार्थस्य धाणिकत्वात् । तस्मात्  
 अन्येन प्रत्यक्षेण कारणेन, अप्रत्यक्षा अवयवा न गृह्यन्ते = जायन्ते ।  
 एतमर्वालोच्येदं विमृश्यताम् = विचार्यतां निश्चीयतामित्यर्थो यद् भिन्नभिन्नेषु  
 स्थानेषु भिन्नभिन्नज्ञानशालिनी एषा = पुरोवर्णिता, संविद् = ज्ञानम्, अस्तीति  
 शेषः ॥४२-४३॥

काट्टे के सम्पूर्ण अवयव में चक्षुरिन्द्रिय का प्रवेश न होने से तथा व्यवधान  
 आदि के होने से कपड़े के विषय में सर्वज्ञत्व असम्भव हो जायगा । यह भी नहीं  
 है कि एक अवयव को देना कर दूसरे अवयव के बारे में अनुमान हो जाय, क्योंकि  
 एक अवयव का दूसरे अवयव के साथ सम्बन्ध का ज्ञान आपको पहले से है  
 नहीं । इसलिए प्रत्यक्ष एक अवयव के द्वारा अन्य अवयवों का ज्ञान नहीं हो  
 सकता । अतः आप यह मानिये कि भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न ज्ञानवाली  
 एक संविद् अर्थात् चैतन्य अवश्य वर्तमान है ॥४२-४३॥



तत्स्थान एव तज्ज्ञाना संविदेष्टा विमृश्यताम् ।

न चाप्यस्त्यनुमानेन परेषां ग्रहणं क्वचित् ॥४४॥

धूमात् तत्र गृहीतं किं सामान्यं नैव गृह्यते ।

अग्राह्यत्वात्तस्य तदा विशेषे दूरतैव ते ॥४५॥

देशोऽपि न गृहीतोऽत्र धूमलेखानुरूपतः ।

न चापि निम्ने ह्रस्वे वा निश्चयोऽत्रावगम्यते ॥४६॥

निद्रूपस्यैकत्वानङ्गीकारे पदार्थानां प्रत्यक्षप्रमानुपपत्तिं प्रदर्शयदानीमनुमानेनापि  
नेपां ग्राह्यत्वमिच्छि मन्दर्थयति—न चाप्यस्त्यनुमानेनेति । परेषाम् = अन्येषां  
पदार्थानाम्, अनुमानेनापि क्वचित् = कश्चिदपि देशे काले च ग्रहणं नास्ति ।  
यद् वा परेषाम् = एकत्वानङ्गीकर्तृणां मते । ननु भवत्येव निगद्यताम् पर्वतो वह्नि-  
मान् धूमात् इत्यनुमिति कस्य ज्ञानं जायते भवतः ? वह्निमामान्यस्य ? तद्वि-  
शेषस्य वा ? नास्ति; वह्निमामान्यस्य प्रत्यक्षेणानुमानेन वा ज्ञानागम्भवान् । तदाह—  
सामान्यं तैर, गृह्यते = जायते । तत्र हेतुमाह—तस्य = सामान्यस्य, अग्राह्य-  
त्वात् = अज्ञेयत्वात् निर्गुणत्वेन । नापि द्वितीयः; विशेषज्ञानस्य सामान्यज्ञानपूर्वक-  
त्वात् । तदाह—विशेषे दूरतैव ते इति ॥४४-४५॥

ननु साध्यसामान्यस्य तद्विशेषस्य वा ज्ञानं नावश्यकीम् अपि तु हेतुसम्बन्धेन पक्षेण  
साध्यसम्बद्धस्य पक्षस्यैवानुमा क्रियत इति चेत् ? तत्रोत्तरयति—देशोऽपीति ।  
धूनलेखानुरूपतः = अविच्छिन्नमूलधूमलेखागम्बद्धतया, देशोऽपि = वह्निमम्बद्ध-  
प्रदेशोऽपि, अत्र = अनुमाने न गृहीतः = न जिज्ञास्यः । तत्र हेतुमाह—न चापीति ।  
धूमलेखा यदि दूरस्थे निम्नप्रदेशेऽत्यन्तगूढमप्रदेशे वोत्तिष्ठति तदाऽत्रान्तेनिश्चयो

सर्वत्र एक तत्त्व की स्वाकृति के अभाव में प्रत्यक्ष के द्वारा हमारे पदार्थों का  
ज्ञान सम्भव नहीं है—यह सिद्ध करने के पश्चात् अब अनुमान के द्वारा उनकी  
जैवता की अमिद्धि बतला रहे हैं—अनुमान ने भी हमारे पदार्थों का कहीं भी कसो  
भी ज्ञान नहीं हो सकता । यह बतलाइये कि 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस  
अनुमान में ज्ञान किमका होता है ? वह्निमामान्य का ज्ञान हो नहीं सकता क्योंकि  
सम्पूर्ण अग्नि का प्रत्यक्ष या उनकी अनुमिति सम्भव नहीं । और जब सामान्य का  
ज्ञान नहीं हो सका तब विशेष के ज्ञान की बात ही दूर हो गई । क्योंकि विशेष  
का ज्ञान सामान्यज्ञानपूर्वक होता है । यदि यह कहें कि हमें साध्य के सामान्य  
या विशेष के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है; हम तो हेतु से सम्बद्ध पक्ष के द्वारा  
साध्य से सम्बद्ध पक्ष का अनुमान करते हैं ? तो यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि  
अविच्छिन्नमूलधूमलेखा यदि किसी दूरस्थ निम्नप्रदेश या किसी अत्यन्त छोटे स्थान



अत्रापि क्वापि वाऽस्तोति कल्पना कल्पनैव हि ।  
 यत्र यत्र भवेद् धूमस्तत्राग्निरित्यनिश्चयात् ॥४७॥  
 तत्राकाशे स्थितो धूमो न बह्लेः कणमात्रकम् ।  
 धूमेन व्यापितो देशो भवेदग्निमयोऽखिलः ॥४८॥  
 तद्बुध्नावयवैर्वाऽथ तेऽपि यान्त्यूर्ध्वतां क्षणात् ।  
 बुध्नस्तैर्न च सम्बद्धः कदाचिच्चक्षुषो भवेत् ॥४९॥  
 सम्बन्धो ग्रहकाले तु न चोर्ध्वावयवैर्भवेत् ।  
 बह्लेर्दूरतरस्थित्या बह्लिश्लिष्टेऽवलक्ष्यता ॥५०॥

नालग्न्यते । धूमलेनां दृष्ट्वा, अत्रापि क्वापि — अथैव क्वचित् अस्त्यग्निरिति कल्पना कल्पनैव = तस्याः सत्यतायाः सन्दिग्धत्वात् । अत्रानिश्चिनत्ये कारणमुपदर्शयति—यत्र यत्रेति । 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र बह्लिर्गतिं व्याप्तेरनिश्चयात् । अनिश्चयः कथम् ?—एति प्रदर्शयति—तत्राकाशे एति । तत्राकाशे धूमस्य सत्ता तत्र बह्लेः कणमात्रकमपि नास्ति । स्वार्थे कन् । व्याप्तिः सत्त्वा स्याच्चेत् यो देशः = आकाशादिः धूमेन व्याप्तः स्यात् सः सम्पूर्णो देशोऽग्निव्याप्तः स्यात् । न चेदग्निरिति ॥४६-४८॥

ननु सा भूदाकाशस्य धूमेन बह्लेः सम्बन्धलेखः, निम्नप्रदेशे यतो धूम उत्तिष्ठति तत्र तद्बुध्नावयवैः = धूमस्वाधोविद्यमानावयवैः सम्बन्धोऽस्त्यवेति चेत् ?—तत्राह—तेऽपीति । क्षणात् = क्षणमात्रादेव, तेऽपि = अभस्तान् सम्बद्धाः धूमावयवा अपि ऊर्ध्वतां याप्ति । तस्मादयत्र सम्बन्धानावः । तुष्यतु दुर्जनन्यायेन च यदि धूमस्योर्ध्वादारम्यावस्तद्वत्तया सम्बन्धो गृह्येतानि ततोऽपि तैः = धूमावयवैः,

मे उठ रहा है तो उस प्रदेश का जान सम्भव नहीं है । अत्रिच्छिन्नधूमलेखा को देखकर दूरस्थ किसी स्थान की कल्पना करना कि, 'वही वही वह प्रदेश है जहाँ मे धूम उठ रहा है, कल्पनामात्र है । उसकी सत्यता या निश्चितता सन्दिग्ध है । यह हमलिये कि 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र बह्लिः' इन व्याप्ति का निश्चय ही नहीं हो सकता । धूम आकाश में बराबर उठता है किन्तु अग्नि का कणमात्र भी वहाँ नहीं रहता । यदि वह व्याप्ति सही होनी तो धूम से व्याप्त समस्त आकाश आदि प्रदेश अग्निमय हो जाता है ॥४४-४८॥

यदि आप यह कहें कि आकाश धूम से बह्लि का सम्बन्ध नहीं है तो नहीं सही किन्तु निम्नप्रदेश से, जहाँ से धूम उठ रहा है वहाँ से तो सम्बन्ध है ही ? तो यह कथन भी अयोग्य है । क्योंकि एक ही क्षण में सम्बद्ध धूमावयव ऊपर चले जाते हैं अतः सम्बन्ध नहीं रहता । पुनश्च तुष्यतु दुर्जनन्यायेन यदि ऊपर से नीचे तक सम्बन्ध

न चापि वह्निर्जनकः काष्ठेष्वेव हि दर्शनात् ।  
 अत एव यत्र वह्निर्भास्वान्नो धूमिताऽत्र तु ॥५१॥  
 सन्निधानादथान्नेश्च चुल्यादेः सन्निधिरिति किम् ।  
 धूमेन जन्यते ज्ञानं वह्निरत्रेति ते यदि ॥५२॥  
 कुत्र तेऽन्यत्र दृष्टत्वात् तद् दृष्टेरग्निदृष्टता ।  
 अत्रेति धूमिता कस्य पर्वतादौ समस्तके ॥५३॥

चक्षुषा बुध्नः = अधःस्थितः सम्बन्ध कदाचित् = कदापि दूरत्वात् न भवेत् ॥  
 ग्रहकाले = धूमप्रत्यक्षकाले, धूमस्योर्ध्वावयवैः सह वह्नेः सम्बन्धो नास्ति यतो हि  
 तत्र वह्नेः स्थितिर्वर्तमाननिम्नप्रदेशेऽस्ति धूमस्य चोर्ध्वतरप्रदेशे । ये च धूमावयवा  
 वह्निना चित्प्राप्तेषु वह्निशिल्लेषु धूमावयवेषु अलक्ष्यता = चक्षुषा तत्सम्बन्धा-  
 भावः । तस्माद् व्याप्तिरसम्भवा ॥४९-५०॥

धूमान्योर्मध्ये जन्यजनकसम्बन्धोऽपि न तत्रोभयीति । धूमस्य काष्ठेष्वेव =  
 आर्द्रैर्न्यनेष्वेव दर्शनात् । अत एव यत्र = उच्चदङ्गायाः, वह्निर्भास्वान् अत्र तु  
 धूमिता = धूमस्य सत्ता नो = नास्ति ॥ तन्वग्नेः सन्निधानाज्जन्यजनकभावस्तयो-  
 रिति चेत् ? चुल्यादेरपि किं सन्निधिरिति ? अस्त्येवेत्यर्थः । तेन चक्षुर्भावगोरपि  
 जन्यजनकसम्बन्ध आयेत् । तनु यदि ते मते धूमेन हेतुता 'अत्र = पर्वते, वह्निः'  
 इति ज्ञानं जन्यते = उत्पद्यते, तद्दि वस्तुव्यसत्र भवनेव यत् ते ईदृशं ज्ञानं कुत्र  
 जन्यते ? अन्यत्र = चत्वरणोष्ठमहानसादौ धूमेन सह अग्नेर्दृष्टत्वात्, तद्दृष्टे =  
 तेन दर्शनेन, अग्निदृष्टता पर्वते कथमापतिष्यति ? अन्यच्च 'अत्र वह्निः' इति ज्ञाने

मान भी ले तो चक्षु का उन धूमावयवों ने निम्नप्रदेशवर्ती सम्बन्ध ही सम्भव  
 नहीं है । धूम के प्रत्यक्ष काल में धूम के ऊर्ध्ववर्ती अवयवों का अग्नि के साथ  
 सम्बन्ध नहीं है क्योंकि अग्नि दूरतम निम्नप्रदेश में है और धूम उच्च प्रदेश में और  
 जो धूमावयव वह्नि से सम्बद्ध है उनका चक्षु से सम्बन्ध ही नहीं है अतः व्याप्ति  
 सम्भव नहीं ॥४९-५०॥

वह्नि को धूम का जनक भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि धूम तो गोली लकड़ा  
 में देखा जाता है । इसीलिये जहाँ अंगार रूप में वह्नि रहती है वहाँ धूम का  
 अस्तित्व रहता ही नहीं ॥५१॥

यदि यह कहिये कि अग्नि की सन्निकटता काष्ठ के साथ है उस कारण अग्नि को  
 धूम का जनक मानते हैं ? तो काष्ठ के साथ चुल्हे आदि की भी निकटता है अतः चुल्हे  
 आदि को भी धूम का कारण मानिये । इसके अतिरिक्त धूम के द्वारा यदि आपको  
 'अत्र पर्वते वह्निः' यह ज्ञान उत्पन्न होता है तो बताइये यह कैसे ? क्योंकि अन्यत्र

तत्सामस्त्यस्याग्रहणाददृष्टे धर्मिता कुतः ।  
 दृष्टश्चेत् सर्वघटवत् तदङ्गस्याग्निदर्शनम् ॥५४॥  
 स्वार्थानुमानं नैवं चेन्न शब्दैरन्तरे स्थितम् ।  
 अग्निरेषोऽत्र धूमो वा दर्शयेन्न ह्यदर्शने ॥५५॥

अत्रेति पदेन कस्य धर्मिता गृह्यते ? को नाम धर्मी भवता मन्यते ? यदि समस्तके= सम्पूर्णः; समस्त एव समस्तकः, स्वार्थे कन्; पर्वतादौ इति कथ्यते ? तदयुक्तम्; तत्सामस्त्यस्य समस्तस्य भावः सामस्त्यम्; गुणवचनब्राह्मणादिन्यः कर्मणि ण्यञ् ( पा० सू० ५.१.१२४ ) । इति भावे ण्यञ् तस्य = सम्पूर्णत्वस्य, अग्रहणात्= अज्ञानाददर्शनादित्यर्थः । अदृष्टे=पर्वतांशे धर्मिता कुतः ? यदि च घटवत् नर्वाङ्गीणतया दृष्टः पर्वतस्तदा तत्संश्लिष्टस्याग्नेरपि प्रत्यक्षं जातमेवेति नावश्य- कत्वमनुमायाः ॥५१-५४॥

एवम् = उपर्युक्तप्रणालिकया, स्वार्थानुमानं न चेत्, अन्तरे = स्वस्य हृदि, स्थितम् = अवगतम् 'अत्र धूम एष अग्निः' इत्याकारकं ज्ञानं परं परार्थानुमानाय न दर्शयेत्; स्वयमदर्शनात् । तदाह—ह्यदर्शने न दर्शयेदिति ॥ ननु 'एष अग्निः' अत्र 'एषः' इति लोकव्यवहारायोच्यत इति चेत् ? तर्हि अत्र एष इति पदेन सूच्यमान ज्ञानं कथं जनयेत् = जातम् । यतो हि कस्यचिदपि वस्तुन उत्पत्ती करणत्वे= करणज्ञाने जाने कर्तृपेक्षा, कर्तृत्वे च जाते कर्तृज्ञानस्यापेक्षा भवति ॥ अत्र वहेः, अपेक्ष्यत्वम् = अपेक्षायां तस्य कर्ता अपेक्षितो भवति । तदेवाह—जनकत्वम् =

अर्थात् चत्वर गोष्ठ महानम आदि में धूम के साथ अग्नि का आपने दर्शन किया; उस दर्शन से अग्नि को दृष्ट्वा पर्वत पर कहाँ से आयेगा ? इसके अतिरिक्त 'अत्र' करके जो पक्ष या धर्मी लेते हैं वह कौन हैं ? क्या वह सम्पूर्ण पर्वत हैं ? यदि ऐसा है तो सम्पूर्ण पर्वत का एक काल में प्रत्यक्ष सम्भव न होने से अदृष्ट पर्वत धर्मी कैसे हो सकेगा ? साथ ही यदि सर्वाङ्गत्वेन देखा गया तो फिर उसके अङ्गभूत अग्नि का भी प्रत्यक्ष हो गया फिर उसके लिए अनुमान प्रमाण की क्या जरूरत ? ॥५२-५४॥

इस प्रकार स्वार्थानुमान यदि सम्भव नहीं है तो अपने अन्दर स्थित इस अनुमान को 'अत्र धूमः; एष अग्निः' इस प्रकार कोई दूसरे को नहीं दिखायेगा क्योंकि उसे स्वतः उसका दर्शन नहीं हुआ है । यदि आप 'एष अग्निः' यहाँ पर 'एषः' यह व्यवहार करते हैं तो यह बताइये कि इस 'एषः' शब्द से सूच्यमान ज्ञान की उत्पत्ति कैसे हुई ? क्योंकि किसी की उत्पत्ति में यदि कारण का अस्तित्व जात है तो कर्ता की अपेक्षा होती है और यदि कर्ता का अस्तित्व ज्ञात हो तो



एष इत्यपदिश्येत तज्जानं जनयेत् कथम् ।  
 करणत्वे कर्त्रपेक्षा कर्तृत्वे तदपेक्षता ॥५६॥  
 बल्लेस्तु तत्रापेक्ष्यत्वे जनकत्वं व्यवस्थितम् ।  
 यच्च यद्विषयं ज्ञानं तज्जन्यं तस्य दृष्टवत् ॥५७॥  
 धूमादग्निप्रतीतिश्च न चायं नियमः स्थितः ।  
 कक्षभूर्जादिजो बल्लिर्गुहाकारे ज्वलन् गृहे ॥५८॥  
 महान्तं धूममुत्पाद्य तत्कालं वारिणा हतः ।  
 तत्र केवलधूमास्था न बल्लिप्राप्तिरस्ति ते ॥५९॥  
 तस्मात्तद्व्यपदेशे न बल्लिः स्वं विनिवेदयेत् ।  
 वोक्ष्यात्मना तथाऽऽत्मानं विनीतवदवस्थितम् ॥६०॥

कर्तृत्वम्, व्यवस्थितम् = निश्चितम्, भवति । मिद्वान्तस्यायं वत्—यद्=अनुमानकं ज्ञानं यद्विषयकं भवति तज् ज्ञानं तस्मादेव विषयान्तरमुक्तं भवति; तस्य प्रत्यक्षवत् । एतन्मरणव्याज्नेः प्रतीतिरग्निर्नैव स्यात् न धूमेनेति । धूमादग्निप्रतीतिरित्ययं नियमो न स्थितः = समुचितः ॥५५-५७॥

कक्षः = तुणपुंजविषयः, भूर्जः = दक्षविशेषवत्, एतादृश्यो हेतुभ्यो जायमानो बल्लिर्यदा गुहाकारे गृहे = भ्राष्ट्रे ज्वलन् वारिणापजामिनो भवति तदा तत्र = भ्राष्ट्रे, केवलं धूम एवास्तिष्ठन् दृश्यते न बल्लिप्राप्तिः=न तु बल्लिकणिकापि लभ्यते । तस्मात् = उत्पन्नान्तान्, तद्व्यपदेशे=धूमादग्निप्रतीतिरिति मिद्वान्ते, ते अस्ति= धूमादग्निप्रतीतिरिति मिद्वान्तं मन्यमानस्य तत्र तत्र भ्राष्ट्रे बल्लिप्राप्तिर्भवितव्यम् ।

कारण की अपेक्षा होती है । यदि वहाँ बल्लि का ज्ञान औद्य है तो निश्चित रूप से कोई न कोई उसका कर्त्ता होगा । और वह मिद्वान्त है कि जो ज्ञान यद्विषयक होता है उसके प्रत्यक्ष के समान वह ज्ञान उसी विषय में जन्म होता है । इस प्रकार अग्नि की प्रतीति ( ज्ञान ) अग्नि में ही उत्पन्न होगी । धूम में अग्नि का ज्ञान उत्पन्न होगा यह नियम ठीक नहीं । ॥५५-५७॥

गुफा के समान वर्तमान घर ( सम्भवतः भाड़ ) में तुणपुंज वा भोजपत्र आदि में उत्पन्न जलने हुए अग्नि में जब पर्याप्त धूम उत्पन्न हो जाता है और फिर अग्नि को पानी से बुझा देते हैं तो वहाँ केवल धूम ही रह जाता है अग्नि की प्राप्ति नहीं होती । किन्तु आपके मिद्वान्त के अनुसार वहाँ अग्नि होती चाहिये । और हम विक्रमतानुयायी तो यह मानते हैं कि अग्नि स्वयं अपने द्वारा अपने को विनीतवत् ( विशेषरूप में अपनी ही अर्थात् छिपाया गया ) समझकर अपने को हमारे सामने प्रकट नहीं करता ॥५८-६०॥



एतयैव दिशा दूष्यं स्वभावाद्यमसंशयम् ।  
 परानुमाने पक्षादौ धर्मदिर्भेद्यभेदिता ॥६१॥  
 अनुमानस्यान्यथाऽन्यैर्दूषणा प्रविधीयते ।  
 अवस्थादेशकालानामित्यादिभिरुदाहृतैः ॥६२॥

यद्यं त्रिकमतानुगामिनो मन्यामहे यद् बल्लिः स्वम् = आत्मानं न विनिवेदयेत् = न प्रकटयति । तत्र हेतुमाह—वीक्ष्येति । आत्मना तथा = तेन रूपेण, विनीतवत् = विशेषेण नीतवत् = आनीतवत् = निनीतवत्, वीक्ष्य = दृष्ट्वा, आत्मानम् = स्वयम् न विनिवेदयेत् ॥५८-६०॥

एतयैव दिशा = उत्तरदिशानुसरण्या, चार्वाकाणां बौद्धानां च स्वभावाद्यम् = व्याप्तिनिश्चायकम्, असंशयम् = निर्विधि निःसंकोचम्, दूष्यम् = दूषितं ज्ञेयम् ॥ तथापि वृक्षत्वविशेषात्पक्षोक्तं चैतन्यं स्वीकरणीयमेव, तदभावे चार्वाकनिर्वहणात् । वृक्षत्वविशेषात्पक्षोक्तं च परस्परभिन्नावेति तयोर्धर्मिणावपि भिन्नौ स्यातामिति कथमेकेन सह द्वितीयस्य तादात्म्यम् ? परानुमाने = परार्थानुमाने, पक्षादौ, “नन्दिश्व-नाद्यव्यान् पक्षः” ( न० सं० अनु० ) तस्मिन्, आदिना सपक्षविपक्षी ज्ञेयो । धर्मदिः = अयं वृक्षः, जिज्ञासात्वात्—इत्याकारकानुमाने जिज्ञासात्वादेः, भेद्यभेदिता=

जिज्ञासा प्रकार सैवार्थिक भी व्याप्ति और अनुमान का लक्षण आपने समझा उसी प्रकार चार्वाक और बौद्धों के स्वभाव आदि को भी दूषित समझना चाहिए । अर्थात् वहाँ भी वृक्ष और जिज्ञासा से एकजानात्मक चैतन्य की स्वीकृति के बिना काम नहीं चलेगा । क्योंकि वृक्षत्व और जिज्ञासा दोनों धर्म भिन्न-भिन्न हैं । अतः धर्मों भी भिन्न होंगे ही । फिर एक के साथ दूसरे का तादात्म्य कैसे बनेगा ? परानुमान में पक्ष आदि में यन् अर्थात् जिज्ञासा आदि को जो भेद्यभेदिता अर्थात् ज्ञेय वृक्षत्व की अनुमानना बतलाई जाती है वहाँ अन्यथा अर्थात् मेरा निहान्त न मानने पर अनुमान के दोष का ही विधान किया जाता है ॥६१॥

‘अवस्थादेशकालानाम्’ उदादि उदाहरणों के द्वारा हमारे ( वैचारिक ) काम भी अनुमान को निश्चय से दूषित बताने हैं । जिस देश और काल में धूम ने अग्नि के अनुमान के लिए प्रवृत्ति होती है उसी देश और काल में धूम और आग का

१. अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथाऽनिलः ।

केनेवं चित्रं तस्मात् स्वभावात्तद्वचस्मिन्निः ॥ न० द० न० चा० ॥

स्वभावः स्वनन्ताभावभाविनि साध्यधर्महेतुः ।

यथा वृक्षोऽयं जिज्ञासात्वादिति ॥ न्यायवि० २. १५-१६ ॥

यत्र देशे च काले च प्रवृत्तिस्तत्र संगमः ।  
 तत्रैव व्यवहारित्वसम्बन्धान्तरता यतः ॥६३॥  
 न चापि स्थिरभावानां क्वाप्यस्ति व्यभिचारिता ।  
 सूर्यः प्रकाशकः क्वापि काले देशेऽन्यथा भवेत् ॥६४॥

भेदस्य = वृक्षत्वस्य, भेदिता = भेदिनी भावः, अनुमापकता, सा अन्यथा = सम्-  
 मिद्धान्तास्वीकारे, अन्यैः = वैयाकरणैः, दूषणा = दोषः, प्रविधीयते = क्रियते ।  
 यथोक्तमनुमाने दोषमुद्भावयता भर्तृहरिणा—

अवस्थादेशकालानां भेदाद् भिन्नासु शक्तिषु ।  
 भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरतिदुर्लभा ॥<sup>१</sup>  
 ( वा० प० १.३२ )

कथं दूषणा प्रविधीयते ?—इत्याह—अवस्थादेशकालानामिति । यत्र देशे काले  
 भूमादग्निमनुमापयितुमनुमानं वा प्रवृत्तिर्भवति तत्र भूमाग्न्योः संगमः = सम्बन्धः,  
 आरोपितो भवति । तत्र हेतुमाह—यतः = यस्मात् कारणान् । तत्रैव = तस्मिन्नेव  
 देशे काले च, व्यवहारित्वसम्बन्धान्तरता = व्यवहारगतः सम्बन्धोऽपि  
 भवति ॥६१-६३॥

स्थिरभावानाम् = स्थायिपदार्थानाम्, क्वापि = कस्माश्चिद्देशे कालेऽपि  
 व्यवभिचारिता = स्वभाववैपरीत्यम् नास्ति । उदाहरणेन पुष्पाति—सूर्य इति ।  
 सूर्यः स्वभावेन प्रकाशकः क्वापि काले देशे अन्यथा = अप्रकाशकः भवेत् ?—इति  
 काक्वा योजनीयम् । न भवतीत्यर्थः ।

यच्च वैयाकरणैरुच्यते—शब्दैरर्थः प्रतीयन्ते इति एवं क्व निश्चयः ।  
 यतो हि शब्दस्तु अणवगम्यार्थी अर्थप्रतीतिपर्यन्तं न नष्टो भवति । ननु  
 अर्थानां प्रतीतिस्तु स्फोटाद्भवति शब्दास्तु तेषामर्थानां व्यसका एव केवलमिति  
 चेन् ?—इत्थमपि क्व निर्णयः ? न क्वापीत्यर्थः । तैः=शब्दैः । तस्यापि =

सम्बन्ध आरोपित होता है । एवं वहीं व्यवहारगत सम्बन्ध भी होता है ॥६२-६३॥

स्थायी पदार्थों में भी वही इस प्रकार का व्यभिचार दृष्टिगत नहीं होता ।  
 सूर्य जो कि प्रकाश करने वाला है, किसी भी समय किसी भी स्थान में अन्यथा  
 अर्थान् प्रकाश न करने वाला नहीं होता ॥६४॥

१. यद्यप्येव श्लोको व्याकरणशास्त्रस्यानुमानेन गतार्थत्वं सण्डयितुमुद्वृकितस्तत्र-  
 भवता; तथापि सोमानन्दनाथेन एकतत्त्वस्य परमशिवत्वस्यास्वीकारादनुमानस्य  
 प्रमाणत्वमेव दूषितं स्यादिति बोधयितुमुल्लिखितः ।

शब्दैरर्थाः प्रतीयन्ते सर्वत्रैवं क निश्चयः ।  
स्फोटार्थप्रतीतिश्चेद् व्यज्यते तैः वच निर्णयः ॥६५॥  
तस्यापि सर्वदेश्यत्वान्निश्चयः केन लभ्यते ।  
भोजनादेरचेष्टत्वे व्यवहारविलोपिता ॥६६॥  
अनुमानं न चास्तीति पक्षादिनोपयुज्यते ।  
गोपालघटिकाऽन्यैश्च घटिता न ह्यसम्भवात् ॥६७॥

स्फोटस्यापि, सर्वदेश्यत्वात् = सर्वस्मिन् स्थाने सर्वकाले च विद्यमानत्वात् । निश्चयः  
केन लभ्यते ? न केनापीत्यर्थः । अयमभिप्रायः—स्फोटस्तु नित्यः सार्वत्रिकः ।  
वैयाकरणानां मते स्फोटं विहाय परमार्थतया न किमपि तन्वान्तरं स्वीक्रियते,  
अद्वैतवादित्वात् । यदि स्फोटाद्विज्ञः कश्चित् पदार्थः स्यात् तदा तं पदार्थमर्थप्रतीतिः  
स्यात् प्रत्येयप्रतीयमानयोर्विज्ञत्वात् । न चेत्थं भवन्मते, तस्मादर्थः प्रत्येय एव न  
स्याद्यमर्थः प्रत्याययेच्छब्दः । अस्मन्मते तु स एव निर्वृत्तचिद्विभुः आत्मानं प्रत्येय-  
प्रतीयमानादिनानारूपैराविष्करोति स्वस्वातन्त्र्येण । तस्मान् सर्व समग्रं भवति ।

किं च भोजनादिकमपि स्फोटस्य शब्दब्रह्म । स्फोटश्चाचेतन इति भोजनादिक-  
मप्यचेतनम् । तेन तत्र चेष्टाऽभावाज्जगद्व्यवहार एव न स्यात् । अस्मन्मते तु  
भोजकभोक्तृरूपेण स एव परमशिव आस्ते इति न क्वाप्यननित्ये इति भवताऽपि  
स्फोटातिरिक्तमेका शुभ्रा स्वप्रकाशविमर्शजायिनी सत्तोरगीकृतव्या ॥६४-६६॥

पञ्चचत्वारिंशत्श्लोकादारभ्य चतुषष्टिश्लोकपर्यन्तं पदार्थानां ग्रहणं अनुमान-  
न्या-

और जो वैयाकरण लोग यह कहते हैं कि शब्दों में अर्थ की प्रतीति होती है—  
यह निश्चय सर्वत्र कैसे माना जा सकता है ? क्योंकि शब्द भी तो ध्वनिक है ।  
अर्थ की प्रतीति के समय तक वह नष्ट हो जाता है । यदि यह कहिये कि वस्तुतः  
अर्थ की प्रतीति तो स्फोट में होती है शब्द तो उन अर्थों के व्यञ्जकमात्र होने हैं ?  
तो यह भी निश्चय कैसे माना जाय ? क्योंकि स्फोट यदि नित्य है तो सर्वत्र विद्य-  
मान रहेंगे और चूंकि आप वैयाकरण अद्वैतवादो हैं इसलिए स्फोट के अनिर्गुण  
किमी और का सत्ता तो आप मानेंगे नहीं फिर यह वनाइये कि शब्द से अर्थ की  
प्रतीति का निश्चय होगा किसे ? क्योंकि आप चैतन्य या आत्मा को तो मानते  
नहीं केवल शब्द ब्रह्म को मानते हैं । फिर भोजन आदि के विषय में जब शब्द की  
चेष्टा न होने सारा जागतिक व्यवहार ही लुप्त हो जायगा । अतः एक शुभ्र स्व-  
प्रकाशविमर्शवाली सत्ता को अवश्य स्वीकार कीजिये ॥६५-६६॥

जब पूर्वोक्त रीति से ( पदार्थों के ज्ञान के लिए ) अनुमान की सार्थकता नहीं  
है तो पक्ष आदि का फिर कोई उपयोग नहीं है । अहीरों के घट में वर्तमान भ्रम से



न भाण्डे शक्यते धूमः प्रवेष्टुं वह्निर्वजिते ।  
 तस्माद् वर्णनिकैवेयं परस्यान्ध्याय कल्पिता ॥६८॥  
 यैरुक्तं सिद्धसाध्यत्वं सामान्ये तत्र दूषणम् ।  
 अत्रेति तत्प्रयोगत्वाद्दिग्देशाद्यैर्विशेषिता ॥६९॥

शक्तत्वं निरूप्येदानीमनुमानस्याङ्गभूतपञ्चादिकस्याभिद्धि सन्दर्शयति—अनुमानमिति ।  
 यदाऽनुमानमेव ज्ञानस्य साधकं नास्ति तदा पञ्चादेः क उपयोगः ? निरर्थकः पक्षादिः—  
 इत्यर्थः । गोपालघटिकेति—अयमभिप्रायः—पुरा गोपाला गोष्टे द्रुग्धं द्रुग्ध्वा  
 तत् उष्णं कर्तुं गोष्ट एव खनि खनित्वा तत्र मुष्ककरीषं संस्थाप्याग्निना तत्सन्दीप्य  
 मुद्भाण्डस्थितं द्रुग्धमुष्णयन्ति स्म । करीषादुत्थितो धूमः तस्मिन् मृन्मये घटेऽनवरतं  
 नृदुर्महुः पतति स्म; ततश्च वह्निर्गच्छति स्मेत्यधुनाऽपि यत्र तत्र ग्रामटिकासु द्रष्टुं  
 शक्यते । तेन गोपालघटिकामंस्थेन धूमेन ततोऽन्वैश्च घटिता = संयुक्ता, गोपाल-  
 घटिका न सम्भवति पक्षरूपेण वस्तितुमित्यर्थः । तत्र हेतुमाह—असम्भवत् इति ।  
 तत्र बह्नेरभावाद् धूमस्यासम्भवादित्यर्थः । अयमाशयः—आभासवस्तुत्वादिनां  
 मतेऽनाभासाग्निः अवस्तु, अवस्तुत्वाच्च न न धूमस्य कारणमिति । तेन धूमान्न्योः  
 कार्यकारणभावाभावे न धूमेनान्नेरनुमानं शक्यम् ! गोपालघटिका च तदा न पक्षत्वेन  
 स्थातुं शक्या । तदेव विवृणोति—न भाण्ड इति । अग्निरहिते भाण्डे = नद्रुग्धे  
 मृन्मये पात्रे धूमः प्रवेष्टुं न शक्यते । तस्मात् इयम् = पूर्वोक्ता वर्णनिका = कुस्मित-  
 वर्णनाः परस्य = मूर्खस्य अवागममजानतः पुरुषस्य, आन्ध्याय = जाड्याय एव  
 कल्पिता = रचिता ॥६७-६८॥

तनु—“विशेषेऽनुगमाभावात्सामान्ये सिद्धसाधनात् ।

.....अनुमानकथा कुतः ॥”

इति वचनादनुमानस्यानुपयोग एव ज्ञान इति ? तत्राह—यैरिति । ये = यौद्धेः  
 सामान्ये = वह्निवत्त्वसामान्यस्यानुमिती, सिद्धसाध्यत्वदूषणमुक्तम्; तत्र । अयमा-

अग्नि का अनुमान तो सम्भव नहीं ही है उससे भिन्न अन्यत्र घट आदि में वर्तमान  
 धूम से भी अग्नि की अनुमिति होगी ऐसा भी सम्भव नहीं है । क्योंकि अग्निरहित  
 घट में धूम का प्रवेश सम्भव नहीं है । इस कारण धूम से अग्नि के ज्ञान का यह  
 वर्णन दूसरे को अन्धा अर्थात् मूर्ख बनाने के लिए है ॥६७-६८॥

जिन यौद्धों ने अनुमान के बारे में सिद्धसाध्यत्व दोष की चर्चा की थी उसके  
 विषय में हमें यह कहना है कि जहाँ तक वह्निसामान्य के ज्ञान की बात है वहाँ  
 यह दोष नहीं है क्योंकि अनुमान के द्वारा वह्निसामान्य का ज्ञान होता ही नहीं  
 कारण उगका सर्वत्र अस्तित्व है ही; ( अपितु पर्वतीय आदि विशिष्टवह्नि का ज्ञान



न सर्वेषां विशेषाणां प्रत्यक्षेऽपि भवेद् ग्रहः ।

विशेषपूर्वताऽध्यक्षेऽविशेषोऽस्त्यनुमानतः ॥७०॥

अतो नास्त्यनुमानस्य दूषणाद्यैः प्रभाषितैः ।

तेन पूर्वोक्त्या नीत्या भावानां स्वग्रहः स्थितः ॥७१॥

नाप्यामवचनग्राह्यः, सामान्याद्वा विशेषतः ।

सामान्यादनुमानोक्तदूषणं, तद्विशेषतः ॥७२॥

शयः—धूमेनाग्नेरनुमिति न वल्लिष्यमामान्यस्यानुमाः तस्य सर्वत्र सत्त्वान्, अनुमानेन च नस्य ज्ञानासम्भवात् । तेन वल्लि पर्वतीयत्वमस्ति न वेति संशीली धूमदर्शनात् वल्लेः पर्वतीयत्वस्यैवानुमितिः । तदेवाह—अत्रेति । 'अत्र पर्वते वल्लिः; धूमान्' इति दृष्टान्ते, तत्प्रयोगत्वात् = अत्र पर्वते इति विशिष्टशब्दप्रयोगात् दिग्देशाद्यैः, आदिना कालो ग्राह्यः विशेषिता अनुमितिः इति शेषः ॥६९॥

प्रत्यक्षेऽपि = प्रत्यक्षप्रमास्थलेऽपि सर्वेषां विशेषाणां घटपटादीनाम्, ग्रहः = ज्ञानम्, न भवति । विशेषपूर्वताऽध्यक्षे = प्रत्यक्षस्थलेऽपि विशिष्टमयैव ननु सामान्यस्य, ज्ञानमत्त्वात्, अनुमानतः = अनुमितेः, अविशेषः = वैशिष्ट्याभावः । प्रत्यक्षानुमानयोर्न किञ्चिदन्तरमित्यर्थः । अतः = तस्मात्, प्रभाषितैः उपर्युक्तैः दूषणाद्यैः, अनुमानस्य अस्ति = अस्तित्वम्, न = नास्ति । पदार्थानां ज्ञप्तौ निष्प्रयोजनानुमितिरित्यर्थः । प्रत्यक्षानुमानयोर्दूषणमभिधायेदानीं प्रकृतमनुसरन्नाह—तेनेति । पूर्वोक्त्या = 'अमूर्ताश्च तथा सर्वे सर्वे ज्ञानक्रियात्मकाः' इत्यादिकया, नीत्या = सिद्धान्तमरण्या, भावानाम् = घटपटादिपदार्थानाम्, स्वग्रहः = स्वस्य स्वयमेव ज्ञानम्, स्थितः = सिद्धान्तितः ॥७०-७१॥

होता है ) इसके अतिरिक्त अनुमान में 'अत्र' शब्द का जब प्रयोग करते हैं तब तो अग्नि दिशा स्थान काल आदि से विशिष्ट हो गई फिर वह सामान्य कहा रही ? इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष स्थल में भी सभी विशेष वल्लि का तो ज्ञान होता नहीं किसी विशेष का प्रत्यक्ष होता है । इस प्रकार जब प्रत्यक्ष भी किसी विशिष्ट पदार्थ का होता है और अनुमान भी विशिष्ट का ही तो फिर अनुमान से प्रत्यक्ष का वैलक्षण्य कुछ भी नहीं रहता । इस प्रकार ऊपर कहे गये दोष आदि के कारण पदार्थों के ज्ञान के विषय में अनुमान का अस्तित्व ही नहीं है । इसलिये पूर्वोक्त मरणि के द्वारा यह समझना चाहिये कि पदार्थों का ज्ञान स्वयं होता है । अर्थात् पदार्थ अपना ज्ञान स्वयं कराते हैं न कि उनके ज्ञान के लिये किसी अन्य साधन की आवश्यकता पड़ती है ॥६९-७१॥

आप्तवचन से भी पदार्थों का ज्ञान सम्भव नहीं है । क्योंकि पदार्थों का ज्ञान या

प्रत्यक्षत्वं प्रसज्येत, तथाऽऽप्तत्वेऽप्यनिश्चयात् ।

स्वातन्त्र्यं न च शब्दस्य रचनात्वेन युज्यते ॥७३॥

पदार्थप्रमिती प्रत्यक्षानुमानयोः प्रामाण्यं निरस्येदानीमाप्तवाक्यस्य प्रामाणिक-  
त्वनिरमनायोपक्रमते—ताप्याप्तवचनग्राह्य इत्यादिना । पदार्था आप्तवचनैरपि ज्ञानं  
न शक्याः । तनु ब्रुवतामेव भवान् किं पदार्था आप्तमामान्याद् ज्ञायन्ते भवता ?  
तद्विशेषाद् वा ? आप्तसामान्याच्चेदनुमानोक्तं दूषणमत्रापि प्रसज्येत । न सर्वेषा-  
माप्तपुरुषाणामाप्तवचनानां वा एकत्र समवायः शक्यः । तदेवाह—सानान्या-  
दनुमानोक्तदूषणमिति । अथ तद्विशेषतः = आप्तविशेषस्य वचनाद् भवति  
पदार्थग्रह इति चेत् ? प्रत्यक्षत्वं प्रसज्येत । तत्त्वित्थम्—यदा शिशुं सम्बोध-  
यन्ती माता पुरःस्थितं काकमभिलक्ष्याद्भुल्या शिशवे तं दर्शयन्ती ब्रूते—‘वत्स !  
काकः’ । तदा शिशुः ककारोत्तराकारोत्तरककारोत्तरात्वरूपानुपूर्वीकाकशब्दस्य  
श्रावणप्रत्यक्षं करोति काकव्यक्तेश्च चाक्षुषं प्रत्यक्षमिति काकज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वं  
सिद्धम् । दूषणान्तरमाह—तथेति । क्रोधरागादिभिरुपहत आप्तोऽपि कदाचित्स्वा-  
प्तत्वं जह्यात् । यथा क्रुद्धा माता किञ्चिद्वस्त्वभिलक्ष्य ‘मातः किमिदम् ?’ इति  
पृच्छन्तं शिशुं ब्रवीति—‘अपेहि ! तव मुखम्’ । इति । रागाद् यथा पितुः प्रतिकृति  
समक्षमवलोक्य पुत्रं दर्शयन्ती कथयति—‘वत्स ! तव पिता ।’ इत्युभयत्र तस्या  
अनाप्तत्वम् । यत्र च न पुरुष आप्तः किन्तु शब्दस्यैवाप्तत्वं तत्र दोषमाह—स्वा-  
तन्त्र्यमिति । शब्दाः, न स्वतन्त्राः; रचनात्वेन कस्यचिदधीनत्वात्, घटादिवत्—  
इत्यनुमानम् । इत्थं शब्दानां बुद्धिमत्कृतरचनावत्त्वात् स्वातन्त्र्याभावः; तेन च  
शब्दानां पदार्थबोधोजनकत्वमिति तात्पर्यम् । तत्रापि = शब्दद्वारापदार्थग्रहणेऽपि ।  
व्यञ्जकापेक्षा = व्यञ्जकस्य पुरुषस्यावश्यकता ॥७२-७३॥

तो आप आप्तसामान्य से मानेंगे या आप्तविशेष से । यदि आप्तसामान्य से पदार्थों  
का ज्ञान मानते हैं तो अनुमानोक्त दोष यहाँ भी उपस्थित हो जायगा । और यदि  
आप्तविशेष के द्वारा मानते हैं तो फिर वह प्रत्यक्षप्रमाण ही हो जायगा । इसके  
अतिरिक्त आप्तपुरुष का आप्तत्व भी निश्चित नहीं है क्योंकि वक्ता अनाप्त भी हो  
सकता है । जहाँ पुरुष नहीं शब्द ही आप्त माना जाता है वहाँ भी शब्द का  
स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है । क्योंकि रचना अर्थात् उत्पत्ति का विषय होने से वह  
पराधीन है । यह तो शब्दानित्यत्ववादी के पक्ष की बात रही । जो लोग शब्द का  
नित्य मानते हैं उनके यहाँ भी नित्यशब्द को व्यवहार जगत् में चलाने के लिये  
व्यञ्जक की अपेक्षा होती है । इस कारण नित्यशब्द भी पराधीन है । अतः शब्द से  
ज्ञान सम्भव नहीं ॥७२-७३॥

तत्रापि व्यञ्जकापेक्षा स्यात् परायत्तैव हि ।

अर्थापत्त्यादिना नापि तदनर्होपयोगतः ॥७४॥

प्रतिभा च प्रमाणत्वे वर्ण्यमाना न शोभते ।

काकतालीयरूपत्वादश्वदेस्तरणादथ ॥७५॥

तदहर्जातिकस्यापि वासना साऽन्यजन्मजा ।

तत्तज्जातीयधर्मो वा तथा ज्ञानस्वभावता ॥७६॥

ननु मा भूत् प्रत्यक्षानुमानयद्भिः पदार्थानां ग्रहणम्, अर्थापत्त्यादिप्रमाणैस्तु भवितुं शक्नोत्येवेति तन्निमित्तमुमाह—अर्थापत्त्यादिनेति । नापि = भावानां ग्रहणं न सम्भवति । तत्र हेतुमाह—तदनर्होपयोगत इति । तस्याः = अर्थापत्त्यादेः अनर्होपयोगतः = अयोग्यस्थले उपयोगान् । अर्थापत्तेरुपयोगस्तु नत्र युक्तो यद्योपपाद्यस्य प्रत्यक्षं ज्ञानमस्ति उपपादकस्य च नास्ति । तत्रोपपादकस्य कल्पना क्रियते । अत्र तु पदार्थग्रहणे न तादृशी स्थितिः । प्रतिभा = नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञाऽपि; प्रमाणत्वे = पदार्थज्ञानस्य साधनरूपेण, वर्ण्यमाना न शोभते । काकतालीयरूपत्वात् । काकतालीयन्यायो यथा—एकदा कश्चित् काक उड्डयमानो गच्छन्नासीत् । स यदा एकस्य तालवृक्षस्याधस्तात् प्रातस्तदैवैकं तालफलं तस्योपर्यपतत् मृतश्च सः । एवमेवाश्वतरणन्यायोऽपि यथा—अश्वो भूमौ धावतीत्यस्य स्वभावः । कदाचित् भूमौ धावन्नश्वः नदीं प्रातः, तत्र प्रविष्टश्च नदीमतरन् पारं च गतः । तेनाश्वस्य स्वभावो नदीतरणस्येति न निश्चेतव्यम् । तथैव कदाचित् केनचित् प्रातिभज्ञानेन पदार्थो ज्ञान इति न प्रतिभा सर्वत्र पदार्थज्ञानसाधनमिति पदार्थानां ग्रहणं न केनापि प्रमाणेन सम्भवति इति सिद्धान्तितं ग्रन्थकर्त्रा ॥७४-७५॥

ननु पदार्थाः स्वात्मनैवात्मनं ग्राह्यन्तीति सिद्धान्तिरिति प्रोढपुरुषवर्त्यन्तःकरणस्य प्रोढत्वात्तस्य ग्रहणशक्तिः समर्था पदार्थग्रहणायेति भवतु नाम तस्य पदार्थ-ग्रहणम्, सद्योजातस्यार्भकस्य त्वपुष्टान्तःकरणत्वात्कथं स्तनपानादौ प्रवृत्तिरिति चेत् ? तत्राह—तदहर्जातिकस्यापीति । 'स्तनौ पेयौ' 'दुग्धं मधुरम्' इत्याकारा या सद्यो-

अर्थापत्ति आदि प्रमाणों के द्वारा भी पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता, क्यों कि उसका उपयोग सर्वत्र योग्य या उचित नहीं है । प्रतिभा का भी प्रमाण मानना अशोभनीय है क्यों कि वह तो काकतालीय या अश्वतरण जैसा है । इस प्रकार पदार्थों का ज्ञान किसी भी प्रमाण से असम्भव है ॥७४-७५॥

प्रश्न है कि प्रोढ़ प्राणी को पदार्थ अपना ज्ञान इस लिये करा देते हैं कि उनका मन या अन्तःकरण उसके योग्य होता है किन्तु सद्योजात शिशु को 'दुग्ध मीठा है या पीने योग्य है' इत्यादि ज्ञान कैसे होता है क्यों कि वह तो अपुष्ट अन्तःकरण वाला



व्यापकत्वाच्छिवत्वस्य सर्वज्ञत्वाद् भवेदथ ।

तस्मादेतच्च संज्ञेयं सर्वः स्वात्मानमात्मना ॥७७॥

जानन्नवस्थितो दूरे स्वर्गादौ निरपेक्षवा ।

प्रत्यक्षादिप्रक्रियायास्तथा शिवकृतस्थितेः ॥७८॥

नौतरभ्रान्तिनाशादौ सम्यग्दृष्टिसमुद्गमात् ।

यमसैनिकसदृष्टिधरादेशचलनोद्गमात् ॥७९॥

जातस्य शिशोर्वाग्मना मा अन्यजन्मजा = पूर्वजन्मजा । अथवा पृथक् पृथक् जातीनां धर्मोऽपि पृथगेव भवति: यथा पशूनां शिखरो जन्मदिनत एव चलन्ति धावन्तीति । तथा = एवं च तेनैव रूपेण, ज्ञानस्वभावता सद्योजानस्य शिशोः स्तनपानादौ इति शेषः । यतो हि शिवो व्यापकः सर्वज्ञश्च, सर्वे च प्राणिनः शिवस्वरूपाः, तस्मात् = तेन हेतुना, एतच्च संज्ञेयम् = सम्यगवधार्यम् यत् सर्वं स्वात्मानमात्मना जानन् गच्छति । स च स्वयं वा भवतु नरके वा, आत्मनाऽऽत्मजानस्य विषये चिक्कालकृताचरोधो नामनोऽर्थः । आत्मनाऽऽत्मनः प्रत्यक्षे एषेव प्रक्रिया प्रौढादानां कृते । बालानां च कृते, शिवकृतस्थितिः = परमशिवेनतादृशी व्यवस्था कृता यथा बालोऽपि स्तनपानादौ दृष्टमात्मनबुद्ध्या प्रवर्तते ॥७९-७८॥

नावा तरतीति नौतर' तस्य भ्रान्तिः = नावाकडे मते 'तटस्था वृक्षादयो विपरीतदिशं चलन्तो धावन्तो वा सन्ति' इत्येवंरूपो भ्रमः, तस्य नाशे, नौत अवकडे अहमेव नावाकडो नावा सह चलन्नामम्, नेमे वृक्षादयः इति सम्यग्दृष्टेः = यथार्थ ज्ञानस्य, समुद्गमात् = समुदयान्; काऽन्या भवति चेतनः—इत्यनेनान्वयः ।

है ? उत्तर है कि उसके अन्दर ज्ञान की वाग्मना या संस्कार होता है जो पूर्व जन्म में अर्जित किया गया रहता है अथवा भिन्न भिन्न जाति के प्राणियों का भिन्न भिन्न धर्म होता है और इस प्रकार तत्तत्स्वभावानुकूल ज्ञान होना उनका स्वभाव हो जाता है । चूंकि शिव व्यापक है और सर्वज्ञ है अतः सर्वत्र सब प्रकार का ज्ञान होता है । इसलिये यह मान लेना चाहिये कि सब कुछ, चाहे वह दूर स्वर्ग में हो या नरक में, सर्वत्र अपने द्वारा अपने को जानते हुए स्थित है । यह मानना पड़ता है कि प्रौढ़ व्यक्ति के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष आदि की प्रक्रिया ही ऐसी है । और जहाँ बाल आदि के विषय में प्रत्यक्ष भी सम्भव नहीं वहा यह मानना पड़ता है कि शिव के द्वारा रची गई ज्ञान की स्थिति ही वैसी है ॥७९-७८॥

नाव के द्वारा नदी इत्यादि में चलने वाले व्यक्तियों का भ्रम नष्ट होने पर यथार्थ ज्ञान का उदय होने से, यमदूतों की वर्तमान दृष्टि जब समूर्ण व्यक्ति पर पड़ती है तब उसको पृथ्वी धादि चलती हुई दिखाई देने से, जेपनाग के चलने के



भूकम्पनाच्च शेषादिचलना[च्चैव] सर्वतः ।  
 गमागमेन वाय्वादेः काऽन्या भवति चेतना ॥८०॥  
 सर्वत्र देवतात्मत्वाज्जडेष्वप्युपवर्णिता ।  
 पोतादेश्चेदुपायेन दृष्टे दीपाद्युपायता ॥८१॥

हेत्वन्तराण्याह—यमसैनिकेति । यमसैनिकानाम् = यमदूतानां या सदृष्टिः =  
 मृत्युकाले मतो = वर्त्तमाना घोरा भयावहा दृष्टिः तथा भीतचित्तस्य मूर्खोः  
 धरादेः=भुवो गृहादेः, चलनोद्गमात्=गते सर्वे भ्रमि कुर्वन्ति इत्ययथार्थज्ञानोत्पत्तेः ।  
 एतद्द्वयं व्यक्तिगतं यथार्थायथार्थज्ञानमाध्यात्मिकम् । अथाधिभौतिकमाह—भू-  
 कम्पनाच्चैव । शेषः = धराधाराको पुराणांपवर्णिता नागविशेषः । आदिना दिक्-  
 कुञ्जरादयो ग्राह्याः । तत्सर्वस्य चलनात् = स्वस्थानादपगमात् भुवः कम्पनं भवति  
 तस्मान् । इदानीमाविर्देविकमाह—सर्वतः गमागमेनेति । सर्वतः = सर्वत्र पृथिव्यन्त-  
 रिश्वस्वर्लोकादौ वाय्वादेः = आदिना कर्मेन्द्रियज्ञानेन्द्रियमनोबुद्धीनां परिग्रहः ।  
 तस्य गमागमेन = आवागमेन हेतुना का अन्या चेतना भवति ? शिवमपहाय ।  
 तदेव विवृण्वन्नाह—सर्वत्रेति । सर्वेषु स्थानेषु व्यक्तिषु वा देवतात्मत्वात् = शिवात्म-  
 त्वान् । जडेष्वपि = पृथिव्यादिषु अपि उपवर्णिता चेतनेति शेषः । तथा चोक्तम्—

“यत्र यत्र मनो याति ज्ञेयं तत्रैव चिन्तयेत् ।

चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः ॥

“विषयेषु च सर्वेषु इन्द्रियार्थेषु च स्थितम् ।

यत्र यत्र निरूप्येत नाशिवं विद्यते क्वचित् ॥”

( शि० सू० वि० ३-२४ ) इति ।

“तस्माच्छब्दार्थ चिन्तामु<sup>२</sup> न साज्वस्था न या शिवः ।

भोक्तव्य भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ॥”

( स्प० का० २.४ ) इति च ॥ ७९-८० ॥

कारण भूकम्प आने से और वायु आदि के गमनागमन—इन सभी कारणों से प्रश्न  
 होता है कि शिव के अतिरिक्त और कौन चेतना ऐसी हो सकती है जो भिन्न-भिन्न  
 स्थानों पर भिन्न-भिन्न कार्य कर सकती है ? समस्त जगत् चूँकि देवतात्मक अर्थात्  
 शिवात्मक है अतः जड पदार्थों में भी वही चेतना वर्णित है ॥ ७९-८० ॥

अब प्रत्यक्ष जगत् में कार्यकारणभाव में शिवत्व की स्थापना करते हैं—  
 जहाज आदि के ज्ञान का कारण अर्थात् उपाय दीपक आदि जैसे दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष

१. चैत्र इति पाठान्तरम् ।

२. चिन्तामु = विबलपज्ञानादिषु ।

तत्र चेत् सुप्रसिद्धत्वे तथा तत्र प्रसिद्धितः ।  
 तुल्यकालं द्वयोर्द्वैधं नैवं यत् तदलक्ष्यता ॥८२॥  
 तद्देशत्वं पुनः कस्मादिति चेत्तत्तथाऽप्रतः ।  
 भावा मूर्त्तिः सर्व एव सूक्ष्मसूक्ष्मतरादिना ॥८३॥  
 ज्ञेया अवयवेनैते यावद् यावददर्शनाः ।  
 अणूनामथ मूर्त्तत्वादेवं चेत् किं न दर्शनम् ॥८४॥

इदानीं प्रत्यक्षे जगति वर्त्तमाने कार्यकारणभावेऽपि शिवतत्त्वमेवेति धिया प्राह—पोतादेशचेदिति । यथा दृष्टे = प्रत्यक्षे व्यावहारिके जगति, पोतादेः = समुद्रे गच्छतां पोतनावादीनाम्, उपायेन=ज्ञानमाधनेन आगमनमूचकेनेत्यर्थः । दोषादेः = अत्युर्ध्वं लम्बमानस्य प्रकाशकस्य, उपायता = पोताद्यागमनमूचकता । तत्र = दृष्टे जगति, सुप्रसिद्धत्वे = प्रसिद्धा अस्ति । तथा = तेनैव प्रकारेण तत्र = अप्रत्यक्षे सूक्ष्मेऽपि जगति, प्रसिद्धितः = ज्ञानकारणरूपेण वर्त्तमानस्य नस्यचिदपि हेतोः प्रसिद्धत्वात् कः स हेतुर्भवितुमर्हति ऋते शिवतत्त्वात् । द्वयोः = दृष्टादृष्टपदार्थयोः तुल्यकालम् = एकस्मिन्नेव काले, द्वैधम् = द्वित्वम्, भिन्नत्वमित्यर्थः । यत् एवं न = यो हि पदार्थो न दृष्टो नाप्यदृष्टः, तदलक्ष्यता=न पदार्थोऽलक्ष्यो बुद्धेर्विषयो नास्तीति भावः । ननु भवतु नाम दृश्यादृश्यपदार्थानां तुल्यकालत्वं तद्देशत्वम् = तुल्यदेशत्वं तेषां कथं स्यादिति चेत् ? न; तत् = तुल्यदेशत्वम्, यथा स्यात् तथा अग्रे='आत्मेच्छातः स्थिता भावाः' 'स्वशक्त्या घनरूपत्वे' 'एवं सर्वेषु भावेषु' इत्यादिश्लोकोर्वक्ष्यते इति शेषः ।

जगत् में सुप्रसिद्ध है उसी प्रकार अप्रत्यक्ष अर्थात् सूक्ष्म जगत् में भी ज्ञान का कोई न कोई कारण प्रसिद्ध है । एक ही काल में दृष्ट और अदृष्ट का द्वैध अर्थात् द्वित्व या भिन्नता रहती है । जहाँ ऐसा नहीं है वह पदार्थ अलक्ष्य अर्थात् बुद्धि का विषय नहीं है । प्रश्न है कि फिर दृष्टादृष्ट पदार्थों का तुल्यकालत्व तो ठीक है परन्तु तद्देशत्व अर्थात् तुल्यदेशत्व कैसे होगा ? उत्तर है कि यह हम आगे के श्लोकों में बतायेंगे ॥८१-८२३॥

अब मिद्धान्तरूप में पदार्थों की अमूर्त्तता को उपस्थापित करने के लिये पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—जितने मूर्त्त पदार्थ हैं वे सूक्ष्म सूक्ष्मतर अवयवों के द्वारा तब तक जाने जा सकते हैं जब तक उनका देखना असम्भव न हो जाय । प्रश्न है कि फिर मूर्त्त होने के कारण परमाणुओं का भी प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ? उत्तर है कि सूक्ष्म होने में उनका प्रत्यक्ष नहीं होता । पुनः प्रश्न है कि तब तो परमाणुओं में अदृश्यत्व अस्पृश्यत्व और अमूर्त्तत्व ये सभी विशेषतायें आ जायेंगी और

सूक्ष्मत्वात्तर्ह्यदृश्यत्वमस्पृश्यत्वममूर्तता ।  
 तैरदृश्यैर्यदारब्धं तत्तथैवाथ संहतेः ॥८५॥  
 दृश्यत्वं तेषु, संघातात् किं तेषां रूपताक्षतिः ।  
 स्वरूपमिथ्रीभावो वा नैवं चेत्तर्ह्यमूर्तता ॥८६॥  
 ये तत्र पृष्ठतो वृत्तास्ते प्रत्येकममूर्तकाः ।  
 अमूर्तत्वेन भावानां दर्शनं नान्यथा भवेत् ॥८७॥

इदानीं पदार्थानाममूर्तत्वं सिद्धान्तयितुं तेषां मूर्तत्वमुत्थापयति पूर्वपक्षरूपेण—  
 सर्व एवेति । भावाः = पदार्थाः, सूक्ष्मसूक्ष्मतरादिना स्वरूपेण मूर्तिः = आकृति-  
 मन्तः । एते च सूक्ष्मसूक्ष्मतरादिना = चतुरणुकवसरेणुद्वचणुकरूपेण अवयवेन  
 यावत् = यावत्कालम्, यावत् = यावत् परिमाणं च अदर्शनाः = दर्शनायोग्याः न  
 भवन्ति तावत्कालं तावत्परिमाणं च ज्ञेयाः । एवं चेत् = यदा भावाः मूर्तिस्तदा,  
 अणूनाम् = परमाणूनां द्वचणुकानां च मूर्तत्वात् दर्शनम् = प्रत्यक्षम् किम् ? = केन  
 कारणेन नास्ति ?—इति प्रश्नः । तथा हि—महत्त्वे सत्युद्भूतरूपवत्त्वं प्रत्यक्षत्वस्य  
 प्रयोजकम्, तच्च परमाणौ द्वचणुके वा नास्तिगति प्रत्यक्षत्वाभावस्तेषाम् । तदेवांतर-  
 यति—सूक्ष्मत्वादिति; अनुद्भूतरूपवत्त्वादित्यर्थः । ननु तर्हि परमाणूनामदृश्यत्वम-  
 स्पृश्यत्वममूर्तता च स्यात्, तैश्चादृश्यास्पृश्यामूर्तैः परमाणुभिर्यदारब्धं घटादिकं  
 तत् = तदपि घटादिकं तथैव = अदृश्यमस्पृश्यममूर्तं च स्यात्, समानजातीयकार-  
 णानां स्वोत्कृष्टतरममानजातीयकार्यजनकत्वनियमात् इति चेत् ? तत्राक्षेपान्तर-  
 माह—अथ संहतेरिति । भवतु नाम परमाणूनां पार्थक्ये अदृश्यत्वादिकम्, संहतौ  
 सत्यां तु तेषु दृश्यत्वादिकं स्यादिति का हानिः ? स्वोक्तमेव ब्रह्मयति—संघाता-  
 दिति । किं संघातात् तेषाम् = परमाणूनाम्, रूपताक्षतिः = नीरूपत्वम्, स्यात् ?  
 स्वस्य = शिवस्य यद्रूपं तेन सह जडपरमाणुरुपाणां मिथ्रीभावो वा स्याद् येन  
 तेऽदृश्याः सन्नो घटादिकमदृश्यतां नेष्यन्ति ? नैवं चेत् = यद्युपर्युक्तकारणद्वये नाप्येकं

उन अदृश्य परमाणुओं से जो घट पट आदि बनेंगे वे भी उन्हीं का संघात होने  
 से अदृश्य आदि होने लगेंगे ? यदि यह कहें कि संघात में होने के कारण वे दृश्य हो  
 जाते हैं क्या संमूह में आने से उनकी रूपता नष्ट हो जायगी ? या इन जड पर-  
 माणुओं का स्व अर्थात् शिव के रूप में मिश्रण हो जायगा जिससे वे नहीं दिखाई  
 पड़ेंगे ? यदि ऐसा नहीं है तो यह यथार्थ है कि पदार्थ अपने स्वरूप में अमूर्त हैं ।  
 जो पृष्ठभूमि में वर्तमान हैं अर्थात् द्वचणुक और परमाणु, वे प्रत्येक अमूर्त हैं ।  
 पदार्थों के अमूर्त होने के ही कारण सभी पदार्थों का एक साथ दर्शन अर्थात्  
 प्रत्यक्ष नहीं होगा ॥८३-८७॥



ज्ञानस्वरूपग्रहाणां तद्ग्रहात् तद्ग्रहः किल ।  
 अतस्त्वरूपरूपत्वे नान्यस्यान्यग्रहाद् ग्रहः ॥८८॥  
 एवमिन्द्रियशक्तीनां ज्ञानमन्तःप्रवेशनात् ।  
 सामान्या मूर्त्तता व्याप्ता ह्यमूर्त्तत्वं तदग्रतः ॥८९॥

युक्ततरं तर्हि, स्वीक्रियतां भवता तेषाम् = वटादीनाम् अमूर्त्तता । तत्र = वटादिषु ये = अवयवाः परमाणवादयः, पृष्ठतो वृत्ताः = कारणस्वरूपेण वर्तमानाः सन्ति । ते प्रत्येकममूर्त्तकाः सन्ति । अमूर्त्तत्वेन = हेतुना भावानाम् = जगति वर्त्तमानानां सकल-पदार्थानामेककालावच्छेदेनैकेनैव पुरुषेण, दर्शनम् = प्रत्यक्षं न भवति । अन्यथा = यदि भावा अमूर्त्ता न स्युस्मर्हि, भवेत् = सकलपदार्थप्रत्यक्षं स्यात् ॥८३-८७॥

गृह्यन्ते इति ग्रहाः = पदार्थाः ( ग्रहवृद्धिश्चिगमश्च पा० सू० ३.३.५८ ) इत्यनेन 'अप' । ज्ञानमेव स्वरूपं वेष्टाम्, ते च ते ग्रहाः, तेषाम् = ज्ञानस्वरूप-पदार्थानाम्, तद्ग्रहात् = ज्ञानग्रहात्, अनुव्यवसायादित्यर्थः । तद्ग्रहः = पदार्थ-ज्ञानम् । यतो हि पदार्था ज्ञानस्वरूपा अतो ज्ञानस्य ज्ञानेनानुव्यवसायापरपर्यायेणैव पदार्थानां ज्ञानं जायते । बावत्कालमहं घटज्ञानवान्नास्मि तावत्कालं घटज्ञानस्य नैर्ग्रथयामिस्त्वभिप्रायः । तथा चोक्तमीश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्—

'प्रतिपदार्थोऽप्रकाशः स्यात् प्रकाशात्मतया विना ।' इति ।

अतस्त्वरूपत्वे = अज्ञानस्वरूपपदार्थरूपत्वे = यदि पदार्था ज्ञानस्वरूपा न स्युस्तदा, अन्यग्रहात् = ज्ञानग्रहात् = अनुव्यवसायान्, अन्यस्य = पदार्थस्य घटपटादेः, ग्रहः = ज्ञानम्, 'अयं घटः' इत्याकारकम्, न = नैव स्यादित्यर्थः । यतो हि ज्ञानम-मूर्त्तं पदार्थाच्च ज्ञानस्वरूपास्तस्मान्नेषाममूर्त्तत्वे नास्ति सन्देहेत्याशयः । एवमेव अन्तःप्रवेशनात् = अनुव्यवसायात्, इन्द्रियशक्तीनाम् = ज्ञानमैन्द्रियेषु वर्त्तमान-जन्यव्यवसायिहृणादिशक्तीनाम् ज्ञानम् = 'गमयामि' 'वाचयामि' 'शब्दयामि' इत्याकारकं जायत इति शेषः ॥८८-८८९॥

चूँकि पदार्थ ज्ञानस्वरूप है अतः ज्ञान का ज्ञान अर्थात् अनुव्यवसाय होने से पदार्थों का भी ज्ञान निश्चित हो जाता है । यदि पदार्थों को अतस्त्वरूप रूप वाला अर्थात् अज्ञानस्वरूपरूप वाला मानेंगे, तात्पर्य यह है कि ज्ञानस्वरूप नहीं मानेंगे तो अन्य अर्थात् ज्ञान के ग्रह अर्थात् ज्ञान के द्वारा अन्य अर्थात् पदार्थों का ग्रह = ज्ञान नहीं होगा । इसी प्रकार अन्तःप्रवेश अर्थात् अनुव्यवसाय के द्वारा इन्द्रियों को शक्ति का भी ज्ञान होता है ॥८८९॥

चूँकि संसार शिवस्वरूप है या उसका स्वातन्त्र्यबोलाव है अतः सामान्य शिवस्वरूप मूर्त्तता तो सर्वत्र व्याप्त है । विशेष-विशेष स्थानों पर अमूर्त्तता आ



कथमाकारघटना, व्योम्नि नित्येव नीलता ।  
 आत्मेच्छातः स्थिता भावाः स्थितैवासावमूर्त्तता ॥९०॥  
 मायीयत्वे जगति वा प्राकृते वाऽन्यथाऽपि वा ।  
 अमूर्त्तकारणैर्योगात्तन्मूर्त्तत्वं निवार्यते ॥९१॥  
 अविद्यायोगतो वापि शाक्तरूपत्वतोऽपि वा ।  
 ज्ञानस्यापि बही रूपे शब्दरूपेऽपि वा तथा ॥९२॥

ननु पदार्थानाममूर्त्तत्वे सिद्धान्तिने 'प्रत्याभिः प्रसन्नस्तनुभिः' इत्यभिज्ञा-  
 नशाकुन्तलोक्त्या गृह्य विरोधः स्यात्. तत्र भूम्यादेः प्रत्यक्षत्वस्योक्तत्वेन मूर्त्तत्व-  
 सिद्धेः ? इत्याशङ्क्यामाह—सामान्येति । सामान्यरूपेण मूर्त्तता सर्वत्र व्याप्ता, सर्वस्य  
 शिवमूर्त्तित्वात् । तथा चोक्तं संविदुल्लासे—

‘दिशश्च’ मूर्त्तिर्वर्खरी नाममाला यस्यैश्वर्यं देशकालातिलङ्घ्य’ इति ।

तदग्रतः = विधेयपक्षेण हि अमूर्त्तत्वम् पदार्थानामिति शेषः ।

ननु पदार्थानाममूर्त्तत्वे पदार्था नानाकारा नानाकारा यद् दृश्यन्ते तत्कथम् ?—  
 इति शङ्कमान आह—कथमिति । घटपटाद्यारभ्य गिरिग्रीवागारादीनामाकृतयः  
 कथं संजायन्ते प्रत्यक्षीभवन्ति च ? उत्तरमाह—व्योम्नि = स्वच्छे नीरूप आकाशे  
 नित्या = अबाधं प्रतीयमाना प्रत्यक्षोक्तिप्रमाणा नीरूपेव । नृपतेते किमायातम् ?  
 तथाह—आत्मेच्छात इति । पदार्थाः आत्मनः = परमजिबन्ध इच्छातः = स्वेच्छया  
 स्थिताः = उत्पन्नास्मिन्मृत्ति । नवोक्तं श्रीमालिनीविजये—

‘या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।

उच्छा त्वं त्वम सा देवि ! शिगृधोः संप्रवक्षसे ॥’ इति ।

जानी है । अब प्रश्न है कि अमूर्त्त परमाणु आदि में आकार की रचना कैसे होती  
 है ? उत्तर है कि यह उसी प्रकार है जैसे नीरूप आकाश में निम्ननीलता ।  
 परमाधिक रूप में यह कहना पड़ेगा कि परमात्मा अर्थात् शिव की उच्छा ने पदार्थों  
 की सृष्टि है और अमूर्त्तता की उसी प्रकार की उच्छा से है ॥९३-९४॥

संसार को चाहे आप माया का विकास मानें या प्रकृति का कार्य या परमा-  
 णुओं से उत्पन्न, अमूर्त्त कारणों से उत्पन्न होने के कारण उस संसार के मूर्त्तत्व के  
 लक्षण का प्रश्न खड़ा हो उठता है । चाहे उस संसार को अविद्या के सम्बन्ध में  
 उत्पन्न मानिये जैसा कि ब्रह्म मानते हैं, अथवा उसे शक्ति से उत्पन्न मानिये, या  
 विज्ञानवादो बौद्धों जैसे लोगों के मत में उस संसार का ज्ञान का ही बाह्यरूप में  
 अस्तित्व मानिये, अथवा वैयकरणमतानुसार इसे शब्द में उत्पन्न मानिये, किसी  
 भी मत के मानने पर युक्त यही है कि घट आदि का जो बाह्य अस्तित्व है वह  
 एक ही तत्त्व से है ॥९१-९२॥

एतदेव हि युक्तं तु घटादेर्बाह्यमेकतः ।  
 कुड्यादिनिर्गताच्चैव योगिनां कापि दर्शनात् ॥१३॥  
 अग्रकव्यवधानादेरथ चेत् कार्यनाशिता ।  
 पदार्थवित्प्रक्रियया प्रक्रिया प्रक्रियैव सा ॥१४॥

ईश्वरप्रत्यभिज्ञायां च—

‘तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन् ।

भान्तमेवान्तरर्थोऽपि मच्छया भासयेद् बहिः ॥’ इति ।

तथैव असौ = वर्ण्यमाना पदार्थानाममूर्त्ताऽपि आत्मेच्छातः स्थितेत्यु-  
 धेयम् ॥८९-९०॥

जगति = विषये, मायीयत्व = मायाया विकारत्वे, प्राकृते = प्रकृतितः  
 सम्भूते, अन्यथा = परमाण्वाद्विजनिने वा । एतत्त्वयं क्रमशः वेदान्तमांख्यवैशेषिकाणां  
 मतम् । तथापि अमूर्त्तकारणैः = मायादिभिः योगात् तन्मूर्त्तत्वम् = पदार्थानां मूर्त्त-  
 त्वम्, निवार्यते = न न्वीक्रियते । यद्यपि ‘क्रियावन्त्वं मूर्त्तत्वम्’ इति मिद्धान्तेन  
 परमाणुं क्रियामन्वात् तेषां मूर्त्तत्वं वर्तते तथापि सर्वसाधारणप्रत्यक्षविषयत्वाभा-  
 वादत्र तेषाममूर्त्तत्वमुक्तम् । विश्वस्योत्पत्तिविषये मतान्तराण्यह—अविद्यायोगत  
 इति । ब्रौह्ममनानुसारेणैतत् । ब्रौह्मा हि अविद्याया जगदुत्पत्तिं मन्यन्ते । शाक्तहृप-  
 त्वतोऽपि वा इत्यत्र शाक्तमतमकेतः । ज्ञानस्यापि बहोरूपे इति विज्ञानवादिब्रौह्म-  
 मतम् । शब्दरूपेऽपि वा इति वैयाकरणानां शब्दविवर्तवादः । यत्किमपि मतमनुमृत्य  
 विश्वस्योत्पत्तिं मनुतां भवान् एतदेव हि युक्तं यत्, यद् घटादीनामस्तित्वं प्रत्यक्षा-  
 क्रियते बाह्यं तत् एकतः = एकस्मादेव शिवतत्त्वात् ।

ननु परमशिवोऽमूर्त्तः, कथं तस्मादमूर्त्तादिदं मूर्त्तं जगदाविर्भवतीति चेत् ? तत्राह—

यदि आप यह कहें कि वह तत्त्व तो अमूर्त्त है फिर उमसे यह बाह्य मूर्त्त जगत्  
 कैसे उत्पन्न होना है ? तो उत्तर है कि व्यवहार जगत् में भी दीवाल आदि से  
 उत्पन्न होने वाले योगियों का भी कहीं-कहीं प्रत्यक्ष होता है अतः जगत् की उत्पत्ति  
 सन्देह का विषय नहीं । पुनः प्रश्न होता है कि प्रत्यक्ष वर्तमान संसार का व्यवधान  
 अर्थात् अप्रत्यक्ष होने से कार्य अथवा संसार का नाश होता है यह कैसे क्योंकि  
 संसार को तो आप मिद्धान्ती नित्य परमात्मस्वरूप मानते हैं ? उत्तर है कि यह  
 तो तत्तत्पदार्थवेत्ता अर्थात् भिन्न-भिन्न रूप से पदार्थों के बारे में विचार करने  
 वालों की प्रक्रिया से माना जाता है । लेकिन प्रक्रिया तो प्रक्रिया ही है वह यथार्थ  
 परम सत्य है ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि सत्य तो एक है फिर उमके  
 स्वरूप के बारे में भिन्न-भिन्न मत यथार्थ नहीं हो सकते ॥१३-१४॥

कार्यस्य नाशे तत्कार्यकार्ये तत्कार्यनाशिता ।

क्षणलक्षाणि जायन्ते क्रमात् तत्तद्विनाशतः ॥९५॥

तथोत्पत्तौ क्षणानन्त्यमोश्वरेच्छावशादथ ।

क्षण एको न चैवं तच्चेश्वरेच्छाविरोधकृत् ॥९६॥

कुड्यादीति । व्यावहारिकेऽपि जगति योगिनः = निरुद्धचित्तवृत्तिकस्यात् एवाली-  
किकदाकिमतः पुरुषस्य, कुड्यादिनिर्गतात् दर्शनात् = प्रत्यक्षात् नास्ति विचिकि-  
त्याञ्चसरोऽमूर्ताज्जगतः प्रादुर्भावे ॥९१-९३॥

ननु अथकव्यवधानादेः = अग्रे वर्तमानस्य पदार्थजातस्वरूपजगतो यद् व्यव-  
धानम् = अप्रत्यक्षत्वं तदादेः हेतोः कार्यनाशिता = संसारस्य विनाशः = प्रत्यक्ष-  
कार्याभावः इति कथम्, तस्य एकतः = नित्यादुत्पत्तेरिति चेत् ? तत्राह—पदार्थ-  
विदिति—एषा पुरोद्व्यमाना कार्यनाशिता पदार्थविदाम्=पृथग्दृष्ट्या पदार्थविचारणा-  
विधातृणां दार्शनिकानाम् प्रक्रियया = सिद्धान्तसरण्या वर्ण्यते । किन्तु सा = तैर्व-  
णिता प्रक्रिया प्रक्रियैव न यथार्थनेत्यर्थः । यतो हि पदार्थानां याथार्थ्यमेकमेव  
तत्तु तेषां परमार्थतोऽन्वयत्वम् । तेषां विषये वैमत्यं जल्पनामात्रमेव । कार्य-  
नाशिनास्वीकारे आपत्तिं दर्शयति—कार्यस्येति । कार्यस्य = घटादेः नाशे, जाते  
तत्कार्यकार्ये = प्रथमक्षणजायमाननिर्गुणघटोत्पत्तिरूपं यत् कार्य तस्य कार्ये = तत्र  
द्वितीयक्षणे जायमाननीलगीतादिरूपोत्पत्तिस्वरूपकार्ये, तत्कार्यनाशिता = तस्य =  
घटादेः कार्यम् = नाशः घटव्यक्तेः, तत्प्रयोज्यनाशिता = घटव्यक्तिनाशप्रयोज्य-  
नाशिता = घटरूपे भवति । पञ्चमाश्रयाश्रयिनाशेषु क्रमात् तत्तद्विनाशतः=घटनाशे  
कपालद्वयम्, तन्नाशे कपालिकाचतुष्टयमित्वेवंरूपेण क्रमशो द्वयणुकस्य विनाशे  
परमाणुपेक्षां यावत्, क्षणलक्षाणि = अनन्तक्षणानि जायन्ते = व्यतीयन्ति,  
इति कथं पदार्थानां क्षणिकत्वम् ?—इत्याक्षितो बौद्धराजान्तः । पुनराश्रयपति—  
तथोत्पत्ताविति । यथा पदार्थनाशे, तथा पदार्थानामतत्तावपि क्षणानन्त्यमित्यहो-

घटकार्य का नाश होने पर घटकार्य के कार्य घटरूप के विषय में घटनाश  
स्वरूपकार्य की प्रयोज्य नाशिता अर्थात् घटनाश से उत्पन्न होने वाली नाशिता  
होती है । इस प्रकार घटनाश से लेकर घटरूप के नाश तक तत् पदार्थो—घट  
घटरूप आदि, के नाश तक लाखों क्षण लग जाते हैं । इसी प्रकार घट की उत्पत्ति  
में भी आद्योपान्त लाखों क्षण लगने हैं । फिर आप-बौद्ध का क्षणिकवाद कैसे  
उचित माना जाय ? यदि यह कहिये कि ईश्वरेच्छा के कारण घटनाश घटोत्पत्ति  
आदि में एक ही क्षण मानेंगे तो ऐसा उचित नहीं क्योंकि यह मत ईश्वरेच्छा का  
विरोधी है । विश्व के समस्त पदार्थ जो कि लक्ष्य हैं, एकक्षणवस्थाधी हैं, उनकी



एकक्षणत्वं लक्ष्यस्य बहुकालस्य नार्हता ।

क्षणभङ्गात्तु चैवं हि स निवार्य इहाश्रितः ॥१७॥

स्वशक्त्या घनरूपत्वे शिव आस्ते क्वचित्तथा ।

स्थितं सर्वममूर्तत्वे सर्वेषां समता स्फुटा ॥१८॥

सर्वज्ञत्वादशेषस्य तदहर्जातिदारके ।

क्षीरादिके निगलनात् तदा कालेऽप्यशिक्षिते ॥१९॥

विचारनातुर्यं बोद्धवितुम् ! न चेत्पर्यवेष्टावगाहेन एव क्षणः कार्योत्पत्ति-  
विनाशयोरस्त्विति वाच्यम्; तन्मतस्येवमेवेष्टाविरोधाभाविनायुक्तत्वात् । लक्ष्य-  
स्य = पदार्थस्य = एकक्षणत्वम् = एकक्षणधर्ममानत्वम्, बहुकालस्य = पदार्थस्या-  
नेकक्षणस्थितेः; अर्हता न = नास्ति; क्षणभङ्गात् = पदार्थानां द्वितीयक्षणविनाशित्वान्  
एति यद्भवतां सत् न चैवम् = तन्न । सः = क्षणभङ्गात् । कतुं नास्ति 'क्षणपरि-  
णामिनो भाषा ऋते चितिशक्तेः', इति योगसूत्रभाष्योक्तेः किं स्वात्मनम् ? इति  
प्रश्ने परिणामो नाम नैव विनाशः किन्तु स्वात्मरताः सोऽपि न द्वितीयक्षणवृत्तिः  
अपि तु तृतीयक्षणे जायमानः । नेयं प्रवाहनित्यत्वा प्रकृतिविकृतीनाम्; अन्यथा  
कूटस्थनित्यत्वे तु प्रकृतिविकृतेः, संगार एव न स्यात्—इत्यलम्बकता विचारितेन;  
प्रकृतमनुसरामः । शिव एव क्वचित् = पदार्थे, स्वशक्त्या = विमर्शकतया, घन-  
रूपत्वे = स्थूलरूपेण, आस्ते; क्वचित्च सूक्ष्मसूक्ष्मतररूपेणैति । तथा = तन्मात्रं,  
नेन प्रकारेण, सर्वम् = प्रत्यक्षाप्रत्यक्षतया वर्तमानं जगत्, अमूर्तत्वे = यैव्या  
विमर्शस्वभावायां मालिन्याम्, स्थितम् । तेन सर्वेषाम् = चराचराणां स्थूलसूक्ष्माणाम्  
समता स्फुटा; सर्वेषां शिवरूपत्वात् ॥१४-१८॥

परमार्थं निरस्य सर्वेषां न समत्वं संस्थाप्येदानीं केन रूपेण समत्वम् ?—इति  
त्रिजगताप्रशमनाय सर्वज्ञत्वेन साम्यं विगद्यति द्वावभास्तीकैः—सर्वज्ञत्वादि-  
त्यादिभिः । अशेषस्य = निमित्तविश्वप्रसङ्ग-तः, सर्वज्ञत्वात् शिवमपत्तेर्नेति शेषः ।  
तेन हेतुना तदहर्जातिदारके = सर्वज्ञाने शिवा, तदा = तन्मिन् अग्निनेऽपि-  
स्थिति में अनेक क्षणों की योग्यता नहीं है । क्योंकि पदार्थ क्षणभङ्गुर है ऐसा  
आप मानते हैं । किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है । आगे क्षणभङ्ग का खण्डन किया  
जायगा । इसलिये यह मानिये कि शिव ही अपनी शक्ति से वही स्थूल रूप में  
रहता है । परमार्थतः समस्त जगत् अमूर्त शिव में स्थित है अतः सब की तुल्यता  
स्पष्ट है ॥१५-१८॥

चूँकि समस्त ब्रह्माण्ड सर्वज्ञ है इसी कारण संयोजात शिशु जो कि दूध पीने  
की शिक्षा नहीं पाया है फिर भी दूध पीता है । माता के पेट में वर्तमान शिशु



उदरस्थस्य च ग्रासग्रहणान्मातुरन्तरे ।  
 अशिक्षितानां तरणात् प्राणिनां निम्नगाजलात् ॥१००॥  
 सर्वज्ञत्वे न किं सर्वे सर्वज्ञाः स्युः शरीरिणः ।  
 सर्व एव हि सर्वज्ञा मनःसंकल्पनावशात् ॥१०१॥  
 संकल्पकेन चित्तेन तत्तज्ज्ञानमसंशयम् ।  
 संकल्पानां च सत्यत्वं पुरस्तात् प्रतिपादितम् ॥१०२॥

काले, क्षीरादिके विषये निगलनात् = पानान् सर्वज्ञत्वं स्फुटम् । सर्वज्ञत्वे हेतुन्तर-  
 माह—उदरस्थस्येति । मातुरन्तरे = जननीकुक्ष्यभ्यन्तरे, उदरस्थस्य = गर्भस्थस्य  
 निशोः, ग्रासग्रहणात् = मात्राश्रितरीतादिजनितरमादानात् । यथोक्तं गर्भोप-  
 निषदि = “सप्तमे मासे जीवेन संयुक्तो भवति ( गर्भः ) अष्टमे मासे सर्वलक्षण-  
 सम्पूर्णो भवति । अथ मात्राश्रितपीतनाडीसूत्रगतेन प्राण आप्यायते ।” इति ।  
 अन्यच्च अशिक्षितानाम् = जडानाम्, प्राणिनाम् = महिषगोश्ववादीनाम्, निम्नगा-  
 जलात् तरणात् उदाहरणान् सर्वज्ञत्वे मिथे किं सर्वे शरीरिणः आकृमेरा च महत्तम-  
 तिमान्द्रं यावन् सर्वज्ञा न स्युः ? स्पृरेवेति काववा योजनीयम् । स्वोक्तमेव द्रष्टव्यं—  
 सर्व एवेति । मनःसंकल्पनावशात् सर्व एव सर्वज्ञाः । नास्त्यत्र सन्देहलेश इति  
 हीत्यनेन सूचितम् ॥१०१-१०१॥

संकल्पस्य महत्त्वमुपदर्शयति—संकल्पकेनेति । संकल्पोऽस्यास्तीति संकल्पकः  
 ‘शेषाद्विभाषा’ ( पा० सू० ‘१.४.१५४’ ) इति कप् तेन, संकल्पवता दृढनिश्चय-  
 वतित्यर्थः । चित्तेन = मनसा; तत्तज्ज्ञानम् = भिन्नभिन्नविषयाणां ज्ञानम्,  
 असंशयं भवतीति शेषः । तथा च पानञ्जलयोगसूत्रम्—‘प्रातिभाद्वा सर्वम्’  
 ( ३.३३ ) ‘प्रातिभं नाम तारकं तेन वा सर्वं जानाति योगी’ इति तद् भाष्यमपि !

माता के द्वारा खाये पीये अन्न जल के रस को ग्रहण करना है: कुत्ते गाय भैंस  
 आदि अशिक्षित प्राणी भी नदी आदि पार कर जाते हैं इससे भी समस्त जगत्  
 की सर्वज्ञता सिद्ध होती है ॥१०१-१००॥

जब व्यापक परमात्मा शिव सर्वज्ञ है और संसारस्वरूप भी वही है तो  
 क्या सभी शरीरधारी सर्वज्ञ नहीं होंगे ? अवश्य होंगे । मन के संकल्प के कारण  
 सभी सर्वज्ञ हैं । चित्त यदि दृढनिश्चय वाला है तो तत्तत् पदार्थों का यथार्थ  
 ज्ञान होता ही है । संकल्प सन्त्य होने हैं यह बात पहले सिद्ध की जा चुकी है  
 ॥१०१-१०२॥

सर्वभावग्रहणतायोग्यत्वाद्वा क्रमस्थितेः ।  
 प्रत्यक्षाद्यैरुपायैर्वा निरुपायतयाऽपि वा ॥१०३॥  
 तत्तद्रूढिवशाद्वापि सर्वज्ञत्वप्रवर्तनात् ।  
 सर्वे सर्वात्मभावेन सर्वज्ञा वा व्यवस्थिताः ॥१०४॥  
 सर्वे भावाः स्वमात्मानं जानन्तः सर्वतः स्थिताः ।  
 मदात्मना घटो वेति वेद्यचहं वा घटात्मना ॥१०५॥

संकल्पानां च सत्यत्वं पुरस्तात् = प्रभमाद्याह्निकेषु प्रातिपादितम् । अत्रान्यपि कारणाभ्यावेदयति सर्वज्ञत्वस्य—सर्वाभावैत्यादिना । क्रमस्थितेः = क्षणतत्क्रमयोरनवधानाभ्यामपि, सर्वाभावग्रहणतायोग्यत्वात् = अतोनानागतवर्तमानस्थूल-सूक्ष्मसकलपदार्थज्ञाने योग्यत्वमाधानि । तथा च योगसूत्रम्—'क्षणतत्क्रमयोः संयमाद् विवेकजं ज्ञानम्' ( ३.५२ ) । योगजप्रत्यक्षाद्यैरुपायैः निरुपायतया = आगमशास्त्रेषु वर्णितेनानुपायेन, वा, तत्तद्रूढिवशात् = गुरुवरम्बराः वा सर्वज्ञत्व-प्रवर्तनात् सर्वज्ञत्वं स्थिरमिति शेषः ॥१०२-१०३॥

उक्तक्रमेण सर्वज्ञत्वस्यागमभावनाकणिकामपि निरख्येदानीं निरग्नफलमाह—  
 सर्वे = पदार्थाः सर्वज्ञाः सन्तः सर्वात्मभावेन व्यवस्थिताः । सर्वज्ञानां सर्वात्मभावेन न केवलं स्थितिरेव, अपितु ते घटादय आत्मानमपि जानन्तस्तिष्ठन्ति; तदेवाह—  
 सर्वे भावा इति । मदात्मनेति । सर्वात्मभावेनावस्थितेः स्वरूपं विशदयति—'अहं घटं जानामि' इति व्यावहारिके ज्ञाने परमार्थतो द्वयी स्थितिः घटो मदात्मना वेति अहं च घटात्मना वेद्मि । अत्र ज्ञानविषयत्वं ज्ञानाधिकरणत्वं चोभयत्रेति लक्षितं ग्रन्थकर्त्रा । अतः परं सर्वस्य शिवात्मकत्वात् शिव एव ज्ञानकर्त्ता न तु कश्चिदन्य

सभी पदार्थों के ज्ञान की योग्यता प्राप्त होने से, क्षण और उनके क्रमों में संयम करने से, योगज प्रत्यक्ष आदि उपायों से, प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में वर्णित अनुपाय से, अथवा गुरुवरम्बरा के द्वारा सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है । अथवा यह कहिये कि सब कुछ सर्वात्मभाव के द्वारा सर्वज्ञ के रूप में स्थित है ॥१०३-१०४॥

मर्त्य सब पदार्थ अपने आपको जानते हुए स्थित है । घट मेरे रूप में अर्थात् ज्ञाता के रूप में स्वयं को जानता है । मैं अपने को घटरूप में समझता हूँ । मैं अपने को मदाशिव के रूप में जानता हूँ और सदाशिव अपने को मेरे रूप में जानते हैं । यजदत्त अपने को शिव के रूप में और शिव अपने को यजदत्तरूप से जानते हैं । घट अपने को सदाशिवरूप में और सदाशिव अपने को घटरूप में

सदाशिवात्मना वेद्यि स वा वेत्ति मदात्मना ।  
 शिवात्मना यज्ञदत्तो यज्ञदत्तात्मना शिवः ॥१०६॥  
 सदाशिवात्मना वेत्ति घटः स च घटात्मना ।  
 सर्वे सर्वात्मका भावाः सर्वसर्वस्वरूपतः ॥१०७॥  
 सर्वस्य सर्वमस्तीह नानाभावात्मरूपकैः ।  
 मद्रूपत्वं घटस्यास्ति ममास्ति घटरूपता ॥१०८॥  
 नानाभावैः स्वमात्मानं जानन्नास्ते स्वयं शिवः ।  
 चिद्व्यक्तिरूपकं नानाभेदभिन्नमनन्तकम् ॥१०९॥

इति निदर्शयति—सदाशिवात्मनेति । स एव देवदत्तयज्ञदत्तादिजानृत्वेण घटपटादि  
 जैयस्त्वेण कदाचिन्, कदाचिच्च विपरीतरूपेण सर्वत्र सर्वं जानाति । स च =  
 शिवश्च । सर्वस्य सर्वज्ञत्वं शिवमयत्वं च निर्वर्णयितुना सर्वस्य सर्वरूपत्वमुपवर्णयितु-  
 मुपक्रमते—सर्व इति । सर्वे भावाः = पदार्थाः सर्वात्मकाः । सर्वस्य सत्त्वं सर्वत्र  
 वर्तते—इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—सर्वसर्वस्वरूपत इति । सर्वस्यापि पदार्थस्य सर्व-  
 पदार्थस्वरूपत्वात् । सर्वस्य = जडचेतनपदार्थस्य, नानाभावात्मरूपकैः = भिन्नभिन्न-  
 पदार्थस्वरूपेण, सर्वमस्ति = घटपटदेवदत्तादिकं सर्व रूपमस्ति । एतदेवोदाहरणेन  
 दर्शयति—मद्रूपमिति । यः इत्युपलक्षणं सकलपदार्थजानस्य । मदित्यपि सकलव्यक्ते-  
 रूपलक्षणम् । उपनहरति—नानाभावैरिति । शिवः कर्ता स्वयम् = अद्वितीयः,  
 नानाभावैः = भिन्नस्वरूपैः करणैः, स्वमात्मानम् = कर्म, जानन्नास्ते = जानक्रिया-  
 वानस्ति । एवं यदिदं विद्वं पुरोदृश्यमानं विचित्रतया राजमानमस्ति नानाभेदभिन्न-  
 मनन्तकं च, तदेतन् चिद्व्यक्तिरूपकम् = चित्तोऽभिव्यक्तिस्वरूपम् । तदेवोक्तं क्षेम-  
 राजेन—चित्तिः स्वतन्त्रा विश्वसृष्टिहेतुः, 'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति'  
 'तज्ज्ञाना, अनुरूपग्राह्यग्राहकभेदात्' ( प्र० ह० सू० १.२.३ ) ।

इदानीं प्रकरणमुपसंहरन्माह—एवमिति । एवम् = पूर्ववर्णनानुसारम्, सर्वेषु  
 भावेषु सर्वसाम्ये व्यवस्थिते = गिद्धान्तिने; सर्वे सर्वगतं शिवरूपं च इति  
 निरूपितमनेन प्रकरणेनेति शेषः । तदेवोक्तं—स्पन्दनिर्णये—

जानते है । सभी पदार्थ सभी पदार्थों के समस्त स्वरूप में वर्तमान है । नाना द्रव्य  
 के रूप में सबका सब कुछ है । घट का रूप मेरा है, मेरा रूप घट का है । इस  
 प्रकार शिव भिन्न-भिन्न पदार्थों के रूप में अपने को जानते हुए स्थित है । यह  
 अनेक भेदों से भिन्न अनन्त विश्व एक चिन् शक्ति की अभिव्यक्तिमात्र है ।  
 इस प्रकार सभी पदार्थों में सबकी समता निश्चित होने पर यह मानिये कि सर्वत्र



एवं सर्वेषु भावेषु सर्वसाम्ये व्यवस्थिते ।  
तेन सर्वगतं सर्वं शिवरूपं निरूपितम् ॥११०॥

यस्मात् सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्गमात् ।  
तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तिः ॥२३॥  
तस्माच्छब्दार्थचिन्तासु न साऽवस्था न या शिवः ।  
भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ॥ २.४॥

इति सर्वमवदातम् ।

इति श्रीराधेश्यामचतुर्वेदिहताया श्रीशिवदृष्टिवृत्तौ पञ्चममालिकम् ।

शिव ही है । इसलिए सब कुछ जो सर्वत्र वर्तमान है शिवस्वरूप है यह बतलाया गया ॥१०५-११०॥



## अथ षष्ठमाह्निकम्

अथ शक्तेः शक्तिमतो न भेदो द्रव्यकर्मवत् ।  
 स्थापितो द्रव्यतो भिन्ना क्रिया नो न च नास्ति सा ॥१॥  
 एवं तथा शक्तिमतः शक्तस्य समवस्थिता ।  
 जगद्विचित्रता शैवे न पुनर्दर्शनान्तरे ॥२॥  
 यथा प्रकल्पिता चित्रा चित्रब्रह्मादिवादिता ।  
 नानात्मवादितां यावत् तत्सर्वं प्रविचार्यताम् ॥३॥

वृत्तिः— चिदात्मा विश्वात्मा प्रथयति निजैश्वर्यवपुषा  
 जगन्नोपादानं विक्रियनिजोल्लामविभवात् ।  
 न मिथ्या नो शून्यं प्रकृतिविकृतिर्वा न च परं  
 हृदिस्थं सत्यं, तं मुदितमनसा नोमि परमम् ॥

गताह्निके “सर्वेषु भावेषु सर्वसांभवे व्यवस्थिते सर्वगतं सर्वं शिवरूपम्”  
 इति व्यवस्थापयन् उच्छाजानक्रियारूपाणां शक्तीनां शिवतत्त्वादभेदं प्रदर्श्य विश्व-  
 स्मिन्नस्मिन् कुत्रापि ‘न जातु चिद् विभेदितम्’ इति संसाध्यास्मिन् पष्ठाह्निके  
 अनेकेषां वेदान्तबोद्धादीनामाम्बविषयकं शक्तिव्यवस्थितं च मिद्धान्तं निरस्यन् एक-  
 शिवतत्त्वस्य च सर्वत्र समदर्शनत्वं प्रतिपिपादयिष्युष्मकमते—अथेति । द्रव्यकर्मवदिति-  
 यथा न्यायवेद्येयिकमते ‘क्रियाश्चयत्वं द्रव्यत्वम्’ इति द्रव्यलक्षणे आश्रयाश्रयिणो-  
 द्रव्यक्रिययोर्भेदः प्रत्यक्षमिद्वन्तथा अथ शैवे शक्तेः शक्तिमतो भेदो न स्थापितः =  
 न माधितः । तथा चोक्तम्—‘शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते’ इति ( शि०  
 दृ० ३.३ ) ननु परमत्त्वात्त्रापि द्रव्यक्रिययोर्भेदः स्यात् ?—इत्याशंक्याह—द्रव्यतो  
 भिन्ना क्रिया नो = नास्तीत्यर्थः । न च तर्हि क्रियाया द्रव्यतोऽभिन्नत्वाद् द्रव्यस्यैव

चि०—यदि द्रव्य और कर्म के समान शक्ति का शक्तिमान् से भेद सिद्ध नहीं  
 है तो द्रव्य से भिन्न क्रिया नहीं है; और ऐसा भी नहीं है कि क्रिया का अस्तित्व  
 ही न हो ॥१॥

उसी प्रकार शक्तिमान् शक्त की जगद्विचित्रता शैवदर्शन में मानो गई है  
 जब कि दूसरे दर्शनों में ऐसा नहीं है ॥२॥

जिस प्रकार विचित्र चित्रब्रह्मादिवादिना दूसरे दर्शनों में कल्पित है, वहाँ से  
 लेकर नानात्मवाद तक सबके ऊपर विचार करना चाहिए ॥३॥

यत्र ब्रह्मोच्यते चित्रं कैश्चिद् वेदान्तवादिभिः ।

एकस्य चित्रता केन हेतुना ब्रह्मणो भवेत् ॥४॥

तथाविधा विभिन्नास्ते सर्वदा निजभावतः ।

विभिन्ना एव ते, नैक्यं मृत्पिण्डात् प्रागवस्थितेः ॥५॥

गताऽङ्गीकरणीया न क्रियाया इति वाच्यम्; तस्मत्ताया अपि निःसन्दिग्धत्वान् ।  
नदेवाह—न च नास्ति सेति । यथा शक्तिमतः शक्तेरभिन्नता तथैव शक्तिमतः  
अत एव शक्तस्य जगद्विचित्रता = जगत् एकत्वेऽप्यनेकता, एकरूपत्वेऽप्यनेकरूपता,  
नमत्वेऽपि विपमतादयः शैवे = शैवाष्टैकदर्शन एव, समवस्थिता = व्यवस्थिता  
भिन्नान्तितेत्यर्थः । दर्शनान्तरे = बौद्धवेदान्तादी न । दर्शनान्तरेषु वेदान्तादिषु यथा  
चित्रा = नामरूपाभ्याम्; विचित्रा चित्रब्रह्मादिवादिता = चित्रं विचित्रम्—

अग्निर्येको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिष्य ॥

इति कठोपनिषदोक्तरीत्या,

‘नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिर्गर्भं ऋतवः समुद्राः ।

अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्त्तते यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥’

इति श्वेताश्वतरोक्तरीत्या च, ब्रह्म, तदादौ यस्य, इत्थंभूतो यो वादः =  
भिन्नान्तः सोऽस्ति येषां ते चित्रब्रह्मादिवादिनः, तेषां भावः । तत् आरभ्य, नाना-  
त्ववादितां यावत् = अनेकात्मवादपर्यन्तम्, तत्सर्वम् अस्मिन्नाह्निके प्रविचा-  
र्यताम् ॥१-३॥

कैश्चिद् वेदान्तवादिभिः = औपनिषद्, यत्र = चरमतन्वचनीयं, ब्रह्म चित्र-  
मुच्यते—

“दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।

अप्राणो ह्यमना शुभ्रो .... ॥” इति

मुण्डकोक्तरीत्याऽप्राणत्वम्, तथा च ‘अन्योऽन्यतर आत्मा प्राणमयः’ इति  
तैत्तिरीयोपनिषदि तस्यैव प्राणमयत्वमिति परस्परविच्छेदवर्णनेन ब्रह्मणश्चिद्वत्त्वम् ।

जहां कुछ वेदान्तियों के अनुसार ब्रह्म विचित्र कहा जाता है, वहां यह बताइये  
कि एक ब्रह्म की विचित्रता किस कारण से होती है ? ॥४॥

यदि आपके मत में जगत् के समस्त पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में उस प्रकार  
भिन्न हैं तो वे हमेशा भिन्न ही रहेंगे । मृत्पिण्ड के पहले घटादि की स्थिति की

घटादीनां द्विरूपत्वं न घटादेः सदा स्थितेः ।

निमित्तकल्पना कल्प्या तर्ह्यविद्या तदुद्गमात् ॥६॥

भावा भवेयुस्तत्प्राप्ता ह्यस्माकं सर्वसत्यता ।

अविद्यादेरयोगश्चेत्तेनैतदतिरिक्तता ॥७॥

तत्रैकस्य ब्रह्मणश्चित्रता केन हेतुना भवेद् । यदि ते = पदार्थाः, तथा-  
विधाः = नामरूपादिभेदवन्तः सन्तः, विभिन्नास्तदा ते निजभावतः = स्वभावाद्  
हेतोः, सर्वदा भिन्नाः । उदाहरणेन तस्याभयमि—नैकमिति । मृत्पिण्डात् प्राक् =  
कुम्भकारेण रागभादीनां सहायनयाऽऽनीतगुणमृदाया जलेन सम्मिश्रितमृत्पिण्डनिर्माणत्वात्  
प्राक् घटादीनाम् = मृत्पात्राणाम्, ऐक्यं न, मृत्पिण्डे एव घटादीनामेक्यं यद्यन्ये  
वस्तुम् ततः पूर्वं यथाकथञ्चित् भिन्नत्वमेव । तेषां घटादीनां द्विरूपत्वम् = एकस्मिन्नेव  
मृत्पिण्डे अयं मृत्पिण्डः, अयं च घटः इति, अथवा एकस्मिन्नेव घटे, अयं घटः अयं  
च कपालः इति द्विरूपत्वम् वस्तुं न यद्यन्ये । घटादेराप्रवृत्तं सदास्थितेः = शाश्वतं  
वर्तमानत्वात् । एवमेव ब्रह्मैकं चेन्न चित्रम् चित्रं चेन्नैकम् । ननु घटादीनां द्विरूपत्वे  
निमित्तकल्पना = अज्ञानाद्भ्रमविकृत्यादिकल्पना कर्तव्या स्यात् इति चेत् ? तर्हि  
कल्प्या स्यात् । तदुद्गमात् = तत्कल्पनान्, भावाः = पदार्थाः अनेके विभिन्ना वा  
भवेयुः तत् = तदा अस्माकम् = जीवमतावलम्बितानाम् सत्यं सर्वसत्यता = सर्वदा  
समोचीनत्वम्, प्राप्ता । अथवा अस्माकं सर्वसत्यता = नयं निवमयमिति शिवस्य  
सत्यत्वात्सर्वेषु पदार्थाः सत्याः; ते भिन्ना वा भवेयुरभिन्ना वा नास्ति दोषलेशा-  
वगर्हः । यदि अविद्यादेः, आदिना माया तस्या पञ्चतन्त्रादिकं न ग्राह्यम् तस्य,  
अयोगः = सम्बन्धाभावः, ब्रह्मणा परमेश्वरेण वा सह, तेन = तर्हि, एतदति-  
रिक्तता = एतस्या = अविद्याया अनिरिक्तता = ब्रह्मण अतिरिक्तपदार्थता स्वी-  
कर्तव्या स्याद् भवन्मते घटादीनां ब्रह्मणा भिन्नत्वप्रतिपादनायेति द्वैतापत्तिः  
स्यात् ॥४-७॥

एकता नहीं रहती । और घट आदि का द्विरूपत्व भी नहीं है । क्योंकि उन घट  
आदि की ध्वंस के पहले तक स्थिति शाश्वत है । यदि वह कहिये कि द्विरूपत्व के  
क्रिये निमित्त की कल्पना कर लेने ? तो फिर अविद्या को मानना पड़ेगा । और  
अविद्या के उत्पन्न होने पर सारे पदार्थ उसी से उत्पन्न माने जायेंगे फिर हम  
सैवदर्शन वालों को सर्वमन्यना मिट्ट हो गई । यदि आप अविद्यादि का सम्बन्ध  
किसी के साथ नहीं मानेंगे तो यह एक अतिरिक्त स्वतंत्र पदार्थ मिट्ट हो  
जायगी और इस प्रकार अद्वैतवेदान्त के मिद्धान्त के विपरीत द्वैतापत्ति हो  
जायगी ॥५-७॥

येऽन्ये वेदान्तविद्वांस आत्मब्रह्मैव विश्वताम् ।

यात्युपादानरूपत्वात् तथाऽन्ये भ्रान्तिरूपताम् ॥८॥

विश्वं न सत्यरूपत्वं तथाऽन्ये त्वात्मवादिनः ।

भूतजीवपरात्मत्वं ये चान्ये नेतिवादिनः ॥९॥

भेदाभेदवादिनो भास्कराचार्यस्य मतमुत्थापयति—येऽन्ये इति । अन्ये—  
भास्कराचार्याः, आत्मब्रह्मैव विश्वतां याति, ब्रह्मणो जगदुपादानरूपत्वान्<sup>१</sup> । तथा-  
ऽन्ये भ्रान्तिरूपताम् = एतद्वैतवेदान्तस्य मतम् । यथोक्तम्—“अतश्चैवं शास्त्रीयं  
ब्रह्मात्मत्वमभ्यस्यमानं स्वाभाविकस्य शरीरात्मत्वस्य बाधकं सम्पद्यते,  
रज्ज्वादिवुद्धय इव सर्पादिवुद्धीनाम् । बाधिते च शरीरात्मत्वे तदाश्रयः समस्तः  
स्वाभाविको व्यवहारो बाधितो भवति, (ब्र० सू० भा० २.१.१४) । तेषां मते  
विश्वस्य सत्यरूपत्वं नास्ति । उक्तं च—

“श्लोकार्धेन प्रदक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः ।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ॥ इति ।

उपनिषदुक्तं मतं व्यस्यति—तथान्ये इति । भूतजीवपरात्मत्वम् = भूतानि  
पृथिव्यादीनि जीवाश्चान्नःकरणवच्छिन्नं चैतन्यं एतद्वद्यमपि परात्मस्वरूपं ब्रह्म-  
स्वरूपमित्यर्थः । तथा च तैत्तिरीये—‘तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः  
आकाशाद्वायुः; वायोरग्निः अग्नेरापः; अद्भ्य पृथिवी; पृथिव्या ओषधयः;  
ओषधीभ्योऽन्नम्; अन्नात् पुरुषः; असमात्मा’ इति । ओपनिषदमेव मतान्तः-  
पत्यस्यति—ये चान्ये इति । यस्यां प्रतीतिर्येतदस्य प्रसरो न भवेत् सा प्रतीतिः =  
प्रज्ञानमेव ब्रह्म । तथा च ऐतरेयोपनिषदि—‘संज्ञानमज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा  
इष्टिर्धृतिर्बुद्धीर्जा जूतिः रमृतिः सङ्कल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति प्रज्ञानस्य  
नामधेयानि’ सर्वं तत्प्रज्ञानेन प्रज्ञानं प्रतिष्ठितम् । प्रज्ञानं ब्रह्म’ इति ।  
स्कुलिङ्गात्मवादिन इत्यादिना मुण्डकोपनिषदुक्तं मतं व्यस्यति । तथा च तत्र—  
तदेतत्सत्यम्—

जो अन्यवेदान्त के विद्वान् यह कहते हैं कि आत्म ब्रह्म ही उपादानस्वरूप  
होने के कारण विश्वरूप हो जाता है । दूसरे लोग विश्व को भ्रमस्वरूप मानते हैं  
गत्यस्वरूप नहीं । कुछ लोग भूत और जीव को परमात्मा मानते हैं । दूसरे लोग  
नेतिवादी हैं उनके अनुसार जिस प्रतीति अर्थात् ज्ञान में ‘न’ का अवसर नहीं है

१. परमात्मा स्वमात्मानं कार्यत्वेन परिणमयामास । न हि स्वेच्छया स्व-  
मात्मानं लोकहितार्थं परिणामयन् स्वयत्तत्तुमारेण परिणामयति ।



यस्यां प्रतीतौ नेत्यस्य प्रसरो न प्रवर्तते ।  
तद् ब्रह्मेति वदन्त्येके ये स्फुलिङ्गात्मवादिनः ॥१०॥  
प्रतिबिम्बतया चान्ये ये वा सर्गमुखे स्वयम् ।  
ब्रह्मैव गृह्णात्यात्मानं ततो भेदोपपादनम् ॥११॥  
इत्याहुर्येऽपि क्रीडार्थमेवमात्मा व्यवस्थितः ।  
इत्थूच्येऽप्रबुद्धत्वं पश्चाद् ब्रह्म प्रबुध्यते ॥१२॥

यथा मुदीमान् पावकास्त्रिस्फुलिङ्गाः सहस्रजः प्रगवन्ते मरुपाः ।

तथाऽजराद्विधाः गीम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र संवापियन्ति ॥ (२.१.१)

सर्गमुखे = मृष्टेः प्रारम्भे, स्वयं ब्रह्मकारमानं प्रतिबिम्बतया गृह्णाति = जानाति । बिम्बमपि ब्रह्म प्रतिबिम्बमपि तत् तदेव च प्रतिबिम्बाकारोऽपि । तथा चोक्तं ब्रह्मविन्दूपनिषदि—

एक एव हि सूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।

एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ (१.१२)

‘अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्’ इति व्याससूत्रभाष्येऽपि—‘अत एव चास्योपाधिनिमित्तामपारमार्थिकी विशेषवत्तामभिप्रेत्य जलसूर्यकादिवदित्युपमया दीयते मोक्षशास्त्रेषु—

‘यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा बिबस्वानपो भिन्ना बहुर्धकोऽनुगच्छन् ।

उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेऽवेवमजोऽप्रमात्मा ॥’ इति ।

तदेवाह—ततो भेदोपपादनमिति । कश्चित् आत्मा = क्रोश्वरो वा एवम् = जगद्रूपेण, व्यवस्थितः = आत्मानमुपास्थानम् इत्युच्यते = उत्तवन्तः । तथा च पारमार्थं सूत्रम्—लोकवत्, लीलाकैवल्यम् इति । “यथा लोके कस्यचिदाप्तेषणस्य राज्ञो व्यतिरिक्तं किञ्चित् प्रयोजनमनभिसन्धाय केवलं लीलारूपाः प्रवृत्तयः क्रीडाविहारेषु भवन्ति...एवमीश्वरस्याप्यनवेक्ष्य किञ्चित्प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति ।” परमेश्वरस्य लीलैव केवलेषु, अपरि-

वही ब्रह्म है ऐसा वे लोग कहते हैं । कुछ लोग स्फुलिङ्गात्मवादी हैं । अन्य लोग प्रतिबिम्बात्मवादी हैं । उनका कहना है कि मृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्म ही अपना ज्ञान करता है अर्थात् अपने को अपने से पृथक् जानना है फिर भेद की उपपत्ति होती है ॥८-११॥

जो लोग यह कहते हैं कि आत्मस्वरूप ईश्वर क्रीडा के लिये इस प्रकार व्यवस्थित हुआ है । और जो लोग संसार को ब्रह्म का ही अप्रबुद्धत्व अर्थात् अज्ञान

देहे देहे पृथक्त्वे तु तथा भेदो भवात्मकः ।  
 जलधारांशुमन्यायो येषां वा समवस्थितः ॥१३॥  
 अविद्यां वेत्यविद्यैव बध्नात्यात्मानमेव वा ।  
 सैवेति वादो येषां वा तेषां वेदान्तवादिनाम् ॥१४॥  
 सर्वेषामप्यविद्यैव कल्प्या ब्रह्मणि संगता ।  
 तथा भावेष्वासत्यत्वमित्यवश्यमवस्थितम् ॥१५॥

मितशक्तित्वात्” इति तद्भाष्यमपि । (ब्र० सू० भा० २.१.३३) गौडपादेनापि—  
 भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे । उक्तम् (गां० का० १.९) । ब्रह्म-  
 पुराणीयं मतं दर्शयति—येऽप्रबुद्धत्वमिति । इदं जगत् अप्रबुद्धत्वम् = ब्रह्मणो ज्ञाना-  
 भावरूपम्; आत्मनैवात्मानमजानन् नानात्मरूपेण जगद्रूपेण वा तिष्ठतीत्यर्थः ।  
 पश्चात् = ज्ञानाभावे निरस्ते ज्ञाने जाते—इत्यर्थः, ब्रह्म = परमात्मा, प्रबुध्यते =  
 आत्मनाऽऽत्मानं जानाति—‘अहं ब्रह्मास्मि’ इति । तेषामेव मते देहे देहे = प्रति-  
 शरीरम्, पृथक्त्वे = जीवात्मनः पार्थक्ये योऽयं भेदः कुक्कुरशूकरकीटपतंगमानवदान-  
 वादिभ्यः, स भवात्मकः = व्यावहारिकमत्तात्मकः अस्ति न तु पारमार्थिकः ।  
 येषाम् = तेषामेव जलधारांशुमन्यायो समवस्थितः । तथा च ब्राह्मपुराणे—

आकाशस्य घनीभावो नीलत्वं स्निग्धता तथा ।  
 एकश्च सूर्यो बहुधा जलधारेषु दृश्यते ॥  
 आभाति परमात्मापि सर्वोपाधिषु संस्थितः ।  
 द्वैतभ्रान्तिरविद्याख्या विकल्पो न च तत्तथा ॥  
 स्वमायया स्वमात्मानं मोहयेद् द्वैतरूपया ।  
 गुहागतं स्वमात्मानं लभते च स्वयं हरिम् ॥

याज्ञवल्क्यस्मृतावपि—

आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथक् पृथक् ।  
 तथात्मैको ह्यानेकश्च जलधारेष्विवांगुमान् ॥  
 (३.१४४) इति ।

केपाञ्चिद् वेदान्तिनां मते अविद्यैव अविद्यां वेत्ति बध्नाति वाऽऽत्मानम् इति ।  
 इत्थेतेषामुपर्युक्तानां सर्वेषां मते अविद्या = अज्ञानापरपर्यायवती माया कल्प्यैव =

मानते हैं । जैसे कि जलधारा में एक ही सूर्य अनेक दिखाई देता है । उसी  
 प्रकार जिनके मन में प्रत्येक शरीर में आत्मा का पार्थक्य या भेद भवात्मक अर्थात्  
 नांमारिक है या वे वेदान्ती जो यह कहते हैं कि अविद्या ही अविद्या को जानती है  
 या अपने को बांधती है—इन सभी मिथ्यान्तों में अविद्या की कल्पना करनी ही

पाञ्चरात्रविदश्चान्ये वदन्ति परिनिष्ठितम् ।  
ब्रह्मास्ति वामुदेवाख्यं स एव जगदीश्वरः ॥१६॥  
विद्याविद्ये द्वयं चास्य साधनं समवस्थितम् ।  
अविद्याया जगत् कुर्याद् विद्यया मोक्षयेत् पशून् ॥१७॥

अवश्यमेव कल्पनीया स्यान्; तां विना तत्तन्मतस्याप्रगिद्धत्वान् । गा चाविद्या ब्रह्मणि  
संगता = नियतरूपेण वर्त्तमाना स्वीकृता । तथा भावेषु = पदार्थेषु असत्यत्वम् =  
मिथ्यात्वम्, अवश्यमवस्थितम् = अपरिहार्यरूपेण वर्त्तमानमस्ति ॥१४-१५॥

वेदान्तमतमुपस्थाप्यातः परं पाञ्चरात्रमतमानयति—पाञ्चरात्रविदश्चेत्यादिना ।  
तेषां मते परिनिष्ठितम् = सर्वतः परिपूर्णम्, वामुदेव इति आख्या = नाम यस्य  
तत् वामुदेवाख्यं ब्रह्मास्ति; स एव जगदीश्वरः जगद्वदयस्त्वाप्रलयकृत्वादिष्वयं तस्य ।

तथा च भागवते—

द्वयं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च ।  
वामुदेवात् परो ब्रह्मन् न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः ॥ (२.५.१४)

ब्रह्मसूत्रभाष्येऽपि उक्तान्यसम्भवाधिकरणे—तत्र भागवता मन्यन्ते—

भगवानेवैको वामुदेवो निरञ्जनज्ञानस्वरूपः परमार्थतत्त्वम्... ।  
तेषां वामुदेवः परा प्रकृतिरितरे संकर्षणादयः कार्यम् ॥  
इति (ब्र० सू० भा० २.२.४२)

अस्य = वामुदेवाख्यस्य ब्रह्मणः च विद्याविद्ये द्वयं साधनं, समवस्थितम् =  
निश्चितम् । न अविद्याया = साधनेन जगत् कुर्यात् = संसारस्य सृष्टिं सृष्टिस्थितिविनाशं  
वा करोति । तथा च भागवते—

एकस्त्वमेव भगवन्निदमात्मशक्त्या

मायाख्ययोरुणया महदाद्यशेषम् ।

सृष्ट्वाऽनुविश्य पुरुषस्तदसद्गुणेषु

नानेव दारुण विभावसुवद् विभाति ॥ (४.९.७)

पड़ेगी तथा उसका ब्रह्म से सम्बन्ध मानना ही पड़ेगा । तथा पदार्थों को अवश्य  
असत्य मानना पड़ेगा । इसी प्रकार पाञ्चरात्र के विद्वान् कहते हैं कि चरम निष्कर्ष  
यह है कि जिसे अन्य लोग ब्रह्म कहते हैं वे वस्तुतः वामुदेव ही हैं । वही संसार  
के ईश्वर हैं । विद्या और अविद्या दोनों इनके साधन हैं । अविद्या के द्वारा वे  
संसार की रचना करते हैं तथा विद्या के द्वारा पशुओं ( वृद्ध जीवों ) को मुक्त  
करते हैं ॥१२-१७॥

ताभ्यां न चास्योपरागः प्रबुद्धत्वात् प्रभुत्वतः ।  
 तथाऽन्येषां स्वात्मनैव विद्यया जगदात्मता ॥१८॥  
 न चाविद्या बाधिकाऽस्य यतः साधनमस्य सा ।  
 प्रोक्तं भगवतो वीर्येणेत्याद्यैस्तत्त्वदर्शनैः ॥१९॥

जगदुद्भवस्थितिलयेषु देवतो

बहुभिद्यमानगुणयाऽऽत्ममायया ।

रक्षितात्मनेदमतये स्वसंस्थया

विनिवर्तितभ्रमगुणात्मने नमः ॥ (४.७.३९)

इति च । विद्यया न पशून् = पशुस्वाजीवान् मोक्षयेत् । श्वेताश्वतरेऽपि—

‘द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।

क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥’ (५.१)

क्षरं त्वविद्या क्षरणहेतुः = संवृत्तिकारणम् । अमृतं तु विद्या मोक्षहेतुः । यस्तु पुनर्विद्याविद्ये ईशते = नियमयति स ताभ्यामन्यस्तत्ताभित्वात् ।’ ( ५.१ ) इति नान्द्रूपमपि । तदेवाह—ताभ्यामिति । अस्य = वागुदेवस्य ताभ्यां नोपरागः = आनन्दजनमानर्क्तिर्न इत्यर्थः । तत्रानुपरागे हेतुद्वयमाह—प्रबुद्धत्वात् प्रभुत्वत इति । यतो हि ज्ञानवान् स प्रभुस्त्वनयोः; तयोः साधनत्वात्; साधनप्रयोगे च तत्प्रयोक्तुः कर्तुः स्वतन्त्रत्वात् । तथा=अथ च, अन्येषाम्=पशुस्त्वानां जीवानाम्, स्वात्मनैव=आत्मस्थयैव=ब्रह्मवर्तिन्यैव, विद्यया = ज्ञानेन प्रबुद्धत्वेन । जगदात्मता = जगद्वर्तिनां देहपुत्रकल्पादीनां विषये आत्माऽऽत्मीयभावः । अस्यां जगदात्मनायां अस्य = तानुदेवस्य, अविद्या न बाधिका, यतः सा अविद्या अस्य = वागुदेवस्य साधनम् = पशूनां जगदान्मन्ये महायकम्, प्रोक्तम् । अत एव = यतोऽविद्या परमेश्वरस्य बाधिका न तस्मान्, अथवा परमेश्वरस्याविद्याद्वारा जगदात्मकत्वान् भगवतः, वीर्येण = ऐश्वर्येण गीतासु विश्वरूपत्वं प्रदर्शितम् । तथा च तत्र—

प्रभु होने के कारण तथा ज्ञानमय होने से विद्या और अविद्या के साथ उनका कोई उपराग नहीं है । जब कि अन्य धर्म पशु उनकी अपनी विद्या के द्वारा अपने साथ संसार का तादान्मन्य स्थापित करते हैं । चूंकि अविद्या ईश्वर का साधन है इसलिए वह उनकी बाधिका नहीं होती । इसीलिये प्राचीन तन्त्रदर्शियों के द्वारा गीता में भगवान् का विश्वरूपत्व उनकी महिमा के द्वारा दिखाया गया है ॥१८-१९॥



गीतासु विश्वरूपत्वमत एव प्रदर्शितम् ।  
 द्वयोरप्यनयोर्युक्तिः पक्षयोर्नोपपद्यते ॥२०॥  
 अविद्या वस्तुरूपा चेद्विद्यया साकमेकता ।  
 अवस्तु वा नह्यसत्यं सत्यरूपस्य साधनम् ॥२१॥  
 तथा जघन्यरूपायाः सम्बन्धोऽस्या विरुध्यते ।  
 तथा जगत्समुत्पत्तौ निमित्तान्तरकल्पना ॥२२॥

‘उहेतव्यं जगन्मृगं पश्याय मन्त्राचरन् ।

मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।

दर्शयामास पार्याय परमं रूपमैश्वरम् ॥ (११.७-९)

अनयोः = पूर्वोक्तयोः द्वयोरपि = वेदान्तपाञ्चरात्रविदोऽपि पक्षयोः, युक्तिः =  
 नर्कमंगतिः नोपपद्यते = न मिलयति ॥१६-२०॥

पूर्वप्रवृत्तानामर्थात् स्पष्टयति—अविद्येति । नन्वविद्या वस्तुरूपा ? अवस्तुरूपा  
 वा ? वस्तुरूपा चेद् विद्यया साकम् एकता = एकत्र स्थितिः कथम् ? तमःप्रकाशयो-  
 रिव तयोः परस्परं चिच्छन्वान् । अयावस्तुरूपा चेत् ? नन्ववस्तुत्वेनासत्यस्वरूप-  
 त्वान् नासत्यरूपस्य = वानुदेवस्य कर्तुः चिन्त्यस्य वा कर्मणः साधनम्—करणं  
 कथम् ? न ह्यन्यत् सत्यस्य साधनं भवितुमर्हति । सम्बन्धमिद्वौ हेत्यन्तरमाह—  
 तथेति । जघन्यरूपायाः = हेयरूपायाः, अस्याः = अविद्याया उपादेयेन भगवता  
 सम्बन्धः=कर्तृकरणत्वात् विरुध्यते; तुल्यकोटिकयोरेव द्वयोः सम्बन्धस्य युक्तत्वात्;  
 न हि श्मशानाग्निः यागादिकार्यार्थं प्रयुज्यते । यदि जगत्करणायाविद्या साधनत्वेन  
 न स्वीक्रियते तदा जगत्समुत्पत्तेरप्यपि निमित्तान्तरकल्पना कर्तव्या स्यात् ।  
 अविद्यादेरसाधनत्वे तूतार्यं हेतुमुपदर्शयति—अविद्यादेरिति । यद्यविद्या जगत्सृष्टि-  
 मितं स्यात् तदा वेदान्तः नाममागतम् । वेदान्ता अप्यविद्यामेव जगत्कारणं मन्यन्ते ।  
 तथा च शाङ्करभाष्यम्—‘मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्त्वानृते मिथुनीकृत्य ‘अहमिदम्’  
 ‘नमेदम्’ इति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः । तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अवि-

उन दोनों पक्षों का नर्क युक्तिमङ्गल नहीं है । यदि अविद्या वस्तुस्वरूप है तो विद्या के साथ उसकी एकता कैसे सम्भव है ? यदि अवस्तुरूप माने तो यह भी सम्भव नहीं क्योंकि अन्य अविद्या सत्यस्वरूप वानुदेव वा चिन्मय का साधन नहीं हो सकती । फिर जघन्यरूप इस अविद्या का परमाणुकृष्ट के साथ सम्बन्ध भी विरुद्ध ही है । यदि सम्बन्ध नहीं मानते तो संसार की उत्पत्ति के लिये कारणान्तर की कल्पना करनी पड़ेगी । और यदि अविद्या को कारण मानने हैं तो वेदान्तों के

अविद्यादेनिमित्तत्वे वेदान्तैः साम्यमागतम् ।  
 पक्षे द्वितीये ताद्रूप्यं जडत्वादिह तस्य कः ॥२३॥  
 करोति विद्यासंयोगं तर्ह्यन्येश्वरकल्पना ।  
 आर्हतास्तु जिनो देवो जीवाः सन्ति पृथक् पृथक् ॥२४॥  
 प्रतिदेहं न विभवस्ते प्रबुद्धास्तु तन्मयाः ।  
 इत्येवमाहुस्तेषामप्यविद्यायोगकल्पनम् ॥२५॥  
 स्वाविद्याप्रक्षयादर्हन् देवो भवति निश्चितम् ।  
 येषां देवो निराकारः शून्य एव किमुच्यते ॥२६॥

द्योति मन्यन्ते ।' इति ( १.१.१ ) । द्वितीये पक्षे = अविद्यादेरुपादानत्वे तस्याश्च परिणामरूपे संसारे, ताद्रूप्यम् = अविद्यारूपत्वं संसारस्य, इति । इह = संसारे, सर्वस्य संसारस्य जडत्वात् तस्य = जीवस्य कः विद्यासंयोगं करोति ? जडातिरिक्तस्य कस्यापि चैतन्यमागतत्वात् : संयोगस्य च चेतनकर्तृकत्वात् न जीवस्य विद्याया संयोगः सम्भवति, तत्रश्च जीवस्याविद्यातो मुक्तिरेव न स्यादित्याक्षेपपुराणः । अथवाऽन्येश्वर-कल्पना कर्तव्या स्यात् ॥२१-२३॥

आर्हन्मते चित्तपटविपुलाक्रमते—आर्हतास्त्विति । तेषां मते जिनः = जैनधर्मप्र-वर्तकः पार्श्वनाथः । देवः = परमात्मा : जीवाश्च पृथक् पृथक् = अनेके सन्ति । प्रतिदेहम् = प्रतिशरीरं न विभवः = जीवा व्यापका न, जिनत्ववत्त्वं वैभवं व्यापकत्वं वाऽऽत्मनः न शक्यते निगदितुम् । किन्तु यदा ते = जीवाः, प्रबुद्धाः = गंवरनिर्जरा-श्यामान्ब्रह्मैकान्तियात्यन्तिकनाशे सति ज्ञानवन्ता मोक्षमनुभवन्त इत्यर्थः सन्ति तदा, तन्मयाः = मिद्धशिलायामनन्ताय वसन्तः तन्मयत्वं लभन्ते, अर्हन्मया वा भवन्ति । इत्येवमाहुः = कथयन्ति । तेषामप्यविद्यायोगकल्पनम् = जीवा अविद्याया

साथ आपके मत का साम्य हो जाता है । और दूसरे पक्ष में विश्व के जड होने के नाते उस विश्व का विद्या के साथ संयोग कौन कराता है ? इस संयोग के लिये पृथक् ईश्वर की कल्पना करनी पड़ेगी ॥२०-२३॥

जैनदर्शन वालों का कहना है कि तीर्थङ्कर ही देव हैं । सभी जीवात्मायें भिन्न हैं । उनके मतानुसार प्रत्येक शरीर में जीवात्मायें व्यापक अर्थात् परममहत् परिमाण की नहीं हैं; हाँ इतना है कि ज्ञान उत्पन्न होने के बाद जीवात्मा जिनत्व प्राप्त कर सकती है । यह उनका मिथ्यान्त है । उनके मत में भी अविद्या का संसार या जीव से सम्बन्ध माना गया है । अपनी अविद्या का पूर्णक्षय होने के बाद जिन निश्चित रूप से देव अर्थात् ईश्वर के तुल्य हो जाते हैं । फिर जिनके मत में देव निराकार शून्य हैं उनके मत का क्या कहना ॥२४-२६॥

ये सांख्या आत्मस्वातन्त्र्यवादिनो येऽप्यनीश्वराः ।  
तत्राप्यस्त्यविवेकाख्यो मलो बन्धविमोक्षता ॥२७॥  
पृथक्त्वमीश्वरस्यास्ति सर्वात्मभ्यः पृथक् कुतः ।  
न्यायवैशेषिकाणां तु बन्धमोक्षौ पृथक्स्थितौ ॥२८॥  
प्रकृत्यादीश्वरत्वेन सर्वदैव तदात्मता ।  
संवित्तिशून्यब्रह्मत्ववादिनां जडतैव सा ॥२९॥

युक्ता अनादिकालादिनि तैरप्यवश्यं मन्तव्यं भवति । स्वस्य, स्वस्मिन् वा वर्तमाना, अविद्या साविद्या; नन्वाः प्रक्षयात् = निःशेषेण नष्टत्वात्, अर्हन्, देवः = ईश्वर- तुल्यो भवति । अथवा जीवः स्वाविद्याप्रधयान् अर्हन् चामी देवः सः, तत्तुल्यो, वा भवति । येषाम् = ब्रह्मानां शून्यवादिनाम्, देवः = ईश्वरः, निराकारः शून्य एव तेषां किमुच्यते = कि. वक्तव्यम् ? न किमपीत्यर्थः ॥२४-२६॥

निरीश्वरसांख्यमतमाश्रितः—ये सांख्या इति । तेषां मते आत्मा पुरुषो वा स्वतन्त्रः; यथोक्तनीश्वरकृष्णेन—‘तद्विपरीतस्तथा च पुमान्’ तद्विपरीतः = नावयवं परतन्त्रमित्याद्युक्तिविपरीतः, स्वतन्त्रः । अनोश्वराः = प्रवृत्तिपुरुषातिरिक्तं तृतीयमीश्वरतन्त्रमस्वाकुर्वाणाः । तत्रापि = तेषामपि मते अतिवेकः = वृद्धिपुरुषान्य- नाज्ञानं सत्त्वपुरुषान्यताऽख्यातिर्वा, स एव आख्या = संज्ञा यस्य सः तादृशः मलः = अविद्या वाऽस्ति । तेन तत्रापि बन्धविमोक्षता = बन्धमोक्षौ स्तः । न्यायवैशेषिकमत- मालोचयति—पृथक्त्वमिति । तेषां मते ईश्वरः पृथक्त्वम् । तथा च न्यायकुसु- माञ्जली उदधनः—

‘कार्यायोजनधृत्वादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।

वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविद्वयः ॥’ (५.१)

न चायमीश्वरः, सर्वात्मभ्यः=सर्वजीवेभ्यः, पृथक् अस्ति कुतः=कस्मात् कारणात् । सोऽपि शरीरिण् कार्यादिकरणान् साधारणान् साधारणजीव इव कथं न स्वीक्रियेत भवद्भिः ? नारदमंत्रहमनुमूल्य मतान्तरं पुरस्कृते—प्रकृत्यावीश्वरत्वेनेति । प्रकृते- रारभ्येश्वरतन्त्रवर्णनं ते सर्वदैव = शाश्वतम्, तदात्मता = ईश्वरान्मता, तामेव

जो सांख्यमत वाले आत्मा को स्वतन्त्र मानते हैं उनमें भी जो निरीश्वर सांख्यवादी हैं उनके मत में भी अतिवेक नामक मल है ही । बन्धमोक्ष उनके यहाँ भी है । न्यायवैशेषिक मत में यदि ईश्वर समस्त आत्माओं से पृथक् है तो ऐसा क्यों ? यह प्रश्न हमेशा उपस्थित है । बन्ध और मोक्ष की ईश्वर से अलग स्थिति है । प्रकृति से लेकर ईश्वर तक सबको वे लोग ईश्वरात्मक मानते हैं । ब्रह्म को ज्ञान से शून्य मानने वालों के मत में वह संवित्तिशून्यता जडता ही तो है ।



वदन्ति ते हि सकलमेतन्नारदसंग्रहात् ।

कालकारणिकानां तु नामता जडताऽध्वया ॥३०॥

अव्याप्तिरन्तःकृत्यादेर्भवेत्पङ्क्यामवादिनाम् ।

तत्र चित्तपक्षपातश्चेत् प्राप्नुयात् सततं ग्रहः ॥३१॥

स्वीकुरुष्विति । तेषां मते यथा भवितुमिच्छन्त्यस्यति । मध्ये इति वा = मयिचित्पुन्यता,  
भवितुमिच्छन्त्यवशावतिता वा जडतये चैतन्यराहित्यमेव । एवं च सकलमपि जग-  
ज्जडमेव भवति । नारायणं ब्रह्मो जगद्विभोः । ये तु जगदेष जगत्कारणं मन्यन्ते  
यथा शम्भूदकारिकायां—कालान् प्रसूतिं भूमायां मन्यन्ते कालत्रितयाः ।  
इति (मा० भा० १.८) तेषां मते यदपि नामनमनं वा वा प्रगमेव ॥३७-३८॥

[illegible]

ये सब बाने वे नाशकाल के आगमन पर रहने हें। बाल को जन्म का कारण मानने वालों के मत में संसार या तो केवल नाममात्र होगा या जड़ होगा ॥७७-३०॥

शक्तिसाधना करने वाले पशुपामनादी हैं। उनके अनुसार अन्तःकृत्य आदि की अव्याप्ति प्राप्त होता है। यदि आप वहाँ चित् का प्रभाव अर्थात् ज्ञान की सत्ता मानते हैं तो सबको सबका ज्ञान हमेशा होना चाहिये। स्वर्ग को ही मुक्ति मानने वालों के मत में भी ब्रह्ममन्त्र वाग्विभक्त है; अर्थात् उन्हें भी ब्रह्ममन्त्र की भिन्नता स्वीकारनी पड़ती है जब कि हमारे मत में ऐसा नहीं है। जो ब्राह्म सत्ता का मानने वाले वैशेषिक ब्राह्म हैं वे तो नैदवाद को ही मान रहे हैं क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त वे ब्राह्म जगत् को भी मत्त्व मानते हैं। और विज्ञानवादी बौद्धों के



स्वर्गमुक्तिवादिनां तु बन्धमोक्षौ व्यवस्थितौ ।  
 ये ब्राह्मचवादिनो बौद्धास्ते भेदं समुपाश्रिताः ॥३२॥  
 विज्ञानवादिनां ज्ञानं सत्यं प्रत्येत्यसत्यताम् ।  
 ब्रह्मिः, कथं ननु धर्मस्य सत्याद् भवितुमर्हति ॥३३॥  
 कामिनां कथमेतच्छेदुक्ता प्रागस्य सत्यता ।  
 ज्ञानस्य कर्षणादेन कर्षपेक्षा प्रसज्यते ॥३४॥

ज्ञानस्य पक्षापातः—ज्ञानात्, तेन रागादयः स्फुरन्ति नानर्थक्यं भावनाया उच्यते चेत् । तथा सति ग्रहस्त्वज्ञानस्य वस्तुत्व वा सत्यप्राप्तेर्मोक्षस्वाभाव्यत्वात् । ये न स्वर्गमेव मोक्षं मन्यन्ते तेषां मोक्षं बन्धमोक्षौ कर्षादित्येव—विशेषो क्रमेण परिवर्तमानावित्यर्थः । तथा हि—स्वर्गः पुण्यकर्मजनितपुण्यविशेषः । 'क्षीणे पुण्ये मृत्युलोकं विशन्ति' इति गीतोक्तमनुसारं स्वर्गभोगानन्तरं मृत्युलोकप्रवेशे सति बन्धनाया अपरिहार्यत्वम् । तदुचितेषु बौद्धमतानुसंगिषु ये बौद्धा ब्राह्मवादिनः = वैभाषिकाः ते भेदं समुपाश्रिताः = विज्ञानेन गतं ब्रह्मैव ज्ञानवस्तुतां सत्यत्वमङ्गीकुर्वन्ति । तत्रैव विज्ञानवादिनां मोक्षं सत्यं ज्ञानं ब्रह्मः—ज्ञानं जगत्कर्मण असत्यतां प्रत्येति । सत्यं ज्ञानमनर्थकत्वमेव ब्रह्मिर्भगवत्कारेण भाष्यते । तथा मोक्षं प्रमाणवृत्तिके—

'दर्शनोपाश्रित्यैव ब्राह्मणं ननु ब्रह्मे यथा ॥

दर्शनं नीलनिर्भासं; नार्यो बाह्योऽस्ति केवलम् ॥ (२.३३५)

ननु कथमेतत् ? नहि जगत्स्य जगत् भवितुम् = उत्पत्तुम्, अर्हति ? न न स्वाप्न-  
 दशादौ स्वप्ने कामिनीदर्शनकाले वैक कामिना एतत् = असत्यात् कामिनीदर्शनात्  
 ज्ञानस्य वीर्यपातादेव्यस्यतिः कथं भवतीति वाच्यम्; तत्त्वदस्यस्य प्रागुक्तत्वात् । तदे-  
 वाह—अस्य=कामिनीदर्शनस्य सत्यता प्राक् = व्यावहारिके जगति, उक्ता=अनुभूता ।  
 तस्मादत्र कथमस्य सत्यताविरिति ॥३१-३३॥

अधुना नविम्लरं बौद्धममतं जगत्स्य वादमन्त्रापयति नीलकमलम्—ज्ञानस्येति ।

मम मे ज्ञान सत्य है फिर वह बाबा असत्यता को भी प्राप्त होता है । उदाहरणार्थ  
 राजसुप्तस्थल मे सर्पज्ञान उत्पन्नकाल मे असत्य हो जाता है । प्रश्न है कि यह कैसे  
 होता है ? सत्य मे असत्य तो कभी नहीं पैदा हो सकता ? उत्तर है कि होता है,  
 नहीं तो यह बताउये कि स्वप्न हो आदि के समय कामी पुण्यों को असत्य सत्य  
 कैसे नामित होता है ? जैसे स्वप्न जगत् में कामीकाण्ड की सत्यता है उसी  
 प्रकार व्यवहारजगत् में असत्य प्रतीत होने वाले पदार्थ की परमार्थजगत् मे  
 सत्यता है ॥३१-३३॥

यदि आप ज्ञान को कर्षण मानते हैं तो कर्षा की अपेक्षा होती है : यदि

कर्तृत्वे ज्ञप्तिमात्रत्वे आकांक्षा करणे भवेत् ।  
 द्विरूपत्वे विरुद्धत्वसक्रमत्वं प्रवर्तते ॥३५॥  
 अक्रमत्वेऽस्मन्मतत्वं तदैक्यं परिनिष्ठया ।  
 न चापि, क्षणभङ्गित्वे युक्ता वैनाशिकी स्थितिः ॥३६॥  
 अहं वेद्मि स मां वेत्ति न कर्तृकरणादिता ।  
 ज्ञानस्यैक क्षणे युक्ता, तद्विस्त्वेन क्षणक्षयः ॥३७॥

भवदभिमतं विज्ञानं करणं भवितुमर्हति कर्त्ता वा । तद् यदि करणम्, तदा तस्य ज्ञानस्य करणत्वेन कर्त्तरूपेणा प्रसज्यते = भवति । तदा ब्रवीतु भवानेव कः कर्त्ता ? यतो हि ज्ञानमतिरिच्य न किमप्यन्यत् स्वीक्रियते श्रीमता ? ज्ञप्तिमात्रत्वे = ज्ञानमात्रे, कर्तृत्वे = कर्त्तुं सर्वं इति स्वीकारे करणे आकाङ्क्षा भवेत् । तच्च न लभ्यते; पूर्वोक्तदेतुस्त्वान् । ज्ञानस्य द्विरूपत्वे = कर्तृत्वे करणत्वे च विरुद्धत्व-सक्रमत्वं = विरुद्धत्वं कर्तृकरणयोः । एकस्यामेव व्यक्तायैकसत्त्वेऽपरस्यासत्त्वान्; सक्रमत्वं चादौ कर्तृत्वं पश्चात्करणत्वमित्येवंरूपम्, इत्यापत्तिद्वयं प्रवर्तते । सक्रमत्वे च विज्ञानस्य द्वितीयक्षणमन्त्रं प्राप्नोतीति खण्डितं भवन्मतम् । कर्तृत्वकरणत्वयो-रक्रमत्वेऽस्मन्मतं प्राप्तम् । तथा चाहः—पश्यन्तीसदाशिवतत्त्वयोरैक्यवर्णने ।

सर्वतः क्रमसंहारमात्रमाकारवर्जितम् ।

ब्रह्मतत्त्वं पराकाष्ठा परमार्थस्तदेव सः ॥ (शि० दृ० २.५)

परिनिष्ठया = परमार्थस्तु तदैक्यम् = कर्तृकरणयोरैक्यं स्वीकरणीयमेव स्यादिति शेषः । दोषान्तरमाह—न चापीति । क्षणभङ्गित्वे = ज्ञानस्य क्षणिकत्वं वैनाशिकी = नश्वरा, स्थितिः = सत्ता, न युक्ता = अमङ्गता नश्वरत्वं सत्त्वं च सहैव वर्त्तनामिति सर्वथाऽसङ्गतमित्यर्थः । 'अहं वेद्मि' इत्यत्रास्मत्कर्तृत्वात्मकस्य 'स मां वेत्ति' इत्यत्रास्मन्कर्मत्वात्मकस्य ज्ञानस्य कर्तृकरणादिता, आदिना कर्मत्वं

ज्ञान को ही कर्त्ता मान लें तो करण के विषय में आकांक्षा होती है । दोनों मानने पर परस्परविरुद्धत्व दोष आता है । फलतः सक्रमत्व मानना ही पड़ता है । यदि आ क्रम नहीं मानेंगे और ज्ञान को एक ही काल में करण तथा कर्त्ता दोनों मान लेंगे तो हमारा ही मत उपस्थित हो रहा है । और अन्त में आपको एकत्व मानना ही पड़ रहा है । क्षणभङ्गवाद मानने पर विनाशयुक्त सत्ता युक्तिसंगत नहीं है । 'मैं जानता हूँ'; 'वह मुझको जानता है ।' इसमें कर्त्ता और करण आदि का ज्ञान एक ही क्षण की सत्ता में होना सम्भव नहीं है । अतः यदि दूसरे क्षण में भी ज्ञान को सत्ता मानियेगा तो यह सम्भव नहीं; क्योंकि तब आपका क्षणभङ्गवाद ही नष्ट हो जायगा ॥३४-३७॥

विभागकालग्रहणकालयोर्भिन्नकालता ।  
 विनष्टत्वात् फलं कस्य क्रमात् कर्मफले यतः ॥३८॥  
 भेदवानिति लक्ष्यत्वे दृष्टान्तोऽस्ति न तादृशः ।  
 “ग्राह्यग्राहक संवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते” ॥३९॥  
 न च शुद्धस्य बाह्यार्थाभासता चेदविद्यया ।  
 वासनारूपया, शुद्धे नाशुद्धा वासना भवेत् ॥४०॥

ग्राह्यम्, एकक्षणे न युक्ताः असम्भवात् । तद्वद्विषयेन=क्षणद्वित्वेन कर्तृकरणादिज्ञानस्य  
 क्षणद्वयावस्थितत्वेन, क्षणक्षयः = क्षणभङ्गवादभङ्गः स्यादिति मेवः ॥३८-३९॥

विभागकालेति—एकविज्ञानस्याप्यविज्ञानाद् विभागोत्पत्तौ यः कालः तद्वि-  
 भागस्य च ज्ञानकालः तयोर्द्वयोः कालयोर्भिन्नकालताः द्वयोः कालो भिन्नौ उच्यते ।  
 किञ्चिद्विज्ञानं विभागकालं किञ्चिज्ज्ञानं विभागज्ञानं, ते च क्रमशः उत्पत्तिमती, एति  
 यदा विभागकर्तृज्ञानं नष्टं तदा विभागज्ञानं कस्य स्यात् कर्मकर्तृज्ञानस्य विनष्ट-  
 त्वान् ? कर्मफलयोश्च पूर्वापरभावित्वान् ? तदेवाह—क्रमात् कर्मफले यत इति ।  
 ननु अर्थग्रहो भेदवान् स्यात् एति लक्ष्यत्वे = मन्त्रधनस्य नात्मनो, का हानि ?—  
 तत्राह—दृष्टान्तोऽस्ति न तादृशः इति । योगाचारस्य तथाभूतमुदाहरणं नास्ति ।  
 ननु कथं भेदवृद्धिर्व्यावहारिके जगति ?—तत्राह—ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव  
 लक्ष्यते=अर्थग्रहो न तु यथार्थः । तथा चोक्तं धर्मकीर्तिना—

‘अर्थग्रहः कथं ? सत्यं न जानेऽहमपीदृशम् ॥

अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मविपर्ययसितदर्शनैः ।

ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥

( प्र० वा० २.३५३-५४ ) इति ।

एक विज्ञान का दूसरे विज्ञान से विभाग का काल और उसके ज्ञान का काल  
 इन दोनों में भिन्नकालता है अर्थात् दोनों का काल भिन्न है । फिर कर्म करने  
 वाला विज्ञान जब नष्ट हो गया तो फल किन विज्ञान को मिलेगा क्योंकि कर्म और  
 फल दोनों क्रम में होते हैं । यदि यह कहिये कि अर्थज्ञान स्वतः भेदवान् है अर्थात्  
 एक ही विज्ञान अर्थज्ञान का कर्ता भी है और कर्म भी, पर भिन्न सा दिखाई  
 देता है । वही लक्ष्य है । तब कहते हैं कि ऐसा तो दृष्टान्त ही नहीं मिलता । ग्राह्य  
 और ग्राहक की संवित्ति के कारण अर्थग्रह भिन्न प्रतीत होना है । प्रश्न है कि शुद्ध  
 विज्ञान तो बाह्य पदार्थ के रूप में भासित नहीं हो सकता ? यदि यह कहिये  
 कि वासनारूप अविद्या के कारण हो सकता है तो यह कथन अनुचित है क्योंकि  
 शुद्ध आलयविज्ञान में अशुद्ध वासना ही नहीं सकती ॥३८-४०॥



नेत्रादिव्यापृतेः पूर्वं घटं पश्यामि तादृशी ।

जायते प्रथमैवेच्छा नासाजानस्य यादृशी ॥४१॥

ज्ञानात् पूर्वमिच्छाजाने ज्ञानकल्पनमुज्ज्वलम् ।

न घटो निर्विशेषोऽस्ति ग्रहे यज्ज्ञानशुद्धता ॥४२॥

उत्पत्तिकाले स्वात्मानं किमादौ वेति वा वहिः ।

प्रतिभासस्य वैचित्र्याद्युपपद ग्रहणं कथम् ॥४३॥

ननु वासनारूपया अविद्यया शुद्धस्य = आत्मविज्ञानस्य बाह्यार्थाभावात् स्वान् न तु वास्तविकी भवति चेत् ? न; यद्धे विज्ञाने शुद्धवास्तवतात्त्विकत्वान्ममज्ञान् । तत्रैवाह— शुद्धे नाशुद्धा वासना भवेदिति । उद्धारना अविज्ञानस्य शुद्धतामात्राणि गिज्ञान्ती— नेत्रादिव्यापृतेरिव्यादिना । अजातस्य = अनुत्पन्नस्य भिन्नोक्तमकरणादिविषये यादृशी = तथा, मानातिशयैरेच्छा जायते 'अविद्ययाः पृथग्वेदिकं नाम भविष्यति पूर्वा भवेदित्' इति तत्रैव, नेत्रादिव्यापृतेः = यथावा घटादियद्विषयकपक्षव्यापारात्, पूर्वम् = प्राक्, 'घटं पश्यामि' इत्येतादृशी = यथावा प्रथमैवेच्छा जायते इति लोक-प्रसिद्धिः । ज्ञानात् पूर्वम् = घटाविज्ञानात् प्राक्, इच्छाजाते = एषणासमये, उत्पत्तेः ज्ञानकल्पनम् = ग्रहीतृकल्पना उज्ज्वलम् = तन्महत्त्वमूर्त्यं तत्रैवा स्वाभा-विनिवर्त्यः । इच्छानन्तरं यदा घटजानं जायते तथा घटः, निर्विशेषः = नाम-जात्यादिकं जनारहितः, नास्ति = न वर्तते येन ग्रहे = घटजाने, ज्ञानशुद्धता = आत्मविज्ञानशुद्धता स्वान् ॥४४-४५॥

प्रकारान्तरेण क्षणभङ्गमाश्रयिनि—उत्पत्तिकाल इति । नन्वात्मविज्ञान-मुत्पत्तिकाले, आदौ = प्रथमम्, स्वात्मानम् = 'अहमित्याकारेण स्वम्, वेति = जानाति किम् ? वा = आहोस्वन्, वहिः = बाह्यार्थान् घटादां ? न तर्हि मतेन अर्थे स्वं बाह्यापदार्थाश्च युगपदेव ज्ञानात्मात्मविज्ञानमिति वाच्यम्, प्रतिभा-

जिम प्रकार अनुत्पन्न जित्वा घटादार्थ के विषय में नामविषयिणी उच्छा उत्पन्न होती है उसी प्रकार नेत्र आदि के व्यापार के पूर्व 'घटं पश्यामि' ऐसी इच्छा पहले उत्पन्न होती है । किन्ता विषय के ज्ञान के पूर्व उच्छासमय के उत्पन्न होने पर ज्ञाना की कल्पना करना यथार्थ है । घट निर्विशेष कभी नहीं रहता जिसमें कि ज्ञान के समर आत्मविज्ञान शुद्ध हो । अतः अपना विज्ञानवाद समोचन नहीं है ॥४१-४२॥

इनके अनिश्चित यह बनाइये कि आत्मविज्ञान उत्पत्तिकाल में पहले अपने को जानना है या प्रवृत्तिविज्ञानरूप बाह्य जगत् को ? यदि यह कहें कि दासों को युगपत् जानना है तो आत्मविषयक और बाह्यविषयक जानों के विच्छेदन होने



क्रमेण वा परिच्छेदे क्षणान्तरमवस्थितिः ।  
 दृष्ट्वा तां सम्परिच्छेदे क्षणद्वेधमथोच्यते ॥४४॥  
 उत्पद्यमाने विज्ञाने नार्थनिष्पन्नता मता ।  
 न चार्थजातेऽवस्तुत्वं नावस्तुग्रहणादरः ॥४५॥  
 प्रकाशमप्रकाशं वा ज्ञानं तस्य प्रकाशते ।  
 विद्यारूपादनाशित्वं न हि तत्त्वं विनश्वरम् ॥४६॥

तस्य = ज्ञानात्मकक्रियादृष्ट्या वैचित्र्यात् । आत्मज्ञाने ज्ञानकर्तृवैयं कर्मत्वबुद्धिः, वायार्थज्ञाने न वायौ विषये कर्मत्वबुद्धिरिति विषयवृत्ता वैचित्र्यं प्रतिभास्यते । वायार्थविज्ञानयोर्द्विगतरासात् न निरर्थकानी तयोः क्रमिकत्वं निरर्थकम्—क्रमेण वेत्ति । क्रमगतं तयोः स्वात्मवायार्थज्ञानात्मकत्वात् आनुगतविज्ञानस्य क्षणा-  
 न्तरेण = निर्वाक्यत्वे, अस्तिप्रतिः—यत्ता, स्वार्थकत्वात् सदावपि ज्ञातः । प्रथमज्ञाने स्वात्मज्ञानस्य द्वितीयज्ञाने न वायार्थज्ञानस्य जायमानत्वात् । परिच्छेदे = ज्ञाने ।  
 संपरिच्छेदे = ज्ञाने, तां = क्षणान्तरमवस्थितिं, दृष्ट्वा क्षणद्वेधम् = जायमान-  
 स्वात्मविज्ञानेन क्षणद्वेधस्य नाशित्वम्, उच्यते = वक्तव्यमेव स्यात् । एवं च क्षण-  
 भङ्गभङ्ग आपत्तेः ॥ विज्ञाने = आत्मविज्ञाने, उत्पद्यमाने, अर्थनिष्पन्नता =  
 पदार्थस्योत्पत्तिः, न मता = मता वाद्वेतामि न स्वीक्रियते । न चापि अर्थजाते =  
 प्रत्यक्षे प्रत्यक्षाक्रियमानपदार्थस्य गम्यते, अवस्तुत्वम् = आदर्शत्वं, मन्वते ।  
 अवस्तुग्रहणे = आदर्शज्ञाने लोकस्य आदरः = प्रवृत्तिरपि नास्ति । नन्वेतेन  
 विज्ञानानम् ? उत्तरम्—आत्मविज्ञानं न क्षणिकम्, स्वात्मत्वमन्तरं प्रवृत्ति-  
 विज्ञानस्य घटादिक्रियात्मानं घटादिकं पदार्थज्ञानानि च नावस्तुनि; अवस्तु-  
 ग्रहणाप्रवृत्तिमतां ग्रहण आदरात् इति निष्कृष्टोऽर्थः ॥४३-४५॥

घटादिकं प्रवृत्तिविज्ञानं प्रकाशम् = प्रत्यक्ष वा स्यात् अप्रकाशम् = अप्रत्यक्षं वा,  
 तस्य = घटादेः, ज्ञानम् = ज्ञानगतप्रत्यक्षत्वम् अन्यथा वा 'घटमहं जानामि'

मे दोनो का ज्ञान एक ही साथ कैसे होगा ? और यदि आप क्रम से ज्ञान मानेंगे तो आत्मविज्ञान की मत्ता दूसरे क्षण में भी माननी पड़ेगी । उस अवस्थिति को ज्ञान के विषय में देखाकर विज्ञान को क्षणद्वयावस्थायी कहना पड़ता है ॥४३-४४॥

जिस समय आत्म विज्ञान उत्पन्न होता है उस समय पदार्थ की उत्पत्ति तो आप भी नहीं मानते । और पदार्थ को अवस्तु भी नहीं माना जाता तथा अवस्तु के आदान या ज्ञान में किसी का आदर अर्थात् प्रवृत्ति भी नहीं है ॥४५॥

घट आदि प्रवृत्ति विज्ञान चाहे प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष उपका ज्ञान तो प्रत्यक्ष होता है जिसका स्वरूप है—'घटमहं जानामि' । चूंकि यह ज्ञान विद्यारूप

अथ दीपप्रकाशत्वे न नित्यत्वं न कर्तृता ।

कर्तृता तत्र दीपादेः करणत्वं तदीक्षणे ॥४७॥

प्रकाशतात्मन्यचले स च प्रोक्तोऽप्यनश्वरः ।

ज्ञानस्य करणत्वेन भवेच्चेदनवस्थितिः ॥४८॥

दीपचक्षुःक्रमफलदर्शनात्तदबाधकम् ।

भावे कथं विनाशित्वं स्याद्विना कारणान्तरम् ॥४९॥

उत्प्रेयस्त्वम्, प्रकाशते = ज्ञानं भवति । यतो हि तज्ज्ञानं विद्यारूपं तस्मान् तस्य अनाशित्वम् = अविनश्वरत्वमस्ति । तत्र हेतुमाह—न हीति । तत्रम् = विज्ञानं चित् चैतन्यं वा अविनश्वरमेव । ननु 'न हि तत्त्वं विनश्वरम्' उच्यते यद् भवदीक्षकं तदगङ्गतम्; वक्ष्यमाणहेतुत्वात् । तथा च यथा दीपप्रकाशत्वे न नित्यत्वं न च कर्तृता नर्ह्येति चेत् ? न; प्रकाशस्वरूपकार्यं प्रति दीपस्य कर्तृत्वात् । तत्र दीपप्रकाशत्वे । तदीक्षणे = तेन = दीपेन घटादेरीक्षणे तस्य दीपस्य करणत्वमिति । यथा दीपस्तथाऽऽत्मापि प्रकाशस्वरूपः प्रकाशकोऽचलश्चेत्यस्माकं मतम् । स च = आत्मा, प्रोक्तोऽपि = प्रकाशस्वरूपः कश्चितोऽपि प्रदीपप्रभावतश्चरः नास्ति किन्तु अनश्वरः । ज्ञानस्य करणत्वेन = भवन्मतानुसारं यथात्मा ज्ञानस्य करणं स्यात् तदा अनवस्थितिर्भवेत् । सा त्विच्छम्—घटादेर्ज्ञाने आत्मा करणम्, करणं ज्ञातव्यं तदादाय कर्ता प्रवर्तते इति तस्यात्मनो ज्ञानेऽप्य आत्मा करणम्, तस्यापि ज्ञानेऽप्य हे इमंलिङ्गं यह अविनश्वर है । क्योंकि जो तत्त्व अर्थात् यथार्थ वस्तु है वह विनश्वर नहीं होता । प्रश्न है कि फिर दीपक भी तो प्रकाश करता है लेकिन उसकी नित्यता भी नहीं है और न वह प्रकाश का कर्ता ही माना जाता है फिर आप यह कैसे कहते हैं कि वस्तु का प्रत्यक्ष करानेवाला ज्ञान अनश्वर है ? उत्तर है कि प्रकाशस्वरूप कार्य के विषय में दीपक कर्ता है हा नाथ हा उनके द्वारा घट आदि के दर्शन में वह करण भी है ॥४६-४७॥

आत्मा अचल और प्रकाशस्वरूप है यह हमारा मत है । और वह प्रकाश-स्वरूप उक्त होने पर दीपप्रभा के समान नश्वर नहीं है बल्कि अनश्वर है । यदि आपके अनुसार हम आत्मा को ज्ञान का कारण मान लें तो अनवस्था दीप आ जायगा; वह इस प्रकार—घट आदि के ज्ञान में आत्मा करण होगा उस आत्मा के ज्ञान में दूसरी ओर दूसरी के ज्ञान में तीसरी; इस प्रकार अनवस्था दीप आ जायगा और घटज्ञान नहीं होगा । दीपक और चक्षु के क्रम में जायमान फल को देखने से अनवस्था दीप घटज्ञान का बाधक नहीं होता । यदि वस्तु भावस्वरूप है तो बिना किसी अन्य कारण के उसका नाश कैसे हो सकता है ? ॥४८-४९॥

अथ नश्वररूपत्वात्, तद्रूपस्योद्भवः कथम् ।  
 उद्भवो नश्वरत्वं च द्वौ स्वभावौ कथं तथा ॥५०॥  
 न च नश्यदवस्थायां स्वकार्यं तस्य युज्यते ।  
 कृत्वा कार्यं विनश्येच्चेत्क्षणान्तरमवस्थितिः ॥५१॥  
 कुर्वद्वा चार्थकार्यत्वं कुतो नश्वररूपता ।  
 कारणान्तरजन्यत्वे कारणान्तरसंगता ॥५२॥

उत्पन्नवस्था स्यात् । घटजानात्मनिर्येव च न स्यात् । दीपचक्षुरिति—दीपस्य चक्षुःश्च, क्रमाज्जायमानस्य कालस्य दर्शनान्, तदवधारकम् = अनवस्थादुपगम्, घटजानस्य बाधकं नैव स्यात् ॥४६-४८॥

भावे = वस्तुनो भावस्वरूपत्वे, विनाकारणान्तरम् = हेत्वन्तरमनोधय विना-  
 शित्वं कथं स्यात् ? न वक्ष्यमाणात्यर्थः । यथा घटनाशो दण्डादिकमनोधय न भवितु-  
 मर्हति तथैव । ननु वस्तुनो नश्वररूपत्वात् हेत्वन्तरं विनापि नाशः स्यादेवेति  
 चेत् ? न, नश्वररूपस्योत्पत्तेरगम्यभावात् । नदेवाह—तद्रूपस्येति । रूपं नश्वरं  
 चेत्तस्योत्पत्तिर्येव न जायते कल्पयितुमित्यर्थः । नदेव विवृणांति—उद्भव इति ।  
 एकारधैव वस्तुन उद्भवः = उत्पत्तिः, तस्यैव च नश्वरत्वम् विनाशस्वभाव इति  
 द्वौ स्वभावौ परस्परं विपरीतौ कथं स्याताम् अगवयत्वात् ? ॥४९-५०॥

यदा वस्तु नश्वरं तदा उत्पत्तिक्षण एव नश्यदवस्थायां तस्य=विनाशं प्राप्तुं शक्नो-  
 वरतुनः, स्वकार्यन् = प्रकाशकत्वादिकं न युज्यते = न संगतिमावहति । यदि च  
 तद् वस्तु दीपादिकं घटादिकं वा, स्वकार्यन् = प्रकाशादिकं जानादिकं वा कृत्वा  
 विनश्येत् तदा अणान्तरमवस्थितिर्गति भवदनिमनक्षणान्तरमात्रमज्ञः । दूषणान्तर-  
 माह—कुर्वद् वेति । अथवा यदि तद्वस्तु अर्थकार्यत्वन्=ज्ञानप्रकाशादिकम् कुर्वद्=

यदि आप प्रश्न करें कि उस वस्तु का स्वरूप नश्वर है इसलिए वह नश्वर  
 है ? तो यह बनावट है कि उस नश्वर रूप का उद्भव कैसे होता है ? एक ही वस्तु  
 का उद्भव भी हो और वह नश्वर भी रहे यह दोनों उसका स्वभाव कैसे होगा ?  
 जब वस्तु नश्वर अवस्था में होगी तो उसका कार्य होता युक्तिसंगत नहीं है और  
 यदि कार्य सम्पन्न करके वह नष्ट होती है तब तो वह दो क्षण तक रहने वाली होगी  
 फिर आपका क्षणभङ्गवाद का मिथ्यात्व ही स्पष्ट हो जा रहा है ॥५०-५१॥

अथवा यदि वह अर्थक्रिया कर रहा है तब वह नश्वररूप कैसे होगा ? यदि  
 नश्वररूपता को कारणान्तर से उत्पन्न मानेंगे तो कारणान्तर से उसका सम्बन्ध  
 होगा और उस कारणान्तर का फिर कारणान्तर से और इस प्रकार अनवरथा  
 दोष आ जायेगा । उसके अतिरिक्त एक पदार्थ दूसरे पदार्थ को उत्पन्न करता है



भावस्य भावजनने युक्तत्वं न क्षणस्थितेः ।

न घटाद् घटसंभूतिः समवायाद्यपेक्षया ॥५३॥

नष्टस्य समवायित्वमनष्टस्य घटस्य वा ।

नष्टस्य तदकृतृत्वमनष्टस्य स्वरूपिता ॥५४॥

यत्सत्त्वक्षणिकत्वेऽपि सत्त्वमप्यक्षगोचरम् ।

सादृश्याद् भ्रान्तमक्षं चेददुष्टं प्राग्ग्रहे यथा ॥५५॥

सम्पादयन् तज्जन्तानि भवता कथयते तदा तज्जन्तं वस्तुना नष्टवरूपता = क्षणभङ्गिमा कुतः ? तत्र स्वादिवर्गः । नष्टवरूपतायाः कारणान्तरजन्यत्वे = हे वन्तरादुत्पत्ती स्वीकृतव्याम्, कारणान्तरजन्यता = हे वन्तरेण सम्बन्धता स्यात् तस्या नष्टवरूपतायाः तज्जन्तं कारणान्तरं कारणान्तरेण जन्तं तज्जन्तान्तेत्यनवस्था प्रमायेत । भवता बीडानां मते कारणान्तरजन्यत्वमेवापमिहान्तः, भावस्य = पदार्थस्य, भावजनने = पदार्थान्तरोत्पत्तिः हेतुजन्यकारणं युक्तत्वम् = अविद्यम् नास्ति, कुतः ? क्षणस्थितेः - सर्वेषां भावानां अवमाकमेव सन्धेन द्वितीयक्षयानन्वयानां पदार्थान्तरस्य च द्वितीयक्षण एवैतज्जन्तान्त्वान् । उदाहरणेन यत्किं ब्रूयति—नेति । घटाद् घटोत्पत्तिर्न भवति, कुतः ? समवायाद्यपेक्षया । यथा समवायेन घटं प्रति तादात्म्येन कार्यं कारणम्, न तथा समवायेन घटं प्रति तादात्म्येन घट एव कारणम्; घटे घटसमवायाभावात् । तुल्यतुल्यजन्यत्वायेन यदि घट एव स्वात्मनः समवायिकारणं स्वीक्रीते तदापि यद् घटस्य समवायित्वं तदष्टस्य ? अनष्टस्य वा ? नष्टस्य चेत् ? अनन्तत्वं घटस्य । अनष्टस्य चेत् ? स्वरूपिता = घटः स्वरूपेणैव वर्तमान आत्मे न तु घटान्तरमुत्पादयति ॥५१-५४॥

‘यत् यत् तदधिकम् यथा जलधरः’ इति सिद्धान्तोऽपि दुष्प्रसङ्गो नास्ति यतः सत्त्वमपि = पदार्थः, नास्ति, अक्षगोचरम् = दृष्टिब्रह्मक्षयविषयः । प्रत्यक्षविषयता यह भी ठीक नहीं है क्योंकि पदार्थ अक्षगोचरी है । यह से घट की उत्पत्ति नहीं होगी क्योंकि घटकन कार्य की उत्पत्ति के लिए समवायी, आदि कारणों की ओर लगी है । अब आप यह बताएंगे कि घट की उत्पत्ति में जो वस्तु समवायि कारण बनेगी वह नष्ट रहेगी ? या अनष्ट ? यदि नष्ट वस्तु को आप समवायि कारण मानने हैं तो वह तो घट को बना ही नहीं सकती । और यदि अनष्ट को मानने हैं तो वह तो घटस्वरूप ही रहेगी फलतः कार्यान्तर की उत्पत्ति नहीं कर सकेगी ॥५२-५४॥

जो आपका यह सिद्धान्त है कि ‘जो सत् है वह अधिक है’ उसमें भी अंतर्गति यह है कि पदार्थ तो सत् भी है और प्रत्यक्ष भी; अतः वे क्षणिक नहीं हैं । यदि



दृष्टान्तेऽपि हि सादृश्ये प्रत्यक्षेण क्षणग्रहः ।  
 दीपज्वालासमूहेषु कम्पनं, न विनाशिता ॥५६॥  
 नापि क्रमयोगपद्यविकल्पाः, सङ्कारिणाम् ।  
 सन्निधौ कृतशक्तित्वादनेकेषां तथा स्थितेः ॥५७॥

ज्ञानेन क्षणवशादिति न क्षणवत्त्वं लक्षणप्रतीतिरन्तर्निहितम् । ननु प्रथमक्षण-  
 विभावाः द्वितीयक्षणे स्वसदृशं भावमन्तः विनश्यतीति निश्चयान्ते द्वितीयक्षणे  
 भावस्य प्रत्ययं कुर्यात् अत्रान् = उच्छिद्यम्, साधुत्वाद् = प्रथमक्षणवन्तिपदार्थतुल्यत्वात्  
 आनन्तम् = अन्तर्भावज्ञानवत् इति चेत् ? न, यथा प्राग्ग्रहे = प्रथमक्षणवन्तमाने  
 ज्ञाने, अदृष्टम् अत्र तथा द्वितीयज्ञाने प्रत्यक्षेण भावस्य अन्तर्भावः ? यथा  
 जलधरः—इति दृष्टान्तेऽपि सादृश्ये नहि प्रत्यक्षेण, क्षणग्रहः = जलधरादीनां  
 ज्ञानम् । तत्र ज्ञानं नामजात्यादिबोद्धव्यमिति भवति । अतः पदार्थो नानुसम  
 क्षणद्वयावस्थापितः सत्येव येन प्रथमक्षणे निश्चितपक्षं द्वितीयक्षणे न निश्चितपक्षं  
 ज्ञानं जायते । दीपज्वालासमूहेषु कम्पनमस्ति त्वयापि तत्र विनाशिता  
 द्वितीयक्षणविवक्षिता न । न अपि तेषु दीपज्वालासमूहेषु क्रमयोगपद्यविकल्पानां  
 प्रसरः, यतो हि दीपज्वालासमूहाः श्रमेण त्वयापि युगपद् वा उत्पद्यन्ति वा  
 नवैव स्यात् तथा सहकारिणस्तत्र सन्निहिताः स्युः । तदेवाह—सङ्कारिणामिति ।  
 निमित्तकारणानां सन्निधौ उपास्थितौ सत्त्वामेव, कृतशक्तित्वात् = कर्तुः कार्या-  
 न्यायवशात् । अनेकेषां उपास्थितत्वात् पदार्थानाम् विषये तद्वारिधितः =  
 तुल्यवशात् तत्र सहकारिसन्निधानात् कृतत्वमित्यर्थः तेषाम् । अत्राह अनेकेषां सह-  
 कारिणां च कर्त्तव्यकृत्यादीनां, सन्निधौ = समीपापस्थितौ, तथास्थितेः = पदव-

जाय वह कहै कि पदार्थ मन् होने हुए क्षणिक है इसलिए उस पदार्थ के सादृश्य के  
 कारण ज्ञान में अर्थात् अवस्था प्रत्यक्ष करती है । तो ऐसा नहीं है । क्योंकि  
 जिस प्रकार प्रथम पदार्थज्ञान के समय उच्छिद्य अदृष्ट आ ज्ञान नहीं, उसी प्रकार  
 परवर्ती ज्ञानकार में भी वह अदृष्ट ही है ज्ञान नहीं । सादृश्य के रहने पर जलधर  
 उत्सादि दृष्टान्तमध्य में भी पदार्थों का ज्ञान तो प्रत्यक्ष हो जाता है और वह  
 नामवात्तादिको ज्ञानात्क होता है अतः पदार्थ कम से कम क्षणद्वयावस्थाप्यो तो है  
 ही जिसमें उनका प्रथम क्षण में निश्चितपक्ष और द्वितीय क्षण में निश्चितपक्ष ज्ञान  
 होता है । इसी प्रकार दीपज्वालासमूहों में कम्पन तो होती है किन्तु वे द्वितीयक्षण-  
 विषयों नहीं हैं और न ता उनमें क्रम योगपद्य तथा विकल्प है क्योंकि जब  
 सहकारी अर्थात् निमित्त कारणों का साक्षिध्व होता है तभी कार्यापत्ति में कोई  
 कर्तु समय होती है । अनेक पदार्थों के विषय में यही स्थिति है ॥५६-५७॥

भावानां चित्रशक्तीनामभेदो हेमभेदवत् ।  
 वैलक्षण्यमपूर्वत्वं बाह्याभासक्रियोद्गमात् ॥५८॥  
 अर्थक्रियासमर्थत्वे वस्तुता शुक्तिकादिके ।  
 तत्र स्थिताऽवस्तुता चेन्नोक्तत्वाद्देषु वस्तुता ॥५९॥  
 घटो नश्यत्यात्मनेति किञ्चित्कुर्वन् किमात्मना ।  
 नश्यत्यात्मन्यकुर्वन्वा तदेवं स्थित एव सः ॥६०॥

रूपेण पदार्थस्य स्थितेः = सत्त्वस्य विषये कृतशक्तित्वं मृत्पिण्डादीनामिति शेषः ॥५५-५७॥

हेमभेदवत् = यथा कटककुण्डलादयो हेमो भिन्नाः किन्तु तेषु हेम अभिन्नमेव तथैव, चित्रशक्तीनाम् = विविधरूपाकृतिकृत्यवताम्, भावानाम् = पदार्थानां घटमणिक-मल्लादीनाम्, परस्परं भेदेऽपि मृदात्मनाभेदः । ननु तेषु वैलक्षण्यं नूतनत्वं च कथं व्यवहियते इति ? तत्राह—बाह्याभासक्रियोद्गमात् = बाह्ये = लोके आभासः = प्रतीतिः यामां क्रियाणाम् = अर्थक्रियाणाम्, तामामुद्गमात् = उत्पत्तेः । शुक्तिकादिके जागतिकपदार्थे वस्तुता = 'इदं वस्तु' इति व्यवहारः अर्थक्रियासमर्थत्वे = प्रयोजनसिद्धिगामर्थ्ये सत्येव भवति । ननु तत्र = शुक्तिकादी अवस्तुता = अयथार्थताः यथा चोक्तं धर्मकोटिना—

वक्तृव्यापारविषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशते ।

प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्वनिबन्धनम् ॥ (प्र० वा० १.४)

इति चेत् ? न; उक्तत्वात् = अर्थक्रियासमर्थत्वादेव एषु = शुक्तिकादिषु वस्तुता ॥५८-५९॥

इदानीं पुनः अणिवत्वनिरासायोपक्रमते विस्तरेण—घट इति । ननु यदि घटो द्वितीयक्षणे आत्मना = स्वयमेव नश्यति तर्हि इदं ब्रवीतु भवान् यत् किमा-

जिस प्रकार सुवर्ण के कटक कुण्डल आदि भिन्न-भिन्न आभूषण भिन्न-भिन्न अर्थक्रियाकारी होने पर भी सुवर्णत्वेन अभिन्न हैं उसी प्रकार विचित्र शक्तिवाले पदार्थों में भी परस्पर अभेद है । और उनमें जो वैलक्षण्य या अपूर्वता दिखलाई पड़ती है वह तो बाह्य जगत् में आभासमान क्रिया की उत्पत्ति के कारण होती है । अर्थक्रिया में समर्थ होने के कारण ही शुक्तिका आदि पदार्थ मानी जाती हैं । यदि आप यह कहना चाहते हैं कि उनमें वस्तुता नहीं है तो ऐसा आप नहीं कह सकते क्योंकि पूर्व श्लोक में उक्त होने के कारण उनमें वस्तुता है ॥५८-५९॥

अब आप यह बताइये कि घट जब द्वितीय क्षण में नष्ट होता है तो वह अपने द्वारा अपने अन्दर कुछ करता हुआ नष्ट होता है ? अथवा न करता हुआ ? दोनों



कुर्वन् वा किं तदा कुर्वन्, न भावं, तद्घटादिकात् ।  
 अनन्यं व्यतिरिक्तं वा, यद्दानन्यस्तथाविधः ॥६१॥  
 अन्यत्वेऽन्यसमुत्पत्तौ घटस्यायातमत्र किम् ।  
 आत्मना परतो वापि विनाशेऽत्रापि तादृशाः ॥६२॥  
 विकल्पाः, अथवा नश्येदसावेतावदेव सत् ।  
 तत्रापि किञ्चित्कुर्वन् किं स नश्यति, तथाविधाः ॥६३॥

स्मृता = केन रूपेण, नश्यति ? किमात्मनि किञ्चित्कुर्वन् नश्यति ? अकुर्वन् वा ?  
 तदेवम् = यश्चकुर्वन् नश्यति तदा सः = घटः, स्थित एवं = न नश्यतीत्यर्थः, तत्र-  
 क्रियाया अभावान् । अथ किञ्चित् कुर्वन् नश्यतीत्युच्यते भवता तर्हि किं कुर्वन्  
 नश्यति ? न भावन् = नैव भावार्थस्यास्मादस्मादनं कुर्वन् । ननु कथमेतत् ? तत्राह—  
 तदिति । यदि भावोत्पत्तिं कुर्वन् नश्यति तर्हि सोत्पत्तिर्व्युत्पत्तिरन्या भविष्यति ?  
 व्यतिरिक्ता वा ? यश्चनस्योत्पत्तिस्तदा तथाविधः = घटस्वरूपावस्थाः स एव घट  
 आस्ते इति नो नूतना कृतिरित्यर्थः । अन्यत्वे = यश्चनस्योत्पत्तिः क्रियते तदा  
 अन्यसमुत्पत्तौ = घटाद् भिन्नवस्तुसत्तौ अत्र = उत्पत्तिस्थले घटस्य = घटव्यक्ता  
 तदतिरिक्तं किमायातम् ? न किमपि नवत्वं दृश्यमानं भूयते वा लक्ष्यः । यथास्मना  
 तथाऽऽत्मना परतो वापि कारणेन सार्वविभक्तिकस्तमिः, घटस्य विनाशे गृहीते  
 अत्रापि = विनाशपक्षेऽपि तादृशा एव विकल्पा समुत्पिच्छन्तीति शेषः । अथवा यदि  
 असौ = घटः नश्येत् = नश्यति एतावदेव यदि सत् = सत्यम्, तत्रापि सः =  
 घटः, किं किञ्चित् कुर्वन् नश्यति ? अकुर्वन् वा ? इति तथाविधाः = पूर्वोक्त-  
 मद्दृशा विकल्पाः पुनरायास्यन्ति । ते = तव बौद्धस्य मते, अभावक्रियान् = स्वसंकाय

परिस्मिन्निद्रां मे वह स्थायी है क्षणिक नहीं । यदि आप कहते हैं कि वह कुछ  
 करता हुआ नष्ट होता है तो बनाये क्या करता हुआ नष्ट होता है ? भाव पदार्थ  
 को तो वह उत्पन्न करना नहीं । क्योंकि यदि भाव पदार्थ को बनाता हुआ नष्ट  
 होता है तो वह भाव पदार्थ उग नश्यमान घटादि से अभिन्न होगा या भिन्न ?  
 यदि अभिन्न है तब तो नश्यमान घटस्वरूप ही है कोई नवीन कृति नहीं और  
 यदि भिन्न है तो हमारे की उत्पत्ति होने पर यहाँ इस उत्पादन में घट के अतिरिक्त  
 क्या आया ? अर्थात् न तो घट में कोई परिवर्तन हुआ और न पृथक् ही किसी  
 पदार्थ का अस्तित्व दृष्ट हुआ । इसी प्रकार अपने द्वारा या दूसरे के कारण घट के  
 विनाश की स्थिति में भी उसी प्रकार के विकल्प प्रस्तुत होने लगते हैं ॥६०-६२॥

यदि आप यह कहें कि घट नष्ट होता है बस इतना ही सन् है तो यहाँ पर  
 भी क्या वह कुछ करता हुआ नष्ट होता है ? या न करता हुआ ? इस प्रकार के

विकल्पः पुनरायान्ति, न चाभावक्रियां प्रति ।

घट एव करणत्वे सामग्री जनिकेति ते ॥६४॥

दर्शनं यद्यभावस्य तुच्छस्य करणं कथम् ।

बहुभिरर्तुहि तुच्छं हि घटोऽपि जनयेत् कथम् ॥६५॥

नाशं घटस्य जनयेत् तत्सम्बन्धितया स्थितम् ।

मृत्निष्ठस्य घटोत्पत्तौ सति तज्जननात्मके ॥६६॥

रूपे हेत्वन्तरापेक्षा यत्र तत्र तथा कृता ।

घटस्य नञ्वरात्मत्वे मुद्गरादेरपेक्षणम् ॥६७॥

अथ घट एव = घटजनना एव करणत्वे = करणत्वसमीपारे, सामग्री = घटाद्विज्ञाता  
सामग्री जनिकेति न स्वीक्रियते । ननु कं मनोरथमन्विता—“परनिरपेक्षाश्च  
भावाः स्वभावा इति” “क्षणिकाः कर्ममत्काराः” इत्युक्ताः योगिनः सिद्धाताः ।  
इति ( मा० का० सू० ४.२.८५ ) अलोकप्रत्यक्षमभावावधारितान्वैतिरिति ॥६०-६४॥

यदि तुच्छस्य = अदृशानानुपपत्तिना वस्तुमानस्य अभावस्य दर्शनम् = प्रत्यक्षत्वं  
वाक्यत्वे अभावाभाववैलम्बिक्यत्, तर्हि वस्तुत्वं यत् तुच्छस्य = अमलः, अभावस्य  
उत्पत्त्यस्य उत्पत्तिरिति क्रियते ? ननु बहुभिनेत्रं प्रतीतिः क्रियते यद् घटाभाव उत्पन्न  
इति ? नञाति घटः सद्यस्तु कर्तुं तुच्छम् = दृश्यमभावमगद्वन्तु कर्म कथं जनयेत् ?  
न कथमर्पणवर्त्यः । न च तत्सम्बन्धितया = घटसम्बन्धितया, स्थितम् = वर्तमानम्  
घटस्य नाशं जनयेत् इति वाच्यम् : उत्पत्तिवद् विनाशोऽपि निमित्तान्तरापेक्षाव्यात् ।

विकल्प पुनः उपस्थित हो जाने है । यदि घट में ही घटजनना का कारण मानने  
से आपके मतानुसार अभावात्मक कार्य के प्रति घट से पूर्वक सामग्री उक्त कार्य  
का जनक नहीं होगी जो कि लोकप्रत्यक्ष के विरुद्ध है क्योंकि लोक में अभावात्मक  
कार्य के लिए भी निमित्त कारण की अपेक्षा होती है ॥६३-६४॥

यदि आप अभाव का प्रत्यक्ष मानते हैं जैसा कि लोकप्रत्यक्षविरोद्ध है तो यह  
उत्पादये कि अभाव तो तुच्छ अर्थात् अस्तु कर्तुं है फिर उसका उत्पादन कैसे  
आप मानते हैं ? यदि यह कहिये कि बहुत लोगों को ऐसी प्रतीति होती है कि घटा-  
भाव उत्पन्न होता है तो भी घट तुच्छ की कैसे उत्पन्न करेगा ? यदि यह कहे कि  
घट अपने से सम्बद्ध रूप में वर्तमान घटजनना को उत्पन्न करता है ? तो जैसे मृत्-  
निष्ठ से घट की उत्पत्ति के विषय में घटजननात्मकरूप कार्य के लिए जहाँ तहाँ  
कारणान्तर की ओक्षा की जाती है उसी प्रकार घट की नञ्वरात्मता के विषय  
में मुद्गर आदि की ओक्षा होती है न कि घट अपने से अपने को नष्ट करता  
है ॥६५-६७॥



किं वा नाशय न मृत्पिण्डं घटस्य जनकं भवेत् ।  
तदनाशे न किञ्चित् स्याद् घट एव न जायते ॥६८॥  
विनाशे कारणाणां हि विनाशः कारणात्मना ।  
स्वयं विनश्येन्मृत्पिण्ड एव चेत्स विनश्यति ॥६९॥  
किं विधाय, घटं, नो वा स मृत्पिण्डोऽभिधीयताम् ।  
अकृत्वाऽकरणं कुरुते, कृत्वा तस्य स्वरूपिता ॥७०॥

नवेघाट—मृत्पिण्डरूपेण । मृत्पिण्डस्य = समवायिकारणस्य घटात्मना मृत्ति,  
तज्जननात्मके = घटजननात्मके रूप = काय, अथ तत्र = स्वमित्, योगिद्वयमुष्ट  
विहाय सर्वत्र, हेतुस्तरापेक्षा = तत्कालावच्छिन्नतापेक्षा कृता = क्रियते तथा =  
नश्यति, घटस्य भस्मरात्मन्ये काये हेतुत्वस्य सुदृश्यादपेक्षा किमते न तु घटः  
स्वयं स्वं नाशयतीत्यर्थः ॥६५-६७॥

अथानि विनाशेनापि मृत्पिण्डेति किं कुरुता तावत् न स्यात् किं मृत्पिण्डे न भवेत् ।  
तदेवात्रोक्तं भवति—किं वेति । किं वा = अथवा, किं मृत्पिण्डं न नाशयं घटस्य  
न जनकं भवेत् ? इति आस्वात्तयेन न स्यात्तत्तत् । अतः हि तदनाशे = मृत्-  
पिण्डात् विनाशानात्, किञ्चित् = तदधिकं न स्यात् = नोपपद्येत् । तस्य स्फोरयति—  
घट एवेति । अकृत्याऽपि न न स्यात्कृत्यानामेव हेतुः । कारणात्मान् =  
मृत्पिण्डादीनाम् विनाशे यो विनाशो भवति स कारणात्मना = कारणस्वरूपेणैव  
भवति न कार्यरूपेण नश्यद्वस्तुतः कारणत्वात्प्रतिभा भवति । अद् भवानभिधीयति  
कारणं स्वयमेव तस्यति इति तत्राहं पृच्छामि अथतमेनद् यदि मृत्पिण्डः स्वयं  
विनश्येत् एवं चेत् तर्हि स मृत्पिण्डः किं विधाय = किमुत्पाद्य विनश्यति ? एक-  
मेवोत्तरं स्याद्-घटन् इति । नो वा = यदि घटं नाशयदयति विनश्यति चेति भवता-

अथवा कहीं-कहीं तो विनाश से मृत्पिण्ड होनी है और यदि विनाश न हो तो  
मृत्पिण्ड ही नहीं होगा । क्या नष्ट होने वाला मृत्पिण्ड घट का जनक नहीं होता ?  
उसके विपरीत यदि मृत्पिण्ड का नाश न हो तो कुछ भी नहीं होगा अर्थात् घट  
ही नहीं पैदा होगा । इस प्रकार यह समझिये कि कारणों का जब विनाश होता  
है तो कारण-आत्मत्व में विनाश होता है । मृत्पिण्ड स्वयं नष्ट होगा । यदि वह  
उन प्रकार नष्ट होता है तो क्या अनाश नष्ट होता है ? उत्तर है—घट । यदि  
अनाश ही है तो फिर उस मृत्पिण्ड का कहीं घट नहीं ॥६८-६९॥

यदि मृत्पिण्ड ने कुछ नहीं किया अर्थात् नष्ट नहीं हुआ तो फिर घट के विनाश  
में वह कुछ नहीं कर सकता । और यदि कर दिया अर्थात् नष्ट हो गया तो फिर  
मृत्पिण्ड की स्वरूपता बहा रही क्योंकि तब तो वह घट के जन्म उसके नाम

कुतो, घटस्य जननाकारनामावधारणम् ।  
 यावता प्राग्दशा नष्टा न प्रवृत्तिरन्यथा ॥७१॥  
 विरोधे दण्डघटयोर्दृष्टान्तोऽस्ति न ते क्वचित् ।  
 तेजसा तमसो यस्मान्न विनाशस्त्वयेष्यते ॥७२॥  
 अकार्यत्वाद्विनाशस्य प्रतिबन्धो न चापि ते ।  
 स्थिरस्य प्रतिबन्ध्यत्वात् क्षणिकस्य न युज्यते ॥७३॥

अभिधीयते तदा स 'मृत्पिण्डः' इत्यभिधीयताम् अकृत्वा = यदि मृत्पिण्डः किमपि न करोति न तदयनीत्यर्थः, तदा कुम्भे = घटरस्य विषये, अकरणम् = किमपि न कृतं तेन मृत्पिण्डेन । कृत्वा = नाशं प्राप्तवांश्चेन्मृत्पिण्डः, तदा तस्य = मृत्पिण्डस्य स्वरूपिता = पिण्डस्वरूपता कुतः ? कथमपि नावशिष्येदित्यर्थः । हेतुमाह—घट-  
 स्येति । तदा स मृत्पिण्डः घटस्य जननाकारनामावधारणम् = तदुत्पत्तिवदाकारत-  
 श्चात्मा च निश्चयं करोति । अवधारणे हेतुमाह—यावतेति । यस्मात् कारणात्  
 मृत्पिण्डस्य प्राग्दशा = मृत्पिण्डदशा, नष्टा घटाकृत्यादयश्च लब्धाः तस्मान्, अथ  
 अन्यथा = यदि प्राग्दशा नाशो न स्यात्, तदा किं भवेत् ? इति प्रश्ने उत्तरमाह—  
 न प्रवृत्तिः = स मृत्पिण्ड एव स्यात् फलतो घटाभावे जलाद्याहरणे प्रवृत्तिरेव न  
 स्यात् ॥७४-७१॥

दण्डघटयोर्विरोधे, तयोर्विनाशकविनाशकत्वात्, विरोधः तत्र ते मने क्वचिदपि  
 दृष्टान्तो नास्ति । तत्र हेतुमाह—तेजसेति । यस्मात् = यतो हि त्वया तेजसा =  
 प्रकाशेन, तमसो विनाशः, नेष्यते । अयमभिप्रायः—वीक्ष्यते तेजोऽन्धकारयोर्न  
 परस्परं विनाशकविनाशकभावः, मन्दप्रकाशमत्तायामपि तममाधिक्यस्य सत्त्वात् । अतः  
 एवं च प्रकृष्टप्रकाशोपस्थितौ तदपमृतौ भवति । तस्मान्न तेजस्तमसोर्विरोधः । अपरं  
 च, भवन्मने विनाशस्याकार्यत्वात् प्रतिबन्धोऽपि नास्ति, प्रतिबन्धः = अवरोधो

और उसके आकार का निश्चायक हो जाना है ? किं मृत्पिण्ड की पहले वाली  
 दशा ( पिण्डदशा ) नष्ट हो गयी इसलिए यह सब घट का जन्म आकार आदि  
 हुआ । यदि अन्यथा होता अर्थात् प्राग्दशा नष्ट न होती मृत्पिण्ड ही रहता तो  
 जल आदि के आनयन में प्रवृत्ति ही नहीं होती ॥७०-७१॥

आपके पास दण्ड और घट के पारस्परिक विरोध के विषय में वही दृष्टान्त नहीं  
 है क्योंकि आप तो तेज के द्वारा अन्धकार का नाश नहीं मानते । ( वीक्ष्य मत में  
 प्रकाश अन्धकार का नाश नहीं करता । उन्मीलित आँखों के समक्ष अन्धकार  
 का जो आधिक्य रहना है प्रकृष्ट प्रकाश के आने पर वह हट जाता है ऐसा इनका  
 मत है ।) फिर आपके यहाँ न तो विनाश को कार्य माना जाता है और न प्रतिबन्ध

कपालादिकजन्यत्वमभावस्तस्य संगता ।  
 तस्यस्य कारणापेक्षा घटादिजनने यथा ॥७४॥  
 नश्वरानश्वरत्वेऽपि स्वभावे प्रविकल्पनाः ।  
 अत्र नैव प्रवर्तन्ते हेतुसन्निधिनश्वराः ॥७५॥  
 स्वभावत्वात्स्थितं तस्मादेकं तत्त्वं, तथा स्थितेः ।  
 भेदेन बाध्यभेदेन, यदि वा नैकरूपता ॥७६॥

व्याप्तिर्वा । यतो हि स्थिरस्य = द्वितीयक्षणाश्वमिनः पदार्थस्य, एवं प्रतिबन्ध्यत्वं भवितुमर्हति । क्षणिकस्य प्रतिबन्ध्यत्वं न युज्यते । कपालादिकजन्यत्वम् = कपालादिकस्य जन्यत्वं मृत्पिण्डस्याभावः । अथवा कपालादिकेन ( घटस्य ) जन्यत्वं कपालस्याभावः । तस्य = तादृशस्य, तस्यस्य = स्थायिपदार्थस्य कपालादेः, कारणापेक्षा = चक्रचोबराद्यपेक्षा, संगता = समीचीना । उदाहरणमाह—घटादिजनने इति । यथा घटादीनामात्तात्ती दण्डचक्रचोबरादीनां निमित्तकारणानामावश्यकता, तथा सर्वत्रेति शेषः ॥७२-७४॥

अधुना स्वभाववादं मनस्वाधाय कथयति—नश्वरानश्वरत्वेऽपीति । नश्वरानश्वरत्वेऽपि = पदार्था नश्वराः = क्षणिका वा स्युः अनश्वराः = अक्षणिका वा, अत्र पदार्थानां स्वभावे हेतुसन्निधिनश्वराः = हेतूनां सन्निधेः नश्वरास्ते इति हेतुः सन्निधेः नश्वर इत्याद्याः प्रविकल्पनाः न प्रवर्तन्ते । तत्र हेतुमाह—स्वभावत्वात् इति । येषां वस्तूनां ये स्वभावास्ते तथैव स्थास्यन्ति, न तत्र परिवर्तनविनाशादीनां शंकालेशोऽपि । सः च स्वभावः सर्वत्रैकः सच्चिदानन्दक्रियारूपः । तस्मादेकं तत्त्वं स्थितम् । तत्र कटककुण्डलादिवद् भेदेनाथ वा सुवर्णत्वादिनाऽभेदेन वा विचारयतु भवान्; तथा-स्थितेः = स्थितेः = दशायाः सर्वत्र तथात्वात् । ननु सामान्याभावतः = प्रतिबन्धस्य

अर्थात् अवरोध या व्याप्ति को ही स्वीकार किया जाता है क्योंकि जो प्रतिबन्ध होता है वह स्थायी पदार्थ होता है । क्षणिक पदार्थ की प्रतिबन्ध्यता समीचीन नहीं है । कपाल आदि के द्वारा घट का जन्य होना ही कपाल आदि का अभाव है । तो इस प्रकार के सब अर्थात् स्थायी कार्यों के जनन के विषय में कारणों की अपेक्षा संगत प्रतीत होती है जैसे कि घट आदि की उत्पत्ति में ॥७२-७४॥

अब स्वभाववाद को दृष्टि में रखकर कहते हैं कि चाहे आप पदार्थों को नश्वर अर्थात् क्षणिक मानें या अनश्वर अर्थात् स्थायी, जो वस्तुओं का स्वभाव है उसमें किसी भी प्रकार की हेतु सन्निधि या नश्वरत्व की कल्पना के लिए स्थान नहीं है क्योंकि वस्तुओं का स्वभाव जैसा है वही रहेगा और वही वास्तविक है । वह स्वभाव सर्वत्र एक है जो कि सत् चित् आनन्द तथा क्रिया स्वरूप है ।



सामान्याभावतस्तर्हि भवतो नानुमानता ।  
 सा भविष्यत्यपोहेन, सोऽपि केनोपपद्यते ॥७७॥  
 घटमानय शब्दस्य प्रतिषेधेन वाच्यता ।  
 अघटादेरपोहेन किं घटं प्रतिपद्यसे ॥७८॥  
 शून्यतां वा, शून्यतायां व्यर्थता शब्दगोचरे ।  
 युगपद्वा घटाद्यर्था जगत्यानन्त्यनागताः ॥७९॥

व्याप्तिर्वाभावान्, एकस्वरूपता = सर्वत्रैकान्त्यस्य सत्ता, नाम्नीति चेत् ? न; भवन्म-  
 तस्यानुमानप्रमाणस्योच्छेदाभावात् । नदाह—भरतो नानुमानतेति । न च सा =  
 अनुमानता, अपोहेन = तद्विपक्षितत्वस्यैव व्यावृत्त्या भविष्यतीति वाच्यम्; तस्यैवा-  
 नुपपन्नत्वात् । नदाह—सोऽपीति । सोऽपि = अपोहोऽपि, केन साधनेन उपपद्यते =  
 भिद्यति ? न केनापीत्यर्थः । स्यात्तमदाहरणं द्रष्टव्यं—घटमानयेति । 'घटमानय'  
 इति शब्दस्य = वाक्यस्य, वाच्यता = वाक्यार्थवाच्यः 'यथाशक्तपूर्वेण विद्योगानुकूलो-  
 त्तरदेशसंयोगजनकध्यापारवात्स्वं भव' इत्येवंरूपः किं प्रतिषेधेन = निषेधमुखेन  
 भवति ? न भवतीति चेत् । 'घटः' इति केनचिदुक्ते किन् = अवघटादेः = घटभित्ता-  
 नां यावत्पदार्थानाम्, अपोहेन = व्यावृत्त्या निषेधेन वा घटम् = भावात्मिकां कम्बु-  
 ग्रीवादिमती व्यक्तिम्, प्रतिपद्यसे = जानामि ? शून्यतां वा ? शून्यतायाम् = यदि

इस कारण एक ही तन्त्र सम्पूर्ण विषय में है यह निश्चित हो गया क्योंकि चाहे  
 आप कटक कुण्डल आदि के समान भेदात्मक विचार रखें या सुवर्ण के समान  
 अभेदात्मक, स्थिति वैसी ही है; अर्थात् सर्वत्र एक ही तन्त्र स्थित है । यदि आप  
 प्रतिबन्ध अर्थात् व्याप्ति के सामान्याभाव के कारण एकद्वयता अर्थात् सर्वत्र एक  
 तन्त्र की स्थिति नहीं मानेंगे तो आप ( बौद्ध ) के द्वारा स्वीकृत अनुमान प्रमाण  
 का अस्तित्व ही नहीं रह पावेगा । यदि आप यह कहें कि अनुमान को सत्ता अपोह  
 के द्वारा मिट्ट होगी तो यह बताइये कि वह अपोह किसके द्वारा मिट्ट होगा क्या  
 'घटमानय' उस वाक्य की वाच्यता अर्थात् वाक्य का ज्ञान प्रतिबन्ध के द्वारा सम्भव  
 है ? यह बताइये कि अवघट के अपोह से आप घट का ज्ञान करते हैं ? अवघा  
 शून्यता का ? यदि आपको शून्यता का ज्ञान होता है तब तो घट शब्द का कोई  
 विषय ही नहीं रहा फलतः 'घटमानय' वाक्य का उच्चारण उन्मत्तप्रलापवद्  
 व्यर्थ हो जायगा ? और यदि घट और घट से भिन्न सभी पदार्थों का युगपद् ज्ञान  
 आपको अवघट के अपोह से होता है तो फिर गंगार में घट आदि पदार्थों  
 का आन्तर्य उपस्थित हो जायगा क्योंकि जैसा ज्ञान होगा वैसी ही उपस्थिति  
 होगी ? ॥७५-७९॥



निवृत्ते वाच्यसम्बन्धे प्रहेषो विधिगः परम् ।

अघटत्वं न सामान्यं किं न वा ह्यविशेषकम् ॥८०॥

तस्याप्यवस्तुरूपत्वे न किञ्चित्कथितं भवेत् ।

एतावान् वाच्यसम्बन्धो यदन्तःस्फुरणात्मता ॥८१॥

सूक्तनायाः प्रतिपत्तिर्भवति तदा, शब्दगोचरे = घटपदोच्चारणविषये, व्यर्थता ।  
 'घटः' इति शब्दोच्चारणमेव व्यर्थं स्यादिति भावः । अथ युगपदेव = एकमद्वैत  
 घटाद्यर्थाः = घटज्ञानं सूक्तज्ञानमप्योक्तज्ञानं च जायेरन् इति ? तदा घटाद्यर्था जगति  
 आनन्त्यम् = अनन्त्यताम्, आगताः = प्राप्ताः । एकमेव घटशब्दस्यानन्ता अर्था  
 भवेयुर्नित्यः । ज्ञानमनतिक्रम्यार्थोपस्थितेतिवन्मात् । 'घटमानय' इत्यादिविधिवाक्येषु  
 वाच्यसम्बन्धे = वाच्यवाचकभावे, निवृत्ते = अपमृतेऽस्वीकृते, विधिगः = अनुष्ठानेषु  
 वर्तमानः, परं प्रहेष उत्पद्येत । विधिवाक्यश्रवणमगमनत्वं प्रवृत्तिनिवृत्त्योरैकाग्रि न  
 स्यादिति भावः । दूषणान्तरमाह—अघटत्वमिति । अघटत्वं सामान्यं भवितुं नार्हति;  
 घटं विहाय विश्वव्रह्माण्डे तस्य सत्त्वान् । ननु यदि तत्र सामान्यं तदा किमविशेष-  
 कमपि तत् न भविष्यति ? विशेषो नाम व्यवहारप्रयोजकत्वे सर्वानुपपन्नकः ।  
 अघटत्वं तु न सामान्यं न वा विशेषकम्, तेनाविशेषकं न भविष्यतीत्यस्य अवश्य-  
 मेवाविशेषकं भविष्यतीत्यर्थः । एतदतिरिक्तं त्वया बोद्धेन तस्यापि = अपोहस्यापि  
 अवस्तुरूपत्वे न किञ्चित् कथितं भवेत् न किमप्युक्तमित्यर्थः । तस्मात् घटादि-  
 पदानां एतावानेव वाच्यैः = अर्थैः सह सम्बन्धः यन् अन्तःस्फुरणात्मना = तत्तच्छ-  
 र्वश्रवणमगमनत्वं यदन्तःकरणे चित्तेः प्रकाशां भवति न एकोपलब्धिः पुनरप्य  
 प्रमाणान्तरगोचरा = प्रत्यक्षानुमानादीनां प्रमाणाणां विषया, ज्ञेया मैवान्तः-  
 स्फुरणात्मना ॥८०-८१॥

यदि घट पद और घट अर्थ के बीच वर्तमान वाच्यवाचकसम्बन्ध हट गया  
 जैसा कि ऊपर कहा गया है, तो 'घट मानय' इत्यादि विधिवाक्यों में बहुत बड़ा  
 हेरा उठान्त हो जायगा । अर्थात् विधिवाक्य को सुनकर प्रवृत्ति निवृत्ति कुछ भी  
 नहीं होगी । उनके अनिश्चित अघटत्व तो सामान्य होगा नहीं क्योंकि घटत्व तो  
 समस्त घटव्यक्ति में रहता है अतएव घटव्यक्ति को छोड़कर समस्त ब्रह्माण्ड में  
 रहेगा अतः वह सामान्य तो होगा ही नहीं, तो क्या वह अविशेष भी नहीं होगा ?  
 अर्थात् अविशेष अवश्य होगा । उनके अनिश्चित अपोह के अवस्तुस्वरूप होने के  
 विषय में कुछ नहीं कहा गया । उनलिये घट आदि पदों का अपने-अपने वाच्यों  
 में इतना ही सम्बन्ध है कि उन-उन पदों को सुनने के बाद अन्तःस्फुरणात्मक  
 उपलब्धि होती है और फिर वह बाल्य पदार्थों के प्राप्त होने पर प्रमाणान्तर का

उपलब्धिः पुनर्ज्ञेया प्रमाणान्तरगोचरा ।

धूमात् सम्बन्धतो बल्लेः परोक्षे स्फुरणं न किम् ॥८२॥

अप्रत्यक्षोऽक्षसम्बन्धो दूरस्थः शक्तिरुह्यते ।

तस्मान्न ज्ञानशून्यत्वं न शून्यं चोपपद्यते ॥८३॥

शून्यस्य बोधाभावत्वात् कः केनात्र विबोध्यते ।

न हि शून्यस्य शून्येन बोधनं न च बाधनम् ॥८४॥

तदेवादाहरणेन पुष्पाति—धूमादिति । किं धूमात् हेतोः बल्लेः सम्बन्धतः = अनुमिन्यान्मकज्ञानमसम्बन्धमन्त्वान्, परोक्षे वन्मानस्य बल्लेर्गनुमातुरन्तःकरणे स्फुरणं न भवति ? भवत्येवेत्यर्थः । यदा अक्षसम्बन्धः = इन्द्रियाणां स्वस्वविषयैः सह वर्तमानः सन्निकर्षः, दूरस्थः अत एव अप्रत्यक्षः, यथा श्रवणेन्द्रियस्य दूरस्थेन घनध्वानेन; तदा शक्तिरुह्यते = इन्द्रियाणां विषयग्रहणमामर्शस्य कल्पना क्रियते । सा च शक्तिरन्तःस्फुरणात्मिका ज्ञानमेव । उपस्थितं शून्यवादमपि कतिपयैः श्लोकैः नष्टयितुमाह—तस्मादिति । तस्मात् अस्मिन् संसारे ज्ञानशून्यत्वं न = किमपि वस्तु ज्ञानशून्यं नास्ति । न वा शून्यं उपपद्यते = केनापि सत्त्वेन साधयितुं शक्यते । शून्यस्य बोधाभावत्वात् = ज्ञानाभावत्वात्, संसारो ज्ञानशून्यो भविष्यतीति कः केन अत्र = संसारे, विबोध्यते ? न कोऽप्यत्यर्थः । कथं न विबोधनम् ? तत्राह—सर्वस्य शून्यत्वे सति शून्यस्य शून्येन बोधनं नैव, न चापि बाधनम् युज्येत । ननु संवृत्पैव = ज्ञानेन युद्धा वा, हि प्रमाणम् = प्रमाकरणम्, उपपद्यते = सिद्धयति, सा संवृत्तिर्हि, निवार्या = बाध्या । यथा युक्तिरजतप्रत्यक्षास्थले पूर्वं ज्ञानेनैव युक्तिकारजत्वेन गृह्यते, पश्चान्न तद्रजतज्ञानमेव प्रमाणात्मकज्ञानेन निवार्यते, इति चेत् ?

विषय वन जाती है । क्या धूम ने बल्ले के सम्बन्ध का ज्ञान होने पर परोक्ष में वर्तमान बल्ले का अनुमाता के अन्तःकरण में स्फुरण नहीं होता ? जब शब्दों का पदार्थों के साथ दूर का सम्बन्ध होता है जैसे श्रवणेन्द्रिय का दूरस्थ घनध्वान आदि के साथ, तब शक्ति की कल्पना की जाती है और वह शक्ति दूसरा कुछ नहीं जान ही है । इस कारण संसार में कोई भी पदार्थ ज्ञान से शून्य नहीं है और न तो कहीं किसी के द्वारा शून्य की उत्पत्ति ही की जा सकती है ॥८०-८३॥

शून्य ज्ञानाभावस्वरूप है । अतः सबकुछ शून्य होने पर कौन किसको ज्ञान करावेगा । शून्य के द्वारा शून्य का बोधन सम्भव नहीं और सब कुछ शून्य मानने पर शून्य के ही द्वारा किसी को बाध में युक्तियुक्तता नहीं प्रतीत होती । यदि यह कहिये कि बाध का अर्थ है संवृत्ति के द्वारा प्रमाण की उपपत्ति अर्थात् युक्तिरजत आदि स्थल में मिथ्या संवृत्ति का निवारण होता है और सत्य संवृत्ति की प्राप्ति

शून्यत्वे सति युज्येत, प्रमाणं वोपपद्यते ।  
 संवृत्यैव, संवृतिर्हि निवार्या चेदसङ्गमः ॥८५॥  
 शून्यत्वे सति तस्याः स्यात्तस्माद् बौद्धमयुक्तिमत् ।  
 अन्यत्र युज्यतेऽपोहः शब्दार्थानामसङ्गमात् ॥८६॥  
 सर्वस्य सर्वभावत्वादिहासौ नोपपद्यते ।  
 चर्मापमश्चेदित्यादि यद् बौद्धैः समुदाहृतम् ॥८७॥

असंगमः = असङ्गतिः स्यात् । असङ्गतौ हेतुमाह—तस्याः = संवृतेः शून्यत्वे सति ।  
 वदा सर्वमेव शून्यं तदा संवृतिरपि शून्यवैयर्थ्यसङ्गतिः । तस्मात् बौद्धं मतं शून्यवादः  
 अयुक्तिमत् = असंगतिभिर्भावितम् ॥८५-८६॥

शब्दार्थानामसङ्गमात् = शब्दार्थयोर्मध्ये वाच्यवाचकसम्बन्धाधीकारात् ।  
 बौद्धैरिति शेषः; अन्यत्र = अस्मच्छैवमतान्तरत्र बौद्धमत इति भावः; अपोहः =  
 व्यावृत्तिः युज्यते = सङ्गतिमाप्नोति । किन्तु असौ = अपोहः, इह = सिद्धाद्वैत-  
 सिद्धान्ते नोपपद्यते । अनुपपन्नो हेतुमाह—सर्वस्य सर्वभावत्वात् इति । तथा  
 बोध्यते—

नानात्मभावे शंखे वा शंखे वाभेदवादिनि ।

सर्वस्य सर्वरूपत्वं सर्वस्मिन्मत्त्वमवधारितम् ॥

( शि० दृ० ६.१२५ ) इति ।

ननु कथं सर्वं सर्वात्मकमिति, वाच्यता श्रणिकाश्रयिकत्वेनार्थक्रियाकारिण्यतः सङ्गत्वेन  
 न पदार्थानां परस्परभिन्नात्मकत्वमिति । तथा चोक्तं बौद्धमहावज्रसूत्रे—

वर्षातिपाश्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम् ।

चर्मापमश्चेत् सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदमत्फलः ॥

( स० द० सं० २.४ )

होती है ? तो यह भी कथन असंगत है क्योंकि शून्यवाद में सब कुछ शून्य होने  
 पर कौन किसका निवारण और उपपत्ति करेगा ? इन कारण बौद्धसिद्धान्त  
 युक्तिविहीन है ॥८४-८५॥

जहाँ तक अपोह (= तद्विनाशित्व) की बात है शब्द और अर्थ का सम्बन्ध  
 न मानने के कारण किसी दूसरे ( बौद्ध ) मत में यह ठीक है किन्तु यहाँ  
 वैयर्थ्य में तो 'सर्व सर्वसमम्' का सिद्धान्त मान्य होने के कारण अपोहवाद  
 अयुक्त है ॥८६-८७॥

और जो बौद्धों ने "चर्मापमश्चेत् सोऽनित्यः" का उदाहरण दिया वह तो  
 ७ वर्ष सर्व मरिते: अर्थात् 'सर्वत्र सर्वत्र शिव है । इसके द्वारा व्यङ्गित कर दिया



सर्वत्र सर्वसंवित्तेस्तत्सर्वं विनिवारितम् ।

विकल्पा घेऽपि चार्वाकैरुक्तास्तेऽपि न बाधकाः ॥८८॥

सर्वत्र सारभूतत्वात्सर्वत्रैवाजडत्वतः ।

सर्वभावस्वभावत्वादभावस्यापि भावतः ॥८९॥

घटात्मककटात्मादेः पदार्थपदयोगतः ।

अभावस्य कपालादिरूपत्वाद् वस्तुता स्थिता ॥९०॥

इति चेत् ? तत्राह—सर्वत्रेति । सर्वाः संवित्तयो यस्यागी सर्वसंवित्तिः, तस्य सर्व-  
संवित्तेः = शिवस्य, सर्वत्र गन्वान्, तत्सर्वम् = बौद्धानां समुदाहृतम्, विनिवारि-  
तम् = खण्डितम् ॥८६-८७॥

घेऽपि विकल्पाः = चतुर्थमहानुतात्तिकान्मनोऽस्तित्वाभावः, तस्यानित्यत्वम्,  
अनुमानादेरप्रामाण्यमित्यादिरवस्थाः, चार्वाकैरुक्तास्तेऽपि सर्वसंवित्तेः शिवस्य  
गार्विकत्वे न बाधकाः । अत्र हेतुमाह—सर्वत्रेति । शिवस्य सर्वत्र = सर्वस्मिन्नपि  
तत्त्वे सारभूतत्वात् = तत्त्वस्वरूपेण स्थितत्वात् । सर्वत्रैव च अजडत्वतः = चैतन्यस्य  
गन्वान् । सर्वं च भावाः = पदार्थाः निर्वाचद्रूपाः । तस्यैव शिवस्य स्वभावाः  
तस्मात्, शिवरूपत्वादित्यर्थः । अभावस्यापि = लोके व्यवहियमाणस्याभावपद-  
स्यापि, भावतः = अर्थस्वरूपेण व्याप्तुवतः व्याप्तत्वादित्यर्थः । घटात्मककटात्मादे-  
रिति—घटः = पदं तस्यात्मा = अर्थः, तो स्तः अस्य सम्बन्धस्येति घटात्मकः  
सम्बन्धः पूर्वं कटात्मकः, तौ आदौ यस्य सम्बन्धसमुदायस्य तस्य घटकस्वरूप-  
पदार्थयोः सम्बन्धस्य गन्वान् तेन रुदेणापि शिव एवास्ते । यथा घटादेः अभाव-  
स्य कपालादिरूपत्वात् अभावस्य वस्तुता = वस्तुस्वरूपत्वं न चावस्तुस्वरूप-  
त्वम्, स्थिता = प्रत्यक्षतया वर्त्तमाना दृश्यः, तथैव सर्वस्याप्यभावस्य, वस्तुत्ये =  
येन केनापि रूपेण गन्वान्, कस्यचिदपि वस्तुनो विनाशो नास्ति । एवं च मिद्धा

गया । जो चार्वाकों ने विकल्प उपस्थानित किये वे भी एकतन्त्र की मिद्धि में  
बाधक नहीं हैं । क्योंकि सर्वत्र तत्त्वस्वरूप में शिव वर्त्तमान है और इस कारण सर्वत्र  
अजड अर्थात् चेतन विद्यमान है । संसार में समस्त पदार्थ उसी के स्वभाव हैं, यहाँ  
तक कि जिसे हम लोकस्वप्नहार में अभाव मानते हैं वह भी भावस्वरूप शिव  
ही है ॥ ८७-८९॥

जिसप्रकार घट पट आदि पदार्थों का पद में सम्बन्ध होता है उसी प्रकार  
घटादभाव रूप पद का भी किसी अर्थ में सम्बन्ध है और वह है कपाल । इस  
प्रकार अभाव की भी वस्तुस्वरूपता मिद्धि है । और जब अभाव भी वस्तुस्वरूप  
हो गया तो फिर किसी भी वस्तु का नाश सम्भव नहीं है । और अभाव को यदि



अभावस्यापि वस्तुत्वे न विनाशोऽस्ति कस्यचित् ।

अभावस्यापि करणे सम्पत्तिर्नोपपद्यते ॥९१॥

कुण्डलादिषु भावेषु सर्वथैव सुवर्णता- ।

व्याप्तेरखण्डितैवास्ते शिवता सर्वगामिनी ॥९२॥

सर्वज्ञानातिरेकत्वे स्थिते वक्ष्यसि किं स्वके ।

दर्शने, [यच्च]<sup>१</sup> नानात्वं बन्धमोक्षावुदाहृतौ ॥९३॥

अभावस्य वस्तुता । तस्य क्रियात्वनिराकरणायाह—अभावस्यापीति । अभावस्यापि, करणे = क्रियास्वरूपत्वस्वीकारे, सम्पत्तिः = कपालादिरूपेण प्रातिघटाभावस्य, नोपपद्यते = न सिध्यति । तस्मान्नाभावः क्रिया, अपि तु वस्तु । कुण्डलादिषु, भावेषु = कार्यरूपेण विद्यमानेषु पदार्थेषु सर्वथैव = सर्वात्मना, कारणरूपेण सुवर्णता- व्याप्तेः, एतदवगन्तव्यं यत्सर्वत्र सर्वगामिनी = सर्वव्यापिनी शिवता अखण्डितैवास्ते न तु नानाकार्येषु नानाकारणरूपेणेति भावः । अथवा तस्याः खण्डनं न शक्यते विधानुमिति तात्पर्यम् ॥८८-९२॥

सर्वज्ञानातिरेकत्वे इति—शिवस्य सर्वज्ञानातिरेकत्वे = सकलज्ञानातिशायित्वे स्थिते = सिद्धान्तरूपेण स्वीकृते, त्वं बौद्धः स्वके = विज्ञानवादिनि शून्यवादिनि वा, दर्शने किं वक्ष्यसि ? न किमपि वक्तुं शक्नोषीत्यर्थः । ननु शैवदर्शनेऽपि नानात्वं बन्धमोक्षादिकं चोच्यत इति कथमुच्यते सर्वगामिनी शिवताखण्डितेति ? तत्राह— यच्चेति । यच्चास्मच्छैवदर्शने पदार्थानां नानात्वमुक्तम्, पशुरूपाणां जीवात्मनां च बन्धमोक्षौ कथितौ; आत्मनाम् = पशुकल्पानां जीवानां मलित्वम् = आणवमायीय-

क्रिया मानेंगे तो 'घटाभावो जायते' कहने पर कपालरूप सम्पत्ति की प्राप्ति नहीं होगी । तथा कुण्डल आदि पदार्थों में सबप्रकार से सुवर्णता व्याप्त होने के कारण सर्वगामिनी शिवता का खण्डन आपकी शक्ति के बाहर है ॥९,०-९,२॥

सर्वज्ञानातिरेकत्व अर्थात् संसार में शिवस्वरूप ज्ञान को छोड़कर और कुछ नहीं है; वही सर्वोत्तिशायी है, यह जब सिद्ध हो चुका तो आप अपने दर्शन में और क्या कहेंगे । जहाँ तक नानात्व को लेकर बन्ध-मोक्ष की बात कही गई है या आत्माओं का समलत्व कहा गया है या समस्त पदार्थों में भेद की बात भी शैव दर्शन में सत्य कही गई है तो वह तो परमसत्य की खोज में चलने वाले जिज्ञासु के क्रमिक ज्ञान के लिए कही गई है । यदि प्रारम्भ से ही एकरूपत्व की बात कह दी जाय तो सिद्धान्त में ही सन्देहबुद्धि हो जाएगी । फलतः व्यावहारिक नानातत्त्वों

मलितवमात्मनां प्रोक्तं सर्वभावेषु भेदिता ।

सत्यमुक्तमारुक्षोस्तत्क्रमप्रतिपत्तये ॥२४॥

अन्यथा ह्येकरूपत्वे विचिकित्सा प्रवर्तते ।

विना बोधं प्राथमिके निर्यत्नश्च भवेदसौ ॥२५॥

बन्धमोक्षाद्यभावेन निर्मलोऽत्र करोति किम् ।

न च वा प्रत्ययं गच्छेत् झटित्येकोक्तिमात्रतः ॥२६॥

कार्ममल्युक्तत्वं प्रोक्तम्, सर्वेषु भावेषु = पदार्थेषु भेदिता = भेदजन्य प्रोक्तः, एतत्सर्वं सत्यमेवांक्तम्, किन्तु तत् = एता सत्योक्तिः; आरुक्षोः = रसैवभावना प्रविशितोः, क्रमप्रतिपत्तये = क्रमिकज्ञानाय, उक्तमिति शेषः । लौकिक व्यवहारबुद्ध्या तत्सर्वं शास्त्रे उक्तम् । तथा चाहुः—

व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न दृश्यते ।

परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते ॥

( मा० का० २४.१८ ) इति

उपायाः शिक्ष्यमाणानां बालानामुपलक्षना ।

अमृत्ये वर्तमनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥

( मा० का० २४.१७ )

इति च । अन्यथा = यदि व्यावहारिके जगति वर्तमानानां नानात्वादीनां चर्चा न क्रियेत एकरूपत्वे = अथ सैकस्यैव तत्त्वस्य सर्वत्र सिद्धान्ततया प्रतिष्ठा स्यात् तदा व्यवहारजगति वर्तमानानान्वयरूपस्य सिद्धान्ततया च वर्तमानैकरूपस्य परस्पर-भिन्नत्वात् शास्त्रस्य भिद्धान्ते किं वा परमार्थस्यैकत्वे नार्थविरुद्धं च विचिकित्सा = संदेहः, प्रवर्तते । बोधं विना = व्यावहारिके जगति वर्तमानस्य नानात्वादेर्ज्ञानं विना, अतो = परमार्थोपलब्धिपथमाश्रित्य, प्राथमिके = साधनात्मक-प्रारम्भे, निर्यत्नश्च = नेष्टान्श्रय, भवेत् । बन्धमोक्षाद्यभयनिवार्यतां वृत्ते—बन्ध-मोक्षाद्यभावेनेत्यादिना । यदि जीवात्मनो बन्धमोक्षादिकं न स्यात् तदा तदभावेन

के ज्ञान के बिना प्राथमिक ज्ञान के विषय में जिज्ञासु प्रयत्न नहीं करेगा । यदि व्यवहारजगत् का बन्धमोक्ष न हो और पारमार्थिक निर्मल्यता ही हो तो जीव इस संसार में आकर क्या करेगा ? साथ एक बार यह देने से तत्पश्चात् उसे परमज्ञान भी तो नहीं होगा । इसीलिए भगवान् शंकर ने सैवदर्शन का प्रवचन किया न कि परमार्थ को बतलाने के ध्येय से । क्योंकि परमार्थ तो मलापमृति के बाद स्वयं जात हो जायगा ॥२३-२६॥

तदर्थमुक्तमीशेन न परार्थविवक्षया ।  
 अनेकेषाम्पूनां च कथमेकत्र संस्थितिः ॥९७॥  
 अमूर्त्तत्वाद्यदि भवेदमूर्त्तत्वेऽपि वस्तुता ।  
 वस्तुत्वे संस्करोत्येव नानासत्तानुयोगतः ॥९८॥  
 व्याप्यः स देश एकेन व्याप्यतेऽप्यपरैः कथम् ।  
 परस्परेण व्याप्यत्वाद् व्याप्यव्यापकता भवेत् ॥९९॥

निर्मलः सन् अत्र = अस्मिन् संनारं किं करोति जीवः ? न किञ्चिन् कुर्यादित्यर्थः ।  
 आप्त्यन्तरमाह—अटिति । अटिति = नहमा पुनरिच्छयं विना, एकोक्ति-  
 मात्रतः = यद्यं सर्वान्मिकं सर्वं शिवमयम् इत्येकेनैव वचनमात्रेण, प्रत्यक्षम् = वस्तुतः  
 शिव एव परमार्थो न पुरो दृश्यमानं जगद् इति विश्वायम्, न गच्छेत् = न प्राप्तु-  
 यान् । तदर्थमेव ईशेन = श्रीकृष्णस्वरूपिणा परमेश्वरेण, एतच्छास्त्रम्, उक्तम्  
 न तु परार्थविवक्षया = परमतन्वकथनेच्छया, तत्तन्वस्य कथनेऽपि साधनादाल्पयो-  
 पकथ्यमानत्वात् ॥९६-९९॥

ननु अनेकेषाम्पूनाम् = अगण्यजीवानाम् एकत्र संस्थितिः कथम् इति चेत् ?  
 उत्तरमाह—अमूर्त्तत्वात् तेषामिति शेषः, प्रकाशवत् । तथा मूर्त्तत्वेऽपि तेषां वस्तुता  
 अस्त्येव तद्वि कथमेकत्र स्थितिः इति वाच्यम्; व्यवहारदृष्ट्या जीवात्मनां वस्तु-  
 त्वेऽपि परमार्थत एक एव परमेश्वरः नानामत्ताऽनुयोगतः = अनेकानेकस्वरूपानुस्वरूपेण  
 स्वात्मानं संस्करोति क्रोडावजादित्यत्र नास्ति सन्देहदेशातीत्येव कानेकेऽभिप्रायः ।  
 ननु यदि एकेन = पुरुषेण पदार्थेन वा कश्चिद्देशो व्याप्तः तदा स देशोऽप्यपि पुरुषैः  
 कथं व्याप्यते ? कथमपि न व्याप्तं शक्नोतीत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—परस्परेणेति ।  
 परस्परेण व्याप्यत्वात् = द्वयोर्मिश्रो व्याप्यत्वात् व्याप्यव्यापकताभ्याः सम्बन्धो भवेत् ।  
 यथा वंगीयत्वभारतीयत्वयोर्मध्ये । यदि तत्र = एकस्मिन् देशे, पुरा = प्रथमत एव,  
 अन्यः = कश्चिन्, वस्तंते = वर्तमानोऽस्मिन्, तदा असौ = देशः, अपरैः = पुरुषैः  
 व्याप्तो न भवेत् । एतद्वचनहारिकीं यथार्थता मनसि निभायाति—आकाशेति ।

प्रश्न है कि अनेक अणुओं अर्थात् जीवों का एक स्थान पर रहना कैसे सम्भव  
 होता है ? उत्तर है कि अमूर्त्त होने के कारण, प्रकाश के समान । फिर प्रश्न है कि  
 यद्यपि वे अमूर्त्त हैं तथापि वस्तु तो हैं फिर एकत्र स्थिति अवसम्भव है ? उत्तर है कि  
 वस्तु होने पर भी वह ईश नानामत्तास्वरूप में स्वयं क्रोडावजा अपना संस्कार  
 करता है । फिर प्रश्न है कि जैसे एक ही स्थान एक देश की अपेक्षा व्याप्य होता  
 है और दूसरे की अपेक्षा व्यापक होता है । परस्परिकरण में व्याप्य होने से  
 व्याप्यव्यापकता का सम्बन्ध सिद्ध होता है । इस प्रकार यदि एक स्थान पर कोई



वर्तते यदि तत्रान्यो न व्याप्तोऽसौ पुराऽपरैः ।

आकाशबुद्धिचित्तादेः कथमेकत्र चेत् स्थितिः ॥१००॥

दोषोऽयं भवतामेव नैवमस्मासु तादृशः ।

सर्वस्य सर्वदेहेषु व्यापकत्वव्यवस्थितेः ॥१०१॥

सर्वेषां सर्वदेहस्था संवित् केन निवार्यते ।

कर्मणामानुरूप्याच्चेत्, संविद्वाधा न कर्मभिः ॥१०२॥

अकर्महेतुकेऽप्यस्ति योगिनोऽन्यशरीरके ।

न शक्तत्वं शरीरे स्यादन्यात्मस्फुरणस्थितेः ॥१०३॥

उक्तोदाहरणेन आकाशबुद्धिचित्तादेः एकत्र स्थितिः कथम् ? इति प्रश्ने उत्तरमाह—  
दोषोऽयमिति । अयं दोषः पूर्वोक्ते भवताम् = ब्रौह्मणाम्, मत एव भविष्यति,  
अस्मासु = नैवमाकाशेषु एवंभूतो दोषो न संभवति । तत्र हेतुमाह—तादृश इति ।  
तादृशः सर्वस्य = आकाशादिस्वरूपविश्वमयस्य विभोः सर्वदेहेषु व्यापकत्वव्य-  
वस्थितेः = व्यापकतास्थित—इति शास्त्रनिर्द्धान्तो व्यवस्थापितोऽस्माभिरित्यर्थः ।  
आकाशादिवन् सर्वदेहस्था = चिदचित्सकलप्राणिषु वर्तमाना, सर्वेषाम् = सकल-  
जीवात्मनाम्, संवित् केन निवार्यते ? न केनापीत्यर्थः । ननु कर्मणामानुरूप्यात् =  
प्रारब्धसंचितक्रियमागविविधकर्मणां न्यूनाधिक्यवत् संविदोऽपि न्यूनाधिक्यं स्यादिति  
चेत् ? न; कर्मभिः संविद्वाधाया अभावात् । तत्र प्रमाणमाह—अकर्महेतुक इति ।  
नास्ति कर्म हेतुरयं न तस्मिन्, अकर्महेतुके = कर्मानपेक्ष्य योगशक्त्या निर्मिते, अन्य-  
शरीरके = निर्माणचित्तात्मके योगिनः संविद्वाधा न भवति; तत्र योगिनः संविदो

क नामक पदार्थ है तो वह स्थान से नामक पदार्थ में पहले से व्याप्त नहीं था  
अन्यथा वहाँ क नामक पदार्थ कैसे रह पाता । इसी प्रकार आकाश बुद्धि चित्त  
आदि की स्थिति एक स्थान पर कैसे होगी ? ॥१०७-१००॥

उत्तर है कि यह दोष आप बौद्ध के यहाँ हो सकता है । हमारे मत में ऐसा  
दोष नहीं है । क्योंकि उन सर्वस्वरूपपरमात्मा की व्यापकता की व्यवस्था सभी  
शरीरों में है । नभों वहाँ में रहने वाली सबकी संवित् की कौन रोक सकता है ?  
यदि यह कहिये कि कर्मों के आनुरूप्य से संवित् का भी आनुरूप्य है अर्थात् संवित्  
कहो न्यूनाधिक तो कहीं नहीं के बराबर है ? तो यह भी असंगत है । क्योंकि  
कर्मों के द्वारा संविद् की बाधा नहीं होती । क्योंकि बिना कर्म के योगी की योग-  
शक्ति से घने हुए अन्य शरीर में भी संवित् या चैतन्य रहता है । वह शक्त नहीं  
धनता बल्कि मजबूत रहता है । क्योंकि वहाँ भी योगी द्वारा निर्मित चित्त या संवित्  
की सत्ता विद्यमान रहती है ॥१०१-१०३॥



तत्र कर्म निमित्तं चेद् योगेनाप्यत्र संक्रमः ।  
 एकबोधो बोधशतैरभिभूतो भवेत्तदा ॥१०४॥  
 तद्वाधे न परव्याप्तिर्न वाऽव्याप्तेस्तदात्मता ।  
 मोक्षेऽपि शिवबाहुल्यान्नानानायकता भवेत् ॥१०५॥

मत्ता वर्तते एवेत्यर्थः । तस्मिन् योगिनिमित्ते शरीरे शक्यत्वम् = निर्जीवत्वम्, न स्यात् । शक्यत्वाभावे हेतुमाह—अन्यात्मेत्यादि । तत्र अन्यात्मस्फुरणस्थितेः = योगिन आत्मानिर्भक्तनिमित्तचित्तस्य यन् स्फुरणं तस्य स्थितेः = मन्वात् ॥१०३-१०३॥

ननु तत्र = योगिनिमित्तशरीरे योगिकृतं कर्म निमित्तमिति चेत् ? न, कर्मान्पेक्ष्य केवलयोगेनापि अत्र = निमित्तशरीरे संविदो संक्रमस्य शक्यत्वात् । संक्रमे कर्मणां निमित्तस्वरूपीकारे दूषणमाह—एकबोध एति । यथा लोकं कर्मजनितशरीर-वता मये एकशरीरं तस्यस्यो बोधश्चान्यैरनेकशरीरेभ्यस्तस्यैवान्तर्भावमभिभूयते, यथा वा आकाशात्तन्निर्गच्छं वर्षाजलं तडागस्थैर्मन्दितलोधिर्भिसृयते तद्वत् एकबोधः = योगि-शरीरे वर्तमानः निर्माणचित्तस्यैवीभयतन्निभूतो भवेत् । न चेन्न भवति । तस्मान् कर्माणि न संविद्व्यापकानि । तद्वाधे = योगिशरीरस्य संविदोऽन्मनिमित्तशरीरस्थ-संविद्विषये, योगिचित्तेन परेणाम् = निर्माणचित्तानाम्, व्याप्तिः = नियमनम्, न स्यात् । फलतः न परशरीराणि निर्मानुं न शक्नुवान् । तुल्यतुदुर्जनन्यायेन निर्मानुं शक्नुयादपि तदापि तेषु योगिचित्तस्य अव्याप्तेः = अत्रभावित्वान्, तेषां निर्माण-चित्तानां तदात्मता = योगिचित्तानामता, न स्यात् । तस्मिन्मते तानि निमित्तचित्तानि स्वतन्त्राणि स्युः । तत्रभावप्रकाशं स्याद् यन् तेषां निर्माणचित्तानां मोक्षे शिवबा-

यदि यह कहिये कि योगी के द्वारा निमित्त शरीर में आत्मा का स्फुरण होने से उसके द्वारा किया गया कर्म कारण है तो ऐसा भी हो सकता है कि योग के द्वारा भी उस अन्य शरीर में संवित् का संक्रमण हो जाता है । इसलिए आप ( बौद्ध ) संवित् के संक्रम में न तो कम को कारण न योग को कारण मानें क्योंकि ऐसा मानने पर एक संवित्, जो कि योगी के पूर्वशरीर में वर्तमान है, का सैकड़ों निमित्त शरीरस्थ संवित् में उसी प्रकार अभिभव हो जायेगा जैसे कि वर्षा की स्वच्छ बूंदों में भरते वाले तालाब की गन्दगी में बूंदों की स्वच्छता का । और जब योगी के मौलिक शरीर में वर्तमान संवित् का अन्यशरीरस्थ संवित् या बोध में बाध हो जायेगा । तब योगी की अपनी मूल संवित् दूसरे शरीरों में व्याप्त नहीं हो सकेगी अर्थात् वह अपने प्रथम चित्त के द्वारा निर्माण चित्तों की रचना नहीं कर सकेगा । तुल्यतु दुर्जनन्यायेन यदि कर भी लिये तो उन पर वह व्याप्त अर्थात् प्रभावी नहीं रहेगा । और जब प्रथम चित्त को निर्माणचित्तों पर व्याप्ति नहीं रहेगी तो सारे

तस्याधिकमहेक्षित्वे मोक्षे न्यूनाधिके स्थितिः ।

वहूनां नायकत्वेऽपि नायकत्वं विहन्यते ॥१०६॥

तथा पञ्चविधे कृत्ये नानात्वादक्रिया भवेत् ।

याऽनन्यसदृशी भूमिः सा परा प्रान्तभूमिका ॥१०७॥

कृत्यात् नानानायकता = अनेकप्रमुखता भवेत् = आवेत् । अगिहान्तश्रेयः । ननु शिवबाहुन्येऽपि तस्य = योगिनः, अधिकमहेक्षितम् = अत्यधिकैश्वर्यं स्यात्, एवं च नानानायकता न स्यादिति चेत् ? तत्रोक्तमाह—मोक्ष इति । तथा सति न्यूनाधिके = तुल्यत्वरहिते, मोक्षे मुक्तात्मना स्थितिः स्यात् । सा तु न कस्यापि आश्रयस्य सम्मता । दूषणान्तरमाह—वहूनामिति । अनेकनायकत्वे विश्वस्य नायकत्वमपहनं स्यात्, तस्य एकस्यामेव व्यक्ता मन्वात् । अनेकनायकत्वे च पञ्चविधे कृत्ये = मृष्टिस्थित्यादिके कार्ये, अक्रिया भवेत् = पञ्चविधकृत्यात्मकं कार्यमेव न स्यात् । हेतुमाह—नानात्वादिति । मृष्ट्यादिकर्तृणा नानात्वाद् ॥१०४-१०६॥

अनेकनायकत्वे सत्यनेकभूमित्वादलक्ष्यता स्यादिति दर्शयति—याऽनन्यसदृशीति ।

या भूमिः = स्तरः, अनन्यसदृशी = अप्रतिमा अद्वितीया केवलाः सा परा प्रान्त-भूमिका = अन्तिमः स्तरः नदाशिवपर्यन्तं च सा भूमिः । ततः परं परमशिवस्यानन्तं निर्भूमिकं पदम् । यथोक्तम्, आलम्बनवारसंहितायाम्—

‘तत्स्थानं कोटिब्रह्माण्डमहाशून्याद् विलक्षणम् ।

मानं तस्यापि किमपि विद्यते नैव शाम्भवि ॥’ इति ।

या पुनः अनेकशिवत्वात् सर्वसदृशी, सा किम् अनुसार्था = परलक्ष्यत्वेन प्राप्या

निमित्तचित्त प्रमुखचित्तात्मक न होकर स्वतन्त्र हो जायेगे । फलतः मुक्तावस्था में भी अर्थात् शरीर छूटने पर जिनकी मुक्त संविद् या जीवात्मायें हैं उतने शिव हो जाने से उस विश्व के अनेक नायक होने लगेंगे । यदि यह कहिये कि मुख्य योगी अधिक ऐश्वर्यवान् होगा तो वह भी ठीक नहीं क्योंकि तब मोक्ष की दशा में भी मुक्त आत्माओं की स्थिति न्यूनाधिक्य में होगी जो कि असंगत और शास्त्रा-सम्मत है । दूसरी बात यह कि जब अनेक मुक्तपुरुष इस विश्व के नायक होंगे तो विश्वका नायकत्व ही खण्डित हो जायेगा क्योंकि वह एक व्यक्ति में निहित रहता है । अनेक नायक होने पर मृष्टि स्थिति आदि पञ्चविध कृत्य के भी नाना होने से अर्थात् भिन्न-भिन्न नायक के द्वारा भिन्न-भिन्न कृत्य करने के कारण कोई क्रिया ही नहीं होगी ॥१०४-१०६॥

दूसरी बात यह है कि जो अप्रतिम भूमि होती है वह परा अर्थात् अन्तिम भूमि होती है । उसके बाद परम शिव पद का आनन्त्य है जहाँ कोई भूमि या स्तर

या पुनः सर्वसदृशी सानुसार्या किमुच्यते ।  
 सर्वज्ञत्वेन सर्वेषामेककार्यानुवर्त्तनात् ॥१०८॥  
 संसारस्यानुपाल्यत्वाद् द्वेषादिमलहानितः ।  
 अथवा स्वात्मविभवपरमानन्दतृप्तिः ॥१०९॥  
 तन्निष्ठत्वात् पञ्चविधकृत्यस्योन्मुखतैव नो ।  
 भवेन्मुक्तात्मभेदेऽपि, सा त्वनादौ शिवे स्थिता ॥११०॥  
 अनुवृत्तिः किमाधिवयाद्रागाद्वा तर्हि दूषणम् ।  
 अनादिशिवतत्त्वस्य स्वामोदेः किं न विद्यते ॥१११॥

भवेत् ? न कदाचित्पर्यः । शिवस्य नानात्वात् पञ्चविधकृत्यमेव न स्यादिति पूर्वमेवो-  
 क्तम् । तुष्यतुदुर्जनत्वायेन यदि तेषु मुक्तात्मसु क्रिया भवेदपि तदापि पञ्चप्रकारिका  
 क्रिया नैव स्यात् अपि तु एकप्रकारिकैवेति विशदयति—सर्वज्ञत्वेनेत्यादिना । सर्वेषां  
 मुक्तात्मनां सर्वज्ञत्वेन हेतुना एककार्यानुवर्त्तनात्, एककार्यानुवर्त्तने एकगुणत्वं सर्व-  
 ज्ञत्वं हेतुः । द्वेषादिमलहानितः संसारस्यानुपाल्यत्वात्, संहाराय द्वेषादेर्हेतुत्वे, तद-  
 नन्तरमेव मृष्टेः सत्त्वात् अथवाऽनुपालनमपि न स्यात् स्वात्मविभवपरमानन्दतृप्तिः  
 हेतोः ; पञ्चविधकृत्यस्य च तन्निष्ठत्वात् = शिवनिष्ठत्वात्, मुक्तात्मभेदे = नाना-  
 त्वजोववादे, उन्मुखतैवापि नो स्यात् । यतो हि सा = उन्मुक्तता, तु अनादौ एक-  
 स्मिन्नेव शिवे स्थिता ।

ननु परमशिवस्यस्य पञ्चविधकृत्यस्यानुवृत्तिः किं तस्मिन् शिवत्वस्य आधिवयाद्

नहीं है । अनेक शिव होने पर सब शिवों की भूमि सबकी भूमि के समान होगी तो  
 फिर क्या वह अनुगार्य अर्थात् मोक्ष रूप में प्राप्य कही जायेगी ? कथमपि नहीं ।  
 मुक्त आत्माओं में भेद मानने पर पञ्चविध कृत्य के प्रति उन्मुखता ही नहीं होगी  
 क्योंकि वह तो अनादि शिव में स्थित है, जोकि एक है । यदि आप मुक्त आत्माओं  
 को एक नहीं मानेंगे तो सभी सर्वज्ञ होंगे कलतः एक ही प्रकार का कार्य करेंगे;  
 उनके लिए संसार रक्षणीय होगा; ईर्ष्या द्वेष आदि मल उनके अन्दर नहीं रहेंगे  
 अथवा अपने वैभवस्वरूप परमानन्द के कारण वे सदा तृप्त रहेंगे इसलिए उनके अन्दर  
 पञ्चविधकृत्य के प्रति उन्मुखता की सम्भावना ही नहीं है ॥१०७-११०॥

प्रश्न है कि पञ्चविध कृत्यों की अनुवृत्ति क्या शिवत्व की अधिकता से होती  
 है या राग से ? यदि राग से होती है तब तो उस शिव के अन्दर भी मानवीय  
 दोष आ जायगा । इसके अतिरिक्त यह बताइये कि क्या शिवतत्त्व का अपना



तदप्यस्ति कर्तृता चेत्तेषां तत्तादृशं न किम् ।

अथ राज्ञो यथा राजकर्म विदधतः सुखम् ॥११२॥

निजं तस्य न हीयेत तद्वत् परमकारणे ।

यदि तत्, तर्हि मोक्षेऽपि विशेषः किं निवार्यते ॥११३॥

भवति ? रागाद्व्या ? यदि रागान् नष्टि दूषणम् = रागादयस्तु मनुष्यादीनां पशु-  
प्रायणां जीवानां भवन्ति ते तु दोषा एव । अन्यच्च किमनादिसिद्धतत्त्वस्य नैज  
आमोदो नास्ति येन न रागादिव्यान् पञ्चविधकृत्यं कुर्यात् ? तथा चोक्तं  
शिवमहिम्नस्तोत्रे—‘न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति ।’ इति ।  
तदेवाह—स्वामोदं किं न विद्यते ? इति ॥१०८-१११॥

तदप्यस्तीति—ननु तत् = आमोदनन्वम्, अप्यस्ति तथापि पञ्चविधकृत्यकर्मिका  
कर्तृताऽअस्त्वानादिशिवे सा तु दोषः, तस्याः पशुप्राणिकर्मत्वात्, इति चेत् ? तत्राह—  
तत्तादृशमिति । तत् = पञ्चविधकृत्यकर्मकर्तृत्वम्, तादृशम् = स्वामोदवत्  
स्वाभाविकं किं नास्ति ? अस्त्वयामन्दिग्धम् । तद्विरुद्धेन स्पष्टमिति—अयेति । यथा  
राज्ञो राजकर्म = राज्यवर्धनं प्रजापालनादिकम्, विदधतः तस्य निजं सुखं न,  
हीयेत = नष्टना याति, तद्वत् परमकारणे = शिवेऽपि, पञ्चकृत्यं विदधतः तस्य  
स्वामोदो न हीयते । यदि, तत् = परमशिवे विद्यमानं पञ्चविधकृत्यं व्यवहारात्मके  
जगति वर्तमानान् कृत्याद् विविष्टं भवता मन्यते, तर्हि = तदा मोक्षेऽपि विशेषः =  
आश्रित्यकृत्यं वैशिष्ट्यं, किम् कथम्, निवार्यते = न स्वीक्रियते ? ॥११२-११३॥

आमोद नहीं है जिससे कि वह रागवश पञ्चविध कृत्य करेगा ? पुनः प्रश्न है कि  
मान लीजिये आमोद है भी किन्तु ऐसा मानने पर भी तो पञ्चविधकृत्यकर्मक-  
कर्तृता तो उसमें आवेगी जो कि दोष होगा क्योंकि कर्तृत्व पशुप्राणी का धर्म  
देना जाता है ? उत्तर है कि फिर क्या उन पञ्चविधकृत्यों का कर्तृत्व वैसा अर्थात्  
स्वामोदवत् अर्थात् स्वाभाविक नहीं है ? अवश्य ही है । जैसे राज्यकार्य को करते  
हुए भी राजा का अपना सुख क्षीण नहीं होता उगी प्रकार परम कारण के विषय  
में भी जानना चाहिए ॥१११-११२॥

यदि परमकारणस्वरूप परमशिव के अन्दर विविष्ट पञ्चविधकृत्य है जो कि  
व्यवहार जगत् में भिन्न है वह आप मानने हैं तो मोक्ष के विषय में भी मैंने जो  
अधिक महेशिख की चर्चा की थी उन वैशिष्ट्य का आप वारण क्यों करते हैं ?  
जैसे पशुकल्प जीवों का या पितृ का मोक्ष होता है वैसे ही उस परमशिव का भी  
मोक्ष मानने पर या जैसे अन्यजीवों का पञ्चविधकृत्य और तत्कर्मक कर्तृत्व होता  
है वैसे ही परमशिव का भी मानने पर अनेकात्मता के कारण वैसे ही दोष



तथा तस्य यथान्येषां यथान्येषां तथाऽस्य तु ।  
 तस्मादनेकात्मतया दोषा आयान्ति तादृशाः ॥११४॥  
 तस्मादेकशिवत्वेऽत्र स्थिते नैकस्य बन्धता ।  
 मोक्षता चोपपद्येत निर्मलं समलं तथा ॥११५॥  
 रूपद्वयं युक्तिमत् स्याज्जन्मादेर्युगपन्न च ।  
 सम्भवः स्यात्, तथारूपशिवत्वादन्यदर्शने ॥११६॥  
 दूषणं संप्रसज्येत, न तथेह कदाचन ।  
 एकत्वे बन्धताद्यस्ति, द्विषः [वा-] विपु ते यथा ॥११७॥  
 एकस्यैवात्मनो यद्वदद्भमेदो विचित्रता ।  
 युग[पद् वाच्य]पीडादिस्तद्वद्विज्ञानाशरीरता ॥११८॥

यथा अन्येषाम्=पञ्चकल्पानां जीवानां शिवानां वा मोक्षः तथा तस्य=परमशिवस्य मोक्षस्वीकारे, किं च यथा अन्येषाम् = जीवानाम्, पञ्चविधकृत्यम्, तथा अस्य = परमशिवस्य तु स्वीकारे अनेकात्मतया तादृशा दोषा आयान्ति = उपतिष्ठन्ते । तस्मादेकशिवान्त्रं स्वीक्रियताम् । तदेवाह—तस्मादेकशिवत्वे इति । अत्र स्थिते = अस्मिन् सिद्धान्ते नति, एकस्य = परमशिवस्य, बन्धता मोक्षता च नोपपद्येत । निर्मलमिति । विश्वमत्रैव नस्मिन् समलं रूपं तस्य विश्वोत्तीर्णं च निर्मलमिति रूपद्वयं च युक्तिमत् स्यात् ।

अन्यत्त्वानेकशिवानां जन्मादेर्युगपत् न सम्भवः । तत्र हेतुमाह—तथारूपशिव-  
 त्वादिति । परमशिवस्य तथारूपत्वादिन्यर्थः । अन्यदर्शने = बौद्धवेदान्तादी, अनेक-

उपस्थित होने हैं । इसलिए एक शिव मानिये । ऐसा मानने पर एक परमशिव की न तो लोकदृष्ट्या पञ्चविधकृत्यकान्त्यान्वय रूप बन्धन और न मोक्ष होगा । एक ही साथ उसका निर्मलत्व और समलत्व तथा विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय दो रूप यह सब युक्तिसंगत हो जायगा । साथ ही अनेक शिव का जन्म आदि भी एक साथ नहीं होगा क्योंकि परमशिव उनी स्वरूप का है । दूसरे दर्शनों में यह दोष आ जायेगा । जैसे हमवादी के विषय में द्वेषी, तुम्हारे मन में एक परमेश्वर मानने पर बन्धता आदि दोष होता है वैसे यहाँ हमारे जीव मन में नहीं है ॥११३-११७॥

जिन प्रकार एक ही आत्मा अर्थात् शरीर में अद्भुतमेदस्वरूप विचित्रता है अर्थात् एक ही शरीर में भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार वाले अद्भुत हैं या एक ही आन्ध में एक साथ अन्धत्व और पीड़ा आदि होते हैं उसी प्रकार इस विचित्र विश्व

स्थितेऽपि वाऽत्र नानात्वे कैवल्ये न विशेषता ।

एकोऽपि तत्र वैरूपो बहवोऽप्येकरूपिणः ॥११९॥

सर्वज्ञत्वादिरूपेण सर्व एव शिवाः स्थिताः ।

व्यापकाश्च तथा सर्वे सर्व एवात्मसंविदः ॥१२०॥

परमात्मतायाः, दूषणं सम्प्रसज्येत अत्र तु न । यथा वादिषु=अस्मामु शैवदार्शनिकेषु द्विपः = द्वेषं कुर्वन्, ते = तव वीद्वस्य, एकत्वे = एकेश्वरत्वस्वीकारे तस्य बन्धताद्यस्ति, तस्मिन् बन्धमापन्ने एकात्मत्वान् सर्वेषां जीवानां गहैव बन्धादिकं प्राप्यते तथा इह = शैवे शास्त्रे कदाचनापि नैत्यन्वयार्थः । यद्वत् = यथा, एकस्यैव आत्मनः = शरीरस्य, अङ्गभेदः = उभो हस्तादिमी पादाविति भिन्नता अत एव विचित्रता भवति; यथा वा एकस्यैव नेत्राङ्गस्य आन्ध्र्यं पीडादिः भवति, तथैव एकस्यैव परमशिवस्य कुक्कुरशूकरकीटपतङ्गमानवदानवरूपा नानाशरीरता वर्तते-ऽस्मिन् जगच्छिन्निनोऽद्भुतशिल्पचानुरीमुख्यप्रत्यक्षोदाहरणं विश्वब्रह्माण्डे । अत्र = अस्मिन् विश्वब्रह्माण्डे, नानात्वे = नानाशरीरात्मत्वे, स्थिते = मिद्धान्तरूपेण स्वीकृते वर्तमाने च, कैवल्ये = मोक्षे विशेषता = भिन्नत्वं चूनाधिक्यं वा नास्ति ॥११४-११८॥

यथा व्यावहारिके जगति एकैव व्यक्तिनारूपेण व्यवहरति; कस्याश्चित् पतिः, कस्याश्चित् पुत्रः, कस्याश्चिच्च पिता भवति सा एव, तथैव समष्टिरूपेणैक एव शिवः, तत्र = व्यष्टौ, वैरूपः = विविधरूपं विरूपं तदस्यास्तीति विरूपः ( अर्थ आदिभ्योऽन् पा० सू० ५.२.१२७ ) विरूप एव वैरूपः; स्वार्थेऽण् । नानारूपवान् । व्यष्टिबुद्ध्या ये बहवः प्रतीयन्ते तेऽपि समष्टिदृष्ट्या एकरूपिणः सन्ति । सर्वस्य शिवरूपत्वात् सर्वत्र सर्वज्ञत्वम् । आदिना व्यापकत्वं ग्राह्यम् । तेन रूपेण सर्वे एव जीवाः शिवाः= शिवरूपेण स्थिताः = वर्तमानाः सन्ति । आत्मसंविदः = आत्मज्ञानवन्तः । एतस्या-सपि भिन्नत्वाद्यवस्थायां नामभेदः = नाम्ना कारणेन भेदः—भिन्नता न वर्तते ।

ब्रह्माण्ड में एक ही परमशिव का भिन्न-भिन्न शरीर है । और मान लीजिये आप इस जगत् में वर्तमान शरीरों में परस्पर भेद भी माने तो भी सबके द्वारा प्राप्य मोक्ष मे कोई अन्तर नहीं है ॥११८-११८॥

जैसे इस जगत् में एक ही व्यक्ति अनेकरूपों वाला बन जाता है उसी प्रकार समष्टिरूप से एक होते हुए भी व्यष्टि रूप मे वहाँ विरूपता है । और व्यष्टि की दृष्टि से शरीर बहुत होते हुए भी समष्टि की दृष्टि से वे सब एकरूपी हैं । सर्वज्ञत्व आदि के रूप मे तो सबके सब शिव ही इस जगत् में वर्तमान है । सभी व्यापक हैं और सभी आत्मज्ञान से युक्त हैं ॥११९-१२०॥

एतस्यामप्यवस्थायां नामभेदो न विद्यते ।  
 हतं केनैकरूपत्वं सामान्येऽपि व्यवस्थिते ॥१२१॥  
 शिवत्वे न विशेषोऽस्ति शावलेयादिवद्यथा ।  
 तामु व्यक्तिषु, रूपादिसन्निवेशादिभेदतः ॥१२२॥  
 वैलक्षण्यं गवादीनां, न तथेहास्ति किञ्चन ।  
 मुक्तेषु निर्विशेषत्वात् केनैक्यं तत्र वार्यते ॥१२३॥  
 युगपत् सर्वकार्याद्वा सम्मतत्वादमत्सरात् ।  
 तावता विश्वसम्पत्तेः सर्वज्ञत्वादचित्रता ॥१२४॥

तत्र हेतुमाह—हतमित्यादिना । सामान्ये = शिवत्वे सर्वत्र व्यवस्थितेऽपि, सर्वस्य  
 एकरूपत्वं केन हतम् ? केनापि वारयितुं न शक्यते इति भावः । यथा  
 शावलेयादौ शावलेयत्वेन न विशेषः = भेदः, तथैव, तामु = पृथक् पृथक् दृश्य-  
 मानामु, व्यक्तिषु शिवत्वेन न भेदः । रूपादि इत्यत्र आदिना रागः, संनिवेशः =  
 अवयवसंरचना, आदिना संज्ञा ज्ञेया । एतस्य सर्वस्य भेदाद् भवतु नाम गवादीनां  
 वैलक्षण्यं महिषादिभ्यः, किन्तु इह = मोक्षविषये तथा किञ्चनापि भिन्नत्वं नास्ति ।  
 मुक्तेषु = जीवात्मसु, निर्विशेषत्वात् = वैशिष्ट्याभावात् तत्र = मुक्तेषु, ऐक्यम् =  
 साम्यम्, केन वार्यते ? न केनापीत्यर्थः ॥११९-१२३॥

अधुना सर्वत्र भेदाभावे हेतून् प्रदर्शयति—युगपदित्यादिना । युगपत्सर्व-  
 कार्यात्—भोजनशयनासनादीनां सर्वेः सदा क्रियमाणत्वात्, सम्मतत्वात् = शास्त्रैः  
 सिद्धमहात्मभिश्चानुमोदितत्वात्, अमत्सरात् = मात्सर्यस्याभावात्, एतावता विश्व-  
 सम्पत्तेः सर्वविधज्ञानत्वात् सर्वैः, अचित्रता = भेदाभावः सिद्ध इति शेषः ।

शंवे = शिवमहिम्नि नानात्मभावे = विविधरूपेण वर्तमाने अथवा शंवे =  
 शिवमयत्वे अभेदवादिनि = एकत्वे, सर्वस्य सर्वरूपत्वं सर्वात्मत्वं अवारितम् =  
 असङ्गितम् । यथा पुष्पदन्तोक्तिः—

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह—

स्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च ।

परिच्छिन्नामेव त्वयि परिणता बिभ्रति गिरं

न विद्यस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि ॥

इमं सर्वज्ञत्व व्यापकत्व आदि की अवस्था में नाम के कारण जीवों में परस्पर  
 भेद नहीं है । जब सर्वसर्वज्ञत्व आदि के रूप में सामान्य अर्थात् सर्वशिवत्व की सिद्धि  
 हो गई तब सबके एकरूपत्व का खण्डन कौन कर सकता है ? जिस प्रकार  
 शावलेय आदि में शावलेयत्वेन कोई भेद नहीं है उसकी प्रकार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों



नानात्मभावे शैवे वा शैवे वाऽभेदवादिनि ।

सर्वस्य सर्वरूपत्वं सर्वात्मत्वमवारितम् ॥१२५॥

अनन्तशक्तियोगित्वादलुप्तत्वात् स्वशक्तिषु ।

स्थितं शिवत्वं सर्वत्र विशेषाच्छैववादिनाम् ॥१२६॥

एकत्वेन ततो ज्ञेया शिवता सर्वगोचरा ।

अनन्तशक्तियोगित्वात् = शिवस्यानन्तशक्तियुक्तत्वात्, स्वशक्तिषु = आत्मशक्ते-  
विषये तस्याः विमर्शशक्तेः अनुपलब्धत्वात् = अधीणत्वात् शैववादिनाम् = शैवमताव-  
लम्बितानाम्, विशेषात् = विशेषरूपेण, सर्वत्र शिवत्वं स्थितम् । तथाहि न्यायकुसु-  
माञ्जलावुदयनः—

‘सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमनुपपन्नशक्तिः ।

अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिताः पञ्चादुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥’

तन् = तन्मात्रं, सर्वगोचरा = सर्वविषयिणी शिवता, एकत्वेन = एकरूप-  
तया, ज्ञेया ।

इति श्रीराधेश्यामचनुर्येदिकृताया श्रीशिवदृष्टिवृत्ती पञ्चादिकम् ।

के शिवत्व में कोई भेद नहीं है । जब संनिवेश आदि के भेद के कारण गाय  
आदि में भेद शब्द दिखाई पड़ता हो परन्तु मोक्ष के विषय में ऐसी स्थिति नहीं  
है । क्योंकि मुक्त पुरुषों में परस्पर कोई भेद न होने से वहाँ ऐक्य को कौन रोक  
सकता है ? ॥१२१-१२६॥

समस्त शास्त्रों और सिद्ध महात्माओं के द्वारा मुक्त पुरुषों का साम्य सम्मत  
होने से, एक साथ सभी कार्यों के होने से और मार्गार्थ का अभाव होने से समस्त  
विश्व का सर्वविध ज्ञान होने से भेद के अभाव की सिद्धि होती है । चाहे शिव की  
महिमा को नानात्मभाव से देखें या उस अभितरूप में कहें उस संसार में सब कुछ  
सर्वस्वरूप है और सर्वान्तरूप है यह निर्विरोध मत है । चूंकि शिव अनन्त शक्ति से  
युक्त है, नाश ही अपनी शक्तियों के विषय में उसका ज्ञान या विमर्श लुप्त नहीं  
हुआ है उस कारण जीवमन के अनुयायियों के लिये तो सर्वत्र शिव स्थित ही है ।  
उस कारण समस्त पदार्थों में वर्तमान एकशिवता जाननी चाहिए ।

## सप्तममाह्निकम्

अथ स्थिते सर्वदिक्के शिवतत्त्वेऽधुनोच्यते ।  
तस्मिञ्ज्ञातेऽथवाऽज्ञाते शिवत्वमनिवारितम् ॥ १ ॥  
बह्निर्जातोऽथवाऽज्ञातः प्रकाशं जनयेन्न किम् ।  
अज्ञातं न सुवर्णं किं तदा किमुपलं भवेत् ॥ २ ॥

वृत्तिः— पन्थके मोदमाना हिमगिगितनया मन्त्रके प्रमगल्नी  
सामूयं जहनुतनयामतिकुपितदृशाऽऽलोक्य रोषं वहन्ती ।  
स्नेहप्रस्कन्नदृष्ट्या विकसितवदना लालिता येन सद्यो  
दिव्यैराराध्यमानः स भवतु भवतां भूतये चन्द्रचूडः ॥

प्रथमाह्निके शिवस्य शिवमयत्वमुत्पाद्याद्वितीयाह्निके वादा च पष्ठमाह्निकं वैया-  
करणबौद्धादितानामनुमानान्तराणि पूर्वपक्षतां नीत्वा तत्त्वगहनं च विभाषेदानीं  
तूणाह्निकं किं स्वप्नम् ? कथं च तदयाति ? कथं चात्मनः शिवमयत्वक्यासः ?—  
इत्यादिविपर्ययैर्ग्रन्थमपराहर्तुकामः प्रसीति—अथेति । सर्वदिक्केति—सर्वा दिशो यस्य  
नः, 'शेषाद्विभाषा' इति कृत्वा सर्वांस्तु दिक्षु परिख्यात इत्यर्थः । सर्वान् विकं पौर्यापयं  
विमृज्य शिवतत्त्वस्य सर्वव्यापित्वं च सिद्धान्तोक्त्येवानामिदं प्रतिष्ठाप्यते यत् सर्वमसा-  
हितं वस्त्वमिव तत्त्वं कश्चिज्जानातु न वा, स्पर्शकरोतु वा न वाः तत्तु शश्वदस्येव ।  
तस्य सत्त्वं निषेद्धमशक्यमित्यर्थः ॥ १ ॥

उपर्युक्तं दृष्टान्तेन समर्थयति—बह्निरिति । यथा प्रकाशजनने बह्नेः स्वस्व-  
कारणता न तु जातकारणता, तथैव शिवस्यास्य प्रजनने स्थितौ संज्ञितौ वा शिवस्य  
स्वस्वकारणतैव । किमिति तावदाऽऽवश्यकत्वस्याशेषः ; अवश्यमेव जनयेदित्यर्थः ।  
एवमेव सुवर्णमज्ञातं सन् न कदापि उपलं भवितुं शक्यते ॥ २ ॥

चि०—जब सब ओर से सर्वत्र शिवतत्त्व की सत्ता स्थापित हो चुकी तो अब हम यह  
कहते आ रहे हैं कि चाहे शिवतत्त्व सबको मालूम हो या न मालूम हो वह निश्चित  
रूप से सर्वत्र और सब समय वर्तमान है ॥ १ ॥

अग्नि ज्ञान हो या अज्ञान, क्या प्रकाश उत्पन्न नहीं करता ? क्या सुवर्ण यदि  
ज्ञान हो तो सुवर्ण है और यदि ज्ञान न हो तो वह पत्थर हो जायगा ? ॥ २ ॥

सत्यमेवं तथापीह सुवर्णं ज्ञातमात्रकम् ।  
 मूल्यादिनोपभोगाय दानार्थमुपयुज्यते ॥ ३ ॥  
 चिन्तामणिरविज्ञातो भवेच्चिन्तामणिः स्फुटम् ।  
 तथापि कार्यभोगार्थं न ज्ञातः केन वार्यते ॥ ४ ॥  
 सकृज्ज्ञाते सुवर्णे हि भावना करणं व्रजेत् ।

### अनुपायवर्णनम्

एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुल्वावयतः ॥ ५ ॥

ननु सुवर्णस्य ज्ञानाज्ञानयोश्च न कोऽपि भेदस्ताभ्यां वा न काचिदुपभोग्यत्वा-  
 त्ति कथं कश्चित् सुवर्णज्ञानाय प्रयत्नेन ?—उत्थागंकायामाह—सत्यमेवमिति—  
 यद्यपि सुवर्णस्य ज्ञानाज्ञानाभ्यां न वद्विद् भेदस्तथापि इह = अग्निम् व्यवहारात्मकं  
 जगति, सुवर्णम्, ज्ञातमात्रमेव ज्ञातमात्रकम् = विज्ञातं ननु 'स्वार्थं कर्तुं'; मूल्या-  
 दिना आदिपदेनाभूषणनिर्माणादिकं ज्ञेयम्, तद्द्वारा; उपभोगाय = उपभोगः  
 गुणाद्यनुभूतिः तदर्थम्, दानार्थं वा उपयुज्यते । ज्ञानाभावे उपभोगदानादेर-  
 सम्भवान् ॥ ३ ॥

उदाहरणान्तरमाह—चिन्तामणिरिति । चिन्तामणिः = काल्पनिकं मनो-  
 कामनापूरकं रत्नम्, य यदि केनापि न ज्ञातः तदापि तस्य स्वस्वमे न काचिन् परि-  
 वृत्तिविकृतिर्वा स्यात्, तथापि ज्ञातः सन् सः; कार्यं च भोगेऽप्येति द्रष्टव्यमानः ।  
 कार्यार्थं भोगार्थं च भवन् केनावरोद्धुं शक्यते ? न केनापीत्यर्थः ॥ ४ ॥

दृष्टान्तमुपस्थाप्येदानीं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्ज्ञाने फलभेदमाचक्षते—  
 सकृदिति । 'सुवर्णं मय्यवद् वस्तु' इत्येकवारमपि यदि ज्ञातं भवति तदा तत्  
 ज्ञानं प्रेरयति पुनरपि तदज्ञानाद्योपभोगाय च । यथा यथाऽज्ज्ञानाधिक्यं तथा तथा  
 तत्कालभेदयोग्यं इत्यहो सुवर्णज्ञानस्यानवधिं दृष्टव्यमनन्त्यम् । तद्विपरीतं च शिव-

यद्यपि ज्ञाताज्ञात सुवर्णं मे कोई अन्तर नहीं है यह सत्य है, तथापि यदि सुवर्ण  
 ज्ञात है तो वह मूल्य आदि के द्वारा उपभोग के लिये है तथा दान के लिये उसका  
 उपयोग होता है ॥ ३ ॥

चिन्तामणि अज्ञात रहने पर भी निःसन्देह चिन्तामणि ही रहेगा फिर भी ज्ञात  
 होने पर वह कार्य एवं भोग के लिये किमके द्वारा सका जा सकता है ? ॥ ४ ॥

एक बार सुवर्ण का ज्ञान होने पर उसकी भावना कार्यस्व मे परिणत होती  
 है अर्थात् सुवर्ण का अर्जन उसका आभूषणनिर्माण, पहनना आदि शक्त हो जाता  
 है । किन्तु शिवतन्त्र का ज्ञान इसके विपरीत है । एक बार यदि किसी प्रमाण से,



ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्वा दृढात्मना ।  
करणेन नास्ति कृत्यं कापि भावनयाऽपि वा ॥ ६ ॥  
ज्ञातेऽपि तरुभूम्यादिदाडर्चाच्च करणादिकम् ।  
भूतले प्रत्ययं याति न भावः करणं न च ॥ ७ ॥

नत्वज्ञानमित्याह—एकवारमिति । प्रमाणेन = अनुमानेन । यथाह—न्यायकुसुमा-  
ञ्जलावुदयनः—

“कार्यायोजनभूतवादिः पदान् प्रत्ययनः श्रुतेः ।

वाक्यान् संख्याविशेषाच्च साध्यो विध्यविद्वयः ॥” ५.१।

“स एवं भगवान् श्रुतोऽनुमित्रश्च, कश्चिन् साक्षादपि दृश्यते; प्रमेयत्वादेः; घटवत्  
इत्यादि” ॥५.१.७॥

शास्त्रात् = वेदोपनिषदादेः । यथा पुरुषसूक्ते—

“वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।

तमेव विदित्वाऽगिमृष्यमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽनया ॥”

इति । गुरुवाक्याहा । यथा—‘असीद्भि भववो ब्रह्म’ इति नारदेनावेदितो  
भगवान् सत्यकुमारः प्राह—‘यो वै भूमा तन्मृणं नान्यं मुनमग्निं, भूमेव सृजम्,  
भूमा त्वेव विजिज्ञागितव्यः’ ‘यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स  
भूमा’ ‘यो वै भूमा तदमृताम्; ‘न स्वे महिम्नि प्रविष्टितः यदि वा न महिम्नोति’ ।  
( छा० उ० ७.२३-२४ ) ।

सर्वस्मिन् निष्ठतोति सर्वस्थः “सुपि स्थः” (पा० सू० ३.२.४) इति कप्रत्ययः ।  
तस्मिन् सर्वस्थे = सर्वव्यापिनि विष्वमये शिवत्वे ज्ञाते = अनुभवपथं नीते गति;  
प्रतिपत्त्वा = यथाश्रयज्ञानानन्तरं भूयो भूयो सगमस्वरूपानुष्ठानान्; दृढात्मना =  
दृढ आत्मा यस्य स, तेन, दृढविश्वानुसृतेन पुण्येण गता, करणेन भावनया वा  
किमपि कर्तव्यमवशिष्टं न भवति । तथा चोक्तं भगवता श्रीमद्भगवद्गीतायाम्—

यस्त्वात्मगतिरेव सादान्मनुषश्च नातवः ।

आत्मन्येव च ननुष्ठानस्य कार्यं न विद्यते ॥ ३.१.७॥ इत्यादि ६॥

शास्त्र ने अथवा गुरुपदेश के द्वारा शिवतत्त्व की सर्वत्र विद्यमानता ज्ञात हो जाती  
है तथा ज्ञान होने पर वह विश्वाम दृढ हो जाता है तो उसके बाद न तो करण  
की आवश्यकता होती है और न भावना का कोई प्रयोजन होता है ॥५-६॥

व्यवहार जगत् में भी वृक्ष पृथ्वी आदि का ज्ञान दृढ़ होने पर करण आदि  
नहीं भी होते । भूतल का ज्ञान हो जाता है पर न तो उसकी भावना होती है  
और न वहाँ कोई कार्य होता है ॥७॥

तस्माच्छिवेऽप्यविज्ञाते ज्ञाते वा शिव एव ते ।

सर्वमेवात एवैतद्भावनाकरणाच्युतम् ॥ ८ ॥

विज्ञातं जायते पुंसां यद्यप्येवमवस्थितम् ।

तथापि चित्रकर्मथमुपायो वाच्य आदरात् ॥ ९ ॥

उदाहरणान्तरमाह—ज्ञातेऽपीति । यथा वृक्षपृथिव्यादिस्थावरजंगमपदार्थानां जानामद्भावेऽपि निःप्रयोजनत्वान्न किमपि कार्यं न क्रियते केनचित्, नापि क्रियमाणं दृश्यते, यथा च भूतले = पृथिव्याम्, प्रत्यक्षम्—प्रतीतिरनुभवः याति = भवति पदार्थानामिति शेषः । किन्तु तत्प्रत्ययननुसृत्य न च भावना हृदय उल्लसति; नापि क्रिया भवति ॥ ७ ॥

उदाहरणात् किमायानम् ?—इति प्रकटयति—तस्मादिति । शिवतत्त्वस्य ज्ञानं भवतु, मा वा भूतं ते = तत्र संसारिणः सर्वमिदं = निमित्तमेव कर्तृत्वकर्मत्वादिकम्, अत एव = यतः परमार्थतत्त्वस्य सुदृढमुक्तस्वभावां शिवोऽमीत्यतः, एतद्भावनाकरणात् = एतस्य = शिवस्य, भावना = सर्वभावाः शिवाकाराः, सोऽहं शिवः इत्यादिभावा, तस्या करणात् = अनुष्ठानात्, च्युतम् = निरग्नम् भवति ॥ ८ ॥

ननु शिवतत्त्वस्याज्ञाने विज्ञाने वा वैशिष्ट्याभावाच्छास्त्राणां नैरर्थक्यं प्राप्तमिति ? तत्राह—विज्ञातमिति । यद्यपि एवम् = उक्तदिशा, अवस्थितम् = शिवदेवकेण वर्तमानम् पुंसान् = लोकानाम्, विज्ञातं जायते = जानन्त्येव जना यच्छिवोऽस्ति, तथापि आदरात् न तूपेक्षावृद्ध्या उपायो वाच्यः । तत्र हेतुमाह—चित्रकर्मथमिति । यद्यपि शिवतत्त्वं सदा सार्वत्रिकमेवास्ति तथापि स्वश्रीवापिनद्धविष्णुसर्गवैयकमिव कर्ममार्थावाणवमलैरावृतः सोऽविज्ञात इवात्मानं जानाति । ज्ञानश्रीयैरन्वैतार्थैश्चित्रविधमलान्माराणस्त्वमेव चित्रकर्मत्वम् । तदेव दृष्टान्तेन स्फोरयति—तज्ज्ञानेति । तस्य = त्रिविधमलैरावृतस्य, अत एवाज्ञातकल्पस्य शिवस्य यज्ज्ञानं तस्य स्फुटता = निर्मलता तस्याः हेतोः, उपायो वाच्य इत्यव्याहारायः । दृष्टान्तमाह—चिन्तारत्नेति । यथा चिन्तामणिः सुवर्णां वा जातः सन् व्यवहाराय भवति तथैव शिवोऽपि ज्ञातः सन् प्रातक्त्वस्य मोक्षस्य प्राप्तिं हेतुतां याताति भावः ॥ ९-९ ॥

इम कारण शिवतत्त्व के भी ज्ञात अथवा अज्ञान होने पर भी इसीलिए सब कुछ शिव की भावना करने से छूट जाता है ॥ ८ ॥

तज्ज्ञानस्फुटता हेतौ चिन्तारत्नसुवर्णवत् ।  
 वह्निर्यद्यपि विज्ञातः प्रकाशादि करोत्यसौ ॥१०॥  
 तथापि योजितो युक्त्या प्रकाशमधिकं गृहे ।  
 दीपेनान्यतमेनापि न तथा वह्निराशिना ॥११॥

### शास्त्रोपायवर्णनम्

तस्मादुपायो वक्तव्यो दृष्टकार्यप्रतिद्वये ।  
 ततः स्वात्मक्रियौन्मुख्यमिच्छाप्रथमकोद्गमः ॥१२॥

यद्यपि राशौ प्रकाशं चिकीर्षणा केनचित् पुरुषेण 'वह्निः प्रकाशादिकृत्' इति ज्ञानवन्ता यता प्रदीतो वह्निः प्रकाशदाहादिकं करोत्येव तथापि न एव वर्तितैल-संयुक्तो दीपस्वरूपं गृह्णन् प्रकाशाधिक्यस्य हेतुर्भवति यावता परिमाणेन, न तावता राशित्वमुपपन्नः । एवमेव शिवोऽपि यद्यपि स्वस्वमेव विश्वस्य कारणं, तथापि जातः सन् भयवन्धविमोहहेतुरिति सकलयास्वमिद्वपुरुषानुभवसम्मतमेव ॥१०-११॥

प्राग्भाषिकं पारिभाष्यं प्रस्तोतव्यमुपन्यस्यति—तस्मादिति । दृष्टम् = प्रत्यक्षं यत् काय तस्य प्रगिद्विस्तस्यै, इदं पुरो दृश्यमानं विषयं तस्मान् परमशिवान् कथमाधिरभूत् ? इति साधनाय उपायो वक्तव्यः । उपायमाह—तत इति । यदा स परमेश्वरः 'एकोऽहं बहु स्याम प्रजायेय' इत्येकत ततः । स्वात्मनि = परमेश्वरे वा क्रिया = ईक्षणम्, तस्या औन्मुख्यम् = अभिलाषमात्रविश्वरचनायोग्यतायाः प्रथमो विकासः, किञ्चिदुच्छ्रितता वा; न एव इच्छायाः = निम्नक्षायाः, प्रथम एव प्रथमकः तथाभूतः उद्गमः = आविर्भावः संजातः ॥१२॥

यद्यपि यह निश्चित है कि वह परमतत्त्व लोगों को ज्ञात रहता ही है तथापि चिन्तामणि अथवा सुवर्ण के समान उसके ज्ञान की ओर अधिक स्पष्टता के कारण चित्र कर्म के लिए आदर पूर्वक उपाय कहना चाहिए । यद्यपि अग्नि लोगों को ज्ञात रहता ही है और प्रकाश आदि करता ही है तथापि युक्तिपूर्वक संयोजित होने पर दीपक के द्वारा जितना प्रकाश करता है उतना राशि के द्वारा नहीं करता ॥१०-११॥

इसलिए दृष्टकार्य की प्रगिद्वि के लिए उपाय कहना चाहिए । परमेश्वर जब प्रारम्भ में अकेला अद्वैत रहा; उसके बाद उसकी आत्मा में क्रियौन्मुख्य अर्थात् इच्छा का प्रथम उल्लास हुआ । उस इच्छा के अन्दर उसके अनन्तर होने वाले समस्त चित्र-विचित्र कार्य छिपे हुए थे । उसकी आकृति शिविका ( फली, छीसी )



समस्तचित्रकार्यान्तर्गभिणी शिविकाऽऽकृतिः ।

स्वरूपाह्लादनिर्मुक्तिरहितेच्छोदयोद्गमः ॥१३॥

शबला चितिरुच्येत परस्य पररूपिणी ।

सा शक्तिः परमेशस्य संस्थिता द्रव्यकर्मवत् ॥१४॥

न द्रव्यव्यतिरिक्ताऽस्ति क्रिया न च न विद्यते ।

न तयाऽपि विना कार्यं किंचनापि हि जायते ॥१५॥

तदेदमान्मानमात्मना ज्ञानं विश्वव्याप्यउत्प्रेषणान्मानमाभासयितुं च यत्तस्ये-  
क्षणं या एव चित्तिशक्तिः । या च तदन्तर्हिता । तस्मात्तदभिन्न एव परमेश्वरः ।  
या च शक्तिः समस्तचित्रकार्यान्तर्गभिणी - समस्तापि च चित्रकार्याणि विश्व-  
रूपाणि अन्तर्गमे यस्याः सा, तथाभूता । तस्या स्वरूपं दृष्टान्तयत्नाद्—शिविका-  
कृतिरिति । शिविका—कलायादीनामाव्रणात्मिका त्वक्, कली लीमी इति व्यव-  
हारी । यथा शिविका स्वाभ्यन्तरे कलायाद्यक्षकणानन्तर्भाष्य तिष्ठति तथैव सा  
चिच्छक्तिरपि विचित्रभावाभ्रणात्मका जगद् आत्मनि पित्राय राजते । यदा स  
तादृगिच्छावान् भवति तदात्मानमात्मनः शक्त्या निरोदधाति । फलतः स, स्वरूपा-  
ह्लादस्य = स्वात्मानन्दस्य या निर्मुक्तिः - निरगलप्रवाहः तया रहितः संजायते ।  
तादृशस्य परमेश्वरस्येच्छाया उदयोद्गमो भवति ॥१३॥

मेवेच्छा, परस्य = परमेश्वरस्य परमशिवस्य, पररूपिणी = अपरा, शबला =  
अन्तश्चित्रविचित्रा, चितिः उच्येत । मेव परमेशस्य = परमशिवस्य, शक्तिः द्रव्येषु  
कर्म इव सम्पक् वर्तते । यथा घटादीनि द्रव्याणि जलादहरणादिक्रियावन्ति सन्त्येव  
यथा च 'क्रियाधन्यत्वं द्रव्यत्वम्' इति द्रव्य-क्षणं चास्त्रोद्यते शास्त्रकृद्भिर्गन्तव्यं शक्ति-  
रपि परमात्मनि निरुद्धाऽस्ति ॥१४॥

द्रव्यव्यतिरिक्ता=द्रव्यान् पृथक् । ननु यदि द्रव्यान् पृथक् न दृश्यते क्रिया तर्हि  
तस्मत्तैव नास्ति? नवाह—न च न विद्यते इति । अवश्यमेव सा अस्ति । 'नद्रव्यं  
प्रकृत्यर्थं द्रव्यति' इति नयेन तस्या आवश्यकता सत्ता संसूच्यते । तथाचोक्तं, भगवता  
गीतायाम्—'न हि कश्चित् क्षणमपि जानु तिष्ठत्यकर्मकृत्, इति । 'उत्पादियुरिमे  
के समान श्री । वह उत्पन्न इच्छा ऐसी श्री जिसमें परमेशिव को अपने रूप-आनन्द  
का ज्ञान नहीं था । वह चित्ति नहीं जानी है जो कि आभ्यन्तरतः शबल है ।  
परमेश्वर को पररूपा वह विनिगति द्रव्यों में वर्तमान कर्म के समान छिपी हुई  
स्थित थी ॥१२-१४॥

क्रिया द्रव्य को छोड़कर नहीं रहती । और यह भी नहीं है कि उसकी सत्ता  
नहीं है । न तो उसके बिना कोई कार्य ही होता है ॥१५॥

न चापि केवलाद् द्रव्यात् किञ्चनापि प्रवर्तते ।  
तस्मादित्यमिह ज्ञेयं शाक्तं रूपमभेदवत् ॥१६॥

### शाक्तोपायवर्णनम्

प्रथमोदय इच्छायाः सर्वभावै[क्य]देश्यता ।  
स एव शाक्तबोधात्मस्वच्छावयवरूपवान् ॥१७॥

लोकां न कुर्या कर्म चेदहम् ।' इति च । तदेवाह—तया क्रियया, विनाऽस्मिन् जगति किमपि कर्तव्यं न भवति ॥१५॥

सृष्टिस्थितिसंहारात्मिकासु प्रवृत्तिषु द्रव्यमेव न कारणम्, तत्र क्रियाऽप्या-  
वश्यकी । तस्मात् कारणात् इत्यम् = उक्तप्रकारेण, इह = विश्वस्मिन्, शाक्तम् =  
शक्त्या निर्वृत्तम्, 'तेन निर्वृत्तम्' इत्यण्, रूपम् = परमेश्वरस्य विश्वमयं रूपम्,  
अभेदवज् ज्ञेयम् ॥१६॥

यश्च परमात्मनि इच्छायाः प्राथमिक उन्मेषः स सर्वभावैक्यदेश्यतरूपः ।  
विश्वस्य सर्वे स्यात्परजंगमाः पदार्थाः सयूराण्डरसन्यायेन तस्मिन्नेकस्मिन्नेव परमशिवे  
तिष्ठन्ति निगूढाः । इदं च परमेश्वरस्य विश्वोत्तीर्णं रूपम् । तस्य च द्वितीयं रूपं  
विश्वमयम् । तदेव निर्वक्तुं प्रयतते—स एवेत्यादिना । सर्वे च ते भावाः सर्वभावाः;  
तेषामैक्यम्, सर्वभावैक्यम्, ईपद समाप्तं तत् इति सर्वभावैक्यदेश्यं तस्य भावः  
सर्वभावैक्यदेश्यता=सर्वेषां पदार्थानां एकत्वं किञ्चित् परिसमाप्तमिव लक्ष्यते परमेश्वरे  
इत्यर्थः । ईपदसमाप्त्यर्थे सर्वभावैक्यशब्दाद् देश्यप्रत्ययः । चरमे भावार्थे 'तल्' ।  
स एव = इच्छाया प्रथमोदय एव, शाक्तबोधात्मस्वच्छावयवरूपवान् । यदा स  
आत्मशक्त्याऽऽत्मनो बोधं करोति 'अहम्' इति, तदा स शाक्तबोधात्मा परमेशी  
स्वच्छावयवरूपवान् भवति । न तत्र मललेशावकाश इत्यर्थः । तत्र विश्वरूपात्मत्वं  
विमृशति स केवलम् 'अहम्' इति ॥१७॥

केवल द्रव्य से किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होती । इस कारण इसी रूप में  
शाक्तरूप को अभिन्न के समान जानना चाहिए ॥१६॥

यह इच्छा का प्रथम उदय समस्त पदार्थों की एकस्थानिता रूप है अर्थात्  
उस एक इच्छा में विश्वब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थ ज्ञानरूप में सुप्त पड़े रहते हैं ।  
वह प्रथम उदय ही शाक्तबोधवाला स्वच्छ अवयवरूप वाला है । अर्थात् वहाँ  
पृथक् स्थूल या सूक्ष्म अवयव आदि नहीं हैं ॥१७॥



स्वानन्दैकरसाल्लादी स्वकार्यार्थशरीरवान् ।

तथा स्थितस्य ध्यानेन बोधाद्वा तत्स्वरूपभाक् ॥१८॥

तस्येच्छास्पन्दनं पूर्वव्यगभावो ह्लादसंगमः ।

भूपभूपतिशक्त्याभमय्यं तत्पूर्णचित्तलयात् ॥१९॥

परमेश्वरस्य शक्तिपञ्चकेषु चिच्छक्तिस्नस्वान्तरंगतमा । इच्छायाः प्रथमोदये तस्या एव चिच्छक्तेरुदयस्तस्मिन् धिये जायते । तेन स 'अहम्' इत्यात्मानं विमृशति । चिच्छक्त्योश्चादाऽनन्दशक्तिर्वहिरङ्गा । 'अहम्' इति विमर्शानन्तरं यदा किञ्चिदुन्मेषो वर्धते तदा साऽनन्दशक्तिरपि जागर्ति । तदा तस्य स्वरूपं स्वानन्दैकरसाल्लादि भवति । तदवस्थामाहमाकारो विमर्शः प्रोढतामापन्नो भवति । यथोक्तं महेश्वरा-  
नन्देन महार्थमंजयम्—

‘स एको विश्वमेपितुं ज्ञातुं कर्तुं’ चोन्मुखो भवन् ।

मन्त्रित्वभावः कथितो हृदयत्रिकोणमधुमानलोल्लामः ॥ (म०मं० १४) इति ।

तदा तस्य गृष्टचात्मात्मकं कार्यमेव अर्थः = प्रयोजनम्, तदर्थं तस्य शरीररूपी संजायते । तदा स आत्मानमेव ध्यायति 'अहम्' इति अवगच्छति वा तथैव ! तेन ध्यानेनावबोधेन वा स विश्वमयं स्वरूपं दधाति ॥१८॥

यदा तस्येच्छायाऽस्पन्दनं भवति तदा तस्य पूर्वविवक्षातो न्यग्रभावः = किञ्चित् चित्तस्वरूपसंकोचः । तेन संकोचेन मह्यं ह्लादसंगमः = स्वानन्दव्ययुक्तता भवति । पूर्णचित्तः, लयात् = किञ्चित् संकोचान्, तस्य स्वरूपं भूपः = राजा, भूपतिः = सम्राट्, तयोः शक्तिरिव भवति ॥१९॥

वह प्रथम उदय आने ही आनन्दैकरण में आनन्दमय है । उसका अपना कार्य-रूप प्रयोजन ही इसका शरीर है । अपने उस स्वरूप में उसीप्रकार स्थित वह परमेश्वर ध्यान में अथवा आत्माबोध में उस प्रकार के स्वरूपवाला हो जाता है ॥१८॥

जब उसकी इच्छा का स्पन्दन होता है तब वह अपनी पूर्व अवस्था में थोड़ा निम्न कोटि का बन जाता है और आनन्द के साथ मश्लिष्ठ हो जाता है । तब उसको स्थिति राजा या सम्राट् जैसी हो जाती है । अर्थात् जैसे एक राजा या सम्राट् के दृश्यमान क्षुद्र शरीर में असौम्य शक्ति समाविष्ट रहती है और उसे उसका बोध भी रहता है उसी प्रकार । उसका वह स्पन्दन प्रथम पदार्थ है । उस समय उसका पूर्णचित्त किञ्चित्मात्रा में उसकी ही इच्छा में निरोद्धित हो जाता है ॥१९॥

याति व्याप्ति तथाभूतां शाम्यदामोदसत्क्रियाम् ।  
 शान्तानन्दवपुः स्वच्छः उररीकृतदृक्क्रियः ॥२०॥  
 मध्यव्योमशान्तबोधभरलब्धोदयः शिवः ।  
 तस्यापि विद्युदालोकवदभेदवती चला ॥२१॥

तथाभूताम् = न्यग्भूताम्, चितः संकोचान्; शाम्यती = शान्तिं प्राप्नुवती,  
 आमोदसत्क्रिया = आनन्दैकरमाश्वादः, ताम् व्याप्ति याति = व्याप्नोति । चितः  
 संकोचान् 'अहम्' इति पूर्णानन्दैकरमाश्वादः, तवानन्दमाश्वादेऽपि किञ्चिन् संकुचिते  
 यदा स 'अहम्' इति ज्ञानवान् भवति तदा स शान्तानन्दवपुः स्वच्छो भवति हृदय-  
 त्रिकोणमधुमायलोक्तायः' स्वरूपमानन्दोच्छलत्वं किञ्चिच्छान्तिमानोति । तथा विना  
 इच्छादीनामतुदयात् । तस्मिन् काले तस्य हृदये इच्छाप्रधाने ज्ञानस्थि उदितः ।  
 तदेवाह—उररीकृतदृक्क्रिय इति । दृक् = ज्ञानम् तस्य स्वरूपमन्वया निर्वर्त्ति—  
 मध्यव्योमशान्तबोधभरलब्धोदय इति । यथाकाशस्याभ्यन्तरीणा भागः शान्तो  
 निरुपद्रवो भवति तथा तस्मिन् काले शिवाऽपि 'अहमस्मि' इति स्वात्मबोधस्य  
 भारेणान्यस्वरूपं शान्तं लभते; तदेवाह—लब्धोदय इति । तस्य स्वरूपस्य कि-  
 नाम ? इति जिज्ञासायामुक्तम्—शिव इति । तदुक्तं षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्बोहे—  
 'यदवमनुत्तर्गमूनिनिजैच्छयाखिलमिदं जगत् स्रष्टुम् ।  
 पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्जैः ॥

इति ( श्लोक १ ) २०—२०३॥

तस्यापि = शिवतत्त्वस्यापि, शैवी शक्तिः, अवस्थिता = शिवस्य अन्व्यगरे  
 वर्त्तमाना, भासते = शिवान् पृथक्तया निषेधव्यपाररूपा प्रतीयते । तस्या वैशिष्ट्यं  
 विवृणोति—निच्छदेति । यथा सौदामिन्याः प्रकाशयन्तोऽभिन्नोऽपि भिन्न इव प्रतीयते,  
 'विद्युन् आलोकः' इति लोके भेदव्यवहारात्; तथैव सा शक्तिर्निन्नाऽपि भिन्नेव दृश्यते ।  
 अथ च सा चला = चित्तत्वस्य क्रियाशीलता-गतिशीलता-रूपास्ति । अन्यच्च  
 सा भविष्यत्काले ज्ञानान् स्वस्य भेदस्य भेदाच्च जायमानस्य मृष्टिस्थितिमहार-  
 निप्रहानुग्रहस्वरूपचक्रत्वस्य यज्ज्ञानं तस्य, प्रोमुस्यवर्त्तिनी=ज्ञानाभिमानिनी अस्ति ।

उक्त समय वह शाम्यदा अर्थात् ज्ञान्ति देने वाली आनन्दयुक्त उस प्रकार की  
 मन्त्रिया में व्यक्त हो जाता है । तथा शान्ति और आनन्द उसका शरीर हो जाते  
 हैं । वह स्वयं स्वच्छ तथा ज्ञान क्रिया वाला हो जाता है ॥२०॥

जब वह स्वच्छ आकाश के समान शान्त तथा बोध के भार से युक्त हो जाता  
 है तब वह शिव कहलाता है । उसकी शैवी शक्ति विद्युन् और उसके प्रकाश के समान  
 उस शिव से अभिन्न चला, भविष्य में होने वाले अपने भेदस्वरूप विस्तार और



भाविस्वभेदतत्कृत्यज्ञानप्रोन्मुखवर्तिनी ।

निजभावकृतसृष्टितदनुग्रहचेतना ॥२२॥

भासतेऽवस्थिता शक्तिः शैवी शैवार्थदायिका ।

ततः सैव स्वयं बाह्यकायप्राक्कलनात्मिका ॥२३॥

न्यग्भूतेच्छाज्ञानमयी स्पन्दनावितताङ्गिनी ।

विद्यामन्त्रकलाकल्पदेहसम्पिण्डितोद्भवा ॥२४॥

निजभावेन = स्वस्याभ्यन्तरे विहितविचारण, अन्तरेव, कृतसृष्टिः = विहित-  
काल्पनिकसृष्टिः तदनुग्रहचेतना = कृताया सृष्टेस्वरि मोक्षप्राप्तये विभास्यमानानुग्रह-  
विचारयती कथिता तज्ज्ञैः । अने च तस्याः स्वरूपमाह—शैवार्थदायिकेति ।  
शैवम् = शिवतत्त्वस्याविभक्तिमन्त्रार्थो योऽर्थः = प्रयोजनम् सृष्ट्यादि तस्य दायिका =  
प्रस्तोत्रीति गीयते ॥२१-२२॥

शिवतत्त्वस्य स्वरूपनिर्वचनानन्तरं द्वितीयं शक्तितत्त्वं व्याख्यायितानी तृतीयं  
महाशिवतत्त्वं व्याख्यातुमुपक्रमते—तत एति । महेश्वरानन्दप्रधाना शक्तिः । यथोक्तं—  
क्षेमराजेन “आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना” एति । सैव = शैवी-  
शक्तिरेव, स्वयं बाह्यतया स्वयंमाणं जगत् प्रथममात्मन्याकलयति विश्वमोदकृतया  
ईदृशं च लक्ष्यमिति । तदवस्थायां तस्या इच्छा न्यग्भूता = मलिनोभूता संकुचिते-  
त्यर्थः । ज्ञानं च प्रसफुटितं प्रधानं भवति । तदेवाह—न्यग्भूतेच्छा = न्यग्भूता इच्छा  
यस्याः सा । ज्ञानमयी इत्येव प्राचुर्यायै मयद् प्रज्ञानवती, ज्ञानप्रधाना-इत्यर्थः ।  
एतदवश्यमवधेयं यदिदं ज्ञानं जैन्यान् प्रादुर्भूतमपि ततः स्वरूपतो भिन्नम्, ज्ञाने-  
ऽस्मिन् निर्मलस्य प्राधान्यात् । स्पन्दनावितताङ्गिनी = स्पन्दनेन आ समन्नाद् वित-  
तानि अङ्गानि यस्याः सा, आकलितपूर्णपरिस्पन्दा-इत्यर्थः । विद्यामन्त्रेति—विद्या=  
तद्विद्या शुद्धविद्या यत्र समाधूतनृत्यापुटन्यायेन ‘अहम्’ इदम्’ इत्युभयमपि परामर्शः  
नमानो भवति; मन्त्राः = अकारादिशान्तवर्णाः कलाः=जीवस्य क्रियाशक्तेः संकोचकं  
अपने कृत्य के ज्ञान के ओन्मुख वाली, अपने अन्दर की गई काल्पनिक सृष्टि और  
शिव के ऊपर अनुग्रहज्ञान वाली, उल्लसित होती है । वह शैव अर्थ को देने  
वाली है ॥२१-२२॥

तदुपरान्त वही शक्ति स्वयं बाह्य विश्वप्रपञ्च की अपने अन्दर स्वयं रचना करने  
वाली होती है । उस समय उसकी इच्छाशक्ति और ज्ञानशक्ति कुछ और घनोभूत  
हो जाती है स्पन्दन और वह जाता है । उस समय विद्या मन्त्र और कला के रूप  
में कल्पित देह ने सम्पिण्डित होकर वह उत्पन्न होती है जिस प्रकार आगमान मे  
तेजःकण सूर्य आदि का प्रकार क्रमशः बढ़ता है उसी प्रकार वह भी क्रमशः

तेजःकणप्रसरवदुपलभ्या विद्यत्यलम् ।  
 स्थितिः सादाशिवी चासावधिकाराभिमानता ॥२५॥  
 समला तत्समाश्लेषात् सर्वेशित्वसमुद्गमः ।  
 तस्य शक्तिप्रदीपस्य किरणाभोद्यमप्रदा ॥२६॥  
 ततः स्थूलैर्मन्त्रमयैरङ्गैः सर्वक्रियापरा ।  
 भवतीश्वररूपेण स्वकार्याखिलरूपिणी ॥२७॥

कन्वानां सुखं रूपम् एतैः कल्प्यो यो देहः, तस्य वा सम्पिण्डितावस्था तत उद्भूयो  
 मय्याः सा । विद्यति = आकाशे, तेजःकणप्रसरवत् = सूर्यादिकिरणानां क्रमिकवर्द्ध-  
 मानोत्तापवत्, अलम् = पराश्रित्यपेक्ष, उपलभ्या = प्राप्या । एषा शक्तिः सादाशिवी  
 अधिकाराभिमानता = अन्तया शक्त्या संवन्धितः परमशिवः सदाशिव इति कथ्यते  
 यस्मिन् अधिकाराभिमानित्वं बहिःस्फुटमिव किञ्चिद् भवति । अन्तर्निमेषस्तु प्रौढि-  
 मापन्नो भवति । यथोक्तम्—“निमेषोऽन्तः सदाशिवः” इति ॥२५॥

समला = यथा सांभमानः आणवादिमलैः समाश्लिष्टो भवति तदा तस्य-  
 मलमय समालेपात् = गंगामय, सर्वेशित्वसमुद्गमः = तन्मयमेव शक्तौ सादाशि-  
 व्याम् सर्वेश्वरत्वस्योत्पत्तिर्भवति । ‘सदाशिवतत्त्वेऽहन्ताच्छादितास्फुटेऽन्तामयं  
 विश्वम्’ । अश्वरतत्त्वे तु वेद्यज्ञानस्य स्फुटावभासनात् ज्ञानशक्त्युद्गमः । यथो-  
 क्तम्—‘ईश्वरो बहिरन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः’ इति । यथा प्रज्वल्यमान-  
 प्रदीपस्य किरणाः प्रस्फुरन्तो दृश्यन्ते प्रदीपात्, तथैवाश्वरतत्त्वेऽखिलं विश्वमिद-  
 न्तया स्फुटमेव प्रतीयते । ‘इदम्, अहम्’ इति तस्य परामर्शः । एतादृग्विमर्शेषु सर्वत्र  
 पूर्वपदस्य प्राधान्यमवसेयम् । अस्मिन् सर्वेश्वरे ज्ञानस्य प्राधान्ये सत्यपि क्रियाया  
 अपि प्रमरो भवति । यदाज्यं प्रमरो वेगवन्तां भजते तदा सा शक्तिः स्थूलैः = श्रुति-  
 गोचरैः सन्त्रनयैरङ्गैः = अकारादिनिमित्तैरवयवैः स्वकार्याखिलरूपिणी = स्वरूप-

वर्तमानप्रकार वाली हो जाती है । यह शक्ति सदाशिव की है । यहा पर  
 अधिकार और अभिमान की स्थिति प्रकट हो जानी है । इसका स्वरूप ‘अहम्  
 इदम्’ है ॥२३-२५॥

अभिमान के कारण से यह परमाशिवी मलमुक्त हो जाती है । और तब सर्व-  
 श्वरत्व का उदय होता है । यह सर्वेश्वरी शक्ति उस शक्तिप्रदीप की किरण के  
 समान होती है ॥२६॥

किर स्थूलसूक्ष्मस अंगोवाली, सब क्रियाओं से युक्त अपने समस्त कार्यों वाली  
 वह शक्ति ईश्वर के रूप में व्यक्त होती है । इस ईश्वर की शक्ति विश्वरूप में  
 उसी प्रकार छिपी रहती है जैसे घट मृत्पिण्ड में । यह विश्व, शक्ति के रूप में

तस्यापि शक्तिमृत्पिण्डघटवद् विश्वतां गता ।  
 यावद्यावत्तरेद् विद्यामायादिघनपार्थिवम् ॥२८॥  
 तत्त्वं देवस्तथा तावद् भावशक्त्या घटादिके ।  
 निजशक्तिसमाविष्टेरायान्ति शिवसम्पदः ॥२९॥  
 क्रियाशक्तिपरात्मत्वे क्वचित् पिण्डशिवात्मता ।  
 क्वचिदन्तःकृतौ ज्ञानाद् भवेत् पदशिवात्मता ॥३०॥

कार्यरूपं निमित्तं विषयं दधाना ईश्वररूपेण = तदाशक्त्या सर्वक्रियापरा भवति ।  
 अश्वेष्वनन्तत्वे क्रियाशक्तिः प्रधानतयाजगत्प्रवृत्ता भवति । सर्वोक्तम् — 'बहिर्भावस्य  
 क्रियाशक्तिनयस्य परत्वं = उद्वेकाभावेन नानि पारमेस्वरम् = परमेश्वरशब्दवाच्य-  
 भीष्टयस्तत्त्वं नान ।' (टी० प्र० वि० ३.१.२) तस्यापि = ईश्वरस्यापि, शक्तिः, यथा  
 मृत्पिण्डे प्रयत्नवैय विषयताम् = विषयगतताम्, गता । यथा मृत्पिण्डः प्रत्यक्षं दृश्य-  
 मानः स्वस्मिन् समाहितं घटमावेदयति तथैव विद्यमाने ईश्वरे समाहितमवायेयते ।  
 एषा स्थितिस्तादृक्तां वृत्तमाना राज्ञे यावत् स एव देवः = ईश्वरः । विद्या-  
 मायादिवनमाविष्टम् = मृदुविद्यामायादिभिः आरभ्य, घनम् = मृगम्, पार्थिवम् =  
 पृथिवीमग्न्याग्निं वृक्षादिकं वस्त्रम् = द्राविशनिगन्धमाकम्, तरेत् = प्रपञ्चतया विस्तृ-  
 णोति । तावत्कालं च भावशक्त्या = आत्मनः पूर्णाहन्त्वभावतया घटादिके = समस्त-  
 विषये, निजशक्तिसमाविष्टे = आत्मनः शिवस्य शक्तेः समावेशान्, शिवसम्पदः =  
 सर्वकान्त्योगित्वं सर्वकर्तृत्वं वा सर्वज्ञत्वं पूर्णत्वं नित्यनृत्तत्वं वा, स्वातन्त्र्यं  
 स्वापकत्वमिति पञ्चमन्त्रवाक्याः आयान्ति = आभासन्ते, शिवस्यास्यन्तरे स्फुरन्ती-  
 न्यर्थः ॥२९-३०॥

चिदाह्लादयोः नाम्यावस्थां गतयोः सतोः परमशिवः, स्वभूतचिदाविर्भूताह्लाद  
 स्फुरद्विच्छः स एव शिवजन्तोः स्वभूताह्लादाविर्भूतेच्छः उररीकृतवृक्षक्रियः स एव  
 तदाशिवः यदा ज्ञानं स्वभूतं क्रिया च तस्मिन् प्रधानीभूता तदा स ईश्वर इति  
 विविधेदानीं विलोमदिना व्याख्यानुसृष्टक्रमेण—क्रियेत्यादिना । यदा तस्मिन् क्रिया-  
 जन्तेः परात्मत्वम् = पूर्णव्यापकत्वं प्राधान्यमिति भावः, संजायते तदा स एव शिवः

ईश्वर मे तब तक श्रिया रहता है जब तक कि मृदु विद्या और माया की स्थिति  
 का पार कर देव अर्थात् ईश्वर, प्रपञ्च का आगे नहीं बढ़ा देता ॥२७-२८॥

किर भावशक्ति के द्वारा घट आदि में अपनी अपनी शक्ति के समावेश में शिव  
 सम्पत्तियां आती हैं । क्रियाशक्ति की प्रधानता अर्थात् पूर्णव्यापकता होने पर  
 कहीं तो बही जिय ताह्य मृदु पिण्ड अर्थात् अर्थ के रूप में और कहीं दृढय के  
 अन्दर ज्ञान के उत्पन्न होने के कारण शब्द के रूप में प्रवृत्त होता है ॥२९-३०॥



इच्छामात्रे रूपशिवस्तरङ्गे तदतीतता ।  
 कर्तृमात्रे सर्वभावव्यतीतशिवभावता ॥३१॥  
 दृढाङ्गुलिनिवेशेन दृढस्थूलनिरीक्षणात् ।  
 भ्रमतो भावचलनात् प्लवाच्च प्रेक्षणाक्षतेः ॥३२॥  
 पुरोऽणुपुञ्जभ्रान्तयाप्त्या चित्त्वलाभो जडेवपि ।  
 सर्वचित्क्षेपतः साम्यात् सर्वत्रेच्छाऽत्र ईदृशी ॥३३॥

वचित् = कदाचित् पिण्डशिवात्मा = कदाभुवनादिरूपेण दृश्यमानो बाह्यार्थरूपेण व्यवहियमाणः पिण्ड एव शिवस्यात्मव्यम् शिवस्वरूपत्वं व्रजति । एतस्य पूर्वविस्थां संकेतयति—वचिदिति । यदा स एव स्वस्याभ्यन्तरे ज्ञानप्राधान्यात् सदाशिव-रूपेण गजने तदा तस्यान्तःकरण एव विषयमिदं घटपटमटादिरूपेण वर्तमानमास्ते; एषैव पदशिवात्मता । यदा च तस्याभ्यन्तरे क्रियाज्ञानयोः सर्वथाऽरूपतिः, अस्ति चेच्छाप्रतिस्तदा सः रूपशिवः = निर्विकल्पकं 'किञ्चित्' इति रूपमात्रेणैवात्मान-माकलयति तिष्ठति । इच्छाया अति तरंगे = सन्दनमात्रे तदतीतता = रूपशिवातीता-वस्था भवति । यदा च तस्मिन् तरंगस्यापि भावो नास्ति, केवलं तरंगकर्तृत्वमेवाभासते तदा स समाहितवक्षिस्वरूपाह्लादोऽनिक्रान्तसर्वभावश्च विश्वोतीर्णः परमशिवः गन् राराजत इत्यर्थः ॥३०—३१॥

अतः परं तस्य विषयमवत्वमुपपादयति दृढाङ्गुलीत्यादिना श्लोकद्वयेन—  
 पिण्डीभूतवृत्तादीनां पात्रे अन्नादीनां भाण्डे वा, दृढाङ्गुलिनिवेशेन = सुदूरमङ्गुलीनां प्रवेष्टेन, दृढस्थूलनिरीक्षणात् = दृढम् = प्रामाणिकम्, स्थूलम् = सुदृजनेरपि संवेद्यं निरीक्षणं, तस्मान् हेतोः, चित्त्वलाभो—इत्यादिना योज्यम् । हेत्वन्तरमाह—भ्रमत इति । भ्रमि कुर्वतः पुरुषस्य दृष्टो भावचलनात्=भावानां पदार्थानां घटपटादीनां भ्रमि-दर्शनात्; प्लवाच्च = नावादिप्लवाद्धैः पृभिः, प्रेक्षणाक्षतेः = अवश्यमेव पलायमानानां

जब उसके अन्दर इच्छामात्र रहती है तो वह शिवाकार युक्त होता है । जब केवल इच्छा ही तरंगमात्र रहती है इच्छा, पूर्णतः नहीं रहती तब वह इस रूप को छोड़कर रहता है । और जब तरंग से भी परे केवल उस तरंग का कर्तृ-भाव मात्र उसमें रहता है तब वह समस्त भावों से रहित केवल शिवमात्र रहता है ॥३१॥

किमी धन आदि के वर्जन या अनाज के बोरे में काफी गहराई तक उँगली या हाथ डालने पर अधिक दूर तक वस्तु का पता लगता है; किमी चक्कर काटने वाले आवदी को नभी पदार्थ चक्कर काटने हुए दिखाई पड़ते हैं, नौका आदि से भी भागते हुए पेड़ आदि का प्रेक्षण निश्चित होता है; नामने छोटे-छोटे कण उड़ते



प्रतीत्युद्गमकाले तु सार्वभाव्यादसौ विभुः ।

सृष्टानुभवदो रुढेरमूर्त्तज्ञानचिल्लयात् ॥३४॥

ज्ञानयोगसमुद्युक्तिलीनत्वेन क्रियागमः ।

इच्छातः कान्तितेजोभिस्तत्कर्तृत्वमहेशता ॥३५॥

गृहवृक्षादीनां दर्शनान्, पुरः = समक्षम्, अणुपुञ्जभ्रान्त्या = प्रातःकाले जालान्तर्गते भानुभानुषु सूक्ष्मकणसमूहस्य भ्रान्तिदर्शनावाप्या, जडेष्वपि चैतन्यस्य प्रातिरूपलभ्यते निश्चीयत इत्यर्थः । परमार्थः, सर्वचित्क्षेपतः = सर्वेष्वपि पदार्थेषु चितः प्रक्षेपस्य, साम्यात् = समरूपेण सत्त्वान्, क्वचिदप्यभावाभावात्, उदमभिगम्यते यत् अत्र = अस्मिन् विषये विस्वेज्जिम् सवंच = सर्वेष्वपि पदार्थेषु, परमेश्वरस्य ईदृशीच्छा-  
स्तीति शेषः ॥३२-३३॥

यथोक्तं प्रथमाह्नकारम्भे ब्रह्मकर्त्रा—‘आत्मैव सर्वभावेषु...’ ‘यदा तु तस्य चिद्धर्म...’ इत्यादि, तदेवात्र विवृणोति—प्रतीत्युद्गमकाले इति । तदा तस्या इच्छाया प्रतीतिर्जायते तस्य, तदा असौ विभुः = व्यापकः परमात्मा, सार्वभाव्यात् = सर्वभावस्य ईश्वरत्वात् कारणत्वादित्यर्थः । ‘तमेश्वरः ( पा० सू० ५.१.४२ ) इति सूत्रेण, सर्वभावगवाद्वाङ्, ततः गुणवचनत्राह्यणादिभ्यः कर्मणि च’ ( पा० सू० ५.१.१४२ ) इति ध्वज् । रुढेः = परमागन्तुमरणाद्धेतोः अमूर्त्तज्ञानस्वरूपस्य चितो लयान्, सृष्टानुभवदः = सृष्टानां = स्वयमेव निमित्तानां पदार्थानाम्, स्वात्मने एव अनुभवं वदतीति अनुभवदः = ज्ञानप्रदाता भवति । ‘आतोऽनुपगमं कः ( पा० सू० ३.२.३ ) इति ‘क’ प्रत्ययः । भवतीति शेषः ॥३४॥

स्वेच्छया पदार्थान् बुद्ध्याकल्प्य स्वयमेव तान् विजानन् सः प्रभुर्यदा तान् पदार्थान् स्थूलीकर्तुं वाञ्छति तदा तस्यैवेच्छातः = इच्छया, ज्ञानस्य = पदार्थानां

रूपत्वात् दिव्यादौ पदार्थे है । उन सबसे ऐसा लगता है कि सामान्यतः जड़ प्रतीत होने वाले पदार्थों में भी चैतन्य है । सवंच चैतन्य का प्रक्षेप समान होने से ऐसा प्रतीत होता है कि परमात्मा की इच्छा ही सबकुछ ऐसी है ॥३२-३३॥

जब उस इच्छा की उसकी प्रतीति होती है तब वह परमात्मा समस्त भावी जगत् का ईश्वर अर्थात् कारण होने में परम्परा के अनुमान स्वयं को ही सृज्यमान पदार्थों का ज्ञान कराता है । उस समय अमूर्त्तज्ञानस्वरूप उसका चित्तवतिरोहित हो गया रहता है ॥३४॥

इस प्रतीतिस्वरूप ज्ञान का योगयुक्ति के द्वारा लय हो जाने पर क्रिया का उद्भूत होता है । यह उद्भूत भी उसकी इच्छा में ही होता है । और कान्ति अर्थात् इच्छा के तेज से वह क्रिया का कर्ता तथा महेश्वर हो जाता है ॥३५॥

संविद्देहतद्गतत्वे सवित्स्वातन्त्र्यमापतेत् ।

तोषे निर्वृत्तियोगो वा दाढर्चात् स्वातन्त्र्यमेतयोः ॥३६॥

दुःखासक्त्याऽन्यथासक्त्या सुखे निर्वृत्तिभूमिता ।

जडकायाङ्गनिचये मददाढर्चोचितचित्तन्या ॥३७॥

सकृत्त्वस्य, योगसमुद्यक्त्वा = योगयुक्त्या, लीनत्वेन = व्यग्रभूतत्वेन, क्रियाऽऽगमः = क्रियाया उद्भूता भवति । इच्छा क्रियोद्भूते संजाते, कान्तेः = इच्छायाः तेजोभिः = प्रभावाः, तस्य तत्कर्तृत्वस्य = क्रियाकर्तृतायाः, महेशता = महेश्वरत्वं भवति । शिवतन्त्रे शक्तितन्त्रे वा वक्तृमानाः, अभेदभूमी विराजमानाः, अवल इति पदवीभाजः, आभासितपूर्णहिंन्वाः, तर्कोक्तृष्टाः प्राणिनः शाम्भवाः शाक्ताः वेति कथ्यन्ते । ततोऽनक्तृष्टाः मन्त्रमहेश्वरा इत्यालप्यन्ते । ते भेदमिश्रिताभेदभूमा राजन्ते । शुद्धसंविन्स्वरूपाणामेषा व्यवहार इच्छामात्रेणैव भवति । निग्रहानुग्रहस्वरूपव्यवहारं प्रत्युन्मुखा इमे व्यवहारनिर्वाहाय स्वैच्छया यदा कदा मूढमशरोगण्यपि धारयन्ति; तेन कर्तार इति व्यपदिश्यन्ते । एतदेव तस्य परमेश्वरस्य महेश्वरत्वम् ॥३५॥

यदि संविद्रूपदेहतत्वे एव तद्गतत्वम् = इच्छाया उद्गमः मन्यते तर्हि संविदः स्वातन्त्र्यमापतेत् । आप्तवान्तःक्षेपः; शिवतन्त्रस्यैव स्वातन्त्र्यस्वीकारात् । तोषः = इच्छायाः शान्तिः, स्वीक्रियेच्छेत् ? निर्वृतेः = आनन्दलक्षणा स्वप्रकाशस्वरूपविश्रान्तेः योगः = उपलब्धिः, स्वात् । तदा तु मृष्टयादीनां कल्पनैव न भवेत् । दाढर्चात् = दृढताविचारान् हेतोः एतयोः = शिवसंविदोः स्वातन्त्र्यम् । ईवसतायाम्बिता कृते शिवस्य स्वातन्त्र्यम् । शाक्तानां च सिद्धान्ते सविदः, शक्तेरेव सवितृस्वरूपत्वादिति सर्वमवदानम् ॥३६॥

ननु “प्रभुः प्रमोदात्मा क्रीडत्येवं तथा तथा”, “इत्थं शिवो बोधमयः स एव परनिर्वृतिः” इति नोक्त्वा परमात्मनः शिवस्य चिदानन्दस्वरूपत्वान्निर्वृति-चित्त्वाच्च, जगतश्च—

यदि संविन्स्वरूप देह में ही इच्छा का समुद्गम मान लें तो संविन् का स्वातन्त्र्य मिट्ट होने लगेगा जो कि अपासिद्धान्त है । वस्तुतः स्वातन्त्र्य शिव का है । और यदि तोष अर्थात् इच्छा की शान्ति मान लें तो फिर उस शिव का निर्वृति अर्थात् आनन्दलक्षणा स्वप्रकाशस्वरूप विश्रान्ति से योग होता है । दृढतर विचार करने पर इन दोनों शिव और संविन् का स्वातन्त्र्य है ॥३६॥

प्रश्न है कि यदि परमात्मा शिव का यह स्वभाव है कि वह निर्वृति से युक्त रहता है और संसार उसी का स्वरूप है तो फिर संसार में दुःख क्यों है ? उत्तर यह है—दुःख के प्रति भी उसकी आसक्ति अर्थात् इच्छा है । इस आसक्ति से यह

जडाशेषपदार्थात्मरूढेस्तद्बोधपूर्णता ।  
निजाभिमानसंगुष्टे स्वशरीरे महोदयात् ॥३८॥

“चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद् बहिः ।

योगीव निष्पादानमर्थजानं प्रकाशयेत् ॥”

( ई० प्र० १.५.७ )

इत्यनुसृत्य परमेश्वररूपत्वात् कथं दुःखमयत्वमस्य ? इत्याशङ्क्याह—दुःखा-  
समयेति । दुःखे = प्रतिकूलवेदनीये, आसक्तिः = रागः, इच्छा वा, तथा, इदं  
प्रतीयते यत् न परमेश्वरः, अन्यथा = लौकिकमुक्तेश्वरीदिभिन्नया, आसक्त्या =  
इच्छया, युक्तो भवतीति शेषः । यदस्माभिः संन्यासिभ्यर्थादुःखमित्यनुभूयते प्रोच्यते च,  
तदपि तस्य लीलाधियाय एव । सुखे = अनुकूलवेदनीये, तस्य निर्वृतिभूमिता =  
निर्वृतिः = अतच्छिन्नानन्दः ना भूमिः = विश्रामस्थानं यस्य ना, तस्य भावः,  
तथा भवति ।

प्रथमश्लोकाशङ्क्य सन्तुष्टीकं यावत् शिवत्वमस्य सर्वशिवत्वं ततश्च जगताः  
प्राकट्यमपवर्धमानं नाशनापवर्धमानस्य समुदाः पूर्णाहन्ताशने तत्तत्प्राप्तयया  
तत्तदुपलब्धिं वर्णयितुमाशङ्कते—जडाकायांगनिचय इत्यादिना । कायमाङ्गनिश्चयस्य  
चोभयाजडत्वादनुभवश्च, महाडर्शोचितचित्रतया = अहं शिव एवेति सर्वमिति सम्यक्  
चिन्तनेनः अथवा जडेण समस्तादाशङ्क, आत्मरूढेः = जडमेवेत्यशङ्कम् ‘मत्तः परतरं  
किञ्चित्त्वान्यवस्ति’ इति सम्यक्त्वानुसारं विचारं प्रोक्तवान्, तद्बोधपूर्णता =  
आत्मबोधस्य पूर्णत्वं पूर्णाहन्तेत्यर्थः, भवतीति शेषः ॥३७-३८॥

यथा निजाभिमानसंगुष्टे=अहं शिवोऽहं वा सर्वमिति स्वस्य विषये योऽभिमानः,  
तेन युक्ते, स्वशरीरे=आत्मशरीरे नाशकस्य देहे—शरीरे, महोदयात्=पूर्णहन्तायाः  
नमस्त्वो भवति, तदेव अन्वदेहे = हरेरात्मनात्मशरीरं यावत् सर्वत्र, तथावृत्ते =  
समजना बाह्यं किं नह अन्यथा अस्मिन् मूल मे निज, आसक्ति मे युक्त है । और  
मूल मे तो वह निर्वृति भूमि पर ही विश्राम करना है वा स्वातन्त्र्य वा अनुभव  
करना है । अब जगत् पूर्णाहन्ता की विशेषता बतलाने हैं । जड शरीर मे अथवा अंगों  
के समूह मे सर्व अस्मिन् शिव ही ही प्रकट है—जगत् सम्यक् चिन्ता करने से वा इसी  
प्रकार समस्त जगत् शरीर मे आत्मभाव के प्रकट हो जाने से अहंभाव वा आत्मबोध  
की पुनरा प्राप्ति हो जाती है । जगत् अहंभाव से युक्त जगत् शरीर मे ही पूर्ण अहं-  
भाव का उदय होने से आत्मबोध की पुनरा प्राप्ति है । इसी प्रकार कृत्तव्य शरीर  
जगत् जगत् शरीर मे ही पूर्ण जगत्ता वा महान् उदय होने से सबब जगत् प्रकार  
अहंबुद्धि का ही वैशिष्ट्य रहता है ॥३७-३८॥



अन्यदेहे तथावृत्तेस्तथा बुद्धिविशिष्टता ।  
 भावनातीतनिर्मूलसत्कार्याद्विसर्गवत् ॥३९॥  
 तत्तद्भावभराशक्तेस्तत्तन्निर्माणमानता ।  
 लसदप्रस्फुरतेजःकणसत्तोद्भवो महान् ॥४०॥  
 देवताहेमनिर्माणसन्निधानस्फुटार्थताः ।  
 साम्मुख्यवृत्तिदेहान्तरतिरागमहागुणाः ॥४१॥

पूर्णाह्निनायाः समुदयान्, तथा = मिहपुरुषस्य इव, बुद्धिविशिष्टता = अहं सर्वमित्या-  
 कारकबुद्धिवैशिष्ट्यम्, समायाति । योगिगतमृष्टिमासर्थं मोदाहरणं वर्णयति—  
 भावनेत्यादिना । भावनातीतेति = भावनामतीतः = भावनातीतः सृष्टिविषयकपूर्व-  
 विचाररहितः इति यावत्, अत एव, निर्मूलः = निगधारः, यो हि सत्कार्यस्य =  
 विश्वव्रज्याण्डस्य, विसर्गः = मृष्टिः, तद्वत्; आकस्मिकस्वातन्त्र्योक्तामजनितमृष्टे-  
 र्व्यतिवन्, योगिहृदयेऽपि तत्तद्भावभराशक्तेः = मृष्टेः ये तत्तद्भावाः = भिन्नभिन्न-  
 पदार्थाः, तेषां भरः = समूहः तस्य आसक्तेः = तीव्राकांक्षाया, तत्तन्निर्माणमानता =  
 भिन्नभिन्नेष्वभिन्नपदार्थरचनायुक्तिमदयो, भवन्ति । लसदप्रेति—लसन्तः शोभमानाः,  
 अत्र च अग्रे = योगिसमक्षे स्फुरन्तः = प्रकाशमाना ये तेजकणाः तेषां या सत्ता =  
 अस्तित्वम्, तस्याः महान् उद्भवो भवति । यथेष्टितममृष्टिमासर्थं महत्तेजःपञ्चरूपेण  
 योगिसमक्षे भागितुमाशक्ते—इति भावः ॥३८-४०॥

देवताहेमनि—देवतासन्निधानं; हेमनिर्माणसन्निधानं, स्फुटार्थता = विषयाणां  
 स्पष्टं ज्ञानम्; दृष्टदेवतायाः साम्मुख्यवृत्तिः; देहान्ते = मरणे चारीत्यत्राग्रे, रतिः =  
 आकर्षणम्, मृत्वा मृत्वा स्वेच्छया जन्मग्रहणमभितन्त्र्यात्; रागः = उत्कृष्टविषयान्  
 द्रव्याकर्षणम्; उन्नेने महागुणाः योगिनि भगवता भवन्ति । देहान्तरेषु = स्वजरीतं  
 स्वस्वात्मनि तन्मरीरे, संक्रान्तिः = गुणान्तरम्, अपरेषु = योगिना स्वजरीतं  
 पश्चात्त्ययं योक्तव्यम् उन्नेत्, अन्तः न पराणि इति ज्ञेयानि—स्वर्गोयानि स्वर्गेव  
 निमित्तानि चरीरानि तेषु विषये, परित्यागः = अनासक्तिः, अन्तर्भुजे = अन्तर्द्वये

विषय प्रकार, तन्मरीरे के अन्दर मृष्टि का भावना से पने निगधार सत्कार्य  
 अर्थात् विश्वव्रज्याण्ड का विसर्ग अर्थात् काव्यमिक मृष्टि का उल्लास, उद्भास होना है  
 उगी प्रकाश पूर्णजन्मात्क योगी के अन्दर जो मृष्टि के भिन्न-भिन्न भावों अर्थात्  
 पदार्थों के मृष्ट के प्रति जागृति होने से उन-उन पदार्थों के निर्माण की शक्ति  
 उत्पन्न हो जाती है । एक पक्षी तेजःकणवत्ता का महान् उदय होता है जो सुन्दर  
 आकर्षक और पक्षेय से ही वेदीप्यमान रहती है । देवता तथा सुवर्णनिर्माण की  
 निवृत्त्यतिता तथा विषयों का स्पष्ट ज्ञान, देवता के सम्मुख होना, चारीरत्याग के

देहान्तरेषु संक्रातिः परित्यागोऽपरेष्वपि ।  
 अन्तर्मुखमुखाश्वादिक्रमगोचरचिद्गतेः ॥४२॥  
 संस्पर्शतस्तदुद्बोध अन्यत्रापि तथा स्थितिः ।  
 स्वदेहे देवदृढता नागादिदमनार्हता ॥४३॥  
 तथा सकलरूपाणां भावनैव तथा स्वयम् ।  
 निजान्तःसृष्टिबाह्यस्थस्यूलसन्निधियोगतः ॥४४॥

एव, मुनाश्रितानिकादीना सकलशरीरावयवाः क्रमेण = चर्याया, क्रियायोगिन,  
 गोचराः = प्रत्यक्षविषया मस्या उत्पन्ना या चिद्गतिः = मननः शक्तिः तस्या  
 चिद्गतेः प्रातिगोचरति योगिनः । संस्पर्शतः = योगनिष्ठमहापुरुषेण कृतान्  
 अन्यप्राकृतपुरुषशरीरस्पर्शान्, तदुद्बोधः = तस्य प्राकृतपुरुषस्यापि सकललोक-  
 विज्ञानम्, आत्मविज्ञानं वा भवति । योगिद्वाराकृतशक्तिपानसंबन्धितस्य पुरुषस्य,  
 अन्यत्रापि = देवनाहेमनिर्माणशक्तियानादौः तथा स्थितिः = योगिवन् जक्तिर्जायते ।  
 स्वशरीरे देवशरीरवन् दाढ्यमायानि तेन नागानाम् = मननान् ज्ञानान् दमने =  
 वशीकरणे; अर्हता = योग्यता बलं प्राप्यते ॥४१-४३॥

तथा = उपर्युक्तप्रकारेण, सकलरूपाणाम् = पदार्थाकृतीनाम् भावनैव स्वयम् =  
 न परेण सहकृता; तथा = स्वयन्ती भवति । रूपाणां भावनया योगो भावनान्तर्गत-  
 बहिर्गतस्यूलरूपैश्च सकलैः सान्निध्यं प्राप्नोतीति भावः । तदेवाह—निजान्तः-  
 सृष्टिबाह्यदिना । योगी भावनाद्वारा स्वहृदय एव सृष्टि करोति, या च बाह्यस्थेश्वरकुल-  
 स्यूलसृष्टिसन्निधेयौगं प्राप्नोति; तेन सा भावनात्मिका सृष्टिर्न तथैव भवति ।  
 एतत् सर्वं पूर्णाहन्ताद्यौघयुक्तात्मनो माहात्म्यं ज्ञेयम् । ततः = पूर्णाहन्तात्माभानन्तरम्,  
 सृष्टेरनन्तता प्रत्यक्षाभूता भवति योगिन इति शेषः । अथवा सृष्टेरनन्तता-

प्रति आकर्षण, उत्कृष्ट विषयों के प्रति राग आदि बड़े-बड़े गुण उस योगी में आ  
 जाते हैं । अपना शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश, दूसरे शरीर को छोड़ देना,  
 अपने शरीर में ही अपने गुण आत्मा आदि के स्वरूप के साक्षात्कार की शक्ति योगि-  
 न्त को प्राप्त हो जाती है ॥४१-४२॥

ऐसा महासाधक यदि किसी का स्वप्न कर दे तो उस व्यक्ति को भी आत्म-  
 बोध होने लगता है । इसीप्रकार अन्य विषयों देवता हेमनिर्माण आदि में भी उस  
 शक्तिपानसंबन्धित व्यक्ति की योगी ही स्थिति हो जाती है । इस पूर्णअहन्तात्मक  
 योगी के अपने शरीर में देवता के शरीर जैसी दृष्टता आ जाती है और वह जानी  
 जैसे महान् जक्तिशाली पशुओं के दमन की शक्तता से युक्त हो जाता है । इसीप्रकार  
 समस्तरूपों की भावनः हो स्वयं, तथा अर्थात् रूपों वाली हो जाती है । अर्थात्

आत्मनो महिमा ज्ञेयस्ततः सृष्टेरनन्तता ।  
 स्थूलभावादविभ्रान्तदृष्टिपातात्तदेकताम् ॥४५॥  
 प्रापितो जगदैक्यं च समन्तादवकल्पते ।  
 यत्र तत्रापि विश्रान्तिली[ने] शक्तिचतुष्टये ॥४६॥  
 विश्वमेकस्वरूपेण रूपेण प्रतिपद्यते ।  
 शिवभावनयौगंध्या बद्धे मनसि संमृतेः ॥४७॥

विरचनाय शक्तिस्वरूपा भवति । पूर्णाहन्ताया साहस्रव्याद् योगिनो दृष्टिपातो-  
 विभ्रान्तः = भेदज्ञान-रहितः, भवति, एवं च न तदेकताम् = जगदेकताम्,  
 एकस्वरूपत्वान्ता प्रापितो भवति समन्ताच्च जगदैक्यं कल्पते, ज्ञानज्ञेयज्ञानेति त्रिपुटी-  
 परिपूर्ण्येन चित्तेन स सर्वं जगच्चित्तमयमेव पश्यतीत्यर्थः । यत्र तत्रापि = सर्वत्रैव  
 शक्तिचतुष्टये = ज्ञानन्द-उच्छाजानक्रियाकां पञ्चशिवस्य चतुर्विधगामर्थ्यं, विश्रान्ति-  
 लीने = स्थानान्तरवशादुक्त्यानां पन्थिष्वप्य शान्तिमयानो, समग्रं विश्वमेकस्वरूपेण  
 रूपेण, प्रतिपद्यते = ज्ञातं भवति योगिनः ॥४४-४६॥

तथा चोक्तं नानृकाचक्रविवेके—

नावावलात् प्रथमभासि जडस्वभावं

त्रयोदयादथ ब्रिकस्त्ररश्मि-मयत्वम् ।

नुपत्याह्वयं किमपि विश्रमणं विभाति

चित्रकर्मं चिदचिदेकरसस्वभावम् ॥ (२.१) इति ।

स्वप्न की भावना के द्वारा योगी अपने अन्दर की सृष्टि और बाह्य वर्तमान स्थूल  
 सृष्टि की संपूर्णता में नाशित्व प्राप्त कर लेता है । यह सब पूर्वोक्त से युक्त आत्मा  
 की महिमा समझनी चाहिए । वह योगी पूर्णाहन्ता की प्राप्ति के साथ सृष्टि की  
 अनन्तता का प्रत्यक्षकर्ता हो जाता है । या उसके अन्दर अतन्त्र सृष्टि करने की  
 शक्ति भी पैदा हो जाती है ॥४३-४४॥

इस प्रकार अविभ्रान्त दृष्टिमान अर्थात् जगत् को यथावतः शिवस्वरूप या आत्म-  
 स्वरूप देखने के कारण यह संसार अपने स्थूलभाव अर्थात् भेदात्मकस्वरूप से हट  
 कर एकरूपता की प्राप्ति हो जाता है । और सब ओर एकता ही दिखाई पड़ती है ।  
 यह सर्वत्र शिव ही है, ऐसी भावनात्मक ओषधि के द्वारा सृष्टि के विषय में मन के  
 बद्ध अर्थात् नियमित हो जाने पर जब आनन्द उच्छा ज्ञान और क्रियात्मक शक्ति-  
 चतुष्टय का विग्रह हो जाता है तो सर्वत्र यह समग्र विश्व एकस्वरूप में प्रतिभासित  
 होने लगता है ॥४५-४७॥



काष्ठकुड्यादिषु क्षिप्ते रसवच्छिवहेमता ।  
 तत्तत्तत्त्वबलावेणात् सर्ववस्त्वैकरूपिणम् ॥४८॥  
 स्थैर्येणाभावभावानामात्मानं निर्मिणोति सः ।  
 स्वशरीरे दृढा शक्तिः प्राप्ताऽप्यादिविधेयताम् ॥४९॥  
 तद्वदन्यत्र भावादीं स्वात्मशक्त्या किलाधिपः ।  
 सर्वभावेषु सद्योगात् सत्यत्रै शिवता स्थिता ॥५०॥

एकरूपप्रतिपत्ती हेतुमाह—शिवभावतयोपध्वेति—

यत्र यत्र मनो याति जेयं तथैव चिन्तयेत् ।

चलित्वा यास्यते कुत्र मयं शिवमयं यतः ॥

उपि शास्त्रोक्तदिशा 'मयं शिवम्' उक्तवन्ना वा शिवभावना तथा संवृतेः - सृष्टेः  
 शिप्ते मनसि, बद्धे = नियमिते यथा आनन्ददिगन्तिभूतपुत्रं नियमितं भवति तथा  
 शिवमेकरूपेण प्रतिमानते । अथवा शिवभावनाया मनसि बद्धे, संवृतेः सृष्टेः  
 यावन्तः पदार्थाः काष्ठकुड्यादिवस्तुषु योगिता मनसि शिप्ते = आनन्दविशेषपूर्वकं  
 निमोचिने, तेषु रसवच्छिवहेमता = रसः आनन्दः तेन परिपूर्णशिवस्व=कल्याणस्य  
 हेमता = सुमेखपर्यन्तं, तथैव प्राप्यते यथा शिवभावनाया = पारदस्य चरणादिना,  
 रसवतः = पारदयुक्तस्य, शिवस्य = पञ्चवन्तनाम्रमन्मथस्य हेमता = स्वर्णत्वं  
 लभ्यते । स्थैर्येण = पुनर्हिताया दाहान्, तत्तत्तत्त्वानाम् = भिन्नभिन्नजातिक-  
 मल्लपदार्थानां बलस्य शक्तिम् आविशात् = समाधानात्, अभावभावानाम् =  
 अनात्मत्वपदार्थानाम् आविष्यकत्वे सः = योगी आत्मानमेव = स्वमेव, सर्व-  
 वस्त्वैकरूपिणम् = समस्तपदार्थद्रव्यान्वयवर्णिनम् निर्मिणोति = सञ्चरति । स्वमेवा-

यहां तक कि यदि किसी काष्ठ अथवा ईश्वराल में भी मानसिक शक्ति का प्रवेश  
 करने से वहां आनन्दपूर्ण वातावरण का उत्पन्न होता जाया है । पुनर्हिता की दृढ़ता  
 के द्वारा, अभावभावना पदार्थों में भी भिन्न-भिन्न तत्त्वों के बल का समावेश होने से  
 वह योगी अपने आपको ही समस्त वस्तु के रूप में बना लेता है । उसके अपने  
 शरीर में शक्ति इतनी दृढ़ हो जाती है कि अक्षि आदि इन्द्रियों को जिस किसी  
 मुद्रा में जब तक चाहे वह रक्त सकता है । उसी प्रकार अन्य पदार्थ आदि के  
 विषय में अपनी शक्ति के द्वारा वह उनका स्वामी बन जाता है । सभी पदार्थों में  
 मत् का योग होने से उसकी शिवता सत्य में ही स्थित रहती है । इस प्रकार  
 सर्वत्र शिवभावना के द्वारा पुनर्ब्रह्मा प्राप्त हो जाने के बाद ऐसे साधकों के लिए  
 सर्वत्र ऐसी साधु शिवता का प्रसार होता है जो समस्त इच्छाओं को देने वाला  
 होती है ।

सर्वकामदृष्टा साधो शिवता प्रसरेन्नृणाम् ।

पदस्यार्थः पदार्थत्वमित्यमर्थव्यवस्थितौ ॥५१॥

आणवोपायवर्णनम्

यस्मात् पदार्थतातुल्या चित्ताभावोद्भूतो मुहुः ।

सर्वत्र चित्ताभावेन सत्त्वाकारतया स्थितेः ॥५२॥

सर्वत्रानुभवावस्थाप्रसरः सारतो भवेत् ।

सर्वस्थैव स्थिर रूपं सर्वाकारतदात्मना ॥५३॥

काश्चित्तान्तरप्रसंगपदार्थयोगेण परिणमयति स्वयं च स्वेन स्वेनास्तेष्वपि । योगिनः स्वप्नक्षेत्रे ज्ञातव्यो मुहुः सकलकाला भवति तथा स प्राप्तः पदार्थव्यवस्थितान्—यथा-  
विच्छिन्नशाम्भवादिमदान् यद्वैद्यकं तन्मदित्येवमपि नियमकथयन्तः । तदा प्राप्तो  
नानि ज्ञेयः । तद्वत्—एवमेव । अन्यत्र भावादी—स्वप्नक्षेत्रादिति पदार्थादौ, स्वात्म-  
शक्त्या स अधिपः स्वामी भवति । सर्वत्रावेमु = सर्वत्रापि पदार्थेण, सद्योगात्—  
सन्त्यसम्पन्नात्, शिवता = शिवस्य भावः शिवत्वम्, स्थिता = वर्तमाना आस्ते ।  
एवं च तानि पुनर्हेतुव्यप्राप्त्यकारकानां नृणां साधो शिवता सर्वत्र प्रसरेत् = विन्यता  
भवति । सा च शिवता सर्वकामदृष्टा = सर्वेषां कामानां दोग्ध्री = प्रदायिनी  
भवति ॥४७-५०॥

यदि पदार्थव्यवस्थेन व्यनक्तिरूपमोर्जोऽयमस्ति तत् पदस्य अर्थ इति तर्हि पदार्थता  
पदेन नृणां, पदपदार्थयोगे विच्छिन्न भिन्नत्वम् । सर्वान् रथुवर्गे—वागर्थावित-  
संपृक्तौ, इति । यस्मात् चित्ताभाः = चैतन्यस्य पदस्य सो भावः = अर्थः तस्य  
उद्भूतः उत्पत्तिः मुहुः वाग्व्यप्राप्तं भवत्येव । तथोद्भूतं हेतुमाह—सर्वत्रैवादिना ।  
यस्मात् चित्ताभावेन = चैतन्येन सत्त्वाकारतया = प्राणिभानिकव्यावहारिकसत्य-  
स्वरूपेण, स्थितिरात्मनो यस्मात् स्थितेः कारणान् सर्वत्राद्भूतः । एव च सारतया=  
तान्त्रिकाख्येण, सर्वत्र—विश्वत्रयाण्ये चित्तस्य अनुभवावस्थायाः=यद्यचित्तयने  
चित्तं तस्य सर्वव्यापनृणैः प्रसरः = प्रकटता भवत्येव । सर्वाकारतदात्मना =

यदि पदार्थ शब्द का व्युत्पत्तिकर्म्य अर्थ है—पद का अर्थ, तो पदार्थता भी  
पद के समान होगी । ऐसा होने पर चित्ता पद का भी अर्थ चैतन्य होगा ही ।  
चूंकि सर्वत्र चित्ताभाव अर्थात् चैतन्य की सत्ता सत्य के रूप में स्थित है इस  
कारण सब जगह बार-बार चैतन्यस्वरूप अर्थ का उद्भव अर्थात् प्रकाश हो ही  
रहा है और इन प्रकार तान्त्रिक रूप में सर्वत्र चित्त की अनुभवावस्था का, अर्थात्  
जो-जो वह साक्षता है सब का, प्रसर अर्थात् प्राकट्य देखा जाता है । सभी आकार-  
स्वरूप शिवात्मा के रूप में सब पदार्थों का स्वरूप स्थिर है ॥४८-५३॥

सर्वाकारे महाकाररचना हचिराचिरात् ।  
 सर्वत्रैक्ये स्थिरा रुढिर्जन्या रागादिनाहता ॥५४॥  
 सर्वस्य श्रेयसो नूनं सत्यान्निर्गता मता ।  
 मूले समर्थताऽऽवेशो मध्ये तुल्यत्वमेतयोः ॥५५॥

समस्तस्य शिवत्वमेव भवति सर्वस्य = जगत्सर्वार्थस्य, सप्त स्थिरमेव,  
 न विनाशोऽर्थः । तथोक्तं पराव्रीशिकाश्रयणे—

“नराशक्तिशिवावेति विश्वमेतत्सदा स्थिरम् ।” इति ॥५१-५३॥

सर्वाकारे = शिवस्य समस्तवस्तुनामाकारेऽहन्ताभावनाया शिवत्वभावनाया वा  
 सत्या, महाकाररचनाहचिः = समष्टिस्वात्मकेकाकाररचनायां यचिः, आचिरात्  
 दीर्घकाव्यपर्यन्तम् जायते । सर्वत्र = समस्तसृष्टेर्विषये, ऐक्ये = ‘सर्वं शिवमयं जगत्’  
 ‘अहमेव सर्वम्’ इत्याकारकेकत्वे, रुढिः = दृढभावना, स्थिरा भवति । रागादिना,  
 जन्या = उत्पन्ना भेदभावना, हता = नष्टा भवति । सर्वस्य श्रेयसः = समस्तसंसारस्य,  
 सत्यात् निर्गता = प्रकृता मता = अवबुद्धा भवति । मूले = मूलाधारे आवेशश्च  
 समर्थता । अर्थभावः—आवेशो नाम वैयक्तिकचेतनायाः पारमाथिकचेतनायां लयः ।  
 मूलाधारे ध्यानधारणासमाधिभिरावेशः = वैयक्तिकचेतनायाः विलयं च समर्थता =  
 अतूतशक्तिसत्त्वम्, लभ्यते । मध्ये = चितिशक्तीं गुप्ताधारावेष्टान् एतयोः = शिव-  
 शक्तयोः, तुल्यत्वम् = तुल्यताया नामरस्यस्य वा बोधो भवति । एष चावस्थाः

विश्व ब्रह्माण्ड के समस्त आकार के विषय में अहन्ता की भावना पूर्ण होने पर  
 महाकार अर्थात् समष्टिस्वात्मक एक आकार की रचना में दीर्घकालीन यचि हो  
 जाती है । इस प्रकार समस्त सृष्टि के विषय में ‘सर्वं शिवमयं जगत्’ या ‘अहमेव-  
 सर्वम्’ इस प्रकार की रुढ़ि अर्थात् दृढभावना स्थिर हो जाती है और राग आदि  
 से उत्पन्न भेदभावना का नाश हो जाता है ।

समस्त श्रेयः कथं से निर्गत है वह सर्वसम्पन्न मित्रान्त है । मूल अर्थात्  
 मूलाधार में समर्थता का आवेश है । स्पष्टार्थ यह है कि मूलाधार में यदि चित्त  
 को स्थिर किया जाय तो सामर्थ्य अर्थात् शक्ति का आवेश होता है । आवेश  
 वैयक्तिक चेतना का पारमाथिक चेतना में लय का दूसरा नाम है । मूलाधार में  
 ध्यान धारणा और समाधि लगाने से वैयक्तिक चेतना का शक्ति के माध्यमवाक्य  
 स्थापित हो जाता है और जब मध्य अर्थात् गुप्ताधारे आवेश होता है तो इन दोनों  
 की अर्थात् शिव और शक्ति की तुल्यता का बोध होता है । यह तुल्यता का बोध  
 विना शक्तिसमावेश के सम्भव नहीं । इसी लिए आगे के श्लोक में कहा गया है  
 कि मूल में समावेश करना चाहिए ॥५४-५५॥



कार्यो मूलसमावेश इति ज्ञात्वा तथोदयः ।  
 सर्वाभूतत्वेतत्त्वास्थाबुद्धिदृष्टिप्रसक्तिः ॥५६॥  
 सम्यगुत्पद्यतेऽन्तर्धिरूपणं भक्तिनिर्गतिः ।  
 मतिर्ममत्वनिर्माणमनसां महतांतरात् ॥५७॥  
 प्रसरत्यस्ति विज्ञानं सर्वदिक्कमबाधितम् ।  
 समत्वमानसे साधु साधूनां सक्तिमागते ॥५८॥

अत्रैव शक्तिसमावेशात् सम्भवति । न-नान् मूलसमावेशः कार्यः इति ज्ञात्वा =  
 ज्ञानानन्तरम् यदा तथोदयः = मूल समावेशस्योदयो जायते तदा भक्तिनिर्गतिः =  
 अविपक्षितताम्, सम्बन्ध = समोचितसमावेश उत्पद्यते । ना च भक्तिः किं क्वा ?—  
 तत्राह—अन्तर्धिरूपणमिति । अन्तर्ज्ञानस्वभावः । मूलसमावेशस्योदये हेतुमाह—  
 सर्वाभूतत्वेत्यादि—सर्वाणि यानि असुरगतत्वाणि ज्ञानरूपेण परिवर्तितानि, तेषु  
 या ज्ञाना बुद्धिः = आन्तिक्यमिति । सत्तत्कल्याणाय दृष्टेः प्रसक्तिः = प्राप्तेर्हेतोरिति ।  
 महतांतरात् = उक्तमहापुरुषाणां, समस्तब्रह्माण्डविषये, सत्त्वनिर्माणमनसाम् =  
 'ममेवं विषयम् अहमेवेदं सर्वम्' इति सत्त्वयोगब्रह्मनाम्, सातेः प्रसरति विष्णोर्णा  
 भवति, तदा सर्वदिक्कम् = सार्वदेयिकं सार्वकार्यकामाधिक्यं च विज्ञानं अस्ति =  
 उत्पन्नं भवति ॥५४-५७॥

साधूनाम् = योगिना साधूनां वा, समत्वमानसे = सर्वस्मिन् विषये इव-  
 महत् इति समत्वयुक्तचित्ते, सक्तिः = आश्रयम् आश्रित, आगते = प्राप्ते, यदा  
 साधूनां समत्वयुक्तं मन आश्रित, गतं भवति तदा । साधु = सम्बन्धरूपेण । इदं  
 जगत् संकल्पप्रभवम् = योगिवः साधूनां इच्छान् उत्पन्नम्, अनन्तकम् = असीमं च  
 भवति । इदं सर्वं मम = मनोऽभिन्नम्, इति निर्व्यूढे = दृष्टीगते मनसि भवः =  
 संगारः, तदेकमयः = न एव एकः = प्रधानः यत्र, तन्मयः स्यात् । तथैव एषाम्=  
 साधूनाम्, समताभिविवेकतः = सर्वत्र समत्वयुक्तत्वान्, अभिमानात् = ग्राहक्यार-

'मूल में समावेश करना चाहिए' ऐसा समझकर जब समस्त अभूत तत्त्वों से  
 युक्त ज्ञानात्मक दृष्टि की प्राप्ति के कारण उन प्रकार का अर्थान् मूल में समावेश  
 का, उदय हो जाता है तब अन्तर्ज्ञानस्वभावप्रवाहतरंग मति भवतीति उत्पन्न  
 हो जाती है । फिर समस्त विषय ब्रह्माण्ड के प्रति समत्व निर्माण वाले मन का जब  
 अत्यधिक प्रसार हो जाता है तब सार्वदेयिक सार्वकार्यक निर्वधविज्ञान उत्पन्न हो  
 जाता है ॥५६-५७॥

इस प्रकार बिना समत्व से युक्त साधु का मन जब भवतीति आश्रित की  
 प्राप्ति हो जाता है, तब यह समस्त अनन्तसंगार उस महात्मा के संकल्प से उत्पन्न

संकल्पप्रभवं सर्वं जगदेतदनन्तकम् ।  
 सर्वं ममेति निर्व्यूढे स्यात्तदेकमयो भवः ॥५९॥  
 अभिमानात्तथैवैषां भावसर्गः प्रवर्तते ।  
 प्रत्येकदेवग्रामस्य ममताभिनिवेशतः ॥६०॥  
 दिव्यानि तान्ययत्नेन प्रसरन्ति समन्तः ।  
 सामस्त्येन प्रसर्पन्तो निर्विशेषा हि केवलाः ॥६१॥  
 सदा क्रीडावशादेव कामाः स्युः सर्वगोचराः ।  
 विशेषममतावेदप्रवेशवशातो महान् ॥६२॥

संकल्पान्, प्रत्येकदेवग्रामस्य = भिन्नभिन्नदेवग्रामस्य देवपुत्रस्य वा, भावसर्गः = भावसृष्टिः, प्रवर्तते = उत्पद्यते । देवान् देवगन्धर्वनगराणि वा निर्माणं नामर्थं लभते योगाद्यर्थं । दिव्यानि = अलौकिकानि, तानि = देवतगराणि, समन्ततः = योगिनः नाशोर्वा परितः, अयत्नेन—अप्रयत्नेनैव दिच्छामात्रेण, प्रसरन्ति । सामस्त्येन = यथाभिलाषम्, प्रसर्पन्तः = हस्तनो विचिरन्तः, ते देवग्रामाः निर्विशेषाः = निर्विकल्पाः, केवलाः अवितामात्रवन्ति अथवा केवलं योगिप्रत्यङ्गम्या भवन्ति । क्रीडावशादेव योगिनः निवस्यन्पुत्रान् यथा जगदिदं विषयं विज्ञानः तथैव योगीच्छाणि कौतुकात्मकानि, तद्वान् एव ननु प्रयोजनान्तरवशात्, कामाः = अभिलाषाः, सदा सर्वगोचराः सर्वविधाः, स्युः = भवन्ति ॥५८-६१॥

इमं संसारं प्राप्तिं विशेषतस्तथायाः य आवेशः=तादात्म्यभावना, तस्याः प्रवेश-  
 वशात्, तनुस्वरूपनिर्माणपरिमाणबोधयः = स्वकीयगौरानुरूप यस्मिन्निर्माण-  
 परिणामं तदिव निर्माणकारणव्योपपत्तिर्भवति । यच्च उदयः महान् इति ज्ञायते ।  
 योगी उपानयो वा यदा स्वच्छाकलकलाकलसकलरूपं त्रिधाभूते विविधस्वांग-  
 विभक्तौ, शिवतत्त्वे समासक्तः = तादात्म्यवानभिनिवेशी वा भवति तदा तस्य,  
 तत्तद्रूपोपरूपम् = स्वच्छाकलादिरूपं तस्य भवति । तद्वशा—तस्मिन्निव एव लीला-

हुआ या हो जाता है और जब 'यह मय मेरा है' यह ज्ञान दृढ़ हो जाता है तब यह संसार उस ज्ञानी के लिए एकमय हो जाता है ॥५८-५९॥

इस प्रकार का अभिमान होने में प्रत्येक देवग्राम की ममता के अभिनिवेश के कारण, भावसृष्टि होती है ॥६०॥

ये दिव्य ग्राम आदि बिना प्रयाम के चारों तरफ उस महात्मा के लिए फैल जाते हैं और वे सम्पूर्ण रूप में फैलते हुए निर्विशेष अर्थात् केवल रहते हैं ॥६१॥

उसकी क्रीडावशा उसकी मानी इच्छासे सभी विषयों वाली हो जाती है । उसकी देह में प्रवेश होने के कारण एक महान् उदय होता है जो कि स्वप्नरी के

तनुस्वरूपनिर्माणपरिमाणभवोदयः ।  
 शिवतत्त्वे त्रिधाभूते स्वच्छाकलकलाकले ॥६३॥  
 सकले च समासक्तस्तद्रूपोपहृणम् ।  
 सामर्थ्येऽखण्डसामर्थ्यं सतते ज्ञानवीर्यता ॥६४॥  
 ईशे समग्रकर्तृत्वं सरस्वत्या मनुत्तमः ।  
 प्रमेये समतावेशाद्विनिर्णोति तत्रं जगत् ॥६५॥

त्रिधायाद्यात्मानं संकीर्त्ययामाख्येण कर्तृत्वमक्रियादस्वभावात्मानं परिणमयति ।  
 आणवमासीयवार्ममलैरात्मानमाकृत्य स त्रिभिन्नप्राणिनाम् कलकलाकलम् । तेषु  
 कश्चित् प्राणी एकस्यैव मलस्य भागं भवति, कश्चित्मद्युक्तस्य कश्चित्कल त्रिभिन्-  
 नस्याति । कला शिवस्य पदस्य कश्चिद्भाग इति सा च जीवस्य परिमितक्रिया-  
 नामर्थक्या । स्वच्छाकलमात्राणवमलैरात्मानमाकृत्य तेषु प्राणी । स च  
 शिवस्य सारभेदभूमिमाया विवर्ति । त्रिधाविभक्त्यन्तं भागभवेति, यत्र त्रिभिन्नकलाक-  
 ल इति चादौ कथ्यते । अतः परं कलाकलः स च सारभेदभूमिमन्वाने । एष च  
 वर्गा आणवमासीयमलद्वयेन युक्ता भवति । सर्वमलैश्चरमन्त्रैश्च-विश्वैश्चरविज्ञाना-  
 कलप्रत्ययाकलैश्च सारभेदेन सृष्टिमा प्राणितः कलाकलं समाविष्टः । सकलज्वा-  
 न्तिमा वर्गः । अत्रत्याः प्राणितः आणवमासीयमलैश्च त्रिभिन्नमलैर्युक्ता सारभेदभूमि-  
 मविनिर्णयति । इमे प्राणितः संसारिज्जायाः । शिवतत्त्वस्य सामर्थ्ये आवेजान्  
 अखण्डसामर्थ्यम् = तदाप्यतत्त्वचरविज्ञानस्यैव यागिना । सतते = सामर्थ्य आवे-  
 जस्य निरन्तरं सति ज्ञानवीर्यता = ज्ञानैः कृतवर्तकत्वात् । भवति । ईशे = ईश्वर-  
 तन्त्रे, समानतो योगी समग्रकर्तृत्वं लभते । सरस्वत्या = वाणीरूपमाधनेन,  
 वाण्यां समावेशात्, मनुत्तमः = मन्त्रः = मन्त्राः = विश्वेश्वराः, तेषु उत्तमः = मनु-  
 स्वरूप के निर्माण के द्वारा अपरिमित संसार बनाता है अर्थात् सारा संसार उसकी  
 अपरिमित योगी के परिमाण का अर्थात् असीम हो जाता है ॥६३-६५॥

अथ उपायक, शिवतत्त्व के स्वच्छाकल, कलाकल, जीव सकल इन तीन स्तरों  
 में आने की समासक्त करवा है तब भिन्न-भिन्न रूप में उनका उपहास होता है ।  
 शिव के सामर्थ्य के साथ तादात्म्य स्थापित करने पर योगी का उपायक के अन्दर  
 अखण्ड सामर्थ्य हो जाता है । उक्त तादात्म्य की निरन्तरता होने पर ज्ञान की  
 वृद्धि, ईश्वर के साथ तादात्म्य होने पर समग्रकर्तृत्व, सरस्वती अर्थात् वाणी के  
 द्वारा अर्थात् वाणी में तादात्म्य या समावेश स्थापित होने पर मन्त्रेश्वर-रूपाय  
 प्राप्त होता है और प्रमेय जगत् के साथ समता के आवेश से वह नूतन जगत् का  
 निर्माण कर सकता है ॥६३-६५॥



कलने चिद्वत्त्वं स्याद् वेदने सर्वचिद्गमः ।

स्नेहे तु सर्वकामत्वं कालात् सर्वर्तुवर्त्तनम् ॥६६॥

नियमे सर्वयमनं कैवल्यं प्रलयाकले ।

स्वात्मनो ह्यतिवृद्धायां निष्ठाविधिभूतिका ॥६७॥

सर्वाकाराभिमानेन ममेति दृढशक्तिना ।

सर्वाकारसमापत्तिरनन्तैवोपजायते ॥६८॥

तमः सन्मेश्वरः, भवति योगीति शेषः । सन्मेश्वरश्च भेदाभेदनिष्ठेऽवगन्तव्यस्य प्राणिनः । प्रमेये = जागृति के निश्चिन्ताकार्ये, अनन्तावेशात् = 'सर्वमिदमहम्' इति तादात्म्यात् न योगी तथैव जगत् = तृप्ता गृष्टिम्, निमिषोति = रचयति ॥६७-६९॥

उदासी पारमेश्वरमावायाः पञ्चमु कटुकैष तादात्म्यस्थापनात् प्राप्ता विभूति र्भवति—कलनेत्यादिना । तथा हि—पारमेश्वरमावायाः परिणामभूतानि कष्टक- पञ्चकानि गति कलाविशारागकालनियतयस्तेति । तत्र परमेश्वरस्य सर्वकर्तृत्वं संकोच्य तत्र किञ्चित्कर्तृत्वं स्थापयन्ती कला । यदा तस्य सर्वजन्यं संकुचितं भूत्वा किञ्चिज्जन्त्रे परिणमते तदा सा विद्या । यया पूर्णरतिः च संकोचमपनीय भोगेष्वामक्तिः क्रियते ना यतिः रागः । येन च तस्य निश्चयत्वं तिनोभवातीनादिरूपेण परिच्छिद्यते स कालः । निश्चिच्छ तस्य स्वात्मन्यं व्यापत्वं च संकोचयन्ती कार्यकारणभावमापाद्य विशिष्टवेशेन परिच्छिद्यति । कलने=कलायाम् तादात्म्यस्थापनात्, चिद्वत्त्वं=ज्ञान- रूपवत्त्वम् । वेदने=विद्यायाम्, आवेशात्, सर्वचिद्गमः=सकलज्ञानाधिगमो भवति । स्नेहे = रागे; तादात्म्यात् सर्वकामत्वम्=सकलकामनायान् भवति योगी । कालात्= काले तादात्म्यात्, सर्वर्तुवर्त्तनम् = सर्वे ऋतवः योगिनः पार्श्वे निष्ठति । नियमे = नियतो, समावेशात् सर्वयमनम् = सर्वेषां भूतानां पदार्थानां वा स्वायत्तीकरणम् । प्रलयाकले नियमनात् कैवल्यं लभते । प्रलयाकलश्च प्राणिविषयः शुद्धप्रकाशं स्वरूप-

परमेश्वर की कला जगि के साथ तादात्म्य होने पर चिद्वत्त्व, विश्वा के साथ, समस्त चैतन्य की प्राप्ति, राग के साथ समावेश होने पर सर्वकामत्व, काल के साथ, ऋतुओं का एक साथ उनके यज्ञों रहना, नियति के साथ तादात्म्य होने पर सबका नियमन करने की श्रमता योगी की प्राप्त हो जाती है । प्रलयाकल की स्थिति में कैवल्य प्राप्त होता है ॥६६-६९॥

संसार के समस्त आकृतिमान् पदार्थों के प्रति 'ये मेरे हैं' ऐसी दृढ़ आशक्ति होने पर आत्मा की वह अनन्त समापत्ति अवस्था उपलब्ध होती है जिसमें समस्त पदार्थ अतिवृद्ध अर्थात् अवाध रूप में उपस्थित होते हैं तथा वह समापत्ति निष्पाधि विभूति वाली अर्थात् अहेतुक ऐश्वर्य वाली होती है ॥६७-६८॥

नैतच्छास्त्रं विना प्रोक्तं कायाकारेण कायिकम् ।

जलेन जलरूपं स्वादित्याद्यैर्वचनैः स्मृतम् ॥६९॥

सर्वव्याप्त्या स्नेहपूर्णं स्रव्यादिकायात्मचिन्तनात् ।

जगद्विधेयतामेति

किमुतैकशरीरकम् ॥७०॥

मजानन् जडान्तकं धून्ममेव अहमिति मन्वमानः प्रायः नृपुनिदगाया निमज्ज्य वचने । तदुक्तमोश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिन्याम्—“प्रलयेन कृता अकलाः, कलात्तरोपल-  
क्षितकरणकार्यरहिता अवोधरूपाः कलारश्च” । इति । सर्वाकाराभिमानेन = संसारस्य सर्वांशु आकृतिषु ‘अहमेवेवं सर्वम्’ इत्याकाराभिमानमन्वात्, ममेतिवृट्-  
शक्तिना=उमाः सर्वा आकृतयो ममेवेति वृट्नामर्थेन, सर्वाकारसमापत्तिः = समस्ता-  
कृतिषु तत्सम्बन्धजनता लभ्यते । ना च समापत्तिः अनस्ता भवति । इयं च समापत्तिः  
स्वात्मनः = जीवस्य, अनिरुद्धार्था = कायाकारदेजादिभिरनिरुद्धां यस्याः सा,  
सार्थकालिकसर्वदेशिकसर्वविधविषयवती, निरुपाधिनिभूतिका = निष्कारणैश्वर्य-  
सम्पत्तावता भवति । बहुप्राप्ता क् । लक्षितं राजादीनामैश्वर्यं गोपायिकं भवति  
योगिनस्तु स्वाभाविकं निष्कारणं चेति स्पष्टार्थः ॥६९-७०॥

एतच्छास्त्रम् = तत्तदावेद्यान् तत्तदुक्तविधिवर्णनात्मकम्, प्रोक्तं विना =  
गुरुभिः, आगमेषु वा कथितं विना, न = नास्ति । शास्त्रेण गुरुपरम्परा वाङ्मन्य-  
मेवोक्तत्वात् । तत्र प्रमाणमाह—कायाकारेणेत्यादिना । कायाकारेण = यस्य  
कस्यापि शरीरेणः शरीरेण तादात्म्यस्थापने, कायिकम् = शरीररूपाकारवद्रूपम्,  
जलेन तादात्म्यस्थानेन जलरूपं च स्यात् इत्यादि क्वचिदुक्तवचनैः स्मृतम् । सर्वा-  
व्याप्त्या = योगसत्तया योगिनि सर्वत्र व्याप्ते मति, स्रव्यादिकायात्मचिन्तनात् =  
कामिन्यादिशरीरेषु ‘अहमेवेयम्’ इतिचिन्ताकरणात्, निखिलमेव जगन् स्नेहपूर्णम् =  
सगर्भजगत् यथा स्यात् तथा विधेयतामेति = स्वयमेव भवति, किमुतैकशरीरकम्  
का वार्ता एकस्य शूद्रशरीरस्य । शूद्रार्थे शरीरशब्दात् ‘कन्’ प्रत्ययः ॥६९-७०॥

यह शास्त्र विना प्रोक्त अर्थात् अनुक्त नहीं है । ‘कायाकारेण कायिकम्’ ‘जलेन  
जलरूपम्’ इत्यादि आगमिक वचनों से यह सिद्ध है । कायाकारेण इत्यादि का  
का तात्पर्य यह है कि जब योगी किसी शरीर के आकार से तादात्म्य स्थापित  
करता है तो वह उस शरीर का आकार प्राप्त करता है । उसी प्रकार जब से  
तादात्म्य स्थापित करने पर जलरूप हो जाता है । सर्वव्याप्ति से योगी वा उपासक  
जब स्नेहपूर्ण रीति से स्वो आदि की शरीर का आत्मवत् चिन्तन करता है तब  
सारा संसार उसका विधेय अर्थात् आज्ञाकारी हो जाता है फिर एक शत्रु शरीर-  
स्वीशरीर का क्या कहना ॥६९-७०॥

सर्वमस्मीति रुचिरं रूपमात्मनि चिन्तयन् ।  
 अहमेव मत्परो न भवेदाकर्षणक्रमः ॥७१॥  
 सर्वस्मिन् मयि कस्यापि कायं ध्यायन् जुगुप्सितम् ।  
 ममैवासौ च विद्वेष्टो विद्विष्टो जायते ततः ॥७२॥  
 व्यापकत्वे शत्रुदेहं स्वं भ्रमन्तं विचिन्तयेत् ।  
 विद्रुतं करभासुदं विश्वमुच्चाटितं भवेत् ॥७३॥  
 व्याप्तौ किञ्चिद् रिपोर्देहं मदीयं संहारम्यहम् ।  
 जडरूपो भवामीति चिन्तया मरणं स्थितम् ॥७४॥

एवमेव 'अहं सर्वमसि' इति आत्मनि प्रिये रुचिरं रूपं चिन्तयन् योगी ध्यायति 'अहमेव' 'न मत्परो' इति तथा स एव आकर्षणकेन्द्र भवति । तदतिरिक्तं कुत्रापि 'आकर्षणक्रमः न भवेत्' न जायते । एवमेव सर्वस्मिन् = सर्वान्तके, मयि = योगिवरीरे, कस्यापि, जुगुप्सितम् = पूषाभयं दौष्टान्यद, कायं विचिन्तयन् असौ पूषाभयदायः, ममेव = योगिन एव, विद्वेष्टः इति चिन्ताया ततः = चिन्ताममनन्तरं विद्विष्टो = शत्रुः, जायते = भवति । ७१-७५॥

व्यापकत्वे = आ-पकः पूषाभयान्तरं, शत्रुदेहोऽप्यात्मन्तश्चावतारानाम्, शत्रुदेह-रूपं स्वं तथा योगी भ्रमन्तं पर्यवृत्तम्, विद्रुतम् = पलायमान अथवा करभासुदम् = उष्णावशङ्को मलानानि चिन्तयेत् तथा तस्य शत्रोः कुने विश्वमुच्चाटितं भवेत् । उच्चाटितं नाम चित्तस्य कुत्रापि व्याप्तिरभाभावः आत्मनो प्रवृत्तिरद्विगता वा । एवमेव व्याप्तौ मया किञ्चिद्विष्टोः - तन्मविन्दतोः, देहम् 'मदीयम्' इति चिन्त-

इसी प्रकार जब 'मैं सब हूँ' इस प्रकार यह अपने अन्दर मुन्दर का चिन्तन करता है तथा यह सोचना है कि 'मैं स्वयं आत्माकर्षण वाला हूँ' जब यह किसी अन्य के प्रति आकृष्ट नहीं होता ॥७१॥

आत्मपूर्ण यह यदि अपने अन्दर किसी अन्य व्यक्ति के 'पूषाभय' शरीर का ध्यान करता है और यह सोचना है कि 'यह मेरा द्वेष है' तो यह व्यक्ति मयमय उसका दुःखत बन जाता है ॥७२॥

यदि योगी व्यापकता के कारण शत्रुदेह-रूप में अपने को और का शत्रु के वस्त्र पर आकृष्ट, घृमता या भागता हुआ, चिन्तन करता है तो उसके शत्रु के लिए समस्त संसार उच्चाटित हो जाता है ॥७३॥

इसी तरह पूर्वावस्था होने पर जडशरीर के साथ मलान्तर होने पर 'मैं जडता शरीर हूँ' 'मैं जड हूँ' ऐसी चिन्ता कर स यह सब हो जा रहा है' ऐसा चिन्तन करने पर शत्रु का मरण निश्चित हो जाता है ॥७४॥



व्याप्तिदाढ्ये नक्तमेकं चन्द्रं वाऽऽत्मानमुत्थितम् ।

विचिन्त्य प्रस्रवन्तं के कस्याप्याप्यायनं भवेत् ॥७५॥

चित्तत्वं चिन्तयन् रूपं व्यापकं वाऽखिलात्मसु ।

अविनाश्वेकपिण्डे वा स भवेदजरामरः ॥७६॥

स्रवत्कृष्णामृतं मेघमात्मोपरि निजात्मकम् ।

ध्यायतो बालमात्मानं सा जरा संप्रलीयते ॥७७॥

ध्यानं नामात्र यत्सर्वं सर्वाकारेण लक्ष्यते ।

भावनाचक्षुषा साध्वी सा चिन्ता सर्वदर्शिनी ॥७८॥

यन् यदा 'अहं नंदराशि' इति, 'अहंरूपो भवामि' इति वा चिन्तयति योगी, तदा चित्तचिन्तया जराः नरणम् = मृत्युः, स्थितम् = निश्चितमेव भवति । तथैव व्याप्ति-  
दाढ्ये नक्तम् = रात्री, एकं चन्द्रं व्याप्या आत्मानं वा उत्थितम् = उदितम्,  
विचिन्त्य, के = जले, प्रस्रवन्तम् = प्रस्रवन् चिन्तयति यदि योगी तदा कस्यापि =  
जलमयि आप्यावनम् = कृष्णः, भवेत् । नदीजलं तदागजं वा वृद्धिमाणाति ।  
चित्तत्वं अपि-मितम् कृष्णानुरूपं चिन्तयति वा परमजिघृक्षरूपेण स्फुरति ताम्,  
अथवा अखिलात्मसु = सर्वेष्वत्मानसु व्यापकं रूपं अविनाश्वेकपिण्डे = नित्ये एकजरीरे  
चिन्तयन् यदा भवति, तदा सः = योगी, अजरामरः = जरामरणहीनो भवति  
भवति ॥७५-७६॥

निजात्मकम् = व्याप्या आत्मानमापनात् श्वीकम्, कृष्णामृतं मेघम् =  
नन्दमुत्सवकानविनाशिवर्जितम्, आत्मोपरि स्वरवादि, स्रवत् वर्षणम्  
ध्यायतः सा एव आत्मानम् = यत्, बालम् = बालवत् स्वरम्, व्याप्यतो योगिनः,

पुष्पकान्ता की पुष्पा द्वाने पर राशि के समान एक चन्द्र की उदित ध्वजकर  
जरा कायाह या नदी के जल में लज्जा या पिबलता हुआ गोपनी के बाद उस  
जल में वाढ़ आ जाती है ॥७५॥

चित्तत्वं की चित्त चित्तवादी के व्यापक रूप में सीलता हुआ, वा एव ही  
चित्त में विनिमित्त की सीलता हुआ चित्तक अजरामर की जाता है ॥७६॥

जलजल जली जल जली की कृष्णामृत रूप में के प्रस्रवण का अर्थ चिन्तन  
करता है बाद जली की चित्त रूप में जाता है, यह प्रस्रवण सुखात् समान ही  
जाता है ॥७७॥

भावनाका अविष्टि के द्वारा जब उस संसार में सब कुछ सब के जागर में  
विनिमित्त होते लगता है सब की व्यापकता व्यापन है । सभी साधु, योगी  
चिन्तन है ॥७८॥

येन येनेन्द्रियेणाथं गृह्यते तत्र तत्र सा ।

शिवता लक्षिता सत्या तद्ध्यानमपि वर्ण्यते ॥७९॥

यस्यां यस्यां प्रतीतौ तु शिवोऽस्मीति मनोगमः ।

तस्यां तथैव चिन्तायां तद्ध्यानमपि जल्पितम् ॥८०॥

यस्मिन्नर्थे सदा त्यागो गच्छतस्तिष्ठतोऽपि वा ।

धावतः खादतो वाऽपि स योगः परयोगिनः ॥८१॥

भावितेऽभाविते वापि शिवत्वे शिवतैव मे ।

सर्वदा पितृमात्रादितौल्यदाढ्येन योगिता ॥८२॥

सा = पूर्वस्वशरीरे वर्तमाना, जरा सम्प्रलीयते - लुप्ततां याति । भावनाचक्षुषा = भावनात्मकान्तर्दृष्ट्या, अत्र = योगे, ध्यानं नाम तदेव कथ्यते यत् = यदा सर्वम् = नराचरात्मकम्, सर्वाकारेण लक्ष्यते = परिदृश्यते । सा = एतादृशी, चिन्ता = ध्यानम्, साधु = पुत्ततरा सर्वदक्षिणी चेति गीयते । येन येनेन्द्रियेण, अर्थः = विषयः, गृह्यते = प्रत्यक्षीक्रियते, तत्र तत्र = तेषु तेष्विन्द्रियेषु सा शिवता सत्या लक्षिता । अधुना तद्ध्यानम् = शिवत्वचिन्तनमपि वर्ण्यते । यस्यां यस्यां प्रतीतौ = अनुभवे, अहं शिवोऽस्मीति, मनोगमः = मानसिकः प्रवाहा भवति, तस्यां प्रतीतां तथैव, चिन्तायान् = चिन्तने तद्ध्यानम् = तादृग्चिन्तारस्य सततप्रवाहोऽपि जल्पितम् = कथितः । गच्छतः = गमनादिनानाक्रियां कुर्वतः यस्मिन् अर्थे = अर्थस्य विषये योगिनः सदा = अपुनरावर्त्ती, त्यागः = विप्रलिप्ताभावः, स एव, परयोगिनः = उत्कृष्टमायकस्य, योगः कथ्यते । शिवत्वे, भावितेऽभाविते वा = जातेऽजाते वा, सर्वदा पितृमात्रादितौल्यदाढ्येन = यथा शिशोर्हृदये 'इयं मे माता' अयं मे पिता' इति दृढो विश्वासो भवति तथैव, शिवतैव मे = 'अहं सर्वं शिवः' इति दृढो विश्वास एव योगिता = योगः । न त्वन्विनो विश्वासः ॥७७-८२॥

जिन-जिन इन्द्रिय से विषय का ग्रहण होता है उस-उस इन्द्रिय तथा विषय में शिवता सत्यतः लक्षित होती है । अब उन प्रकार के ध्यान का वर्णन किया जा रहा ॥७९॥

जिन-जिन अनुभव में 'मैं शिव हूँ' ऐसी मन की धारा चलती है उस अनुभव में उगी प्रकार के चिन्तन का सातत्य उसका ध्यान कहा गया है ॥८०॥

जाते, रुकते, दौड़ते, खाते समय जिन विषय में व्यक्ति को सदा त्यागभावना रहती है वही परम योगी का योग है ॥८१॥

चाहे शिवत्व की भावना हुई हो वा न हुई हो, जैसे बालक को पिता-माता के विषय में 'यह मेरी माँ है' 'यह मेरे पिता हैं' ऐसा अटिग विश्वास रहना, वही प्रकार सदा सर्वत्र 'यह शिव है' ऐसा दृढ़ विश्वास ही योग है ॥८२॥

तथा हि कोशहेमादिसादृश्यं योगसत्पता ।  
 शिवोऽस्मीति मदिच्छातः सर्वभावप्रवर्तनम् ॥८३॥  
 अत एव शिवः सर्वमिति योगोऽथ चेतसि ।  
 सन्ततं शक्तिसन्तानप्रसरेण सदैव मे ॥८४॥  
 अनिरुद्धो जपोऽस्त्येव सर्वावस्थास्वसौ जपः ।  
 नानाकारैः सदा कुर्वन्नुदयन् सर्ववस्तुगः ॥८५॥  
 अभ्यासेनास्मि सोऽप्यत्र जपः परम उच्यते ।  
 संकल्पाञ्जनयन्नस्मि स्थितः शब्दानथो मुखे ॥८६॥

यथा व्यावहारिके जगति कोशहेमादिसादृश्यम् = कोशः = भाण्डारः, हेम = मृवर्णम् तदादेः सर्वस्यैव वस्तुनः, सादृश्यम् = मध्येन तुल्यत्वम्, न तु परमार्थत-  
 स्तत्त्वम्, तथा हि = तथैव, योगसत्पता = सर्वत्र शिवभावनाया योगस्य पारमार्थिक-  
 मत्यर्थं वर्तते । अहमेतन् सर्वं शिवोऽस्मि, मदिच्छातः, सर्वभावप्रवर्तनम् = सर्व  
 पदार्थाः स्त्रियावन्तः सन्ति । अत एव सर्वमिदं शिवः इति योगः शक्तिसन्तान-  
 प्रसरेण = परमशक्तिविस्तारप्रभावेण सह मे चेतसि सन्ततं वर्तते । 'शिवः सर्वम्'  
 'शिवोऽहम्' इति सन्ततभावना एव अनिरुद्धो जपः अव्यवहितो जपः । असौ जपः  
 सर्वावस्थासु = कायिकवाचिकमानसिकयोगोत्तमीक्षेण प्रवर्तितुं शक्यते प्रवर्तते च ।  
 नानाकारैः = अनेकप्रकारेण, उत्कर्षं जपं सदा कुर्वन् पुनः उदयन् = उत्तति  
 प्राप्नुवन्, सर्ववस्तुगः = सकलपदार्थप्राप्तको नेमा वेत्ता वा भवति ॥८३-८५॥

शिवभावनाया भावितव्यं पुरोऽवस्थां निर्वर्ण्यदानीं तद्भावनाभ्यासरतस्य पुरुषस्य  
 स्वरूपं वर्णयति—अभ्यासेनेत्यादिना । अहं अभ्यासेन = शिवोऽस्मीति भावनां

जिस प्रकार व्यवहार जगत् में कोश या शिव सत्य समझा जाता है उसी  
 प्रकार सर्वत्र शिवभावना का योग सत्य है । 'मैं शिव हूँ'; मेरी उच्छ्वा मे मारे  
 पदार्थ सक्रिय हैं; इसीलिए सब कुछ शिव ही है' उस प्रकार का योग शक्ति के  
 विस्तार के प्रभाव से मन में सदा आरुढ़ हो जायगा ॥८३-८४॥

यही 'शिवः सर्वम्' भावना अनिरुद्ध जप है । यह सभी अवस्थाओं में होने  
 वाला जप है । भिन्न-भिन्न आकार प्रकार से इसका सदा अनुष्ठान करने वाला  
 व्यक्ति सब पदार्थों को प्राप्त करने वाला या जानने वाला होता है ॥८५॥

जब यह भावना रहती है कि मैं जप का अभ्यास कर रहा हूँ तब भी यह  
 परम जप कहलाता है । और जब यह भावना होती है कि 'मैं स्थिर चित्त वाला  
 होकर मनःसंकल्प ने ही वस्तुओं को मुझ में उत्पन्न कर रहा हूँ । तो वह भी जप  
 ही जानना चाहिए । यह सत्य आदि तीन प्रकार का है ॥८६॥



सो हि नाम जपो ज्ञेयः सत्यादिस्त्रिविधो हि सः ।

न मे बन्धो न मे मोक्षस्तौ मलत्वेन संस्थितौ ॥८७॥

प्रतिपत्याज्जया स्नानं निर्मलीकरणं मतम् ।

दुःखे वापि सुखे वापि सर्वासु प्रतिपत्तिषु ॥८८॥

मुहुर्महुः क्रियमाणया प्रक्रियया सह वर्त्तमान अस्मि, सोऽपि = एतादृशोऽपि अभ्यासः परमो जप उच्यते । यदा चेत्यं भावना भवति यन् अहं स्थितः = स्थिरचित्तः सन् मनसैव संकल्पान् = सर्वशिवतात्मकदृष्टिविचारान् जनयन् मुखे च 'शिवोऽहम्' इति शब्दान् जनयन् अस्मि तदा सोऽपि जप एव । स हि जपः सत्यादिस्त्रिविधः, भवति । तथा हि—जपस्त्रिविधः—अमत्यः, सत्यामत्यः सत्यमत्येति । मनुस्मृत्यादि-पूक्षाः वाचिकोपांशुमानसिकजपभेदा अगत्याः, किंप्रपि भेदेषु 'अहं जपं करोमि' इति अहंभावनाया अक्षुण्णतया विद्यमानत्वान्, एव च जपः कण्ठादारभ्य हृदयं यावद् भवति । इमे च वाचिकादयो जपा वैश्वर्या एवावन्तरभेदाः । यदा कण्ठाद्यरोधो जायते, नादृश्यं कर्मकारिण्योऽजना निरुद्धा भवन्ति तदा जपः स्वयमेव प्रचलति । अवाहं-भावनाया लोपान् एव स्वाभाविको जप इति कथ्यते । अस्य स्थानं नाभिः । वार्णा-क्रमे एव जपः पश्यन्तीति कथितुं शक्यते । एव च सत्यामत्यः । अमत्यस्य वर्णभेदा-त्मकत्वस्य विकल्पस्य वा लोपेन सह अग्नौ नादृश्यरूपमत्योग्मत्वान् । यदा च मूलाधारि जपो भवितुं प्रारम्भ्यते तदा स सत्यो जपः । परावाचः स्थानं मूलाधार एव । अत्र व्यष्टिभावनाया सर्वथाऽभावः । एषा परावाक् चिन्मयो परमाव्यक्ताऽ-क्षरा च । परावागेव शब्दस्य चरमा गतिः, अन्या स्वाभाविकी भावनेव सत्यो जपः ॥८६-८६३॥

यथा बाह्ये जगति स्नानपूजादिकं क्रियते तथा भावजगद्व्यति केन रूपेण कर्त्तुं शक्यते ?—इति वर्णयितुमारभते—न मे बन्ध इति । मे = मम, बन्धो मोक्षश्चो-भयमपि नास्ति यतः तौ मलत्वेन = मलरूपेण, संस्थितौ = अस्मिन् जगति वर्त्त-मानौ स्तः । परमार्थतरु तयोर्भाव एव । मललक्षणं यथा मालिनीविजयतन्त्रे—

‘मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम् ।’ ( १-२७ ) इति । तन्त्रालोके ऽपि—‘अतो ज्ञेयस्य तत्त्वस्य सामस्त्येनाप्रथात्मकम् । ज्ञानमेव तदज्ञानं शिव-सूत्रेषु भाषितम् ।’ ( १-२५ ) । ज्ञेयवर्णने अज्ञानं ज्ञानं न जानाभावोऽपि तु अपूर्णं सङ्क-

‘न मेरा बन्धन है न मोक्ष, क्योंकि ये दोनों मल के रूप में हैं’ इस प्रकार की भावना से स्नान का नाम निर्मलीकरण है । हृत् में अथवा मुख में अथवा मनो-प्रकार के अनुभवों में ‘मैं शिव हूँ’ इस प्रकार मन की प्रगल्भता उत्कृष्ट जल-स्नान है ॥८८३॥

शिवोऽस्मीति मनोह्लादो जलस्नानं परं मतम् ।  
चित्रिर्मला तन्मयं हि जगदस्मि तथाविधः ॥८९॥  
इत्यास्था जलशौचेन शुद्धिस्तानं तथोदितम् ।  
सर्वभावाः शिवाकारा अन्तर्भूताः शिवानले ॥९०॥  
सोऽहं शिवः सुतृप्तोऽस्मि होम इत्युदितः परः ।  
अत्राकारे न यन्मेऽस्ति तदाकारान्तरेऽस्ति मे ॥९१॥

चित्रं ज्ञानं ज्ञानसंकीर्णं वा मल उति कथ्यते । तथा चेश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्-स्वातन्त्र्य-  
हानिर्वोधस्य न्यायानुपपादकोपधत्ता । द्वितीयं तन्मयं स्वस्वस्वापहानिन् । त्रि-  
त्यप्रश्नार्थं मायाशब्दः । उति (२-२-४५) दन्धसोऽहो मलो उत्पन्नया प्रतिपत्त्या  
विश्वानेन, स्नानम् - शौचम्, निर्मलीकरणं न च स्वीयशक्तिना बाह्यम् । एवमेव  
दृष्टान्तिकान् सुवर्णान् वा सर्वान् प्रतिपत्तिषु अनुभवैः शिवोऽस्मि इति  
बह्वधा मनोह्लादः = मानसी प्रसन्नता स एव परं जलस्नानम् । चित्र - अपरि-  
मितं पूर्णं स्वातन्त्र्यं परमात्मनः, निर्मला = ज्ञानसंकीर्णभाववती घनते, तन्मयं  
तथाविधः - निर्मलः, जगत् स्वस्वोऽस्मि इत्याकारिका या आस्था = विश्वातः  
तदेव जलम् तेन सम्पादितं शौचम् तेन शुद्धिस्तानम् तथा परम्, उदितम् =  
कथितम् ॥८९-९१॥

सर्वभावाः = सर्वे पदार्था जलचैतनाः, शिवाकाराः न तु यथा दृश्यन्ते तथा, ते  
च शिवानले = निवस्वस्वापान्ता, अन्तर्भूताः = निहितः सन्ति न तु तेषां क्वचिद-  
न्यत्र संस्थितिः एवं विचारयन् योगी ध्यायति यत् सोऽहं शिवः सुतृप्तोऽस्मि एष  
एव परो होमः न त्वन्मो द्रव्यप्रक्षेपः । यत् = सुतृप्त्यादिको विषयानुभवः, मे =  
मम, अत्राकारे = अस्मिन् देवदन्तात्मके शरीरे नास्ति तत् मे आकारान्तरे = परदन्त-  
नामके शरीरे अस्त्यनुभवः तस्मात् एवं भूतभावतया सर्वत्र तत्त्वविषयानुभवन्  
निराकाङ्क्षः तदन्तोऽस्मि इति तृप्त्या ईदृशः अन्यः = भिन्नप्रकारो होमः कथितः ।

‘किन् निर्मला है मे भी उसी प्रकार का निर्मल विश्वमम हूँ’ इस प्रकार की  
विचारधारा से युक्त जल से स्नान शुद्धिस्तान कहा गया है ॥८९॥

ममन्त पदार्थ भिन्न के आकार वाले ही हैं और वे निवस्वस्व अप्रति मे  
अन्तर्भूत हो रहे हैं, वह भिन्न मैं नृत्त हूँ वह भावना उत्कृष्ट कौटि का होम  
है ॥९०॥

मम कुछ शिवाकार है ऐसा भिन्न होने पर जब वह भावना होती है कि जो  
मेरे इस आकार अर्थात् शरीर में नहीं है वह मेरे दूसरे आकार में है इस कारण  
भक्ति के द्वारा मैं निराकाङ्क्ष हूँ । इस प्रकार का एक अन्य होम है ॥९१॥

तस्मादस्मि निराकाङ्क्षस्तृप्त्यान्यो होम ईदृशः ।  
 पूजनान्नास्ति मे तुष्टिर्नास्ति खेदो ह्यपूजनात् ॥१२॥  
 पूजकैर्विभेदेन सदा पूजेति पूजनम् ।  
 अत्राकारे च मे पूजा या स्यात् सादाशिवत्मानि ॥१३॥  
 लिङ्गादिके पूजितोऽस्मि सदा पूजेति वा स्थिता ।  
 पूजकः पूजनं पूज्यमिति सर्वं शिवः स्थितः ॥१४॥  
 किमेतेनात्मभावेन तृप्त्या वा परपूजनम् ।  
 सर्वाकारेषु भोग्येन यजनं मम वर्तते ॥१५॥  
 भुञ्जेऽहं यत्र तत्रापि भोगलग्नः प्रतीतितः ।  
 शिवोऽस्मि साधनाऽविष्टः शिवोऽहं यावकोऽप्यहम् ॥१६॥

यदा कश्चिन्मम पूजा करेति तदा मे तुष्टिर्नास्ति, अन्नाकारस्य पूजनाभावात् । एवं-  
 मेव अपूजनात् खेदोऽपि नास्ति । यत्र हेतुमाह—पूजकैर्विभेदेन । यत्र सर्वान् पूजका-  
 न्नास्ति एतन्निवत्वेनाह सदा सर्वत्र पूजा कुर्वन्मिह इति पूजाभावात् प्रत्येक एव नास्ति  
 तदेवाह—सदा पूजेति पूजनमिति ।

सदाशिव एव सादाशिवः, स्वाध्याय, न आत्मा सर्वत्र तस्मिन् अत्राकारे =  
 सदाशिव वर्तते मे वा पूजा स्यात् शिवलिङ्गादिके च पूजितोऽस्मि, तत्र तादात्म्यात् ।  
 आदिना मूर्तिप्राप्त्या । अथवा लिङ्गस्वरूपतया सदा पूजा स्थिता । पूजकः = कर्ता,  
 पूजनम् = क्रिया, पूज्यम् = तन् इति सर्वं शिव एव स्थितः = वर्तते । अथवा आत्म-  
 भावेन = तादात्म्येतावेतेन वा, तृप्त्या योगार्थतया किम् ? एतत् सर्वमपि नास्ति-  
 ज्ञयम् । निर्गतयत्नं तु एतदेव यत् सर्वाकारेषु भोग्यभोग्येन वर्तमानत्वं एव मम  
 यजनं वर्तते । यत्र तत्रापि सर्वत्र भोगलग्नः = शिवरूपतया भोगेन प्रसक्तः, प्रती-  
 तितः = भावनाद्वारा, अहं भुञ्जे=नाम सम्पादयामि । साधनाविष्टः = सर्व शिवम्,

न तो मे पूजन में तुष्टि है और न पूजा न होने में मुझे खेद है । पूजको के  
 साथ तादात्म्य होने से सदा पूजा ही मेरा पूजन है ॥१२॥

इस प्रकार सदाशिवत्मात्मक आकार में जो मेरी पूजा हो रही है वा शिवलिङ्ग  
 आदि में जो तादात्म्य होने के कारण मैं पूजित हो रहा हूँ वही मेरी सदा स्थायी  
 पूजा है ॥१३॥

पूजक पूज्य और पूजन इन सभी रूपों में शिव स्थित है । इस तादात्म्य-  
 भावना अथवा मूर्ति से होने वाले परपूजन का भी क्या महत्त्व है ? ॥१४॥

रूपवान् समस्त पदार्थों में भोग्य के रूप में मेरा ही पूजन हो रहा है । य-  
 त्त्र सर्वत्र भोग में लगा हुआ, भावना के द्वारा मैं भोग कर रहा हूँ ॥१५॥



शिव एवानया स्थित्या सत्यया याग उत्तमः ।  
 येन येन यत्र यत्र वैर्यैर्यदिह चेज्यते ॥९७॥  
 समया क्रियते यागः शिवत्वाद्याग उत्तमः ।  
 शिवं यामि शिवो यामि शिवेन शिवसाधनः ॥९८॥  
 भिन्नोऽप्यभिन्न एवास्मि शिव इत्थं विचेष्टनम् ।  
 शिवो भोक्ता शिवो भोज्यं शिवेषु शिवसाधनः ॥९९॥  
 भुक्त्वोदेति शिवावस्था स्थितेत्यं भोक्तृरुपता ।  
 शिवः कर्ता शिवः कर्म शिवोऽस्मि करणात्मकः ॥१००॥

सर्वमहम्, शिवोऽहम्, इति साधनात्मनः, शिव एवाहम् । उज्यः शिवोऽहम्; साधकः शिवोऽप्यहम् शिव एव न अन्यया सत्यया शिवत्वात् वर्तमान आत्मे न एवोत्तमः यागः येन येन = इत्थं, यत्र यत्र = देशे, वैर्यैः = साधनैः द्रव्यैश्चनभिन्नं यत् = क्रियारूपम्, इह = अस्मिन् सन्तरे इज्यते = यागः क्रियते, न शिवत्वात् = शिवेन नह तादात्म्यायेनात् उत्तमो यागः समैव क्रियते ॥९७-९८॥

सर्वशिवभावनामेव प्रकारान्तरैः कर्तव्यं-शिवं याप्तीत्यादिना । शिवं यापि = गमनानुकूल्ययापारम्भ फलं कर्म शिवः; शिवो यामि गमनानुकूल्ययापारम्भ कर्ता-शिवः । शिवेन = गमनहेतुः प्रयोजनमपि शिवः । शिवसाधनः = गमनक्रियाजनक-साधनोऽपि शिवः । व्यावहारिकरूपेणा भिन्नोऽपि परमार्थेन अभिन्न एवास्मि अहं शिवरूपः । शिवः एव इत्यम् उपसर्गप्रकारकम् विचेष्टनम् = विविधाद्वेष्टा अपि । भोक्ता = तत्त्वतदर्थगन्तव्यतत्त्वार्थानामनुभविता शिव एव । भोज्यम् = द्रव्यगुणादिकम्, शिव एव । भोगस्व साधनमपि शिव एव । वदाह— शिवसाधनः इति बह्व्रीहिसमासः । शिवेषु इति भोगस्याधिकरणमपि शिव एवेति सूच्यते । भुक्त्वा = भोगानन्तरम्, शिवावस्थोदेति । इत्थं भोक्तृरुपतापि शिवस्य, स्थिता = अमन्दिन्या । तत्त्वैक्यकरणदिकं सपि अन्यस्मिन् वा पुनरे प्रतीयते व्यवहारदृष्ट्या,

साधना में क्या मैं शिव हूँ । नाशक भी मैं शिव हूँ । शिव ही उस सत्य स्थिति में उत्तम याग भी है । जिस-जिस साधन के द्वारा जहाँ-जहाँ जिस-जिस व्यक्ति के द्वारा उस संसार में सज किया जाता है शिवत्व के कारण वह उत्तम याग मेरे ही द्वारा किया जाता है ९७३॥

शिव के द्वारा शिव की सहायता से मैं शिव को प्राप्त हो रहा हूँ ॥९८॥

मैं भिन्न होने हुए भी अभिन्न शिव हूँ । इस प्रकार की चेष्टा विविष्टचेष्टा है । अथवा इस प्रकार की विविष्टचेष्टा भी शिव ही है । शिव रूपी आधार में शिव के द्वारा शिव ही शिव का भोग करके है । भोग करने के पश्चात् भी शिवावस्था

शिव एव फलावस्था व्यापार इति साधुषु ।  
 भावनाकरणाभ्यां किं शिवस्य सततोदिते ॥१०१॥  
 यथा तथा प्रतिष्ठामः प्रबुद्धस्येति वर्त्तनम् ।  
 यद् दृश्यं यच्च संस्पृश्यं यद् श्रेयं रस्यमेव यत् ॥१०२॥  
 यच्छ्राव्यं तच्छिवव्यक्तेस्तच्छिवत्वेन संश्रितः ।  
 गम्ये ग्राह्ये तथा वाच्ये सुखादावपि सर्वदा ॥१०३॥  
 स्थिते शिवत्वे बद्धास्थो भवेत् सर्वगतः शिवः ।  
 मन्तव्ये चाभिमातव्ये बोद्धव्ये धृतिसंगमात् ॥१०४॥

नदपि शिव एवेत्याह—शिवः कर्त्ता इत्यादिना । फलावस्था = फलम् । भावना-  
 करणाभ्यामिति—भावना नाम चिन्तनात्मिका मानसिकी क्रिया । करणं च  
 चेष्टास्यः कायिको व्यापारः, उभयवापि । साधुषु = साधकेषु महात्मसु विषये सत-  
 तम् = निरन्तरं सर्वदा उदितं यस्य तस्य मननवर्त्तमानस्य शिवस्य भावनाकरणाभ्यां  
 किम् = को लाभः । यदा साधकेषु शिवस्य शश्वती प्रतिष्ठा वर्त्तमानास्ति तदा  
 शिवात्मकभावनाकरणादिकमपि व्यर्थम् । प्रबुद्धस्य = मनोज्ञानमयस्य शिवस्य  
 यथा = येन प्रकारेण, वर्त्तनम् = इच्छाज्ञानक्रियात्मकस्फुरत्ता, तथा वयमपि,  
 प्रतिष्ठामः = शिवस्वरूपे वर्त्तमहे ॥१०१-१०२॥

मानसिककायिकव्यापारस्य शिवत्वं संभाव्येदानीं पञ्चज्ञानेन्द्रियाणां विषया  
 अपि शिव एवेति द्योतयन्नाह—यद्दृश्यमिति । दृश्यम् = चक्षुर्निर्णयं रूपं रूपद्रव्यं  
 वा, एवमेव संस्पृश्यमित्यादिपदेः स्पर्शान्तरमनाश्रोत्रेन्द्रियाणां विषया ज्ञेयाः । ते  
 सर्वे शिवव्यक्तेः = शिवस्यैव स्फुरत्तायाः, कारणान् गच्छन्ति । तत् = दृश्यादिकम्,  
 शिवत्वेन = शिवभावनाया, संश्रितः = उपभोक्ता भवेत् साधुः । एवमेव कर्मेन्द्रियाणां

उदितं होता है । इस प्रकार शिव की भावनृत्तता भी है । शिव ही कर्त्ता वही  
 कर्म, करण भी वही और वही फलावस्था तथा व्यापार है । इस प्रकार महात्माओं  
 के अन्दर शिव की प्रतिष्ठा होने पर, भावना एवं करण से क्या फायदा ? जिस  
 प्रकार प्रबुद्ध उस शिव की भावना तथा प्रतिष्ठा है उसी प्रकार हम लोग भी  
 प्रतिष्ठित हैं, यही परम वर्त्तन है ॥१०१॥

जो दृश्य, स्पृश्य, श्रेय, रस्य, तथा श्राव्य है वह शिव की ही अभिव्यक्ति के  
 कारण है । उसी शिवरूप में गम्य, ग्राह्य, वाच्य, मृग भोग आदि में भी शिवत्व-  
 सम्बन्धी बृहद् अस्था रखकर सर्वत्र शिववाला ही जाना चाहिए । मनन, अभिमान,  
 बोध के विषय में ध्यान योग के साथ, मृग दृश्य मोह में भी 'मे परमशिव हूँ'  
 ऐसी अस्था रखनी चाहिए ।

मुखे दुःखे विमोहे च स्थितोऽहं परमः शिवः ।  
 प्रतिपादितमेतावत् सर्वमेव शिवात्मकम् ॥१०५॥  
 न स्वबुद्ध्या शिवो दाता शिवो भोक्तेति शास्त्रतः ।  
 इति कथितमशेषं शैवरूपेण विश्वं  
 जगदुदितमहेशाङ्घ्रिचाज्ञया स्वप्नभाजा ।  
 यदधिगमवलेन प्राप्य सम्यग् विकासं  
 भवति शिवमयात्मा सर्वभावेन सर्वः ॥१०६॥

पादादीनां विषयेषु गम्यादिष्वपि सर्वदा शिवत्वे स्थिते सर्वगतः = सर्वेष्वपि कालेषु सर्वत्र वर्त्तमानः, शिवः अस्ति इति वद्व्यासो भवेत् । मन्तव्ये = मन्तव्यो विषये मृत्पादिषु, अभिमातव्ये = अहंकारस्य विषये, बोद्धव्ये = बुद्धेर्विषये मृते दुःखे च मोहे च धृतिसंगमात् = ध्यानयोगेन सह वर्त्तमानत्वात् अहं परमः शिवः स्थितः । ध्यानयोगश्च तावत्—आणवोपायस्योच्चतमा धारणा । यदा प्रमाणप्रमेयप्रमा-  
 त्रिति त्रिपुटीज्ञानस्वैक्यधारणविदितरूपेण भावनां करोति मायुः, ब्राह्मविषयाञ्च तस्मिन्नेव संविदन्तौ प्रक्षिप्य, इदं सर्वं संविद एवाभिव्यक्तिरिति भावना करोति तदा न ध्यानयोग इति भ्रम्यते । एतावत् = उपरिवर्णितम् सर्वमेव शिवात्मकम् इति प्रतिपादितम् । एतच्च प्रतिपादनं न स्वबुद्ध्याऽपि न शिवो दाता = शिव एव ज्ञान-  
 प्रदाता, शिवो भोक्ता = अनुभविता इति शास्त्रतः = पूर्वोक्तान् शाम्भुमिद्धान्तात् प्रतिपादितम् ।

इति = एवं पूर्वोक्तप्रकारेण, स्वप्नं भजनीति स्वप्नभाक् तया स्वप्नभाजा = स्वप्नगतया, जगदुदितमहेशाङ्घ्रिचाज्ञया = जगति = संसारे, उदितः = प्रसिद्धः, महेशः तस्य अङ्घ्री = पादौ, तयोः आज्ञया = आदेशेन, अशेषं विश्वं शैवरूपेण = शिवात्मकम्, कथितम् । यदधिगमवलेन = यस्य ज्ञानबलात्, सर्वः = लोकः, सर्वभावेन = सम्यग्रूपेण, सम्यग्विकासम् = पूर्णताप्रत्यभिज्ञाम् प्राप्य शिवमयात्मा = शिवस्वरूपो भवति ।

इस प्रकार सब कुछ शिवात्मक है यह बात मैंने अपनी बुद्धि से नहीं बल्कि 'शिव ही दाता और शिव ही भोक्ता है' उन शाम्भु के अनुसार कही है ॥१०५॥

इस प्रकार संसार में प्रसिद्ध भगवान् शंकर की, स्वप्न में प्राप्त, चरणकमलों की आज्ञा के द्वारा मैंने समस्त विश्व को शिवस्वरूप सिद्ध कर दिया । जिनमें ज्ञान के बल से सम्यक् विकास को प्राप्त कर यह शिवमयी आत्मा सर्वभाव अर्थात् पूर्ण अहन्ता के द्वारा सर्वमय हो जाती है ॥१०६॥



### अथम्बकशैवदर्शनोद्भववर्णनम्

शैवादीनि रहस्यानि पूर्वमासन् महात्मनाम् ।  
 ऋषीणां वक्त्रकुहरे तेष्वेवानुग्रहक्रिया ॥१॥  
 कलौ प्रवृत्ते यातेषु तेषु दुर्गमगोचरे ।  
 कलापिग्रामप्रमुखे समुच्छिन्ने च शासने ॥२॥  
 कैलाशाद्री भ्रमन् देवो मूर्त्वा श्रीकण्ठरूपया ।  
 अनुग्रहायावतीर्णश्चोदयामास भूतले ॥३॥  
 मुनि दुर्वाससं नाम भगवानूर्ध्वरेतसम् ।  
 नोच्छिद्येत यथा शास्त्रं रहस्यं कुरु तादृशम् ॥४॥  
 ततः स भगवान् देवादादेशं प्राप्य यत्नवान् ।  
 सतर्ज मानसं पुत्रं अथम्बकादित्यनामकम् ॥५॥

रहस्यानि = गोपनीयतया पठ्यमात्रमानानि आख्यानि । पूर्वम् = कृतकृतादी ।  
 अनुग्रहक्रिया = गुरोः सकाशात्पुनःपूर्वकं ग्रहणम् = पठनम् अनुग्रहः तस्य क्रिया =  
 पण्डितो परम्परा । तेष्वेव = ऋषिष्वेव न तु सार्वजनीनेषु लोकेषु । तेषु = रहस्येषु ।  
 दुर्गमगोचरे = दुर्गमः = अगम्यः गोचरः = विषयः दर्शनादिस्वरूपः यस्य सः, तस्मिन्  
 अग्रन्थतया लोकेऽनन्वये । शासने = धर्मागमशास्त्रे, समुच्छिन्ने = लोकतोऽग्रन्थतया  
 गते; लोके पठनपाठनाभावे गनीत्यर्थः । देवः = जिवः । अनुग्रहाय = जीवनास्वास्थ्य-  
 यनाम्बानद्वारा मोक्षार्थं कुरु; मानवा इति कल्याणपूर्णदृष्ट्या, अवतीर्णः = मनुष्य-  
 शरीरेणाविरतः । भगवान् = श्रीकण्ठः । 'नोच्छिद्येत यथा शास्त्रं रहस्यं कुरु  
 तादृशम्' इति श्रीकण्ठस्य दुर्वाससे चोदना । स भगवान् = दुर्वासाः । तन्नाम्ना  
 चिह्नितम् = अथम्बकादित्ये ( द्वितीये- ) नि नाम्ना ज्ञेयम् । एवंक्रमेण जिवं रहस्यं

धर्मागम के रहस्य प्राचीनकाल में महात्मा ऋषियों के मुख में स्थित थे ।  
 और अनुग्रह क्रिया भी उन्हीं के पास थी ॥१॥

कलिकाल का प्रारम्भ होने पर जब ये रहस्य दुर्गम विषय बन गये तथा  
 कलापिग्रामप्रमुखग्राम का शासन उच्छिन्न हो गया; तब देवाधिदेव भगवान् शंकर,  
 कैलाश पर्वत पर यमते हुए अनुग्रह के लिए श्रीकण्ठ के रूप में, अवतीर्ण हुए ।  
 उन्होंने उस भराग्राम पर ऊर्ध्वरेता मुनि दुर्वासा को आदेश दिया कि जिन प्रकार  
 यह ज्ञान समुच्छिन्न न हो, वैसी रहस्यपरम्परा तैयार करो ॥२-४॥

तत्तत्काले उक्त भगवान् दुर्वासा ने देवाधिदेव से आदेश प्राप्त कर प्रयत्नपूर्वक  
 अथम्बकादित्य नामक मानस पुत्र को पैदा किया और उनके अन्दर शैवागमरहस्य

तस्मिन् संक्रमयामास रहस्यानि समन्ततः ।  
 सोऽपि गत्वा गुहां सम्यक्त्र्यम्बकारव्यां ततः परम् ॥६॥  
 तन्नाम्ना चिह्नितं तत्र ससर्ज मनसा सुतम् ।  
 त्र्यमुत्पपात संसिद्धस्तत्पुत्रोऽपि तथा तथा ॥७॥  
 सिद्धस्तद्वत्सुतोत्पत्त्या सिद्धा एवं चतुर्दश ।  
 यावत् पञ्चदशः पुत्रः सर्वशास्त्रविशारदः ॥८॥  
 स कदाचित्लोकयात्रामासीनः प्रेक्षते ततः ।  
 बहिर्मुखस्य तस्याय ब्राह्मणी काचिदेव हि ॥९॥  
 रूपयौवनसौभाग्यबन्धुरा सा गता दृशम् ।  
 दृष्ट्वा तां लक्षणैर्युक्तां योग्यां कन्यामथात्मनः ॥१०॥  
 सधर्मचारिणीं सम्यग्गत्वा तत्पितरं स्वयम् ।  
 अर्थयित्वा ब्राह्मणीं तामानयामास यत्नतः ॥११॥  
 ब्राह्मणेन विवाहेन ततो जातस्तथाविधः ।  
 तेन यः स च कालेन कश्मीरेष्वगतो भ्रमन् ॥१२॥

स्वस्वपितुरव्याप्याधीत्य वा सिद्धा भूत्वा तद्वंशपरम्पराया चतुर्दशं पुत्रं वा दिवं गता ।  
 तावत्कालं न लोकेष्वस्य अवागमस्य प्रचारोऽभूदित्यर्थः । पञ्चदशः पुत्रः सोऽपि  
 त्र्यम्बकादित्यनामैव । लोकयात्राम् = तीर्थयात्रायाम् । आसीनः प्रवृत्तः भ्रमन्ति-  
 त्यर्थः । प्रेक्षते गमयिजानात् । बहिर्मुखस्य = ब्राह्मणियस्य कृपादिश्रवणकर्तृभिरुच्य ।  
 रूपयौवनसौभाग्यबन्धुरा = कृपादिगुणैः समोहुरा । तत्पितरम् = तन्वाः = दृष्टि-  
 गतायाः कन्यायाः पितरम् । ब्राह्मणेन विवाहेन—

ब्राह्मो देवस्तथैवार्पः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः ।  
 गान्धर्वो राक्षसश्चैव पेशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ (३.३१)

को संक्रान्त कर दिया । ये त्र्यम्बकादित्य भी त्र्यम्बका नामक गुफा में जाकर उन्हीं  
 के नाम से अकित मानस पुत्र को उत्पन्न किया । वह पुत्र भी सिद्ध होकर आकाश  
 में चला गया । उस प्रकार मानसी गृष्टि के चौदह पुत्र क्रमशः उसी प्रकार सिद्ध  
 हो-होकर आकाश में उड़ते चले गये । किन्तु पन्द्रहवा पुत्र जो कि सभी शान्ति में  
 पारंगत था, कभी लोकयात्रा में आसीन था । उस समय बहिर्मुख उनके समग्र रूप-  
 यौवन-सौभाग्य में युक्त कोई ब्राह्मणी दृष्टिगत हुई ॥९-१०॥

त्र्यम्बकादित्य के पन्द्रहवें पुत्र मुख्यशर्णा में युक्त उस कन्या को देखकर तथा  
 अपनी सद्बर्माचारिणी के योग्य समझकर, उस कन्या के पिता के पास जाकर उस  
 ब्राह्मणी को माँग कर अपने घर ले आये ॥११-१२॥

नाम्ना स संगमादित्यो वर्षादित्योऽपि तत्सुतः ।  
 तस्याप्यभूत्स भगवानरुणादित्यसंज्ञकः ॥१३॥  
 आनन्दसंज्ञकस्तस्मादुद्भूय तथाविधः ।  
 तस्मादस्मि समुद्भूतः सोमानन्दाख्य ईदृशः ॥१४॥  
 करोमि स्म प्रकरणं शिवदृष्ट्यभिधानकम् ।  
 एवमेवा व्यम्बकारव्या तेरम्बादेशभाषया ॥१५॥  
 स्थिता शिष्यप्रशिष्याद्यैर्विस्तीर्णा मठिकोदिता ।  
 तदेवमेतद् विहितं मया प्रकरणं मनाक् ॥१६॥  
 प्रार्थ्यन्तेऽस्मिन् प्रयुक्तेऽपि गुरवो ग्रहणं प्रति ।

इति मनुष्याणां च विवाहविधिः ब्राह्मणविवाहविधिना । तथाविधः = वपत्नीकः ।  
 उद्बभूव = उदपश्य । तथाविधः = वितृप्त्यः । करोमि स्म = कृतवान् । एषा =  
 शिवदृष्टिः, व्यम्बकारव्या = व्यम्बकानामेवा, शिवदृष्टेर्दि नाम । तेरम्बादेश-  
 भाषया; स्थिता = अत्र कश्मीरे पठनपाठनपरम्पराया वर्तमानाऽस्तीति । अथवा  
 व्यम्बकारव्या वा मठिका कैलासे स्थिताऽस्मात्पूर्वम्, वा कश्मीरेष्वगतता । देशभाषया  
 च 'तेरम्बा' इत्याख्या जनाम् । ना चात्र स्थिता तेरम्बा व्यम्बका वा, मठि-  
 कोदिता = मठिका इति उदिम् = कथितम् = नाम यस्याः वा, मठिका नाम्ना प्रसिद्धा  
 व्यम्बका; शिष्यप्रशिष्याद्यैर्विस्तीर्णा । अथवा मठिकोदिता = मठिकाम् उदिता  
 कथिता प्रादुर्भूता वा इयं शिवदृष्टिः शिष्यप्रशिष्याद्यैर्नानादेशेषु नानामयेषु च  
 विस्तीर्णा । मनाक् = अल्पकलेवरम् । अस्मिन् = शिवदृष्टिप्रकरणे, प्रयुक्ते =  
 निर्मितेऽपि, ग्रहणम् = ज्ञानं प्रति सम्पन्नानाधिगमाय गुरवः प्रार्थ्यन्ते = गुरुणामा-  
 वश्यकता भवत्येव । यथोक्तं श्रीहर्षेण नैपथीये सम्पन्नानाधिगमप्रयुक्तगुरुमुत्पन्न-  
 स्यावश्यकत्वम्—

ब्राह्मणविवाह के बाद वे अपने-प्राप्त कश्मीर में आये और संगमादित्य नाम  
 से प्रसिद्ध हुए । उनके पुत्र वर्षादित्य और उनके पुत्र अरुणादित्य हुए । अरुणा-  
 दित्य ने आनन्द और आनन्द ने मैं सोमानन्द उद्भव हुआ हूँ । मैंने व्यम्बका नाम  
 वाले शिवदृष्टि नामक प्रकरण की रचना की ॥१३-१५॥

शिष्य प्रशिष्यों में परम्परागत रूप में प्रचलित तथा मठिकाओं (पाठशालाओं)  
 में तेरम्बा देशभाषा के माध्यम से यह शिवदृष्टि पठन-पाठन के रूप में चलती रही ।  
 उस प्रकार मैंने यह शिवदृष्टिनामक छोटा प्रकरण बनाया । इसके बन जाने के  
 बाद भी इसके सम्पन्न ज्ञान के लिए गुरुओं की आवश्यकता पड़ती ही है ॥१६॥

॥ श्रानामेश्वरामचतुर्वेदीकृतचिरमयी व्याख्या समाप्त ॥



ग्रन्थग्रन्थिग्रन्थं क्वचित्क्वचिदपि न्यामि प्रयत्नान्मया  
प्राज्ञमन्यमना हठेन पठिती माऽस्मिन् मलः खेलु ।  
श्रद्धाऽऽगाद्गुरुः श्रुत्यार्थकृतदृढग्रन्थिः समामादय-  
त्वेतन्काव्यरसोमिमज्जनगुणव्यामज्जनं मज्जनः ॥१६॥

॥ इति शम् ॥

नेत्रवेदखनेत्रेऽस्मिन् वर्षे, भीमे च वासरे ।  
पञ्चभ्यां नागपूर्वायां गुरुणां कृपया मया ॥  
कृता वृत्तिरियं पूर्णा मुरलीधरसूनुना ।  
नकलाकुक्षिजानेन राधेश्यामेन वेदिना ॥  
शिवो मच्छिवरूपेण शिवभावनया सह ।  
शिवदृष्टिं पुनः प्रेक्ष्य नीतो नूतनां स्वयम् ॥  
शिवरूपा त्वियं दृष्टिविदुषां शिवरूपिणाम् ।  
भूयान्मुदे शिवायाथ सैषास्ति शिवकामना ॥

यच्चात्रास्त्यसमीहितं परमनेजावश्यकं खेदकृत्  
तस्मच्छाम्ब्रनिषेवणैकनिशितप्रतरवज्ञायताम् ।  
उदामोत्कलिकापरागपरमामोदायिनः कानने  
किं वाञ्छन्ति कठोरकण्टकव्यथां तत्रस्थितां पद्पदाः ॥  
इति श्रीराधेश्यामचतुर्वेदिकृतायां श्रीशिवदृष्टिवृत्ती सप्तमाह्निकम् ।

समाप्ता चेयं श्रीशिवदृष्टिः

कृतिः श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्ययोगानन्दप्रभुपादानाम् ॥



अथ  
शिवदृष्टिश्लोकानुक्रमणिका

श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः	श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः
अ		अथ शक्तेः परा	८०
अकर्महेतुके	२५०	अथ स्वानु	६५
अकार्यत्वाद्	२४०	अथस्थिते	२५९
अकारे जननं	१३२	अथात्मनः	५९
अक्रमत्वे	२२८	अथानुभवगा	१३२
अग्निर्व	२१६	अथानुभवमम्	११९
अग्रक	२०८	अथास्माक	३२
अङ्गाग्रमे	१०२	अथेदानीं	१२४
अजातेषु	४४	अथोच्यते	४१
अजाते	१७१	अनन्तशक्ति	२५८
अजानन्वे	१३६	अनन्ते	७३
अत एव परेच्छा	९६	अनादिना	७४
अत एव	२८९	अनादिनिश्चनं	३७
अतिशुद्धः	१०	अनालोचनतो	९
अनो नास्त्वनु	१९९	अनिरुद्धो	२८९
अत्रापि	१९१	अनुमानस्था	१९५
अत्रैव	७३	अनुमानं न	१९७
अथ चित्रत्व	१०३	अनुवृत्तिः	२५३
अथ चेत्	१७५	अन्तर्गव्यापिना	५३
अथचेच्चि	१७८	अन्तर्विशति	१८५
अथ ज्ञानम्	१६८	अन्वादेश	१८७
अथ दीप	२३२	अन्यत्वे	२३७
अथ नश्वर	२३३	अन्यथा	२४८
अथ नाम्निव	७६	अन्यदिग्देश	५७
अथ मध्यम	५०	अन्यदेहे	२७५
अथशक्तेः	२१५	अन्येनान्य	१४५



श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः	श्लोकाः	पृष्ठानाः
अपूर्वसौ	१५९	अष्टौ	३३
अपुत्रम्	१४८	अनन्य	६८
अपेक्ष्यभाव	१०३	अनन्यः	१५५
अप्रत्यक्षी	२४४	अनन्यदा	८३
अप्रबुद्धौ	२८	अनन्यमान्	४५
अप्रवृत्तस्य	३	अनन्यवे	१४५
अप्राधान्यं	५९	अनन्यवे च	४८
अभर्त्तय	१८	अनु भाजि	११८
अभावस्वापि	२४७	अनुद्वेष	१
अभावे	५०	अहं वेति	२०८
अभिमाना	२८२	अमानि	१५०
अन्वाशेना	२८९		
अमूर्त्त	१५५	आ	
अमूर्त्तत्वा	२४१	आकाशमेकं	२५०
अमूर्त्ता	१३८	आकाशस्य	२२०
अमूर्त्तस्य	१७३	आत्मनो	१८३, २७७
अर्थक्रिया	१३५	आत्मप्रच्छादन	२२, १७७
अर्थक्रिया समर्थत्व	२२३	आत्मैव	३
अर्थग्रह	२५९	आत्मनः	५९
अर्थवत्त्वं	४८	आत्मानमेव	६८
अर्थवादा	१०७	आत्मानमात्मना	६०
अवस्था	१०१	आनन्द	२५८
अवाध्य	१०७	आनन्दे	१०
अविद्यादे	२५८	आन्तरे	१२२
अविद्यावन्तु	२५७	आनन्दानां	१३१
अविद्यायोगता	२७७	आनामान	७४
अविद्या	२५०	आभाति	२२०
अविभागा	१४, ३८	आरम्भे	१३
अविभागा कथं	५९	आस्ते विज्ञान	३६
अव्याप्ति	२०३		
अष्टविकल्पो	२४	इत्यनेन	८७

श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः	श्लोका	पृष्ठाङ्काः
उपभम्भ	१४२	एकतत्त्वं	१५४
उपनाशेप	९४	एकत्वा	१३२
उपनाहः	३४	एकस्यैवा	३५५
उपनाहर्षोर्जा	२१९	एकस्यैवमेव	२३१
उपनाश्या	२०१	एको नित्यः	६०
उपनाशे	१०	एकमेव	२०८
उपनाश	१८२	एतयव	१९५
इति कथित	२९५	एतस्याम	२५७
इति चेत्	४२	एतेष्वेव	११
उपनाशि	१५१	एवमिन्द्रिय	२०६
उत्तिथ्याणां	१५०	एवमन्वा	२२३
उत्तिथ्यादे	५३	एवं काला	७७
उपनाशे	१०५	एव तथा	२१५
उत्तिथ्यं	२२३	एव भदा	३१
उपनाश	९५	एवं विधो	१९१
उपनाशान्ते	२७१	एवं सति	९१
उपनाशवत्	९३	एवं सर्वपदा	१६
उपनाशवन्व	१८७	एवं सर्व	३०
उपनाश	२६	एवं सर्वेषु	२१४
		एष इत्यप	१९४
		एष एव	१९
इति समग्र	२८३	ओ	
इति	२	ओम् नमः	१३
		ओम् नमः	१६
उपनाश	२३०	क	
उपनाशान्ते	२३१	कटके	११४
उपनाशवत्	२११	कटकादो	३१
उपनाश	२४४	कस्मात्कार	२०७
		कथिता	८६
एक एव	२१९	कथं न	११७
एकस्याप्य	२१०		

श्लोका	पृष्ठाङ्काः	श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः
कालादिक	२४७	कालकल्पन	११५
करणं ज्ञान	१६८	कैवल्य	३८
करोमि	२०८	कैलाश	२९६
करोमि	२९८	क्रमेण	२३१
कर्तुं च	१८१	क्रियते	१४१
कर्तुं च	२२८	क्रियास्तरं	१२०
कलने	२८४	क्रियाशक्तिपरा	२१
कलौ	२९६	क्रियाशक्ति	२७०
कश्चिदस्तीह	९७	क्रीडन्	२५
कामक्रोध	१०	क्रीडया	२५
कामिना	२२८	क्षान्तिवन्धन	१६४
कार्यम्	२०९	क्षीरमाया	९४
कायायोजन	२२५, २६१	क्षीरवन्	९१
कायां मल	२८१	क्षीरवन्निधि	९७
काष्ठकुला	२७८	क्षुनाद्यग्ने	१०
किञ्चिच्छ्रुतता	१३		
किन्तु मोह	४	ग	
किमथ	११०	गीतानु	२२३
किमर्थं भवता	१११	गुणभूतं	१४
किमाल	१७१	गोलकं	१८३
किमाश्रित्य	१४८	गोः स्तनान्	१४
किमेतं	२९२	ग्रन्थग्रन्थि	२९९
किं वा	२३९	घ	
किं विधाय	२३९	घटने	१५२
किरणेषु	८८	घटमानय	२४२
कुण्डलादिषु	२४७	घटात्मक	२४६
कुर्वद्वा	२३३	घटादिग्रह	१६
कुर्वन् वा	२३७	घटादिरूपं	३७
कुतो	२४०	घटादीना	१७७
कुत्र ते	१९२	घटादीना द्विरूप	२१७
कूटकार्यापण	१३८	घटादेर्भवता	१८१



श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः	श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः
घटोऽयं	१२	ततः	२९६
घटो नश्य	२३६	ततः स्थूले	२६९
		ततश्च शिव	९२
च		तत्र का	१०२
चक्षू रश्मि	१८६	तत्र कर्म	२५१
चित्तत्वं	२८७	तत्र चेत्	२०४
चिदात्मा	२१५	तत्र चेत् सूक्ष्म	३९
चिदात्मैव	१७९	तत्र मिथ्या	३०
चिन्तामणि	२३०	तत्र वीचित्व	१६
चेतनेच्छा	१८०	तत्राकाशे	१९१
चेतन्येना	१७१	तत्रापि	२०१
		तत्रापि मध्य	५१
ज		तत्त्वं देवः	२७०
जगदुद्भव	२२२	तन्वस्वेवयं	१५४
जगदोप	२७४	तत्सम्बन्धा	१६०
जलाहरण	१०४	तत्सत्यत्वे	६९
जानन् कर्ता	१८०	तत्स्थान	१९०
जानन्नवस्थितो	२०२	तत्सामस्त्य	१९३
जाते	२६१	ततोऽप्येत	१६४
जातेऽपि	२६१	तथाकार	१८५
ज्ञानयोग	२७२	तथा च	१२९
ज्ञानशक्ति	१५	तथा जघन्य	२२३
ज्ञानस्वरूप	२०६	तथात्वेनैव	११३
ज्ञानात्पूर्वं	२३०	तथा तथा	११०
ज्ञानान्तरेण	१३५	तथा तद्वय	८१
ज्ञेया	२०४	तथा तत्र	१५१
		तथा तस्य	२५५
त		तथा नाना	२६
तज्ज्ञान	२६३	तथा पञ्च	२५२
तत्कर्म	१५	तथापि	२६६
तत्तद्भाव	२७५	तथापि तद्वि	५७
तत्तद्बुद्धि	२१२		
तत्तस्य	१४९		

श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः	श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः
तथाप्यवियया	७२	तद्वत्	१४७
तथा जग	८९	तद्भावे	२५१
तथाभिलक्ष	१५६	तद्भूतना	१९१
तथा तत्र	१२८	तद्देवत्वम्	२०४
तथास्त्वा	७५	तद्विनाशाय	३८
तथा वा	१८२	तत्तुल्यत्वम्	२८३
तथा विधा	२१३	तत्तामसा	२९७
तथा शिवो	१२१	तन्निष्ठ	२५३
तथा सकल	२३३	तन्मात्रकृत्वा	२१४
तथा सर्व	१३७	तस्माच्छिद्ये	२३२
तथा सा	१३७	तस्माच्छेद्ये	१७६
तथा हि	२८९	तस्माच्छद्	१९४
तमेच्छता	९०	तस्मात् स	१८३
तथोत्पत्ती	२०९	तस्मात् न	१४५
तदिति	१७५	तस्मात् समया	८९
तदस्त्विति	२५४	तस्मात् सर्व	१६
तदभावा	९७	तस्मात् स्वयं	१४८
तदर्थमुक्त	२४९	तस्मादनेक	१७७
तद्वहर्जातिव	२०१	तस्मादव	१३८
तदान्मस्य	१८६	तस्मादश्मा	६९
तदान्मस्य	१३३	तस्मादस्मि	२९२
तदानी	६७	तस्मात्तुपायो	२६३
तदिच्छा	९५	तस्मादिक	२५५
तदाश्वर	११७	तस्मादिक	१६५
तदेव स्याद	१७७	तस्मादिक्य	१७३
तदेव स्याद	९८	तस्मादिक्येन	१५६
तदैक्यं	१०५	तस्माद् भाव	१५१
तदैक्यात्	१८७	तस्मान्न	१६२
तद्रूपत्वेन	२७	तस्मिन्	२९७
तद्वत्	१५७	तस्या अपि	७८
तद्वद्वत्	२७८	तस्यात्मता	३९

श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः	श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः
तस्याधिक	२५२	देवनाहेम	२७५
तस्यापि	२७०	देशोऽपि	१९०
तस्यापि कथिता	७९	देहान्तरेषु	२७६
तस्यापि सर्व	१९७	देहे देहे	२२०
तस्याच्य	२४३	दोषोऽयं	२५०
तस्येच्छा	२६६	द्रव्यं कर्म	२२१
तस्यैव	११३	द्वयोरैक्य	१७२
तात्पर्येण	१२१	द्वे अक्षरे	२२२
तादृग्	६४	द्वे ब्रह्मणी	३८
ताभ्यां	२२२		
तावद्	३५	धर्मधर्मेश्च	११२
तेजः कण	२९९	धूमदृष्ट्या	१६१
तेन ज्ञेय	२५९	धूमात्	१९०
तेन वा	१७०	धूमादग्नि	१९४
त्वमर्कः	२५७	ध्यानं	२८

ध

द

न

दर्शनं	२३८	न कदाचन	११८
दर्शनोपाधि	२२७	न च नश्यद	२३३
दिवकाद्या	७१	न च शुद्ध	२२९
दिव्यानि	२८२	न चापि	१९२
दिव्यो	२१६	न चापि	२६५
दीपचक्षुः	२३२	न चापि प्रति	६७
दुःखादिना	१७८	न चापि भेदे	१६६
दुःखासक्या	२७३	न चापि	१९६
दूषणं	२५५	न चान्या	१९८
दृढांगुलि	२७१	न चाविद्या	२२२
दृश्यत्वं	२०५	न चास्य	१९
दृशिः	४२	न जातु	१७६
दृश्यते	१७८	न तत्	९९
दृष्टान्तेऽपि	२३५	न दृश्यते	२९

श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः	श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः
न द्रव्य	२६४	निमित्तमम	११२
न भाण्डे	१९८	निमिनं	१०१
न भूपणे	९०	नियमा	१००
न यथा	९७	नियमे	२७४
न परं	७	निरिच्छा	१०३
न राजाजा	११३	निरुपादान	२
नश्वरा	२४१	निर्विभाग	१६४
नष्टस्य	२३४	निवासोनि	२५
न सर्वेषां	१९९	निवृत्ते	२४३
न सोऽस्ति	३७	निश्चल	९६
न स्वयुद्ध्या	२९५	निरूपता	३०
न स्वरूप	९८	नृपादि	१२७
नहि तस्या	५२	नेत्रादि	२३०
न हिमस्य	८५	नैतच्छास्त्रं	२८५
न होच्छा	३	नैवमश्वार्थ	१६६
नान्यथा	१८३	नैवमत्र	१३६
नानात्म	२५८	नैवं घटस्य	१७९
नानाभावैः	२१३	नैपा	१०३
नाना वादै	१०४	नीतर	२०२
नाना वादैः	९२	न्यग्भूते	२६८
नानाविकार	९१	न्यायादि	१८
नानिर्वृती	१८८		
नाप्याप्त	१९९	प	
नापि क्रम	२३५	पदार्थत्वेन	२६
नामास्य	१३१	परस्परं	१७३
नाम्ना	२९८	परिच्छिन्न	२२
नामसंस्थान	१४८	पश्यन्त्य	६०
नाशं	२३८	पश्यन्त्या	४०
नासम्बद्ध	१४७	पश्यन्त्याथो	११७
नासत्ये	१०९	पश्यन्त्याश्चे	६९
निजं	२५४	पश्यन्त्याः	४४



श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः	श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः
पश्यन्तम्	६१	प्रत्येकं	१८२
पश्यन्तीति	३९	प्रथमोदय	२६५
पश्यन्ती यदि	५५	प्रवर्तते	१३०
पश्यन्ती हि	७७	प्रवृत्तस्य	१३
पाञ्चरात्र	२२१	प्रवर	२८१
पाण्यादे	५०	प्राक्	११८
पातञ्जला	१२३	प्राक्	१८४
पुरा शक्ते	१८३	प्राणा	१८१
पुरा शान्त	१०२	प्राधान्यं	४९
पुरुषः	१०५	प्रापितो	२७७
पुरोऽणु	२७१		
पूजकं	२९२	फलं वा	१११
पृथक्त्व	२२५		
पृथिव्यादि	९३		
प्रकाशज्ञान	१७९	बन्धमोक्षा	२४८
प्रकाशता	२३२	बहुकृत्वो	४८
प्रकाशम्	२३१	बहूनां	१४२
प्रकाशस्या	५	बाल	१५८
प्रकृत्या	२२५	बाह्या	१८९
प्रकृत्या	१६७	बाह्यं	१४२
प्रतिक्षण	१७७	बिभ्रद्	२३
प्रतिदेहं	५४	बिभर्ति	२०
प्रतिदहं	२२४	बुद्धि	१७
प्रतिपत्या	२९०	बोधस्य	१३
प्रतिबिम्ब	२१९	बोद्धस्य	१५३
प्रतिबिम्ब	१८६	ब्राह्मणेन	२९७
प्रतिभा	२०१	ब्राह्मो	२९७
प्रतिष्ठा	१३७		
प्रतीत्यु	२७२	भगवाने	२२१
प्रत्यक्ष	२००	भावस्य	२३४
प्रत्यक्षस्या	६४	भावा	२१७

फ

व

भ

श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः	श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः
भावानां	२३६	यत् एषानि	१४
भाषिते	२४८	यतो गान्धिक	११६
भाषिष्व	२६८	यत् काले	१३२
भाषते	२६८	यत् देशे	१२३
भित्त	२८	यत् पुर्या	१६७
भित्तो	२९३	यत् ब्रह्मो	२१६
भक्तो	२९३	यत्तान्ति	११
भूज्जे	२९०	यत् सन्	२३४
भूज्जम्	२९३	यथा कर्तुः	७७
भेदयन्तु	४७	यथा तथा	२९४
भेदयानिति	२२९	यथा न	११२
भेद हि	८३	यथा प्रकल्पिता	२१५
		यथाकृण	५६
म		यथाऽययव	१५२
मथ्यवोम	२६७	यथा सतः	१४३
मननः	१५०	यथा सर्व	७८
मनसा	१७१	यथा ह्ययं	२१९
मनसावेदि	१७०	यदयम्	२६७
मनसो	१३६	यदि स्वरूप	१०१
मन्त्राणां	८८	यदेकतर	१६
मम योनि	७	यस्त्वात्म	२६१
मयित्व	२४८	यस्मान् पदार्थ	२७९
महान्तं	१९४	यस्मान् सर्व	२१४
मायाब्रह्मन्	२७७	यस्मादनादि	७६
मायीयन्त्रे	२०७	यस्यां प्रतीती	२१९
मिथ्यान्त्र	१३१	यस्यां यस्या	२८८
मुनि	२९३	यस्मिन्नर्थे	२८८
महर्षि	१३	याति व्याप्त	२६७
मूर्त	१६५	यादृग्	१७२
		यानि	५६
य		यान्यन्ता	३०
यच्छाब्धं	२९४		

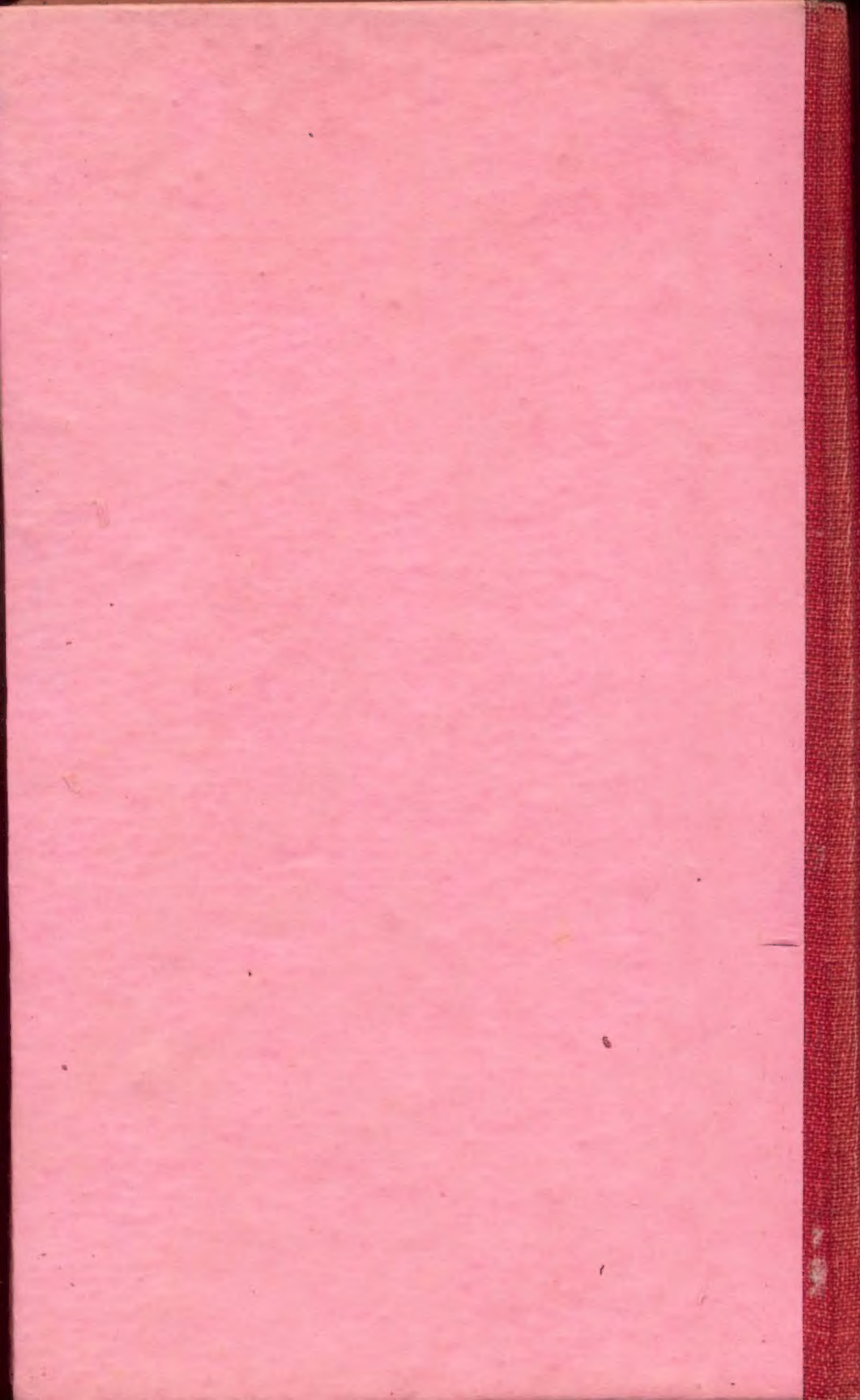
श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः	श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः
या पुनः	२५३	वाग्रूपता	३४
यावता	१०१	वाच्यवाचक	१५७
यावन्न	१६१	वाच्य वाचक	१५७
यावन्न सर्वं	१६३	विकल्पा	२३७
युगपत्	२५७	विकल्पाः	२३८
युज्यते	१००	विचित्र	९
येऽन्ये	२१८	विज्ञातं	२९२
ये तत्र	२०५	विज्ञान	१०८
ये तु	४८	विज्ञानवादिनां	२७७
येन	२८८	विज्ञाना	७२
ये सांख्या	२२५	विद्यते	१२९
यैरुक्तं	१९८	विद्याविद्ये	२२१
योग	४१	विनाशे	२३९
योगिना	२८	वित्तैकत्वं	१३९
यो हि	६६	विभवा	१२१
		दिभाग	२२९
र		विभागस्त	९६
रूपद्वयं	२५५	विभिन्न	१०८
रूपप्रसार	१२	विभुत्वे	१८५
रूपयीवन	२९७	विभेदे	१७६
रूपे	२३८	विभ्रमाकर	२
		विमर्शा	४१
लिङ्गादिके	२९२	विरुद्ध	१५५
		विरोधे	२४०
व		विषयम्	२१८
वदन्ति	२०६	विश्वमेक	२७७
वर्णनेन	१६९	विश्वस्या	९३
वर्णा	६२	विहाय	४१
वर्तते	२५०	वेदाः	२६१
वह्नि	२५९	वैयाकरण	७०
वह्नेस्तु	१९४	वैलक्षण्यं	२५०
वाक्य	६२		

श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः	श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः
व्यतिरेके	१३८	शिवः	८१
व्यतिरेको	१५१	शिविको	१७४
व्यवहार	१३०	शिवो	२९१
व्यवहारस्य	१३४	शून्यत्वं	२४५
व्यवहाराय	१११	शून्यतां	२४२
व्यवहारो	९९	शून्यस्य	२४४
व्यापकत्वा	२०२	शैवादीनि	२९६
व्यापकत्वे	२८६	शैवे	८६
व्यापका	१८८	शैवं	८५
व्यापित्वे	१५०	श्लोकाद्धेन	२१८
व्याप्ति	२८७	स	
व्याप्ती	२८६	स एको	२६६
व्याप्यः	२४९	स एव	१११
व्योम	७५	स एवा	३४
	श	स एवास्ते	१४०
शक्ताशक्त	१६२	स कदा	२९७
शक्तिर्घटे	१८४	सकले	२८३
शक्तिशक्ति	१०५	सकृज्जाते	२६०
शक्तेरेव	८२	सक्रमत्वं	९
शक्तेः	८३	सत्कार्य	१४०
शक्त्या	८	सत्यत्वे	४३
शबला	२६४	सत्यत्वे तस्य	१३०
शब्दस्य	७६	सत्यमेवं	२६०
शब्दस्य	८७	सत्या	४३
शब्देन	१५५	सत्या वा	४८
शब्दे	१९७	सत्या सृजत्य	४४
शरीरैः	५५	सत्यैव	४९
शिव एव	२९४	सदा क्रीडा	२८२
शिव एवा	२९३	सदाशिवा	२१३
शिवत्वे	२५७	सधर्म	२९७
शिवस्य	१४९	सन्निधा	१९२



श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः	श्लोका	पृष्ठाङ्काः
समया	२९३	सर्वे भावा	२१२
समला	२६९	सर्वेषाम	२२०
समस्तचित्र	२६४	सर्वेषामेव	१२
सम्बन्धो	१९१	सर्वेषां	२५०
सम्यग्	२८१	सर्वेष्वात्म	१७६
स यदा	५	सहानव	१३६
सरन्त्येव	१२०	संकल्प	२८२
सर्गसंहति	८	संकल्पकेन	२११
सर्वकाम	२७९	संप्राप्ता	३६
सर्वज्ञता	२५८	संयोग	१५७
सर्वतत्त्व	१८९	सविद्देह	२७३
सर्वज्ञत्वा	२५६	संस्करोति	१७०
सर्वज्ञत्वाद्	२१०	संस्पर्शतः	२७६
सर्वज्ञत्वेन	२११	संसारस्या	२५३
सर्वज्ञाना	२४७	संभूतः	५८
सर्वत्र	२२८	साऽशक्या	१६८
सर्वत्र	२०३	सा च	९
सर्वत्र सार	२४६	सादृश्या	१६०
सर्वत्रा	२८०	सा बुद्धि	१७
सर्वथा	१३९	सामान्य	१५३
सर्वदर्शन	७६	सामान्यमत्रि	१५९
सर्वभस्मी	२८६	सामान्या	२४२
सर्वभाव	२१२	सा स्थिता	७८
सर्वभावेषु	१२८	सिद्ध	२२७
सर्वव्याप्त्या	२८५	सूक्ष्मत्वा	२०५
सर्वस्मिन्	२८६	मुखे	२९५
सर्वस्य	२८०	सुवर्णत्वे	१४९
सर्वस्य	२४५, २१३	सुवर्णमा	१५४
सर्वथा	४०	सुसूक्ष्म	६
सर्वाकारा	२८४	सैव	२६
सर्वाकारे	२८०	सोऽप्यन्यथा	१६१

३१२	श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः	श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः
श्लो	सोऽरोदीत्	१०६	स्वभाव	२४१
व्यतिः	सोऽहं	२९१	स्वमायया	२२०
व्यतिः	सो हि	२९०	स्वयमेवा	१४१
व्यवह	स्थाना	२४	स्वयं च	१४६
व्यवह	स्थानेषु	३६	स्वर्गमुक्ति	२२७
व्यवह	स्थितमेव	९८	स्वल्पतेजसि	१७७
व्यवह	स्थिता	२९८	स्वलक्षणेन	२५८
व्याप	स्थिते	२९४	स्वशक्त्या	२१०
व्याप	स्थितेऽपि	२५६	स्वातंत्र्य	२८
व्याप	स्थितैव	८	स्वातन्त्र्याद	४६
व्यापि	स्थितां	७८	स्वानन्दैक	२६६
व्याप्ति	स्थिरत्वं	१६३	स्वामिनश्च	१२
व्याप्ति	स्थैर्येणा	२७८	स्वायंभुवस्य	८
व्याप्य	स्फारयस्य	९	स्वार्थानुमान	१९३
व्योम	स्फोट एव	६२	स्वाविद्या	२२४
	स्फोटस्या	६३	स्वेच्छाकर्म	१८८
शक्ताः	श्रवत्	२८७	ह	
शक्तिः	स्वकर्मणि	१८०	हस्तस्पर्शा	४८
शक्तिः	स्वकार्य	१२६	हस्तादेः	६०
शक्तेरे	स्वधर्म	४५	हेमादिवद्	८५
शक्तेः	स्वनिष्ठे	८९		
शक्त्या				
शबला				
शब्दस्				
शब्दस्				
शब्देन				
शब्दै				
शरीरैः				
शिव				
शिव ए				
शिवत्वे				
शिवस्य				





## ग्रन्थ-सूची

१. गरुणपुराण की दार्शनिक एवं आयुर्वेदिक सामग्री का अध्ययन—  
डा० जयन्ती भट्टाचार्य १२५-००
२. शिवदृष्टिः—हिन्दी टीका सहित—डा० राधेश्याम चतुर्वेदी ७०-००
३. तन्त्रसारः—अभिनवगुप्त कृत डा० हेमेश्वरनाथ चक्रवर्ती ७५-००
४. केशवी जातक पद्धति—पं० चन्द्रमा पाण्डेय २०-००
५. भारतीय सुविर वाद्यों का इतिहास—डा० राधेश्याम जयसवाल ५१-०९
६. शाङ्कर वेदान्ते ज्ञानमीमांसा—डा० के० पी० सिंह ४०-००
७. योग तारावली—स्वामी दयानन्द शास्त्री ८-००
८. ब्रह्मसूत्र-चतुः सूत्री-रहस्य—कृष्णकान्त शर्मा ८-५०
९. पञ्चांग-संग्रह—पं० सर्वेश्वर शास्त्री, "तान्त्रिक" २५-००
१०. अध्यात्म रामायण—पं० चन्द्रमा पाण्डेय ६५-००
११. साहित्य दर्पण—पं० वेदव्यास शुक्ल प्रेस
१२. काव्यप्रकाशः—संस्कृत टीका—पं० शिवजी उपाध्याय प्रेस
१३. अभिज्ञानशाकुन्तलम्—पं० दुर्गादत्त उपाध्याय प्रेस
१४. उत्तररामचरितम्—डा० इन्द्रदेव द्विवेदी प्रेस
१५. भारतीय दर्शनम्—डा० राजकिशोर त्रिपाठी प्रेस
१६. यौतकम् ( एकाङ्किनाटकम् )—पं० शिवजी उपाध्याय ५-००
१७. लघुसिद्धान्त कौमुदी-बालमनोरमा संस्कृत टीका सहित—  
पं० सूर्यनारायण शुक्ल/पं० रामगोविन्द शुक्ल ४५-००